प्राक्कथन

प्रस्तुत ग्रन्थ प्रयाग विश्वविद्यालय की डी० फिल० की उपाधि के लिए प्रस्तुत इसी शीर्षक के मेरे शोध-प्रबन्ध का संक्षिप्त रूप है।

इस प्रबन्ध पर मैंने सन् १९५३ में कार्य करना प्रारम्भ किया था। सन् १९६० में जब मुझे डी० फिल० की उपाधि प्राप्त हुई तभी मैं इसे प्रकाशित करा देना चाहती थी। पर मन के किसी कोने में यह भाव अटका हुआ था कि यदि इसमें मैं नवीनतम उपन्यासों की भी विवेचना समाविष्ट कर सकती तो और भी अच्छा होता। इसी असमंजस में इतने वर्ष निकल गये। इधर हिन्दी उपन्यास का इतनी तेजी से विकास हुआ है कि यदि इस ग्रन्थ में पिछले पन्द्रह-सोलह वर्षों के उपन्यासों का विवेचन भी सम्मिलित किया जाय तो इसका रूप बहुत बदल जायेगा। अतः अन्त में मैंने यही उचित समझा कि परवर्ती उपन्यासों का विवेचन स्वतन्त्र रूप से ही किया जाय, और शोध-प्रबन्ध को वर्तमान रूप में ही प्रकाशित कर दिया जाय। प्रस्तुत ग्रंथ में मूल प्रबन्ध का विवेचन और विश्लेषण ज्यों का त्यों रहने दिया गया है, केवल पीठिका और भूमिका के रूप में मैंने नारी की सामाजिक-ऐतिहासिक स्थिति का जो सर्वेक्षण प्रस्तुत किया था उसे छोड़ दिया है, और यत्र-तत्र कुछ उद्धरण कम कर दिए हैं ताकि ग्रंथ का कलेवर सामान्य पाठकों के रस-ग्रहण में बाधा न बने।

आज इतने वर्षों के अन्तराल के बाद जब यह ग्रन्थ प्रकाश में आ रहा है तो मेरा मन पुनः उन गुरुजनों एवं स्वजनों के प्रति कृतज्ञता से भर आया है जिनके आशीर्वाद और प्रोत्साहन से मैं यह कठिन कार्य पूरा कर सकी। विशेष रूप से मैं श्रद्धेय डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, डॉ० उदयनारायण तिवारी, डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय और डा० शैलकुमारी के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करना चाहती हूँ जिनसे मुझे समय-समय पर बहुमूल्य सहायता प्राप्त होती रही है।

—बिन्दु अग्रवाल

अध्याय-क्रम

भारत जी को

हिन्दी उपन्यास का क्रम-विकास

उपन्यास आधुनिक युग की देन है। शिक्षा के प्रचार-प्रसार, मुद्रण-कला के विकास और जनतांत्रिक सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा के फलस्वरूप उपन्यास का जन्म और विकास होता है। हिन्दी में भा उपन्यासों का जन्म इन्हीं प्रेरणाओं से हुआ। उपन्यास में आख्यानों की-सी रोचकता और विस्तार होते हुए भी उसमें आख्यानों के विपरीत दैनिक जीवन की सामान्य घटनाओं का वर्णन होता है। इसी प्रकार उसमें महाकाव्यों की-सी प्रवन्धता और चरित्र-चित्रण होते हुए भी महाकाव्यों के विपरीत साधारण जनों के यथार्थ जीवन का चित्रण होता है। इसीलिए उपन्यास को 'जन-जीवन का महाकाव्य' कहा गया है।

हिन्दी में उपन्यास-रचना का प्रारम्भ हुआ तो उसका सम्वन्ध प्राचीन औपन्यासिक परम्परा से नाम मात्र को भो न था। हिन्दी उपन्यास साहित्य का वह पौवा है जिसे अगर सीधे पश्चिम से न भी लिया गया हो तो भी उसकी बँगला कलम तो ली ही गई थी।

बँगला साहित्य में उपन्यासों की हलचल से प्रभावित होकर सर्वप्रथम आधुनिक हिन्दी के जनक भारतेन्दु वाबू हरिश्चन्द्र का ध्यान उपन्यास-रचना की ओर गया। उन्होंने 'पूर्णप्रकाश और चन्द्रप्रभा' नाम का उपन्यास लिखा। यद्यपि यह उपन्यास मराठी उपन्यास का अनुवाद माना जाता है, तथापि यह सामाजिक समस्याओं एवं उपन्यासों की सम्भावनाओं के प्रति लेखकों का ध्यान आकर्षित करता है। भारतेन्दु ने अपने समकालीन लेखकों को भी इस ओर प्रोत्साहित किया जिसके कारण अनेक लेखक बँगला उपन्यासों के अनुवाद करने में जुट गए।

प्रेमचन्द से पूर्व के उपन्यास

हिन्दी में अंग्रेजी ढंग का सर्वप्रथम मौलिक उपन्यास लाला श्रीनिवासदास कृत 'परीक्षागुरु' (१८८२) था। यह उपन्यास नव जागरण का संदेश देता है। इसमें लेखक ने ८ मध्यवर्ग के जीवन और समाज का यथार्थ एवं विस्तृत चित्रण किया है।

इस काल में अनेक सामाजिक और नीति-परक उपन्यास लिखने के प्रयास किए गए। प्रकार के उपन्यास लिखने की प्रवृत्ति में दो मुख्य प्रेरणायें थीं: (१) कुछ लोग ८ -जीवन-प्रणाली और उसकी वेश-भूषा की भाँति उपन्यासों को भी पाश्चात्य देन । उसको भारतीय जलवायु के प्रतिकूल समझते थे; (२) कुछ तिलिस्मी उपन्यासों देखकर लोग इसे सस्ती और विकारों को उत्पन्न करने वाली वस्तु समझते थे। अतः प्रकार के भ्रमों के उन्मूलन के लिए लेखक-गण ऐसे शिक्षाप्रद उपन्यास लिखने में

जुट गए जिनमें प्राच्य आदर्शों की प्रतिष्ठा की गई। इनमें मेहता लज्जाराम शर्मा का नाम सर्वोपरि है।[१] इनके अतिरिक्त पं० बालकृष्ण भट्ट[२], बाबू राधाकृष्णदास[३], पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय[४], कार्तिकप्रसाद खत्री[५], रत्नचन्द प्लीडर[६] प्रमुख हैं। ठा० जगमोहनसिंह का 'श्यामा स्वप्न' भी प्रसिद्ध है जिसमें रीतिकालीन स्वच्छन्द प्रेम की परिपाटी का अवलम्बन किया गया है। पर उपर्युक्त सभी उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों में वर्गगत चरित्रों को प्रकाश में लाने का प्रयास किया है। इनमें घरेलू जीवन के चित्रण एवं नैतिक आदर्शों पर विशेष ध्यान दिया गया है, साथ में धार्मिक और राजनैतिक स्थिति पर भी प्रकाश पड़ जाता है।

इन उपन्यासों की लोकप्रियता देखकर देवकीनंदन खत्री ने 'चंद्रकान्ता' और 'चंद्रकान्ता-संतति' लिखकर एक नये ढंग के उपन्यासों की परम्परा चलाई। इनमें चमत्कार पर ही अधिक आग्रह है। ये उपन्यास इतने अधिक लोकप्रिय हुए कि इन रचनाओं के सम्बन्ध में पं० रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है : "'चन्द्रकान्ता' पढ़ने के लिए ही न जाने कितने उर्दू जीवी लोगों ने हिन्दी सीखी"।[७] बहुत दिनों तक 'तिलिस्म' और 'ऐय्यारी' उपन्यासों की भरमार रही।

इन उपन्यासों में लोकरुचि को देखकर गोपालराम गहमरी ने वैचित्र्य के साथ विश्वसनीय घटनाओं का आधार लेकर पाश्चात्य ढंग पर जासूसी उपन्यासों की रचना की।[८] उन्होंने सन् १९०० में 'जासूस' नाम की एक मासिक पत्रिका भी निकाली जो ३० वर्ष तक प्रकाशित होती रही।

इस काल के उपन्यासकारों में पं० किशोरीलाल गोस्वामी विशेष रूप से प्रसिद्ध है। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने उनकी रचनाओं को साहित्य की कोटि में रखा है।[९] ये ही एक ऐसे उपन्यासकार है जिन्होंने युग-प्रचलित प्राचीन और नवीन सभी प्रवृत्तियों को

---

१. 'आदर्श हिन्दू', 'आदर्श गृहस्थ', 'आदर्श दम्पति', 'बिगड़े का सुधार', 'धूर्त रसिकलाल', 'स्वतन्त्र रमा और परतन्त्र लक्ष्मी'।
२. 'नूतन ब्रह्मचारी', 'सौ अजान एक सुजान'।
३. 'निस्सहाय हिन्दू'।
४. 'ठेठ हिन्दी का ठाठ', 'अधखिला फूल'।
५. 'दीनानाथ'।
६. 'नूतन चरित्र'।
७. रामचन्द्र शुक्ल : 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', (सन् १९४५, पृष्ठ ४३४)।
८. 'हत्या का रहस्य', 'रहस्य-विप्लव', 'जासूस की बुद्धि', 'ठनठनगोपाल', 'गुप्तचर', 'झंडा डाकू' आदि।
९. 'साहित्य की दृष्टि से उन्हें हिन्दी का पहला उपन्यासकार कहना चाहिए।' रामचन्द्र शुक्ल : 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (पृष्ठ ४३४)।

आत्मसात् कर लिया था। उन्होंने तिलिस्मी, जासूसी, ऐतिहासिक और सामाजिक सभी प्रकार के उपन्यास लिखे। ऐतिहासिक उपन्यासों में भिन्न-भिन्न कालों की सामाजिक तथा राजनैतिक स्थिति का यथार्थ चित्रण नहीं मिलता। उनका उद्देश्य शुद्ध ऐतिहासिक उपन्यास लिखने का था भी नहीं।[1]

इस प्रकार प्रेमचन्द के पूर्व के उपन्यास कथानक की दृष्टि से चार प्रकार के हैं— तिलिस्मी, जासूसी, ऐतिहासिक और सामाजिक। आर्यसमाज के सुधारवादी आन्दोलन के प्रभाव के कारण उस समय के सभी प्रकार के उपन्यासों में उपदेश की प्रवृत्ति पाई जाती है। इन उपन्यासों में अधिकतर समाज का ही चित्रण मिलता है। तिलिस्मी और जासूसी उपन्यासों का महत्व लोकरुचि के कारण है। ऐतिहासिक उपन्यास एक तो ८ संख्या में लिखे गए, दूसरे तत्कालीन परिस्थिति की अनभिज्ञता के कारण इनका हत्व भी गौण है। सामाजिक उपन्यासों की परम्परा बहुत आगे तक चलती रही। उपन्यासों के प्रभाव के कारण हिन्दी का उपन्यासकार सामाजिक चित्रण एवं संस्कृति की ओर अधिक उन्मुख हुआ। बंकिम बाबू के ऐतिहासिक और सामाजिक को लोगों ने बड़े चाव से पढ़ा। इसके अतिरिक्त रमेशचन्द्र दत्त, शरच्चंद्र , चारुचन्द्र, राखाल बन्द्योपाध्याय और रवीन्द्रनाथ के बँगला उपन्यासों । अनेक मराठी, गुजराती और अंग्रेजी के श्रेष्ठ उपन्यासों का भी अनुवाद होने लगा । इन सभी उपन्यासों का स्तर तत्कालीन हिन्दी उपन्यासों से ऊँचा था। अतः दित उपन्यासों के कारण हिन्दी लेखकों का ध्यान अति-प्राकृत, वैचित्र्यपूर्ण, घटना- ७ल ऐय्यारी और तिलिस्मी उपन्यासों से हटकर प्राचीन भारतीय संस्कृति के आदर्शों पृष्ठभूमि में तत्कालीन सामाजिक समस्याओं का चित्रण करने की ओर आकृष्ट हुआ। मुंशी प्रेमचन्द हिन्दी साहित्य में युग-प्रवर्तक के रूप में आये। उन्होंने साहित्य के को ऊँचा किया और हिन्दी उपन्यास को बँगला के समकक्ष ले जाने का सफल प्रयास किया। उनका महत्व विशेषतः पाँच दिशाओं में है: (१) उन्होंने

-युग

उपन्यास को अधिक संगठित और क्रमबद्ध कथावस्तु दी (२) उपन्यासों में लेखक की भावनाओं अथवा मान्यताओं के आधार पर कठपुतली पात्रों के स्थान पर जीते-जागते मानव-चरित्रों की प्रतिष्ठा की;) उन्होंने अपने युग की आवश्यकता के अनुरूप ऐसे उपन्यासों की रचना की जिनसे को आगे विकास का मार्ग मिला; (४) उन्होंने सामाजिक समस्याओं का ले करते समय उनके यथार्थ और व्यावहारिक समाधान पर भी दृष्टि रखी; (५) अपनी गहरी, सूक्ष्म और व्यापक सहानुभूति के द्वारा उपन्यासों के संसार नए प्राण दिए। प्रेमचन्द ने प्रथम बार जीवन के प्रत्येक पहलू को साहित्य में स्थान । उच्च, मध्य, निम्न सभी वर्गों का चित्रण करते हुए उन्होंने किसान, मजदूर,

१. द्रष्टव्य : किशोरीलाल गोस्वामी : 'तारा' : भूमिका।

ज़मीदार, महाजन, राजे-रजवाड़े, साम्राज्यवाद के हथकण्डे, सत्याग्रह-संग्राम, मानव की कुटिल प्रवृत्तियों पर, दाम्पत्य जीवन और प्रेमी प्रेमिकाओं की समस्याओं पर, विधवा, वेश्या, वाल-विवाह, अनमेल विवाह और आभूपण-प्रियता आदि सभी विषयों पर समाज-सुधार की दृष्टि से प्रकाश डाला है। द्विवेदीकालीन साहित्य में जो सुधारवादी प्रवृत्ति चल रही थी, उसको प्रेमचन्द ने ही सुदृढ़ बनाया। उपन्यास की कथावस्तु को काल्पनिक कुहासे से निकालकर सामाजिक समस्याओं, राजनैतिक हलचलों और आर्थिक विषमताओं की भूमि पर प्रतिष्ठित करने का श्रेय प्रेमचन्द को ही है। उन्होंने सामाजिक समस्याओं के यथार्थ चित्रण के साथ-साथ उनका आदर्श-मूलक समाधान भी दिया है। अपने इस दृष्टिकोण को प्रेमचन्द ने 'आदर्शोन्मुख यथार्थ' कहा है। प्रेमचन्द की इस प्रवृत्ति का प्रभाव तत्कालीन सभी लेखकों पर पड़ा।

इस युग के उपन्यासों में सामाजिक समस्याओं के अन्तर्गत नारी की विभिन्न समस्यायें विशद रूप से चित्रित हुईं। प्रेमचन्द ने 'सेवासदन' (१८१८) लिखकर सर्वप्रथम वेश्या-वृत्ति की समस्या का गम्भीरता से अध्ययन किया। यह उपन्यास हिन्दी उपन्यास के विकास में मील का पत्थर है। इसके प्रकाशन ने हिन्दी में क्रान्ति की एक लहर दौड़ा दी और वेश्या-वृत्ति[1], विधवा-समस्या[2], अनमेल विवाह[3], स्वच्छन्द प्रेम की समस्या[4], मध्यवित्त जीवन के आत्म-प्रवंचित रूप[5], सम्मिलित परिवार का विघटन[6] आदि के सम्वन्ध में अनेक उपन्यास इस युग में लिखे गए।

राजनैतिक चित्रण की दृष्टि से हिन्दी उपन्यास कोई स्वतन्त्र रूप नही अपना सके हैं। उपन्यास का ध्येय सम्पूर्ण जीवन का चित्रण होने के कारण सामाजिक उपन्यासों में राजनैतिक जीवन की भी छाप पड़ गई है।[7] हम व्यक्ति के सामाजिक और राजनैतिक जीवन को एकदम काट-छाँटकर देख भी नहीं सकते।

---

१. वेश्या-वृत्ति-सम्वन्धी मुख्य उपन्यास—विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक : 'माँ'; भगवती प्रसाद वाजपेयी : 'पतिता की साधना'; भगवतीचरण वर्मा : 'तीन वर्ष'।
२. विधवा-समस्या-सम्वन्धी उपन्यास—प्रेमचन्द : 'वरदान' और 'प्रतिज्ञा', चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' : 'मनोरमा' और 'मंगल प्रभात', जैनेन्द्र : 'परख', राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह : 'राम-रहीम'।
३. अनमेल विवाह और वाल विवाह संबंधी उपन्यास—प्रेमचन्द : 'सेवा सदन' और 'निर्मला'; भगवतीप्रसाद वाजपेयी : 'अनाथ पत्नी'।
४. जयशंकर 'प्रसाद' : 'कंकाल'; प्रेमचन्द : 'कर्मभूमि', 'रंगभूमि', 'गोदान'।
५. प्रेमचन्द : 'ग़वन'।
६. प्रेमचन्द : 'प्रेमाश्रम', 'गोदान'।
७. प्रेमचन्द : 'कर्मभूमि', 'रंगभूमि'; राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह : 'पुरुष और नारी'; ठाकुर श्रीनाथ सिंह : 'जागरण'; निराला : 'अप्सरा'।

गाँवों की ओर भी इस युग के उपन्यासकारों का ध्यान गया। गाँव और शहर दोनों के जीवन का चित्रण इस युग के उपन्यासों में मिलता है।[1] शहर में जहाँ जनता का विरोध साम्राज्यवाद के विरुद्ध[2] है वहाँ गाँव में महाजनी सभ्यता के विरुद्ध। इस समय का उपन्यासकार विभिन्न स्तरों के स्वार्थ को भली प्रकार समझ गया था। विभिन्न वर्गों के अन्तर्विरोधों और स्वार्थों का चित्रण 'रंगभूमि' में विभिन्न पात्रों द्वारा हुआ है। यही नहीं, इस उपन्यास में पूँजीवाद के उत्थान-पतन और औद्योगिक जटिलताओं का भी समावेश मिलता है। अपनी कुलीनता और न्याय की दाद देने वाले जमींदार और सामंत वर्ग किस प्रकार किसानों का शोषण करते हैं, यह 'प्रेमाश्रम' और 'गोदान' में बड़ी सशक्त शैली में व्यक्त हुआ है। इस प्रकार प्रेमचन्द के उपन्यासों की कथावस्तु साम्राज्यवाद और सामंतवाद से संघर्ष करती हुई विकास करती है, यद्यपि अन्त में वे दोनों का समन्वय सुधारवादी ढंग से कर देते हैं।

प्रेमचन्द-युग में कुछ ऐतिहासिक उपन्यास भी लिखे गए।[3] यद्यपि प्रेमचन्द ने इस ओर ध्यान नहीं दिया किन्तु वृन्दावनलाल वर्मा ने 'गढ़कुंडार' (१९३०) लिखकर ऐतिहासिक उपन्यास का सूत्रपात किया। इस उपन्यास के पूर्व के उपन्यासों में लेखक इतिहास के नाम पर तिलिस्म, ऐय्यारी और अतिरंजित प्रेम-कथाओं को ही प्रश्रय देते थे। भगवतीचरण वर्मा का 'चित्रलेखा' उपन्यास भी उल्लेखनीय है। इसमें हमें गुप्त-कालीन वैभव की झाँकी मिलती है।

इस प्रकार प्रेमचन्द-युग में सामाजिक, राजनैतिक और ऐतिहासिक सभी प्रकार के उपन्यास लिखे गए। प्रेमचन्द ने प्रथम बार सामाजिक, राजनैतिक, और आर्थिक मस्याओं का चित्रण हिन्दी उपन्यास में किया। प्रारम्भ में उन्होंने यथार्थ और आदर्श समन्वय किया था; किन्तु धीरे-धीरे प्रेमचन्द समन्वय और आदर्शवादिता को तिलांजलि यथार्थ की कठोर भूमि पर आ गए। उन्होंने मानव की सम्भावनाओं एवं दुर्बलताओं सम्यक चित्रण किया है।[4]

'विविध वर्ग, जाति, स्वभाव, संस्कार, सामाजिक स्थिति, व्यवस्था आदि के जितने धक पात्र प्रेमचंन्द में मिलते हैं उतने औरों में नहीं'।[5] इस युग के अन्य लेखकों ने भी

. ग्रामीण जीवन-सम्बन्धी उपन्यास—सियारामशरण गुप्त : 'गोद', 'अन्तिम आकांक्षा', 'नारी'; शिवपूजन सहाय : 'देहाती दुनिया'; जयशंकर 'प्रसाद', : 'तितली'; प्रेमचन्द : 'प्रेमाश्रम', 'कर्मभूमि', 'गोदान'।

. प्रेमचन्द : 'प्रेमाश्रम', 'गोदान'।

वृन्दावनलाल वर्मा : 'विराटा की पद्मिनी', 'गढ़कुंडार'; जयशंकर 'प्रसाद' : 'इरावती' (अधूरा उपन्यास)।

दृष्टव्य : डा० श्रीकृष्ण लाल : 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास' (पृष्ठ ३१४)।

डा० नगेन्द्र : 'विचार और विवेचन' (पृष्ठ ९१)।

विभिन्न समस्याओं एवं मानव के विभिन्न रूपों का चित्रण किया अवश्य है किन्तु एक तो किसी भी अन्य उपन्यासकार की सहानुभूति प्रेमचन्द की भाँति व्यापक न थी, दूसरे उन्होंने मानव-जीवन और उसकी समस्याओं को वह ममत्व और गम्भीरता प्रदान नहीं की है जो प्रेमचन्द ने की।

प्रेमचन्द ने आर्थिक वैषम्य का चित्रण किया है किन्तु 'उन्होंने अर्थ-वैषम्य को सामाजिक जीवन की ग्रन्थि नहीं बनने दिया है।'[1] पात्र आर्थिक वैषम्य से पीड़ित है किन्तु वे उसका समाधान बाह्य संघर्ष द्वारा ढूँढ़ लेते है। इस युग के लगभग सभी लेखक गाँधीवादी शान्तिपूर्ण नीति पर विश्वास करते थे। वे क्रान्ति की अपेक्षा हृदय-परिवर्तन के मार्ग को श्रेयस्कर समझते थे।

इस युग में समस्त समस्याओं का चित्रण विषय-निष्ठ शैली में किया गया है, व्यक्ति-निष्ठ होकर नही। व्यक्ति-जीवन की जटिलताओं, वैषम्य और संघर्ष के चित्रण के साथ मानव-मन का घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण मनोवैज्ञानिक चित्रण भी अनिवार्य रूप से हुआ है; किन्तु यह चित्रण परिस्थिति के प्रभाव के रूप में हुआ है, मनोवैज्ञानिक अध्ययन के उद्देश्य से नहीं। प्रेमचन्द-पूर्व के उपन्यासकारों को चमत्कार और कौतूहल उत्पन्न करने के प्रयास में व्यक्ति के मन की ओर झाँकने का न तो अवकाश था और न उपयोग ही। उन पात्रों में व्यक्तित्व का अभाव रहता था। पाठक का ध्यान व्यक्ति पर नही, व्यक्ति के क्रिया-कलापों पर केन्द्रित रहता था। किन्तु प्रेमचन्द-युग के उपन्यासकारों ने विशेष परिस्थिति में पड़े हुए पात्र के मानसिक अन्तर्द्वन्द्व की विस्तृत व्याख्या की है। यह मानसिक अन्तर्द्वन्द्व नैतिक-व्यावहारिक विवेक पर ही आश्रित है। नैतिकता का ध्यान रखते हुए अपने विवेक की कसौटी पर व्यावहारिक रूप में जो मानसिक अन्तर्द्वन्द्व संभव हो सकता था, उसी का चित्रण हुआ है। व्यक्ति के अन्तर्जगत की समस्याओं और उसके तीव्र अन्तर्द्वन्द्वों एवं अनुभूतियों को अवांछित महत्व नही दिया गया है।

किसी भी साहित्यिक युग को पूर्ववर्ती और परवर्ती युगों से पूर्णतः विच्छिन्न नहीं किया जा सकता। पुरानी मान्यताओं के साथ ही नई मान्यताओं का उदय होने लगता है।

प्रेमचंदोत्तर काल

प्रेमचन्द-युग में ही नए धरातल विकसित हो रहे थे। बाह्य संघर्ष के साथ-साथ व्यक्ति के अन्तर्मन की गुत्थियों को भी महत्व दिया जाने लगा था। इलाचन्द्र जोशी लिखित 'घृणामयी', (१९२९), जैनेन्द्र लिखित 'परख' (१९३०) और 'सुनीता' (१९३६) इस बात की पुष्टि करते है। 'गोदान' और 'सुनीता' दोनों कृतियाँ एक ही सन् में प्रकाशित हुई थी, यद्यपि एक की भावभूमि प्रेमचन्द-युग की है और दूसरे की अगले युग की।

इन नए धरातलों के विकसित होने का मुख्य कारण है—मनोविज्ञान और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के सिद्धान्तों की खोज। सन् १८८५ में फ्रायड द्वारा जिस नए प्रयोगात्मक

---

१. वही: (पृष्ठ ९२)।

मनोवैज्ञानिक और मनोविश्लेषण-पद्धति की नींव पड़ी, उसका प्रभाव विश्व साहित्य के माध्यम से हिन्दी उपन्यास पर प्रेमचन्द-युग में ही पड़ने लगा था। मनोवैज्ञानिक विश्लेपण ने व्यक्ति के मन और उसके अवचेतन की गहराइयों पर नए ढंग से प्रकाश डाला। फ्रायड, एडलर, युग इत्यादि मनोवैज्ञानिक चिकित्सकों ने मानव-मन को समझने में बड़ी सहायता दी। इन मनोवैज्ञानिकों का प्रभाव अंग्रेजी साहित्य पर विशेष रूप से पड़ा था। इन अंग्रेजी उपन्यासों का प्रभाव बँगला उपन्यासों पर पड़ा। रवीन्द्रनाथ ने घर-बाहर की समस्या रखी, जो आगे चलकर 'सुनीता' में दिखाई दी। शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय पर यह प्रभाव और भी गहरे रूप में पड़ा। उन्होंने स्त्री-पुरुष के आकर्षण-विकर्षण, उनकी मनोवेदना, दमित और विद्रोहिणी नारी एवं भटकते पुरुष का मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है। इस बँगला साहित्य का प्रभाव हिन्दी साहित्य पर पर्याप्त रूप से पड़ा। फलस्वरूप उपन्यास की कथावस्तु और उसके शिल्प में भी काफी अन्तर आ गया।

प्रेमचन्द-युग के उपन्यासों में वर्णनात्मक शैली का प्राधान्य था, पर अब मनोवैज्ञानिक-विश्लेषणात्मक शैली अधिकाधिक प्रचलित होती गई। प्रेमचन्द-युग की कथावस्तु का विस्तार समुद्र की भाँति विस्तृत था, पर इन नए मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में कथावस्तु बहुत सीमित हो गई। अभिव्यंजना इतनी बढ़ गई कि कथा-प्रवाह और चरित्र-विकास का स्थान गौण हो गया। पात्रों की संख्या भी घट गई। इन मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में उपन्यासकार एक सीमित परिधि के भीतर एक सीमित दृष्टिकोण से देखने लगा। अतः कथावस्तु में एक ओर संकोच आया तो दूसरी ओर तीव्रता। स्थान, काल और क्रिया-कलापों में बुद्धिसंगत एकता आई। प्रेमचन्द-युग के उपन्यासों में विस्तार तो था किन्तु वह गहराई, तलस्पर्शिता एवं तीव्रता न थी जो बाद के उपन्यासों में दिखाई देती है।

प्रेमचन्द-युग में हार्डी की भाँति व्यक्ति और परिस्थिति या नियति का संघर्ष दिखाई देता है। किन्तु बाद में इस संघर्ष के अतिरिक्त और भी संघर्ष उभर कर आये। समाज के विकास के साथ नए संघर्षों का उदय होता है। इन्हीं नये संघर्षों की उपज से उपन्यास त्रिकास दिन-प्रति-दिन होता रहा। पहले व्यक्ति अपने परिवेश से संघर्ष करता था, फर वह संघर्ष क्रमशः दो वर्गों और दो परिवारों से होता हुआ दो व्यक्तियों के संघर्ष का ले उठा।[1] इस विकास की चरम परिणति व्यक्ति-चरित्र-प्रधान उपन्यासों मे हुई। उपन्यासों में मानव-चरित्र से व्यक्ति-चरित्र महत्वपूर्ण हो गया। व्यक्ति की व्यक्तिगत ˋ ˊ, उसका मन, उसकी चेतना ही साहित्य का मुख्य अंग बन गई। इस मानसिक घर्ष का चित्रण ही अपने आपमें एक अन्त बन गया, वही उपन्यास का ध्येय हो गया।

· **'समाज के भीतर वर्ग और वर्ग का संघर्ष, फिर वर्ग के भीतर कुल और कुल का, कुल में परिवार और परिवार का और अन्ततोगत्वा परिवार के भीतर व्यक्ति और व्यक्ति का संघर्ष—इन सब पर टिककर उपन्यासकार की दृष्टि विकसित होती रही।' सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन : 'कल्पना' : जून १९५२ (पृष्ठ ४२३)।**

इन उपन्यासों की कथावस्तु की प्रेरणा अब वे सामाजिक समस्यायें न रहीं जो अब तक रहा करती थीं। वे सब समस्यायें समाज में किसी न किसी रूप में प्रचलित तो रहीं पर सामाजिक जागृति के कारण उनकी ओर पाठक का ध्यान आकर्षित करने की कोई आवश्यकता लेखकों ने अनुभव न की। उनका ध्यान यौन-सम्बन्धों की समस्या, स्वच्छन्द प्रेम की समस्या, आर्थिक परिवर्तनों के कारण उत्पन्न विकार और बंधन—इन्हीं की ओर विशेष रूप से गया।

इस युग के लगभग प्रत्येक उपन्यासकार ने यौन-सम्बन्धों की समस्याओं तथा स्वच्छन्द प्रेम की सनस्याओं को मनोवैज्ञानिक ढंग से अपने-अपने दृष्टिकोण और टैकनीक द्वारा प्रस्तुत किया है। उनका चित्रण प्रेमचन्द-युग की तरह वस्तुनिष्ठ न होकर व्यक्तिनिष्ठ ढंग पर हुआ है जिससे उसमें गहराई और तलस्पर्शिता आई है।

इस चित्रग में मोटे तौर पर दो प्रवृत्तियाँ दिखाई देती हैं। पहली मनोवैज्ञानिक चित्रण की प्रवृत्ति और दूसरी समाजवादी चित्रण की प्रवृत्ति। जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी और अज्ञेय ने यौन-सम्बन्धी समस्याओं और स्वच्छन्द-प्रेम की समस्याओं को मनोवैज्ञानिक रूप दिया है। इन्होंने ऐसे चरित्र उपस्थित किए हैं जो सामाजिक उत्तरदायित्व से इन्कार करते हुए अपनी भावनाओं में लीन हैं। दूसरी ओर समाजवादी प्रवृत्ति मार्क्स से प्रभावित थी। यशपाल, रांगेय राघव, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', 'अंचल', भगवतीचरण वर्मा और नागार्जुन ने मुख्यतः समाजवादी दृष्टिकोण अपनाया है। उन्होंने सामाजिक परिस्थिति में व्यक्ति को व्यापक एवं सर्वांगीण रूप में देखने का प्रयत्न किया है।

जैनेन्द्र ने हिन्दी कथा-प्रवाह की वहिर्मुखी प्रवृत्ति को अन्तर्जगत की ओर मोड़ने की चेष्टा की है। वे वर्णनात्मक से अधिक गवेषणात्मक हैं। उन्होंने अपने उपन्यासों में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की पद्धति अपनाते हुए जीवन के गाँधीवादी सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा की है। उन्होंने शिक्षित मध्यवित्त परिवार के भीतर व्यक्ति-जीवन की प्रेम और सैक्स की उन समस्याओं को उठाया है जिनका व्यापक जीवन में सामंजस्य न हो सकने के कारण व्यक्ति के मन में आत्मपीड़क कुंठाओं और असंतोषों का जन्म होता है। 'परख', 'सुनीता', 'त्यागपत्र' और 'कल्याणी' में स्त्री-पुरुष के प्रेम की समस्या चित्रित है।

इलाचन्द्र जोशी के सभी उपन्यासों के चरित्र प्रकृति से अत्यन्त दुर्बल, चारित्रिक शक्ति से रहित, हीन-भावनाओं से ग्रसित, विज्ञान की पुस्तकों में दिये गये रुग्ण मानस के व्यक्ति हैं। उन्होंने फ्रायड के इन सिद्धान्तों को पूर्ण रूप से ग्रहण किया है कि व्यक्ति की काम-वासनायें दमित होने के कारण अवचेतन और अर्धचेतन में उमड़ती-घुमड़ती रहती हैं और फिर मानसिक ग्रन्थि का रूप धारण कर व्यक्ति को असामाजिक बना देती हैं। 'पर्दे की रानी', 'प्रेत और छाया', 'संन्यासी' और 'मुक्ति-पथ' के पात्र इसी प्रकार के हैं।

अज्ञेय पर मुख्यतः फ्रायड के मनोविश्लेषण-विज्ञान और अंग्रेजी के कवि टी० एस० इलियट और उपन्यासकार डी० एच० लारेन्स का प्रभाव पड़ा है। स्त्री-पुरुष के स्वाभा-

विक आकर्षण पर ही आपने अपना प्रसिद्ध उपन्यास 'शेखर: एक जीवनी' (१९४४) लिखा है। पुरुष का अहं और उसके प्रति नारी के तन-मन-समर्पण का ही रूप इनके उपन्यासों में अधिक मिलता है। इसके अतिरिक्त इस उपन्यास में आपने शिशु-मानस के विश्लेषण, उसकी मानसिक प्रक्रिया एवं उसके अचेतन मन का विशद उद्घाटन किया है।

इसके विपरीत समाजवादी प्रवृत्ति के अनुयायी यशपाल, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', रांगेय राघव, 'अंचल', भगवतीचरण वर्मा और नागार्जुन ने प्रेमचन्द की वस्तुनिष्ठ यथार्थवादी परम्परा को आगे बढ़ाने की चेष्टा की है। यशपाल ने समाज की जर्जर मान्यताओं के खोखलेपन को उद्घाटित किया है और उसमें मार्क्स के सामाजिक-राजनैतिक सिद्धान्त आरोपित किए हैं। अपने सिद्धान्त के लिए यशपाल कहीं-कहीं कथावस्तु की यथार्थता का ध्यान भी छोड़ देते हैं। राजनैतिक सिद्धान्त के साथ-साथ इनके उपन्यासों में रोमांस का भी योग रहता है जिससे दोनों के ही चित्रण में यशपाल को केवल आंशिक सफलता ही मिली है। उनके राजनैतिक सिद्धान्त कथानक पर आरोपित प्रतीत होते हैं। फलस्वरूप नारी के मन की सारी समस्या नितान्त स्थूल सैक्स की समस्या के रूप में संकीर्ण बन गई है।[१] 'पार्टी कामरेड', 'दादा कामरेड', 'देशद्रोही' और 'मनुष्य के रूप' इस बात के प्रमाण हैं।

उपेन्द्रनाथ 'अश्क' के प्रथम उपन्यास 'सितारों के खेल' में रोमानी वातावरण था किन्तु 'गिरती दीवारें' में नायक चेतन निम्न-मध्य-वर्ग के जीवन का प्रतीक है। इस उपन्यास में 'अश्क' ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि व्यक्ति की जीवनी-शक्ति इतनी प्रबल होती है कि वह बड़े से बड़े संकट के सामने भी हार नहीं मानती।

'अंचल' और रांगेय राघव की सामाजिक चेतना में रोमान्टिक प्रवृत्ति पाई जाती है। नागार्जुन प्रेमचन्द की परम्परा के सच्चे अर्थ में यथार्थवादी लेखक हैं। 'रतिनाथ की चाची' में प्रेमचन्द के बाद पहली बार गाँव के सच्चे जीवन के चित्र दिये गये हैं जिनका चलकर आंचलिक उपन्यासों में विकास हुआ।

मनोवैज्ञानिक और सामाजिक उपन्यासों के अतिरिक्त इस काल में कुछ उत्कृष्ट उपन्यास भी लिखे गये। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी लिखित 'बाणभट्ट की ' (१९४६) हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासों में गिना जाता है। इसमें ऐतिहासिकता र औपन्यासिकता दोनों का सफल निर्वाह हुआ है। तत्कालीन परिस्थितियों को सफलता पुनरुज्जीवित करने के लिए यह रचना बेजोड़ है। इसी प्रकार वृन्दावनलाल वर्मा उपन्यास 'झाँसी की रानी' भी सफल ऐतिहासिक रचना है। इसकी कथावस्तु लेखक दीर्घ परिश्रम और अन्वेषण से प्राप्त हुई है। इस काल में लिखा गया इनका दूसरा उपन्यास 'मृगनयनी' भी उत्कृष्ट कृति है। रामरतन भटनागर की

शिवदानसिंह चौहान : 'हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष' (पृष्ठ १६६)।

'अम्वपाली' और चतुरसेन शास्त्री लिखित 'वैशाली की नगरवधू' भी सफल ऐतिहासिक उपन्यासों में है।

इस काल के ऐतिहासिक उपन्यासों में मार्क्सवादी विचारधारा भी मिलती है। यशपाल ने 'दिव्या' में वौद्धधर्म के ह्रास, वर्णाश्रम-व्यवस्था के पुनरुत्थान, ब्राह्मणों के षड़यंत्र और दासों के विद्रोह की प्राचीन सामंतीय पृष्ठभूमि में नारी का चरित्र-चित्रण किया है। इस उपन्यास में यह प्रतिपादित किया गया है कि सामन्तीय समाज में नारी केवल वासना की कठपुतली है। राहुल सांकृत्यायन के ऐतिहासिक उपन्यास 'सिंह सेनापति' और 'जय यौधेय' में ऐतिहासिक सामग्री के आधार पर प्राचीन गणराज्यों की व्यवस्था और संस्कृति पर प्रकाश डाला गया है।

इस प्रकार हिन्दी की औपन्यासिक परम्परा भारतेन्दु-युग मे एक पतली धारा के रूप में प्रकट होकर धीरे-धीरे विकसित होती हुई आधुनिक युग में सहस्र-धारा विशाल नदी का रूप ग्रहण कर लेती है जिसमें समसामयिक जीवन की सभी समस्याओं, सभी प्रवृत्तियों और सभी आदर्शों की झलक पाई जाती है। आधुनिक हिन्दी उपन्यास आधुनिक भारतीय जीवन के सच्चे प्रतिबिम्व है।

अध्याय २

नारी के प्रति उपन्यासकारों के दृष्टिकोण में क्रमिक विकास

प्रेमचन्द के पूर्व

भारतेन्दु-युग उपन्यास-साहित्य का जन्म-काल है। सन् १८७० में 'हिन्दी नये साँचे में ढली' और आधुनिक साहित्य के प्रारम्भ के साथ-साथ उसके महत्वपूर्ण अंग उपन्यास का भी श्रीगणेश हुआ। वाह्य प्रभावों एवं देश की परिस्थिति के अनुरूप इस समय अनेक प्रकार के उपन्यास लिखे गये, जैसे तिलिस्मी, ऐय्यारी, जासूसी, ऐतिहासिक, पौराणिक और सामाजिक। इन उपन्यासों में चित्रित नारी भी विभिन्न रूपों में सामने आई। उपन्यासकारों ने जिन-जिन दृष्टिकोणों से नारी-चित्रण किया है उनकी पृष्ठभूमि में तीन मुख्य प्रभाव लक्षित होते हैं—(१) वाह्य प्रभाव (२) रीतिकालीन परम्परा का प्रभाव और (३) सामाजिक पुनर्जागरण का प्रभाव। इन प्रभावों का मिला-जुला रूप हिन्दी उपन्यासों में दृष्टिगोचर होने पर भी विशेष प्रकार के उपन्यासों में विशिष्ट प्रभाव परिलक्षित होते हैं।

देवकीनन्दन खत्री ने हिन्दी में तिलिस्मी और ऐय्यारी उपन्यास लिखने की परम्परा चलाई। इन उपन्यासों की कल्पना पर फ़ारसी के 'तिलिस्म होशरुबा' और फ़ारस की कथा-परम्पराओं का प्रभाव था। इस प्रभाव के कारण इन उपन्यासों में चित्रित अधिकांश पात्रों की कल्पना भी फ़ारसी ढंग पर की गई है। इस कारण इन उपन्यासों की अधिकांश नारियाँ भारतीय प्रतीत नहीं होतीं। वे उन सभी मूलभूत प्रवृत्तियों से रहित हैं जो भारतीय नारी के साथ युग-युग से सम्बद्ध रही हैं। उपन्यासकारों ने ऐय्यार नायक और ऐय्यार नायिका के चरित्र-चित्रण में कोई विशेष अन्तर नहीं रखा है। नारियाँ भी पुरुषों के समान ही ऐय्यार हैं। वे जाल-फ़रेब, झूठ, चालाकी सभी का उपयोग करती हैं। कैद में जाकर पुरुष और नारी दोनों ही समान रूप से लाचार हो जाते हैं। तिलिस्म का रहस्य जानने में, वेश बदलने में, झूठ बोलने में, एक-दूसरे को मारने में नारी पुरुष से किसी प्रकार भी कम दिखाई नहीं देती, वरन् अपनी कुटिलता के आधिक्य के कारण कहीं-कहीं दो पग आगे बढ़ी हुई दृष्टिगोचर होती है। एक नारी दूसरी के प्रति उतनी ही कटु हो सकती है जितना साँप और नेवला। 'चंद्रकान्ता-सन्तति' में धनपति के वेश में कुन्दन किशोरी को जीवित जलाने तक के लिए प्रस्तुत हो जाती है।[1] यही नहीं, कमलिनी

---

१. देवकीनंदन खत्री : 'चन्द्रकान्ता-संतति' चौथा हिस्सा, चौथा संस्करण (पृष्ठ ११३)।

और मनोरमा के मन में जो तीव्र द्वेप-भावना है वह अन्यत्र मिलनी कठिन है। फिर भी मुख्य-मुख्य नारी ऐय्यारों को कुछ नैतिक बंधन मानने पड़ते हैं। एक नारी ऐय्यार दूसरी नारी ऐय्यार की न तो हत्या कर सकती है और न दुर्व्यवहार। वह केवल उसे वन्दी बना सकती है। वे दूसरों के रहस्यों एवं भेदों का समुचित आदर भी करती हैं।

ये नारियाँ ऐय्यार नायिका की अन्तरंग सखियाँ भी होती हैं। इन ऐय्यार या अन्तरंग सखियों में एक बात मुख्य रूप से पाई जाती है कि ये नायिकाओं के प्रति सदैव सच्ची रहती हैं। ये अपने प्राणों की आहुति चढ़ाकर भी अपने वचन और स्वामिभक्ति पर अटल रहती हैं। 'चंद्रकांता' उपन्यास में चन्द्रकान्ता की अन्तरंग सखियाँ चपला और चम्पा ऐसी ही हैं। वे स्वामिभक्ति में सब कुछ करने के लिए तत्पर हो जाती हैं। 'कुसुम-कुमारी' की मालती अपनी महारानी की रक्षा के हेतु अपने प्राण तक दे देती है।[1]

प्रणय के क्षेत्र में भी तिलिस्मी उपन्यासों में नारियों का चित्रण फ़ारसी परिपाटी पर ही हुआ है यद्यपि उसमें रीतिकालीन शृंगारिक भावना का भी समावेश दृष्टिगोचर होता है। इन उपन्यासकारों ने नारी के दो चरम रूपों का चित्रण किया है। एक तो ऐसी नारियां हैं जो अपने स्वार्थ के लिए कुछ भी करने को प्रस्तुत हो जाती हैं, यहाँ तक कि विभिन्न परिस्थितियों में विभिन्न पुरुषों से प्रेम-याचना भी करती हैं, जैसे 'चंद्रकान्ता-संतति' में माधवी। किन्तु ऐसे नारी पात्रों को उपन्यासकार अपनी संवेदना नहीं दे पाया है। दूसरी वे नारियाँ हैं जो प्रेम की अनन्यता में विश्वास करती है। ये नायिकायें अधिकतर प्रमुख नायिका के रूप में ही चित्रित हुई है। इन नायिकाओं के प्रति नायकों का प्रेम भी अनन्य होता है। इनका प्रेम कोई भी बाधा-बंधन स्वीकार नहीं करता, जैसे 'चंद्रकान्ता' में कुमार वीरेन्द्रसिंह और चंद्रकान्ता का प्रेम। ऐसे प्रेम को आदर्श के रूप में प्रस्तुत किया गया है। ये नायिकायें रीतिकालीन नायिकाओं की भाँति अति सुन्दर और कोमल प्रवृत्ति की होती हैं।

इस प्रकार तिलिस्मी उपन्यासों के लेखकों ने नारी के व्यक्तित्व का संतुलित या सम्यक् चित्रण नहीं किया है। कुछ नारियाँ तो कठोर से कठोर कार्य करती प्रतीत होती हैं और कुछ कुसुम से भी कोमल दृष्टिगोचर होती हैं। कुछ नारियाँ पुरुष-वेश धारण-कर पौरुष का अभिनय बड़ी सफलता से करती हैं तो कुछ नारियों की शृंगार-छटा रीतिकालीन कवियों की नायिकाओं से किसी प्रकार कम प्रतीत नहीं होती।[2]

---

१. देवकीनंदन खत्री : 'कुसुमकुमारी' (पृष्ठ ६७)।

२. 'अहा इस समय की छवि भी देखने लायक है। बदन में कोई जेवर न होने पर भी उसके हुस्न और नज़ाक़त में किसी तरह का फ़र्क़ नहीं पड़ा था। सिर्फ एक सादी साड़ी सुफ़ेद रंग की पहने हुए थी, जिसके अन्दर से चम्पे का रंग लिए हुए गोरे बदन की आभा निकल रही थी, सिर के बाल खुले हुए थे, जिसमें से कई घूँघरवाली लटें गुलाबी गालों पर लहरा रही थीं; काली काली भौंहें कमान की तरह खिंची हुई थीं, जिनके नीचे की बड़ी-

इन उपन्यासकारों ने पात्रों के चरित्र-चित्रण पर भी ध्यान नहीं दिया है। चरित्र-चित्रण करना इनका उद्देश्य था भी नहीं। ये तो पाठकों के मनोरंजन के हेतु उपन्यास लिखते थे, इसलिए ऐसी कौतूहलमयी और वैचित्र्यपूर्ण घटनाओं का समावेश करते थे जिनसे उपन्यास अधिक रोचक बने, अधिक से अधिक पाठक उसे पढ़ने को उत्सुक हों।

तिलिस्मी उपन्यासों की भाँति जासूसी उपन्यासों में भी नारी का स्थान गौण है। लेखक की दृष्टि घटनाओं को रहस्यपूर्ण बनाने की ओर है, नारी-चित्रण की ओर नहीं। इनमें भी नारी के दो चरम रूप दृष्टिगोचर होते हैं, या तो वे देवी हैं या फिर दानवी। गोपालराम गहमरी के 'ठनठनगोपाल' में हरदेवी और रेशमी, 'गुप्तचर' में सुलोचना और लीला का चरित्र आदर्श नारी के रूप में चित्रित हुआ है। हरदेवी लज्जालु, साहसी और धर्मनिष्ठ है। वह अपहरण कर ली जाने पर भी सतीत्व की रक्षा करती है। वह अपनी अपार सम्पत्ति को सब पापों का मूल समझकर त्याग देती है। वह विधवा माता से भी बहुत प्रेम करती है। दूसरी ओर 'झंडा डाकू' में उर्मिला और 'अद्भुत खून' में लूसी कुटिल नारी स्वभाव को प्रतिबिम्ब करती हैं। लूसी चरित्रहीन है, पति की अनुपस्थिति में प्रेमी के साथ चली जाती है और बाद में उसकी मृत्यु का कारण बनती है। उर्मिला एक भीषण डाकू की पत्नी है। नारी-सुलभ गुणों का उसमें एकदम अभाव है। जासूसों को फंदे में डालकर वह अपने डाकू पति की सहायता करती है।

इसके अतिरिक्त इन उपन्यासकारों ने नारी को अबला भी माना है। कहीं तो उसका धन लूट लिया जाता है और वह दर-दर भटकती फिरती है, कहीं उसका अपहरण हो जाता है और वह बिना परों वाले पक्षी की भाँति असहाय प्रतीत होती है।

इस प्रकार तिलिस्मी और जासूसी उपन्यासों के लेखकों ने नारी-चरित्र की ओर ध्यान नहीं दिया। सच पूछा जाय तो ये दोनों प्रकार के उपन्यास वास्तविक अर्थ में उपन्यास थे भी नहीं। उपन्यास को जनसाधारण का महाकाव्य कहा गया है किन्तु इन्होंने जनसाधारण को चित्रित करने की कोई चेष्टा नहीं की। इनकी दृष्टि केवल पाठकों के मनोरंजन करने की ओर थी। इन्होंने, विशेषकर देवकीनंदन खत्री ने, सम्पन्न सामन्तयुगीन नारी को लिया है, साधारण और आधुनिक नारी के वहाँ दर्शन नहीं होते। उनका दृष्टिकोण उस समाज का दृष्टिकोण है जो पुरुष की सत्ता पर आधारित है, नारी को जहाँ न कुछ कहने का अधिकार है न पाने का। पुरुष उस पर मनचाहा शासन करता है। इसी का परिणाम था कि इन लेखकों ने नारी का मनचाहा चित्रण किया। जैसे जीवन में वैसे ही साहित्य में नारी केवल पुरुष के मनोरंजन का साधन थी, और अपने अस्तित्व तक के लिए उसकी कृपा पर अवलम्बित थी।

बड़ी रतनार आँखें रनबीर सिंह की तरफ़ प्रेम-बान चला रही थीं।'
देवकीनन्दन खत्री : 'कुसुमकुमारी' (पृष्ठ ४९)

पश्चिमी सभ्यता के सम्पर्क और विभिन्न भारतीय सामाजिक आन्दोलनों के कारण राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक क्षेत्र में भारतीय दृष्टिकोण वदल रहा था और इस वदलते हुए नवीन दृष्टिकोण को लेकर आधुनिक साहित्य का भी विकास हुआ। इस दृष्टिकोण का प्रतिविम्व उस समय के खड़ी वोली के काव्य और निवन्ध-साहित्य पर विशेष रूप से दिखाई देता है, उपन्यास पर प्रभाव अपेक्षाकृत कम पड़ा। इसका मुख्य कारण यह था कि उस समय उपन्यास अपनी प्रारम्भिक अवस्था में था और इसीलिए अभी लोग उसे केवल मनोरंजन की वस्तु समझते थे। फिर भी उपन्यासों की लोक-प्रियता को देखकर और तत्कालीन राजनैतिक, और सामाजिक अवस्था से प्रभावित होकर कुछ धर्म-प्रचारकों और समाज-सुधारकों ने अपने मत-प्रचार के लिए उपन्यास को साधन के रूप में माना।

राष्ट्रीय जागरण के कारण कुछ उपन्यासकारों ने महिलाओं में भी देशभक्ति की भावना का संचार करने का प्रयत्न किया। इसलिए अनेक ऐतिहासिक उपन्यास लिखकर उन इतिहास-प्रसिद्ध वीर ललनाओ के चरित्र प्रस्तुत किये जिन्होंने अपने देश और गौरव की रक्षा के लिए आत्म-वलिदान किया था। इन ऐतिहासिक उपन्यासों में ऐतिहासिकता की प्रायः उपेक्षा की गई है। घटनाओं और चरित्रों को मनमाने ढंग पर घुमाव देकर इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है कि नायिका का कृत्य असाधारण रूप से उज्ज्वल लगे। इसके लिए अतिरंजित कल्पना की भी शरण ली गई है। ऐसा करने में इन लेखकों का उद्देश्य यही था कि तिलिस्मी और जासूसी उपन्यासों मे रुचि रखने वाले साधारण पाठक भी इनकी ओर आकृष्ट हो सकें और इनसे अपना मनोरंजन कर सकें। ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित यथार्थवादी उपन्यास यह कार्य नही कर सकते थे।

ऐतिहासिक उपन्यासकारों की ही भाँति कुछ धर्म-प्रवण लेखकों ने उपन्यास को धर्म के प्रचार का माध्यम वनाया। भारतवर्ष पर पाश्चात्य शिक्षा एवं पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव दिन-प्रतिदिन बढ़ रहा था। कुछ सनातन-धर्मी लोगों को भय था कि कहीं भारतीय नारी पाश्चात्य नारी की भाँति न वन जाये। इसलिए उस प्रभाव से वचाने के हेतु उन्होंने पौराणिक कथाओं का आश्रय लिया। पौराणिक उपन्यास लिखने के मूल मे तीन और कारण निहित थे। अभी तक उपन्यासकार ने जनसाधारण के जीवन को चित्रित करना नहीं सीखा था इसलिए उपन्यास के विषय और उपादान वहुत सीमित थे, अतः उनका ध्यान पुराणों की ओर गया। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण जो दूसरा कारण था वह था स्त्री शिक्षा के प्रसार की भावना। उस समय नारियों के पढ़ने के लिए कोई सामग्री न थी। वे तिलिस्मी और जासूसी उपन्यासों को पढ़ना पसन्द नही करती थी। धार्मिक कथाओं में उनकी रुचि थी। इसीलिए उपन्यासकारों ने पौराणिक सती और पतिव्रता नारियों के उदाहरण प्रस्तुत किए जिनसे नारियों की धार्मिक भावना भी सन्तुष्ट हो, उन्हें प्राचीन गौरव एवं आदर्श का ज्ञान हो तथा उन चरित्रों को पढ़कर वे चरित्र-

वान और कर्तव्य-परायण बन सकें। इन उपन्यासों में सती सावित्री, सीता, अनसूया, रुक्मिणी, सुभद्रा, दमयन्ती, चंद्रलेखा, सती सीमंतिनी, मदालसा, सती बेहुला आदि के उदाहरण प्रस्तुत किए गये। इसके अतिरिक्त पौराणिक उपन्यास लिखने का तीसरा कारण था कि कुछ धार्मिक प्रवृत्ति के उपन्यासकारों में प्राचीन गौरव के पुनरुत्थान की भावना थी। वे केवल नारी को ही नहीं, प्राणीमात्र को भारतीय संस्कृति और सभ्यता की शिक्षा देना चाहते थे। बाबू रत्नचन्द्र प्लीडर ने 'नूतन चरित्र' की भूमिका में लिखा था: 'इसके पढ़ने से यह प्रकट होगा कि धर्म पर चलने से चाहे कुछ हानि भी हो और क्लेश भी उठाना पड़े परन्तु वह क्लेश जल्द दूर हो जाता है और धर्म-विरुद्ध आचरण करने वाले का कभी अच्छा नहीं होता।'

भारतेन्दु-युग के उपन्यासकारों का ध्यान तत्कालीन नारी की सामाजिक हीनावस्था की ओर भी गया। भारतेन्दु-युग के पूर्व नारी के केवल दो ही रूप हिन्दी साहित्य में चित्रित हुए थे। कभी तो वह सृष्टि की विधात्री, पवित्रता तथा स्नेह की मूर्ति के रूप में चित्रित हुई है और कभी साधना में बाधा, मात्र भोग्या, श्रृंगारिक भावनाओं में लिप्त कामिनी के रूप में। भारतेन्दु ने प्रथम बार नारी को सम्मान की दृष्टि से देखा और उसके व्यक्तित्व को महत्व देने की एवं उसके विकास करने की चेष्टा की।

भारतेंदु भारतीय नारी की पतितावस्था को देखकर अत्यन्त दुखी थे। उन्होंने अपने सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक नाटक 'नीलदेवी' की रचना इसी उद्देश्य से की थी कि इससे भारतीय नारी को अपनी हीनावस्था का कुछ ज्ञान हो सके। उन्होंने 'नीलदेवी' की भूमिका में स्पष्ट शब्दों में कहा है कि वह पाश्चात्य नारी के बाह्याडम्बर को छोड़कर उसके सद्गुणों को हृदयंगम करे। उन्होंने लिखा: 'जब मुझे अंग्रेज रमणी लोग, मेद-सिंचित केशराशि, कृत्रिम कुंतल जूट, मिथ्या रत्नाभरण और विविध वर्ण वसन से भूषित क्षीण कटि देश कसे, निज-निज पति-गण के साथ प्रसन्न-वदन इधर से उधर फर-फर कल की पुतली की भाँति फिरती हुई दिखलाई पड़ती है तब इस देश की सीधी-सादी स्त्रियों की हीन अवस्था मुझको स्मरण आती है और यही बात मेरे दुःख का कारण होती है। इससे यह शंका किसी को न हो कि मैं भी यह इच्छा रखता हूँ कि इन गौरांगी युवती समूह की भाँति हमारी कुल-लक्ष्मी-गण भी लज्जा को तिलांजलि देकर अपने पति के साथ घूमें,' किन्तु और बातों में जिस प्रकार अंग्रेज स्त्रियाँ सावधान होती हैं, पढ़ी-लिखी होती हैं, घर का काम-काज सँभारती हैं,-अपने संतान-गण को शिक्षा देती हैं, अपना स्वत्व पहचानती हैं, अपनी जाति और देश की सम्पत्ति-विपत्ति को समझती हैं, उसमें सहायता देती हैं और इतने समुन्नत मनुष्य जीवन को व्यर्थ गृहदास्य और कलह ही में नहीं खोतीं, उसी भाँति हमारी गृह-देवता भी वर्तमान हीनावस्था को उल्लंघन करके कुछ उन्नति प्राप्त करें, यही लालसा है। इस उन्नति पथ का अवरोधक हम लोगों की वर्तमान कुल परम्परा मात्र है और कुछ नहीं है। आर्य-जन मात्र को विश्वास है कि हमारे यहाँ सर्वदा स्त्रीगण इसी अवस्था में थीं। इस विश्वास को दूर करने के हेतु यह

ग्रन्थ विरचित होकर आप लोगों के कोमल कर कमलों में समर्पित होता है। निवेदन यही है कि आप लोग इन्हीं पुण्य-रूप स्त्रियों के चरित्र को पढ़ें, सुनें और क्रम से यथाशक्ति अपनी वृद्धि करें।'

इस प्रकार भारतेंदु की सामाजिक चेतना अत्यन्त विकसित थी। उन्होंने पाश्चात्य नारी के दुर्गुणों को छोड़कर अच्छे गुणों की सराहना की और भारतीय नारी को भी वैसी ही बनने की प्रेरणा दी। यह दुःख की बात है कि भारतेंदु उपन्यास के क्षेत्र में अधिक कुछ न दे पाये। उनके बाद जो उपन्यासकार हुए उनमें भारतेंदु की-सी नवीन दृष्टि नहीं मिलती। किशोरीलाल गोस्वामी, पं० लज्जाराम मेहता तथा ईश्वरीप्रसाद शर्मा ने अनेक सामाजिक उपन्यास लिखे, पर वे वर्णाश्रम की परिपाटी को मानने वाले थे अतः उन्होंने नारी की तत्कालीन समस्याओं, जैसे बाल-विवाह, अनमेल-विवाह, देवदासी-प्रथा, विधवा और वेश्या की समस्याओं को वर्ण्य-विषय तो बनाया है किन्तु इनका चित्रण और समाधान प्राचीन मान्यताओं के अनुसार ही किया है। उनके उपन्यासों को पढ़ते समय ऐसा लगता है मानो वे पाश्चात्य सभ्यता एवं शिक्षा के प्रसार से बहुत भयभीत थे। वे भारतीय नारी को उसके प्रभाव से सर्वथा दूर रखना चाहते थे। इसलिए वे अपनी रचनाओं में स्थान-स्थान पर पाश्चात्य नारी की भर्त्सना करते गये है। साथ ही उन्होंने प्राचीन संस्कृति की महिमा का गुणगान करने का कोई भी अवसर नहीं चूका है। ईश्वरी-प्रसाद शर्मा ने 'मागधी कुसुम' (१९११) की भूमिका में अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए लिखा था: 'तो भी हिन्दी उपन्यासों में जिस प्रकार हिन्दू समाज के नियमों को लात मारी जाती है, वैसा इस उपन्यास में नहीं किया गया है और ग्रंथकार की इस ओर दृष्टि बराबर रही है कि उसके उपन्यास में हिन्दू समाज के नियम का उल्लंघन न होने पावे।' इसी प्रकार उन्होंने 'वामा-शिक्षक' (१८८३) की भूमिका में भी लिखा—'यह पुस्तक हिन्दुओं की लड़कियों को हिन्दुओं की रीति-नीति के अनुसार लाभ पहुँचाने के उद्देश्य से लिखी गई है।'

अतः इन उपन्यासकारों ने हिन्दू संस्कृति और हिन्दू समाज के नियमों पर विशेष बल दिया। वे नारी को शिक्षा देना चाहते थे। किन्तु केवल इतनी शिक्षा जिससे वह चिट्ठी-पत्री पढ़-लिख सके, धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन कर सके। बाल-विवाह के विरोधी होते हुए भी वे बारह वर्ष से पंद्रह वर्ष तक की अवस्था में कन्या के विवाह को आदर्श मानते थे। पर्दे के विरोधी होते हुए भी घर से बाहर सामाजिक क्षेत्र में नारी के कार्य को उचित नहीं समझते थे। यदि नारी को अर्थोपार्जन की आवश्यकता पड़ ही जाये तो भी वे यही चाहते थे कि वह घर बैठी ही काम करे, जैसे 'वामा-शिक्षक' में किशोरी घर में ही टोपियाँ सिलकर जीविका कमाने का प्रस्ताव रखती है। विधवा-विवाह के वे कट्टर विरोधी थे। वे विधवा के पवित्र जीवन पर ही विशेष बल देते थे। उनके मन में कहीं न कहीं यह भाव छुपा हुआ था कि नारी पुरुष से हीन होती है, और सहज ही पथभ्रष्ट हो जाती है। यही कारण है कि वे नारी-समस्याओं के प्रति सही दृष्टिकोण न

अपना सके। उदाहरण के लिए वे वेश्या को जन्मजात दुश्चरित्र समझते थे। उसके प्रति उनके मन में न कोई सहानुभुति थी, न उद्धार की भावना। यहाँ तक कि पुरुष-समाज को दूसरे दुराचारों से बचाये रखने के लिए वेश्या का होना आवश्यक मानते थे। ठाकुर जगमोहन सिंह ने 'श्यामास्वप्न' (१८८८) में तो स्त्री-मात्र को त्याज्य बताया है। उन्होने उपन्यास के अन्त में लिखा है, 'इसे केवल स्वप्न ही मत समझो, इसको सुनकर इसके सार को ग्रहण करो। इस सागर को मंथन कर इसका सार अमृत ले लो, स्त्री-चरित्रों से वचो। बस शंकराचार्य के इसी कहे का स्मरण रक्खो---'द्वारंकिमेकं नरकस्य नारी' और महाराज भर्तृहरि के कहे को:--

> **आवर्त्तः संशयानाम विनय भव नं पत्तनं साहसानां**
> **दोषाणां सन्निधानं कपट शतमयं क्षेत्रम् प्रत्ययानाम्**
> **स्वर्गद्वारस्य विघ्नो नरकपुर मुखं सर्वमायाकरण्डं**
> **स्त्री रत्नं केन सृष्टं विषय मृतमयं प्राणिनां मोहपाशः ॥**[1]

यह ठीक है कि इस प्रकार का दृष्टिकोण साधारणतः अन्य उपन्यासकारों में नहीं मिलता किन्तु उपर्युक्त उदाहरण से सिद्ध होता है कि नारी के प्रति ऐसे विचार भी अभी लेखकों में प्रचलित थे। जो इस सीमा तक नहीं जाते थे वे भी नारी को पुरुष से छोटा या हीन मानकर उसको दया का ही पात्र समझते थे, समानाधिकार का नहीं। इसी दृष्टिकोण का यह परिणाम था कि इस समय के अधिकांश उपन्यासकार स्वच्छन्द प्रेम को सहानुभूति न दे सके। यद्यपि अनेक उपन्यासों में स्वच्छन्द प्रेम का चित्रण[2] हुआ है और उनमें से कुछ पात्रों के प्रेम का अन्त भी विवाह में होता है किन्तु इस चित्रण में मानवीय संवेदनाओं एवं जीवन की गम्भीरता का सर्वथा अभाव है। यह चित्रण रीतिकालीन परिपाटी पर हुआ है जैसे 'भागवी कुसुम' में सरला और जगदीश्वर का प्रेम। उस समय लेखक के मन में सामाजिक रूढ़ियों के प्रति असंतोष तो था किन्तु उनको तोड़ने का न तो उसमें साहस था और न सही दिशा का अनुमान। फलतः इन समस्याओं पर ध्यान देते हुए भी उपन्यासकार की वाणी कुछ दबी-दबी सी रहती है। वह कुप्रथाओं के विरोध में लम्बे-लम्बे भाषण तो देता है किन्तु उसमें परिवर्तन का चित्रण नहीं करता। उदाहरणार्थ, किशोरीलाल गोस्वामी ने 'स्वर्गीय कुसुम' में देवदासी-प्रथा और वेश्या-जीवन के विरोध में लम्बे-लम्बे भाषण दिये हैं किन्तु फिर भी कुसुम दुवारा अपने पिता के घर में स्थान नहीं पाती। लगता है, लेखक की भावना तो इन कुप्रथाओं का विरोध करती है किन्तु उसमें इतना साहस और मानसिक संकल्प नहीं कि वह खुलकर विद्रोह कर सके, समाज की थोथी मान्यताओं के विरोध में सीना तानकर खड़ा हो सके। समाज के पुराण-

---

१. ठाकुर जगमोहन सिंह : 'श्यामास्वप्न' (पृष्ठ १७६-१७७)।
२. ब्रजनंदनसहाय : 'सौन्दर्योपासक'।

पंथी कहीं रुष्ट न हो जायें, इस विचार से समस्या का अन्त अधिकांशतः भाग्य अथवा कर्मगति पर छोड़ दिया गया है।

इस काल के सामाजिक उपन्यासों में नारी के पारिवारिक जीवन को विशेष महत्व दिया गया है। सामंती समाज में संयुक्त परिवार के प्रति प्रगाढ़ मोह होता है। गोपालराम गहमरी ने जासूसी उपन्यास लिखने के पूर्व घरेलू उपन्यासों का वँगला से अनुवाद किया था जिसमें 'वड़े भाई', 'देवरानी-जिठानी', 'दो वहिन', 'तीन पतोहू' और 'सास-पतोहू' मुख्य है। इस प्रकार के नामकरण वाले उपन्यास तो हिन्दी में कम लिखे गये किन्तु ऐसे अनेक उपन्यास लिखे गये जिनमें पारिवारिक जीवन एवं घरेलू समस्या को ही प्रधानता दी गई है। लज्जाराम मेहता का 'आदर्श हिन्दू' (१९१५), 'आदर्श दम्पति (१९०४) और 'हिन्दू गृहस्थ' (१९०९), चण्डिकाप्रसाद मिश्र की 'सुहागिनी', पारसनाथ सिंह की 'मँझली वहू', शालिग्राम की 'आदर्श रमणी' (१९११), गिरिजाकुमार घोष की 'छोटी वहू', प्रियंवदा देवी का 'कलियुगी परिवार का एक दृश्य' और ईश्वरीप्रसाद शर्मा के 'वामा-शिक्षक' में पारिवारिक जीवन ही मुख्य रूप से चित्रित हुआ है। 'सुहागिनी' में सास-वहू के झगड़ों में सास की शासन-प्रवृत्ति पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। लज्जाराम मेहता ने आदर्श परिवार की स्थापना के लिए ही इन उपन्यासों की रचना की थी। उन्होंने बताया कि किन-किन आचरणों और रीति-नीति के मानने से हिन्दू परिवार सुखमय जीवन व्यतीत कर सकता है। 'वामा-शिक्षक' में ईश्वरीप्रसाद शर्मा ने नारी पात्रों का चरित्र-चित्रण दो विपरीत दिशाओं में किया है। अन्त में लेखक ने यह कहकर उपदेश दिया है 'जो तुम भी गंगा और किशोरी का-सा चाल-चलन सीखोगी तो वैसे ही तुम्हारा जीवन भी सुख से बीतेगा, दुःख तुम्हारे पास फटकेगा भी नहीं और जो लड़की राधा और पार्वती का चाल-चलन और हठ सीखेगी वह सदा दुःख और विपत् में फँसी रहेगी जैसे राधा अपनी मूर्खता से संतान के दुख में फँसी रही। सदा उसका पति उससे क्रुद्ध रहा और संतान के दुःख में अन्धा हो गया।"[1]

इस प्रकार इस समय के उपन्यासकारों ने पारिवारिक समस्याओं का चित्रण उपदेशात्मक ढंग पर किया है। पारिवारिक जीवन को चित्रित करके उपन्यासकार ने उपदेश क्यों दिया इसकी पृष्ठभूमि में भी दो कारण निहित हैं: (१) पाश्चात्य प्रभाव से समाज को सावधान करने के लिए, (२) सही मार्ग दिखाने के लिए। उन्होंने अपने-अपने दृष्टिकोण से यह वताने का प्रयत्न किया कि वह कौन-सा पथ है जिस पर चलकर नारी अपने घर में सुख-शान्ति स्थापित कर सकती है। उस समय तक नारी के अशिक्षित होने के कारण उसका जीवन के प्रति दृष्टिकोण अत्यन्त सीमित था जिसके कारण घर-घर में अशान्ति का वातावरण दिखाई देता था। सास-वहू, ननद-भौजाई, देवरानी-जिठानी के झगड़े उग्र रूप धारण कर रहे थे तथा पति-पत्नी के सम्बन्धों में भी कलह एवं

---

१. ईश्वरीप्रसाद शर्मा : 'वामा-शिक्षक' (पृष्ठ २२३-२२४)।

मनमुटाव दिखाई देता था। इस कारण इस समय के उपन्यासकारों का ध्यान सर्वप्रथम घर की ओर गया और उन्होंने पारिवारिक समस्याओं को सुलझाने की चेष्टा की। इन उपन्यासों का मुख्य प्रयोजन उपदेशात्मक होने के कारण इन लेखकों ने भी तिलिस्मी उपन्यासों की भाँति अच्छे या बुरे, नारी को दो चरम रूपों में ही देखा है। यद्यपि इनमें अति-प्राकृत या अस्वाभाविकता का लेश भी नहीं है किन्तु यथार्थ जीवन का अतिशयोक्तिपूर्ण अतिरंजित चित्र इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है कि अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के चरित्र साफ़ दिखाई दे जायें और पाठक जीवन के दोषों से घृणा करने लगे और जीवन की अच्छाइयों को ग्रहण करें।

इन उपन्यासों में उपन्यासकारों ने नारी को गृहस्थी का मेरुदण्ड मानकर उसके चरित्र-चित्रण पर विशेष ध्यान दिया है। नारी यदि समझ से काम ले तो वह घर पर रहकर ही बच्चों का लालन-पालन करती हुई, पति की देख-रेख करती हुई, गृहकार्य करती हुई, सबसे प्रेम का व्यवहार करती हुई घर को स्वर्ग-तुल्य बना सकती है। 'आदर्श हिन्दू', 'आदर्श दम्पति', 'आदर्श रमणी', 'वामा-शिक्षक', 'स्वर्णमयी'[1] आदि अनेक उपन्यासों में नारी के इस गृहिणी-रूप के चित्र प्रस्तुत किये गये हैं।

प्रेमचन्द-पूर्व के उपन्यासों में अच्छे कर्म का अच्छा और बुरे कर्म का बुरा फल अवश्य दिखाया गया है। यहाँ तक कि यह दृष्टिकोण तिलिस्मी और जासूसी उपन्यासों में भी मिलता है। सामाजिक और पारिवारिक उपन्यास तो उपदेश देने की ही प्रवृत्ति से लिखे गये, अतः इन उपन्यासों में कर्मानुसार फल-प्राप्ति पर आद्योपान्त ध्यान रखा गया है। यह इस युग की मुख्य विशेषता है।

इस काल में रीतिकालीन शृंगार-भावना का अन्त नहीं हो सका था। इसलिए इस काल के उपन्यासों में यह भावना किसी न किसी रूप में मिल ही जाती है। लज्जाराम मेहता के 'धूर्त रसिकलाल' और 'स्वतन्त्र रमा और परतन्त्र लक्ष्मी' में शृंगार का वर्णन निम्न स्तर पर हुआ है। जगमोहनसिंह के 'श्यामास्वप्न' में नायक-नायिका, सखी-दूती, विरह-मिलन आदि का वर्णन रीतिकालीन परिपाटी पर हुआ है। किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यासों की लगभग सभी नायिकायें रीतिकालीन नायिका की भाँति सुन्दरी हैं और उनका प्रेम भी रीतिकालीन काव्य-परम्परा के अनुकूल है।

नारी के सौन्दर्य का चित्रण अधिकतर रीतिकालीन परिपाटी पर क्यों किया गया इसके मूल में तीन कारण निहित हैं: (१) परम्परागत संस्कार (२) अतिशयोक्तिपूर्ण अतिरंजित वर्णन की प्रवृत्ति (३) यथार्थवादी दृष्टि का अभाव।

अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन के पीछे यह भाव भी था कि उससे उनका उद्देश्य और समाज की अच्छाई-बुराई स्पष्ट रूप से पाठक के सामने आ जायेगी और उसको पढ़ने से पाठक का मनोरंजन एवं चरित्र-सुधार सुगमता से हो सकेगा। इस समय के उपन्यासकारों में

---

१. ईश्वरीप्रसाद शर्मा कृत।

अभी उस कल्पना-शक्ति का विकास न हो सका था जो मानव-मन में पैठकर उसकी भावनाओं का सूक्ष्म और यथार्थ चित्रण कर सके। इस दृष्टि के अभाव में वे नारी को कोई व्यक्तित्व भी प्रदान न कर सके। वह प्रकार-विशेष के रूप में ही चित्रित की गई है। फिर भी इस काल के उपन्यासों में, विशेषकर सामाजिक उपन्यासों में, नारी-सम्बन्धी तत्कालीन विचारधारा के विभिन्न रूपों का यथेष्ट प्रतिबिम्ब परिलक्षित होता है। साहित्य की दृष्टि से इन उपन्यासों का वही महत्व है जो भवन-निर्माण में नींव का होता है। इस युग के उपन्यासकारों ने एक ऐसी ठोस नींव प्रस्तुत कर दी जिस पर प्रेमचन्द और उनके समकालीन उपन्यासकार नई इमारतें खड़ी कर सके और नारी की समस्याओं को नये दृष्टिकोण से देखकर उनमें गहरी संवेदना भरने में समर्थ हो सके।

प्रेमचन्द-युग

हिन्दी उपन्यास-जगत में प्रेमचन्द के आगमन के पूर्व ही योरप और बंगाल में उच्च कोटि के उपन्यास लिखे जा रहे थे। बँगला उपन्यास ने पाश्चात्य साहित्य से कला और अभिव्यंजना का ढंग सीखा तथा अपने उपन्यासों में यथार्थ जीवन का चित्रण करने की चेष्टा की। प्रेमचन्द-युग के पूर्व अनेक बँगला उपन्यासों का हिन्दी में अनुवाद हुआ। इन अनुवादों के प्रभाव से हिन्दी उपन्यासकार ने भी उपन्यासों में अधिकाधिक यथार्थ का समावेश करना प्रारम्भ किया।

बँगला के उपन्यासों में बंकिमचंद्र चटर्जी ने भारतीय नारी की समस्या को सहानुभूति के साथ चित्रित किया है। 'विष-वृक्ष' में सूर्य्यमुखी अपने पति को प्रसन्न देखने के लिए उनका दूसरा विवाह कुंदन से करवा देती है। यह चरित्र भारतीय त्याग-मयी पतिव्रता पत्नी के रूप में चित्रित है। बंकिम बाबू नारी के प्राचीन आदर्श-रूप के चित्रण के साथ-साथ उसकी भावनाओं पर प्रकाश डालना नहीं भूले। सूर्य्यमुखी में इतना साहस नहीं है कि वह अपने पति से अपने मन की व्यथा कह सके। इसलिए वह व्यथित होकर अपनी ननद कमल से पूछती है: 'कमल! किस देश में लड़कियाँ पैदा होने पर उन्हें मार डालते है?' 'देवी चौधुरानी' में बंकिम बाबू ने नारी के महान व्यक्तित्व का चित्रण किया है। 'दुर्गेशनन्दिनी' में आयशा का चित्रण एक भावुक नारी के रूप में किया गया है जो प्रसाद के नाटक 'स्कन्दगुप्त' की देवसेना की भाँति मन में एक अमिट टीस छोड़ जाती हैं। बंकिम बाबू के इन उपन्यासों का प्रेमचन्द-युग पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा है।

पाश्चात्य सभ्यता के सम्पर्क और सामाजिक आन्दोलनों के फलस्वरूप राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं आर्थिक क्षेत्र में जो परिवर्तन आया था उसका आभास तो हमें भारतेंदु-युग में ही मिल गया था, अब युग-स्रष्टा प्रेमचन्द के आगमन से हिन्दी साहित्य ने एक नया मोड़ लिया था। प्रेमचन्द-पूर्व के हिन्दी उपन्यास अधिकतर कल्पना और रोमांस पर आधारित थे। कुछ सामाजिक और पारिवारिक उपन्यासों में उन्हें सामयिक जीवन

का आधार देकर भी उपस्थित किया गया किन्तु प्रेमचन्द-युग में धीरे-धीरे कल्पना और रोमांस का स्थान यथार्थ ने ले लिया। अब तक उपन्यासों के पात्र प्रकार-विशेष होते थे, जैसे उपन्यासों में चित्रित सभी प्रेमिकायें एक-सी जान पड़ती थीं। अब इन प्रकार-विशेष का वैयक्तीकरण होने लगा। साथ ही नये उपन्यासकारों को धीरे-धीरे वह चेतना भी मिलने लगी जिसके बल पर वे मानव-जीवन को समझकर उसका वास्तविक और गम्भीर चित्रण करने की ओर प्रवृत्त हुए।

भारतेंदु-युग के पश्चात् द्विवेदी-युग सुधार का युग था। द्विवेदी-युग के लेखकों ने यह अनुभव किया कि मात्र सामाजिक चित्रण एवं हल्की-फुल्की समाज-सुधार की भावना से समाज का कल्याण नहीं हो सकता। सामाजिक कुरीतियों से मुक्ति पाने का ठोस रास्ता भी पाठक के सम्मुख रहना चाहिये। अतः पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी साहित्य में बौद्धिक स्तर पर बड़े सशक्त रूप से सुधारवादी आन्दोलन का सूत्रपात किया, जिसका प्रभाव तत्कालीन सभी लेखकों पर पड़ा। इस सुधारवादी आन्दोलन को सफलता-पूर्वक चलाए रख कर प्रेमचन्द युग-प्रवर्तक के रूप में आये क्योंकि प्रेमचन्द के उपन्यासों ने पहली बार सामाजिक हित और सोद्देश्यता पर प्रकाश डाला। उनकी सामाजिक-चेतना और जीवन-दृष्टि इतनी गहरी और व्यापक थी कि उनके युग को प्रेमचन्द-युग का नाम दिया गया।

प्रेमचन्द-युग संक्रान्ति का युग था जब पुरानी परम्पराओं, मान्यताओं और सौन्दर्य-भावनाओं का अन्त हो रहा था। हिन्दी काव्य में जो द्विवेदी-युग और छायावाद-युग के नाम से जाने जाते हैं वे दोनों युग हिन्दी गद्य में प्रेमचन्द-युग में सम्मिलित माने गये हैं। अतः इन दोनों युगों की कविता में नारी के प्रति जो करुणा और सम्मान की भावना थी वह प्रेमचन्द-युग के उपन्यासों में भी लक्षित हुई है। द्विवेदी-युग की कविता में नारी की दयनीय स्थिति का चित्रण पाठक के मन में करुणा उत्पन्न करने की चेष्टा करता है और छायावादी कविता में नारी को समानता प्रदान करते हुए उसके अन्तर्मन को समझने का प्रयास किया गया है जिसके कारण नारी सम्मान की पात्री बन जाती है। प्रेमचन्द-युग में इन दोनों दृष्टियों का मेल हो जाता है। एक ओर समाज में नारी की करुण स्थिति का चित्रण और दूसरी ओर उसकी नैतिक शक्तियों और दुर्बलताओं का चित्रण इस युग की विशेषता है। यह चित्रण प्रेमचन्द ने मर्यादावादी दृष्टिकोण से किया है।

इस समय के उपन्यासकारों ने देखा कि सामाजिक दुरवस्था के कारण नारी की स्थिति अत्यधिक शोचनीय है। वह रूढ़ियों और बंधनों के बोझ से निष्प्राण हो उठी है। यदि अब भी उसकी समस्याओं को यथार्थ रूप में न समझा गया तो देश का आधा भाग प्रगति से वंचित रह जायेगा। इन लेखकों के मन में सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक दुर्व्यवस्थाओं के प्रति घृणा और विद्रोह की अग्नि सुलग रही थी। वे प्रचलित रूढ़ियों और अंधविश्वासों को तोड़ डालना चाहते थे। इसलिए उन्होंने नारी जीवन की सारी विषमताओं का चित्रण इस प्रकार किया कि समाज की सहानुभूति मिल सके। पर उनके मन

में जो आदर्श थे वे प्राचीन भारतीय समाज-व्यवस्था पर आधारित थे। इसीलिए वे परिवर्तन तो चाहते थे, पर क्रान्ति नहीं। वे अपने उपन्यासों में प्राचीन आदर्शों की स्थापना सुधारवादी ढंग से करते थे। प्रेमचन्द की कला का मूल उद्देश्य ही सुधार करना है।[१] यद्यपि यह प्रवृत्ति उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ही प्रारम्भ हो चुकी थी किन्तु इसका सबसे विशद चित्रण प्रेमचन्द-युग में ही हुआ। प्रेमचन्द-पूर्व के उपन्यासकारों ने सुधार पर ध्यान तो दिया था किन्तु वह कोरा उपदेशात्मक होने के कारण ऊपर से आरोपित प्रतीत होता था, उसमें कलात्मकता का अभाव था। इसके विपरीत प्रेमचन्द ने सुधारवादी दृष्टिकोण को सूक्ष्म और कलात्मक रूप देकर उसमें यथार्थ और आदर्श का ऐसा सामंजस्य स्थापित किया कि उसमें जीवन अपने समग्र रूप में प्रतिबिम्बित हो गया। वे भविष्य की ओर संकेत करते हुए एक ऐसा मार्ग उपस्थित करते है जिससे पाठक समस्या पर केवल उलझा न रहकर उसके समाधान के लिए अग्रसर हो। प्रेमचन्द का मत था कि आदर्श की छत्र-छाया में व्यक्ति कुछ देर के लिए अपनी दुर्दशा को भूल सकता है।[२] इस कलात्मक रुचि के कारण उपन्यासकारों के विचार में आदर्शवादी चित्रण से पाठक के मन में आशा का संचार होता है और उसे अपनी तत्कालीन विषमताओं से संघर्ष करने के लिए बल मिलता है। इस प्रकार प्रेमचन्द यथार्थ-जीवन का चित्रण करते-करते आदर्श की ओर मुड़ जाते है। उन्होंने आदर्शवाद को बुद्धिवाद से पुष्ट किया है और अपने इस औपन्यासिक दृष्टिकोण को 'आदर्शोन्मुख यथार्थ' कहा है। आदर्शवाद और यथार्थवाद का सामंजस्य ही उनकी कला का आधार है।[३] यह समन्वय की प्रवृत्ति प्रेमचन्द-युग के लगभग सभी उपन्यासकारों में मिलती है।

प्रेमचन्द ने अपने इस 'आदर्शोन्मुख यथार्थ' को नारी की समस्याओं के चित्रण में

---

१. 'प्रेमचन्द की कला का मूल उद्देश्य न तो चरित्र-चित्रण है और न वस्तु-संगठन, वरन् सुधार है।'
सम्पादक—डा० इन्द्रनाथ मदान : 'प्रेमचन्द : चिन्तन और कला' (पृष्ठ १२३)।

२. 'यह मानव स्वभाव है कि जिन छल-छद्मों तथा कुरुचिपूर्ण परिस्थितियों से स्वयं घिरा रहता है, उसका बार-बार विवरण नहीं सुनना चाहता, वह थोड़ी देर के लिए ऐसे संसार में उड़कर पहुँच जाना चाहता है जहाँ उसके चित्त को कुत्सित भावों से नजात मिले, यह भूल जाय कि मैं चिन्तन के बंधन में पड़ा हुआ हूँ, जहाँ उसे सज्जन, सहृदय, उदार प्राणियों के दर्शन हों, जहाँ छल और कपट, विरोध और वैमनस्य का ऐसा प्राधान्य न हो।'
प्रेमचन्द : 'उपन्यास' शीर्षक लेख से।

३. 'उन्होंने अपने उपन्यासों में यथार्थ और सुधारवादी आदर्श का समन्वय किया है। आदर्शवाद और यथार्थवाद का पारस्परिक सामंजस्य ही उनकी कला का आधार है।'
सम्पादक—डा० इन्द्रनाथ मदान : 'प्रेमचन्द : चिन्तन और कला' (पृष्ठ १३४)।

विशेष रूप से प्रयुक्त किया, क्योंकि हिन्दी का सामाजिक उपन्यास नारी-जीवन के महत्व-पूर्ण प्रश्नों को लेकर ही जन्मा था। बाल-विवाह, अशिक्षा, पर्दा, आभूपण-प्रेम, दहेज, अनमेल-विवाह, विधवा-विवाह-निपेध, वेश्यावृत्ति आदि नारी की विभिन्न समस्यायें हिन्दी उपन्यासों की विपय-वस्तु बनीं और उन पर लेखकों ने गम्भीरता से विचार किया।

इस युग के उपन्यासकारों ने शहर और गाँव के नारी-जीवन के उन विभिन्न पहलुओं को भी अपने साहित्य में स्थान दिया जिनका प्रेमचन्द-पूर्व के उपन्यासों में सर्वथा अभाव था। प्रेमचन्द और प्रसाद दोनों ने ही गाँव की नारी का चित्रण अधिक स्वस्थ एवं पुरुप की पूरक शक्ति के रूप में किया है। शहर की नारी, गाँव की नारी की अपेक्षा आर्थिक बंधन-ग्रस्त एवं सामाजिक अत्याचार से अधिक पीड़ित दिखाई देती है। प्रेमचन्द का पक्का विश्वास था कि नारियों की इतनी अवनति का मूल कारण हिन्दू धर्म की दाद देने वाले हिन्दू पुरुप हैं।[1] अतः प्रेमचन्द ने उन अत्याचारों को समस्या के रूप में ग्रहण करके एक आदर्श-मूलक समाधान तक पहुँचने की चेप्टा की है। फिर भी प्रेमचन्द तथा इस युग के लगभग सभी लेखकों का झुकाव मूलतः परिस्थिति एवं समस्या के चित्रण में अधिक है, समाधान में नहीं।

गाँव की नारी को खेती में पुरुष के बराबर अधिकार है, वह पुरुष से शासित होकर भी अबला नहीं रहती। धनिया होरी की आत्मा है, 'प्रसाद' लिखित 'तितली' में तितली मधुवन की आत्मा है। वे दोनों अपने पति की पूरक-रूप में सामने आती है। उनका दाम्पत्य जीवन स्वस्थ है। धनिया या तितली के बिना होरी या मधुवन की कल्पना भी नहीं की जा सकती। वे विद्रोह करती है, उनके शब्दों में क्रान्ति का स्वर है। धनिया एक ओर पटवारी और महाजन को गाली देती है तो दूसरी ओर प्रचलित अंध-विश्वास भरी रूढ़ि के विरोध में झुनिया और सिलिया को अपने घर में आश्रय देकर नैतिक साहस का परिचय देती है।

लेकिन शहर की नारी की समस्या कुछ दूसरे प्रकार की है। उसमें भी नैतिक साहस है, जैसे प्रेमचन्द लिखित 'ग़बन' की जालपा, 'सेवासदन' की सुमन, 'कर्मभूमि' की मुन्नी,

---

१. 'स्त्रियों पर सब से ज्यादा ज्यादती हिन्दू ही करते हैं, जरा सी भूल हो गई, उसको घर से निकाल बाहर किया।...और पुरुष तो शुरू से ही स्त्रियों के साथ ज्यादती करता आ रहा है। अपनी मरजी के माफ़िक क़ायदा-कानून भी तो पुरुष ने अपने लिए बना रखे हैं। बहु-विवाह, वृद्ध-विवाह पुरुष ही करते हैं। तब आखिर इतनी स्त्रियाँ कहाँ जायेंगी ? और समाज ने सारी जिम्मेदारी स्त्रियों के ही सर पटक दी है, ऐसा मालूम होता है कि सारे बंधन स्त्रियों के लिए ही हैं। उससे पुरुषों को कोई बहस नहीं है। सारे कायदा-कानून अपने से उल्टे ही स्त्रियों के लिए बनाये हैं। अपने आपको उनके शिकंजों से बचा कर ही रखा।'
शिवरानी देवी प्रेमचन्द : 'प्रेमचन्द : घर में' (पृष्ठ १३१)।

सुखदा आदि। वह अपनी पराधीनता और समस्याओं के प्रति सजग भी है, किन्तु अन्त में वह प्राय: अपने संस्कारों से दब जाती है, विद्रोह नहीं करती। प्रेमचन्द तथा उनके समकालीन लेखक ऐसे विद्रोह या क्रान्ति में विश्वास भी नहीं करते।[१] इस प्रकार के निराकरण में उपन्यासकारों के पूर्व संस्कार आड़े आ जाते हैं। वे नहीं चाहते कि नारी को लेकर कोई क्रान्तिकारी कदम उठा दिया जाय इसलिए वे उसकी समस्याओं के चित्रण से ही संतुष्ट हो जाते हैं। संघर्ष में उनकी परिणति नहीं दिखाते। 'प्रतिज्ञा' की सुमित्रा यह कह कर भी कि 'वेचारी औरत कमा नहीं सकती, इसीलिए उसकी यह दुर्गत है',[२] कमाने का उद्योग नहीं करती।[३] पूर्णा अतुल लावण्य और पिपासा लेकर भी विधवाश्रम में आश्रय लेती है, किसी से विवाह करके अपनी यंत्रणा से मुक्ति नहीं लेती। 'सेवासदन' की सुमन अन्त तक थोथी सामाजिक मान्यताओं की शिकार रहती है, वेश्या-वृत्ति त्याग देने पर भी समाज फिर से उसे स्वीकार नहीं करता। यहाँ तक कि वेश्याओं को उस गंदे समाज से अलग रखकर पढ़ा-लिखा देने पर भी लेखक विश्वासपूर्वक यह नहीं कहता कि समाज इन्हें ग्रहण करेगा ही। सुमन कहती है, 'हमारा कर्तव्य यह है कि इन कन्याओं को चतुर गृहिणी वनने के योग्य बना दें। उनका आदर-समाज करेगा या नहीं, नहीं कह सकती।'[४] निर्मला सामाजिक अत्याचार से पीड़ित अपना असंतुष्ट एवं अतृप्त जीवन लेकर घर की चहार-दीवारी में ही घुट-घुट कर मर जाती है।

सच पूछा जाय तो इन गुत्थियों का वास्तविक समाधान स्वयं प्रेमचन्द भी निश्चित नहीं कर पाये थे। उन्होंने हृदय-मंथन, हृदय-परिवर्तन पर बल दिया किन्तु इसके साथ-साथ वे यह भी मानते थे कि जब तक देश स्वतन्त्र नहीं हो जाता, तब तक इनकी गुत्थियाँ नहीं सुलझ सकतीं।[५] यही कारण है कि लेखक ने समस्या के चित्रण पर अधिक

---

१. 'हमारा उद्देश्य जनमत तैयार करना है, इसलिए मैं सामाजिक विकास में विश्वास रखता हूँ। अच्छे तरीकों के असफल होने पर ही क्रान्ति होती है। मेरा आदर्श है प्रत्येक को समान अवसर का प्राप्त होना। इस सोपान तक बिना विकास के कैसे पहुँचा जा सकता है, इसका निर्णय लोगों के आचरण पर निर्भर है। जब तक हम व्यक्तिगत रूप से उन्नत नहीं हैं, तब तक कोई भी सामाजिक व्यवस्था आगे नहीं बढ़ सकती। क्रान्ति का परिणाम हमारे लिए क्या होगा, यह सन्देहास्पद है।'
डा० इन्द्रनाथ मदान की पुस्तक 'प्रेमचन्द' में दिये गये प्रेमचन्द के एक पत्र से उद्धृत (पृष्ठ १७४)।

२. प्रेमचन्द : 'प्रतिज्ञा' (पृष्ठ ९३)।

३. 'स्त्रियाँ नौकरियाँ करने लगी हैं,मगर वह अच्छा नहीं है,मैं इसको अच्छा नहीं समझता। शिवरानी देवी प्रेमचन्द : 'प्रेमचन्द : घर में' (पृष्ठ २५९)।

४. प्रेमचन्द : 'सेवासदन' (पृष्ठ २५३)।

५. 'जब तक हिन्दुस्तान आजाद नहीं होता,तब तक इनकी गुत्थियाँ नहीं सुलझ सकतीं। या

बल दिया है जिससे पाठकगण उसको भली प्रकार समझें और उस पर मनन करें।

प्रेमचन्द-युगीन लगभग सभी उपन्यासों में गाँव की नारी के आगे शहर की नारी और शहर की नारी के आगे आधुनिक नारी सदैव पराजित हुई है। जीवन के क्षेत्र में आदर्श-निष्ठ नारियाँ सदैव विजयिनी हैं। प्रेमचन्द, 'प्रसाद', सियारामशरण गुप्त आदि उपन्यासकारों ने प्रेम के क्षेत्र में यह आदर्श भावना प्राचीन भारतीय संस्कृति के अनुरूप आत्म-समर्पण में व्यक्त की है। यह आत्म-समर्पण शरीर का नहीं, मन का समर्पण है। 'गोदान' में गोविन्दी का आदर्श, 'तितली' में तितली का आदर्श और सियारामशरण गुप्त लिखित 'नारी' में जमना का आदर्श नारी का आदर्श माना गया है जो पति द्वारा परित्यक्ता होने पर भी पति को प्रेम करती है और परिवार को बनाये रखने में अपने मातृत्व का गौरव समझती है। उपन्यासकारों के इस दृष्टिकोण के मूल में परम्परागत आदर्शों को ही पुनः प्रतिष्ठित करने का प्रयास है। वास्तव में यहीं प्रेमचन्द के यथार्थ की सीमा-रेखा मिलती है।

प्रेमचन्द, 'प्रसाद' आदि उपन्यासकारों का मत है कि यदि नारी का प्रेम एक-निष्ठ प्रेम हो तो कुमार्ग पर चलता हुआ पुरुष भी एक न एक दिन अवश्य सुमार्ग ग्रहण कर प्रेम का प्रतिदान देगा। नारी का प्रेम पुरुष को सन्मार्ग पर लाने के लिए बड़ा शक्तिशाली साधन है। जालपा और तितली का अपने पति के प्रति सच्चा प्रेम इस बात की पुष्टि करता है। यह ठीक है कि नारी में बलिदान की भावना और कष्ट-सहन की सहज प्रवृत्ति है और पुरुष में प्रेम का विकास स्वाभाविक और क्रमिक होता है, किन्तु नारी के मन में जो परम्परागत एक-निष्ठ आत्म-समर्पण की भावना प्रारम्भ से दिखाई देती है, वह पुरुष में नहीं। पुरुष प्रेम करता है, उसमें अधिकार और श्रेष्ठता की भावना ही मुख्य रूप से पाई जाती है।. 'गोदान' की मालती जब मेहता के आदर्शों की एक प्रकार से पूजा करने लग जाती है तभी वह मेहता की दृष्टि में ऊँची उठ पाती है। फिर भी प्रेमचन्द, 'प्रसाद', प्रतापनारायण श्रीवास्तव आदि उपन्यासकारों ने नारी के प्रेम को बहुत महत्व दिया है। इस युग में यद्यपि प्रत्येक वर्ग की प्रेयसी का चित्रण हुआ है तथापि उपन्यासकारों ने सभी वर्गों की प्रेयसियों में त्याग, एकनिष्ठ भावना और मर्यादा पर समान रूप से बल दिया है। प्रतापनारायण श्रीवास्तव ने उच्च-वर्ग की उच्च-शिक्षित और पाश्चात्य रंग में रँगी प्रेयसियों का चित्रण किया है। उन्होंने दिखाया है कि इस वर्ग में दानवी और मानवी सभी तरह की नारियाँ पाई जाती हैं किन्तु मानवी रूप में जिन प्रेयसियों का चित्रण किया गया है वे भारतीय रंग में रँगी हैं। एक मर्यादा के भीतर ही स्त्री-प्रेम-स्वातन्त्र्य का पक्ष लिया गया है। चपला, अमीलिया, मनोरमा, केट मर्यादित आदर्श प्रेयसियाँ हैं। इस युग

तो फिर कोई बड़ा महात्मा पैदा हो कि जो इन गुत्थियों को सुलझा दे। सदियों से बिगड़ा हुआ जमाना इतनी जल्दी कैसे सुधर जायेगा।'

शिवरानी देवी प्रेमचन्द : 'प्रेमचन्द : घर में' (पृष्ठ १८५)।

के लगभग सभी उपन्यासकारों ने माना है कि प्रेम के स्वच्छ शीतल जल के सम्मुख व्यक्ति का सारा कलुष धुल जाता है। वह उदार बन जाता है। कहीं-कहीं तो निस्वार्थ प्रेम के आदान-प्रदान के आगे विवाह को भी तुच्छ माना है। प्रेमचन्द लिखित 'वरदान' में कहा गया है 'हृदय का मिलाप सच्चा विवाह है। सिंदूर का टीका, ग्रन्थि-बंधन और भाँवर ये सब संसार के ढकोसले हैं।'[१] तथा 'गोदान' में मेहता साहब कहते हैं, 'प्रेम जब आत्म-समर्पण का रूप लेता है तभी व्याह है, उसके पहले ऐयाशी।'[२] जयशंकर 'प्रसाद' ने भी अपने उपन्यास 'कंकाल' में विजय के माध्यम से इसी प्रकार की बात का प्रतिपादन किया है। विजय कहता है, 'हृदय का सम्मिलन ही तो व्याह है। मैं सर्वस्व तुम्हें अर्पण करता हूँ और तुम मुझे, इसमें किसी मध्यस्थता की आवश्यकता क्यों, मंत्रों का महत्व कितना।'[३]

इस प्रकार स्वच्छन्द प्रेम की समस्या भी प्रेमचन्द आदि अनेक उपन्यासकारों ने उठायी जो जाति-वर्ण-व्यवस्था पर सीधा प्रहार करती है। प्रेमचन्द ने स्वच्छन्द प्रेम को प्रश्रय दिया है। 'गोदान' में जब रायसाहब अपने पुत्र रुद्रपाल का विवाह उसकी इच्छा के विरुद्ध करना चाहते हैं तो मेहता साहब उनका मजाक बनाते हैं। फिर गम्भीर स्वर में कहते हैं: 'आप अपनी शादी के जिम्मेदार हो सकते हैं, लड़के की शादी का दायित्व आप क्यों अपने ऊपर लेते हैं, खासकर जब आपका लड़का बालिग़ है और अपना नफ़ा-नुक्सान समझता है।'[४] यद्यपि प्रेमचन्द इस उपन्यास में रुद्रपाल और सरोज के प्रेम-विवाह को बुरा नहीं मानते किन्तु साधारणतः इस प्रकार का साहसी कदम प्रेमचन्द ने नहीं लिया है। इस हिचक का मुख्य कारण है उनका संस्कारी मन। उनका बुद्धि पक्ष प्रेम-विवाह को वांछनीय मानता था किन्तु संस्कारवश उनकी आत्मा इसे स्वीकार नहीं कर पा रही थी।[५] 'गोदान' में भी लेखक रुद्रपाल के चरित्र-चित्रण को ममता नहीं दे

---

१. प्रेमचन्द : 'वरदान' (पृष्ठ १५३)।
२. प्रेमचन्द : 'गोदान' (पृष्ठ १८५)।
३. जयशंकर 'प्रसाद' : 'कंकाल' (पृष्ठ १८७)।
४. प्रेमचन्द : 'गोदान' (पृष्ठ ४०५)।
५. शिवरानी देवी लिखित 'प्रेमचन्द : घर में' में प्रेमचन्द के स्वच्छन्द प्रेम और प्रेम-विवाह सम्बन्धी विचारों पर अच्छा प्रकाश पड़ा है। उन्होंने अपनी पत्नी शिवरानी देवी से कहा था : 'अगर हमारा समाज अब भी नहीं समझता और स्त्रियों के साथ इन्साफ़ का बर्ताव नहीं करता तो बहुत मुमकिन है, वह दिन जल्द ही आने वाला हो, जब कि हिन्दुओं के घर की लड़कियाँ, अत्याचारों से घबड़ा कर, अपनी इच्छानुसार शादी कर लिया करेंगी।
   शिवरानी देवी बोलीं : 'यह ठीक नहीं होगा। वह हमारे दुर्भाग्य के दिन होंगे जब हमारे घर की लड़कियाँ स्वयं अपनी शादियाँ करेंगी क्योंकि उस उम्र में जब कि शादियाँ होती हैं, लड़के-लड़कियों में इतनी समझ नहीं होती कि वह अच्छे-बुरे का फैसला कर

पाया है। अन्य स्थलों पर भी प्रेमचन्द ने प्रेमी पात्रों को विवाह की स्थिति में नहीं पहुँचाया है। 'रंगभूमि' की सोफ़िया आत्म-उत्सर्ग कर देती है। 'कर्मभूमि' की सकीना के चरित्र में अनायास परिवर्तन आ जाता है। मालती मेहता साहव के साथ रहने की कामना लेकर भी विवाह-बंधन में नहीं बंधती, वह देश-सेवा में ही जीवन बिताने की सोचती है।

प्रेमचन्द-कालीन उपन्यासकारों ने नारी के स्वभाव में त्याग, सेवा और प्रेम को मुख्य माना है। मेहता के स्वर में प्रेमचन्द कहते हैं, 'पुरुष का सारा अध्यात्म और योग एक तरफ़ और नारियों का त्याग एक तरफ़'[1] प्रेमचन्द पुरुष और नारी में जन्मजात विभिन्नता मानने के साथ ही उनके कार्यक्षेत्रों में भी विभिन्नता आवश्यक मानते हैं। वे पाश्चात्य आदर्श को घृणा की दृष्टि से देखते हैं। नारी की आर्थिक स्वतन्त्रता का भी अधिक मूल्य नहीं समझते। मेहता के शब्दों में 'आपकी विद्या और आपका अधिकार हिंसा और विध्वंस में नहीं, सृष्टि और पालन में है। क्या आप समझती हैं कि वोटों से मानव जाति का उद्धार होगा, या दफ्तरों में और अदालतों में जुवान और कलम चलाने से। इन नकली अप्राकृतिक विनाशकारी अधिकारों के लिए आप वह अधिकार छोड़ देना चाहती हैं, जो आपको प्रकृति ने दिये हैं।'[2]

अतः प्रेमचन्द, 'प्रसाद', सियारामशरण गुप्त, विश्वंभरनाथ 'कौशिक' आदि इस समय के लगभग सभी उपन्यासकारों ने नारी को गृह-लक्ष्मी के रूप में ही श्रेष्ठ माना है। प्रेमचन्द आदि उपन्यासकारों ने तलाक़ को पश्चिम की देन कहकर उसकी भर्त्सना की है। 'ग़बन' और 'गोदान' दोनों में ही तलाक़ का विरोध है। प्रेमचन्द ने 'गोदान' में कहा 'विवाह को मैं सामाजिक समझौता समझता हूँ और उसे तोड़ने का अधिकार न पुरुष को है न नारी को।'[3]

इस प्रकार प्रेमचन्द नारी जीवन की समस्याओं के प्रति सजग होते हुए भी परम्परागत आदर्शों की प्राचीरों में वँधे हैं। वे नारी की उन्मुक्ति को सशंकित नेत्रों से देखते हैं। नारी की उच्च शिक्षा, उसकी आर्थिक स्वतन्त्रता एवं तलाक के अधिकार के सम्बन्ध में

सके और धोखे भुलावे की बहुत शंका रहती है। ऐसी शादियाँ देखने में आकर्षक होती हैं, पर होती है वास्तव में भुलावा।'

प्रेमचन्द ने उत्तर दिया : 'चाहे मैं या तुम या दुनिया भर इसको रोकने की कोशिश करें यह रुक नहीं सकता। एक दिन आयेगा कि कोई भी शक्ति इसको रोक नहीं सकेगी हवा की रफ्तार यही हमको बतला रही है। जितना ही हम सोचते हैं कि पश्चिमी सभ्यता से दूर रहें उतनी ही तेजी के साथ वह हमारे सर के ऊपर आ रही है।'

शिवरानी देवी : 'प्रेमचन्द : घर में' (पृष्ठ १३२-१३३)।

१. प्रेमचन्द : 'गोदान' (पृष्ठ २००)।

२. वही (पृष्ठ २०३)।

३. वही, (पृष्ठ ७५)।

में उसको चरितार्थ न करना इस युग के उपन्यासकारों की सहज प्रवृत्ति दिखाई देती है।

नारी के आभूपण-प्रेम की समस्या समाज में विकट रूप में दृष्टिगोचर होती है। प्रेमचन्द ने नारी-चरित्र की इस विशेषता का भी चित्रण गम्भीरता से किया। नारी के आभूपण-प्रेम की समस्या को न तो प्रेमचन्द-पूर्व के किसी उपन्यासकार ने लिया था, न प्रेमचन्द-युग के अन्य उपन्यासकार ने और न प्रेमचन्दोत्तर काल के ही किसी उपन्यासकार ने। इससे प्रतीत होता है कि प्रेमचन्द की दृष्टि कितनी पैनी और व्यापक थी। नारी की इस आभूषण-प्रियता की प्रेमचन्द ने खूब भर्त्सना की है। उन्होंने कहा: गहने पहनना बुरी वात नहीं है किन्तु उनका इतना मोह करना कि उसके कारण पारिवारिक शान्ति भंग हो जाये लज्जा की वात है।

प्रेमचन्द ने जहाँ एक ओर नारी को आभूषणों के प्रति इतना अधिक आकर्षित वताया है, वहाँ दूसरी ओर अवसर पड़ने पर सर्वस्व त्याग करने के लिए प्रस्तुत भी। 'ग़बन' में जालपा को पति की परेशानियों का जैसे ही पता चलता है, वह स्वयं सराफ़े में जाकर गहने वेच देती है। इसी प्रकार 'प्रेमाश्रम' की शीलमणि समाज-सेवा के लिए पैसे की आवश्यकता पड़ने पर तुरन्त अपने आभूपण देने का प्रस्ताव रखती है। उसके पति को इस अचानक परिवर्तन पर आश्चर्य होता है किन्तु शीलमणि के उत्तर में तनिक भी हिचक नहीं: 'जिस आग से आदमी हाथ सेंकता है, क्या काम पड़ने पर उससे अपने चने नहीं भून लेता। स्त्रियाँ गहनों पर प्राण देती है, लेकिन अवसर पड़ने पर उतार भी फेंकती है।'[1] 'कर्मभूमि' की स्वाभिमानी सुखदा भी इसी प्रकार की वात कहती है: 'तुम समझते होगे, मैं गहनों के लिए कोने में बैठकर रोऊँगी और अपने भाग्य को कोसूंगी। स्त्रियाँ अवसर पड़ने पर कितना त्याग कर सकती है, यह तुम नहीं जानते। मैं इस फटकार के वाद इन गहनों की ओर ताकना भी पाप समझती हूँ।'[2]

प्रेमचन्द और 'प्रसाद' वेश्या से भी कभी घृणा न कर सके। हाँ, उसके पाप से अवश्य घृणा करते थे। वे जानते थे कि वेश्या पारिवारिक अपमान, सामाजिक दासता या आर्थिक विवशताओं के कारण ही वेश्या वनती है। वेश्या वनने मात्र से ही उसमें सद्वृत्ति का एकदम लोप नहीं हो जाता। सुमन वेश्या वनकर भी शरीर से पवित्र थी। वेश्या जोहरा का अटल विश्वास और सेवा-भक्ति देखकर रमानाथ को भी कहना पड़ता है: 'मैं इसे अपना सौभाग्य समझता हूँ कि मुझे उस तरफ़ से प्रकाश मिला जिधर से औरों को अंधकार मिलता है। विष से मुझे सुधा प्राप्त हो गई।'[3] समाज में नैतिकता का कितना महत्व है इसको प्रेमचन्द के उपन्यास की सभी वेश्या-पात्र जानती हैं।

---

१. प्रेमचन्द : 'प्रेमाश्रम' (पृष्ठ ५५३)।
२. प्रेमचन्द : 'कर्मभूमि' (पृष्ठ ११३)।
३. प्रेमचन्द : 'ग़बन' (पृष्ठ ३१८)।

इस युग के अन्य उपन्यासकार जैसे तेजकुमारी दीक्षित, चतुरसेन शास्त्री, ऋषभ चरण जैन, 'हृदयेश', उषादेवी मित्रा आदि ने वेश्या की समस्या को सहानुभूति के साथ चित्रित किया है। इन उपन्यासकारों का वेश्या के प्रति जो दृष्टिकोण है वह प्रेमचन्द के पूर्व के उपन्यासकारों का नहीं था। उन्होंने वेश्यावृत्ति के मूल कारणों पर ध्यान नहीं दिया था, वे वेश्या को पापिनी मानकर घृणा की दृष्टि से देखते थे। किन्तु प्रेमचन्द-युग के उपन्यासकारों के सम्मुख यथार्थ स्पष्ट हो चुका था, इसलिए उन्होंने वेश्यावृत्ति के कारण और समाधान दोनों पर ध्यान दिया। वेश्यावृत्ति के कारणों में पुरुष के अत्याचार, नारी की सुख-भोग की लालसा और आर्थिक संकट को मुख्य माना गया है। 'सेवासदन' में सुधारवादी लोग वेश्याओं को उबारने के लिए एवं समाज से उनको अलग रखने के लिए विभिन्न प्रकार की योजनायें बनाते हैं और वेश्याओं को सभ्य नागरिक बनाने के हेतु 'सेवासदन' जैसे आश्रम से ही संतोष कर लेते हैं किन्तु 'गोदान' तक आते-आते प्रेमचन्द के विचारों में प्रगति होती है। वे मेहता की वाणी में कहते हैं: 'जब तक समाज की व्यवस्था ऊपर से नीचे तक बदल न डाली जाय, इस तरह की मंडली से कोई फायदा न होगा।'[१]

प्रेमचन्द जहाँ एक ओर समाज में परिवर्तन की बात कहते हैं वहीं दूसरी ओर नारी की निजी चारित्रिक विशेषताओं पर भी ध्यान देते हैं। व्यवस्था एक होने पर भी एक स्तर की नारी का जीवन दूसरे स्तर की नारी के जीवन से भिन्न होता है, उसकी क्रिया-प्रतिक्रिया भी भिन्न रूप में होती है। इसीलिए मालती, सुमन और धनिया अपने-अपने ढंग से संघर्ष करती है। सामाजिक परिपार्श्व ही सब कुछ नहीं होता, व्यक्ति की चारित्रिक विशेषताओं का भी महत्व होता है। प्रेमचन्द, प्रतापनारायण श्रीवास्तव, विश्वंभरनाथ 'कौशिक', सियारामशरण गुप्त, जयशंकर 'प्रसाद', उषादेवी मित्रा आदि इस युग के उपन्यासकारों ने नारी की चारित्रिक विशेषताओं पर अत्यधिक बल दिया है। सुखदा पति के चले जाने पर नौकरी करती है तो सुमन पति की उपेक्षा पाकर वेश्या बन जाती है और जालपा आत्म-ग्लानि और पति-प्रेम से अभिभूत होकर उसे सन्मार्ग पर लाने के लिए अपना जीवन लगा देती है। जहाँ सुधा अपने लंपट पति से वैधव्य को अच्छा मानती है, वहाँ निर्मला में इतना साहस नहीं कि वह अपने पति से अपने मन की बात भी कह सके, अपनी स्थिति को स्पष्ट कर सके। सामाजिक वातावरण एक है किन्तु प्रतिक्रिया कितनी भिन्न। इसी प्रकार 'तितली' में तितली, शैला और अनवरी की चारित्रिक विशेषताओं में कितना अन्तर है। लगभग इन सभी पात्रों के चरित्र-चित्रण सजीव हुए हैं। सभी नारी-पात्र व्यक्तिगत विषमतायें लेकर भी एक वर्ग का प्रतिनिधित्व करती हैं। प्रेमचन्द के सम्मुख एक सुधारवादी आदर्श था, एक उद्देश्य था जिसको ध्यान में रखकर ही उन्होंने चरित्र-चित्रण किया है। इसीलिए कहीं-कहीं उनके पात्रों का सीधा विकास नहीं होता।

---

१. **प्रेमचन्द : 'गोदान' (पृष्ठ ४१५)।**

लेखक मानों स्वयं बोल पड़ता है, या उनको अपनी इच्छानुसार विभिन्न परिस्थितियों में डाल देता है। इससे कहीं कहीं थोड़ी-सी अस्वाभाविकता आ गई है।

इस काल में देश-निवासियों पर गाँधी जी के आदर्श और सिद्धान्तों का बहुत प्रबल प्रभाव था। स्त्रियाँ रचनात्मक कार्य करने के अतिरिक्त राजनैतिक आन्दोलनों में भी सक्रिय रूप से भाग लेने लगी थीं। इसीलिए प्रेमचन्द, जयशंकर 'प्रसाद', प्रतापनारायण श्रीवास्तव, उषादेवी मित्रा आदि उपन्यासकारों के नारी-पात्रों में देश-भक्ति की भावना पायी जाती है। वह देश-भक्ति चाहे समाज-सेवा के रूप में हो या सीधे राजनैतिक संघर्ष के रूप में। 'कर्मभूमि' की मुन्नी, नैना, सुखदा, 'रंगभूमि' की इन्दु, उषादेवी मित्रा लिखित 'पिया' की पिया, 'वचन के मोल' की कजरी गाँधी जी के आदर्शों से प्रभावित होकर देश में फैले अंधविश्वास, दमन, जुल्म और शोषण के विरोध में अपना खून बहाने को तत्पर हो जाती हैं तो 'सेवासदन' की सुमन, 'ग़बन' की जालपा, 'प्रेमाश्रम' की शीलमणि, 'गोदान' की मालती, 'तितली' की तितली, प्रतापनारायण श्रीवास्तव लिखित 'विदा' की चपला समाज-सेवा की भावना से अनुप्राणित होकर अपने सुखों को तिलांजलि देकर सेवाकार्य में रत हो जाती हैं। एक ओर सुखदा समस्त पीड़ितों और शोषितों की शक्ति समेट कर अंग्रेजी शासकों के विरोध में भविष्यवाणी करती है कि 'एक दिन आयेगा, जब आज के देवता कल कंकर-पत्थर की तरह उठा-उठाकर गलियों में फेंक दिए जायेंगे और पैरों से ठुकराये जायेंगे'[1] तो दूसरी ओर मालती समाज-सेवा के लिए अपने संचित प्रेम तक का उत्सर्ग कर देती है। जालपा निर्दोष अभियुक्तों को बचाने के हेतु अपने पति के सुख का उत्सर्ग करने को भी तत्पर हो जाती है।

प्रेमचन्द ने सम्मिलित परिवार-व्यवस्था के प्रति पुरानी पीढ़ी का ममत्व और नयी पीढ़ी का विद्रोह व्यक्त किया है। इस युग के अन्य उपन्यासकारों का भी यही दृष्टिकोण दिखाई देता है किन्तु प्रेमचन्द और 'प्रसाद' के अतिरिक्त अन्य उपन्यासकारों ने सम्मिलित परिवार के दोष-गुण और उसमें नारी की स्थिति पर विचार नहीं किया है।

आधुनिक शिक्षा-दीक्षा, आर्थिक कठिनाइयों एवं व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की भावना के कारण सम्मिलित परिवार छिन्न-भिन्न हो रहा है। इस विच्छेद के प्रति नये युग की भावना से अनुप्राणित पुरुष और नारी दोनों ही आग्रह रखते हैं। 'प्रेमाश्रम' में ज्ञानशंकर और दयाशंकर के विचारों में मूलभूत अन्तर है किन्तु विद्या प्राचीन आदर्शों को अपनाने के कारण सम्मिलित परिवार-विच्छेद का विरोध करती है। होरी के अथक प्रयास करने पर भी सम्मिलित परिवार टूट जाता है, उसे भाइयों से अलग होना पड़ता है, यहाँ तक कि उसका अपना बेटा गोबर भी उसे छोड़कर शहर चला जाता है। साहसी झुनिया गोबर के साथ शहर जाने में अतिशय प्रसन्न दिखाई देती है, यहाँ तक कि सास-बहू में लड़ाई ठन जाती है। सास-बहू, देवरानी-जिठानी, ननद-भौजाई आदि के झगड़े प्रेमचन्द-युग

१. प्रेमचन्द : 'कर्मभूमि'।

के उपन्यासों में भी मिलते हैं किन्तु इस समय लेखक का मूल उद्देश्य नारी की सामाजिक समस्याओं का चित्रण करना है, पारिवारिक सम्बन्धों की ओर उसका ध्यान कम है। ये झगड़े परिवार-विच्छेद के मुख्य कारणों में हैं।

कानूनी तौर पर सम्मिलित परिवार में स्त्री का धन-सम्पत्ति पर कोई अधिकार नहीं होता। सम्मिलित परिवार के इस दोष पर भी प्रेमचन्द का ध्यान गया। 'गबन' में वकील साहब के मरने के बाद उनकी लाखों की सम्पत्ति पर उनका भतीजा मणिभूषण अधिकार जमा लेता है, उनकी पत्नी रतन को सिर्फ़ जीवन-निर्वाह के लिए कुछ पैसों का ही अधिकार मिलता है। इस स्थिति से विह्वल होकर वह नारी-जाति को संदेश पहुँचाना चाहती है: "यदि मेरी जुबान में इतनी ताकत होती कि सारे देश में उसकी आवाज पहुँचती तो मैं सब स्त्रियों से कहती, 'बहनों, किसी सम्मिलित परिवार में विवाह मत करना और अगर करना तो जब तक अपना घर अलग न बना लो, चैन की नींद मत सोना। यह मत समझो कि तुम्हारे पति के पीछे उस घर में तुम्हारा मान के साथ पालन होगा। अगर तुम्हारे पुरुष ने कोई तरका नहीं छोड़ा तो तुम अकेले रहो, चाहे परिवार में, एक बात है।"[१] नारी अपने अधिकारों के प्रति कितनी सजग हो गयी थी, यह इन पंक्तियों से जाना जा सकता है। अभी उसके पास इसका कोई समाधान नहीं है। किन्तु वह अधिकारों के प्रति सजग है तो समाधान भी एक-न-एक दिन अवश्य मिलेगा।

बीसवीं शताब्दी के मानव-जीवन की दो प्रमुख ग्रन्थियाँ रही हैं। आर्थिक ग्रन्थि और काम-मूलक ग्रन्थि। एक का सम्बन्ध मनुष्य के परिवेश से है, दूसरे का उसके अन्तर्मन से। प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में प्रारम्भ से अन्त तक आर्थिक समस्याओं को प्रधानता दी है। नारी की जितनी सामाजिक समस्याओं का चित्रण किया है उनके मूल में आर्थिक परिस्थिति ही है। काम-मूलक ग्रन्थि के सम्बन्ध में प्रेमचन्द ने अत्यधिक संयम से काम लिया है। प्रेमचन्द ने यौन भावनाओं को स्थान तो दिया है किन्तु उनको अधिक महत्व कभी नहीं दिया, क्योंकि उनका विश्वास था कि इस समस्या में लिप्त होकर नहीं, विवेक द्वारा विजय पाने से जीवन-विकास सम्भव हो सकता है। यही कारण है कि उनमें शरद की भाँति भावुकतापूर्ण स्त्रीत्व नहीं है। उनमें काठिन्य की ओर आग्रह है और संकल्प एवं नारी उद्धार की भावना है। उनका सम्बन्ध विशेष रूप से सामाजिक समस्या से रहता है।[२] वह गम्भीर दर्शन या सिर्फ चिन्तन की श्रेणी में नहीं आता। उसका व्याव-

---

१. प्रेमचन्द : 'ग़बन' (पृष्ठ २६९)।

२. 'यदि प्रेमचन्द और शरच्चन्द्र की तुलना की जाय तो स म जिक समस्याओं के विश्लेषण में शरच्चन्द्र अधिक संयत जान पड़ेंगे। विधवा का जीवन भी उनकी कला का मूल है; लेकिन उनमें समाज-सुधार के लिए उत्साह नहीं है। उनके उपन्यासों में विधवाओं के जो बड़े-बड़े चरित्र हैं वे अपने रंगों के लिए प्रसिद्ध हैं। वे सबसे अधिक रुचि चरित्र-

हारिक महत्व है। पारिवारिक एवं सामाजिक उन्नति के लिए प्रेमचन्द की मानवतावादी संवेदना ने जो रूप ग्रहण किया वह अन्य उपन्यासकारों में दुर्लभ है। प्रेमचन्द अपने इस मार्ग से स्वयं परिचित थे, उनके आगे एक उद्देश्य था जिस पर वे चले।[1]

प्रेमचन्द-युगीन उपन्यासों में नारी का चित्रण मुख्यतः पत्नी के रूप में आया है। प्रेयसी और माता का रूप गौण ही है। अपने पति से प्रेम और विश्वास करके ही वह सफल है। इन दोनों को खोकर वह भटक जाती है। ज्यों-ज्यों प्रेमचन्द की उपन्यास-कला का विकास हुआ, त्यों-त्यों नारी-पात्रों के चित्रण में भी विकास होता गया। व्रजरानी और सुमित्रा के आदर्शमय परम्परागत चित्र से आरम्भ कर वे नारी को धनिया के स्वाभाविक यथार्थ एवं स्वस्थ रूप तक लाये हैं। सभी नारी-पात्रों के संस्कार यथार्थ रूप में जीवन से लिये गये है। लगता है वे हमें दैनिक जीवन में रात-दिन, अपने आस पास मिलती हैं। वे अपने वर्ग की नारियों की सभी अच्छाइयों और बुराइयों को लेकर प्रकट हुई हैं। वे अपने जीवन को अधिक सम्पन्न, प्रसन्न और देशोपयोगी बनाने के लिए प्रयत्नशील हैं। यह भावना भविष्य में अटूट विश्वास से ही आती है।

प्रेमचन्द-युग में ही कुछ ऐसे उपन्यासकार भी हुए जिन पर प्राकृतवाद (Naturalism) की छाप बहुत स्पष्ट है। प्राकृतवाद उन्नीसवीं शताब्दी में योरोपीय साहित्य में बहुत प्रसिद्ध मतवाद था। इसके अनुसार मनुष्य भी अन्य प्राणियों की भाँति एक जन्तु मात्र है। अतः मनुष्य में भी पशु-सुलभ सभी आकर्षण-विकर्षण वर्तमान है। प्राकृतवादी लेखक साहित्यिक सौन्दर्य की ओर कभी-कभी शील को भी उपेक्षा करके जीवन

चित्रण में रखते हैं। प्रेमचन्द का सम्बन्ध विशेष रूप से सामाजिक समस्या से रहता है।' सम्पादक— डा० इन्द्रनाथ मदान : 'प्रेमचन्द : चिन्तन और कला' (पृष्ठ १०)।

१. एक बार जैनेन्द्र के पूछने पर प्रेमचन्द ने अपने इस मत को स्वयं ही स्वीकार किया था। जैनेन्द्र ने पूछा : 'बंगाली साहित्य हृदय को अधिक छूता है, इससे आप सहमत हैं? तो इसका कारण क्या है?' प्रेमचन्द ने कहा : 'सहमत तो हूँ, कारण उसमें स्त्रीत्व भावना अधिक है। मुझमें वह काफ़ी नहीं है।' सुनकर मैं उनकी ओर देख उठा। पूछा : स्त्रीत्व है? इसी से वह साहित्य हृदय को अधिक छूता है? बोले : 'हाँ, तो वह जगह-जगह reminiscent (स्मरणशील) हो जाता है। स्मृति में भावना की तरलता अधिक होती है, संकल्प में भावना का काठिन्य होता है, विधायकता के लिए दोनों चाहिए. . .'। बोले, 'जैनेन्द्र, मुझे कुछ ठीक नहीं मालूम, मैं बंगाली नहीं हूँ। वे लोग भावुक हैं। भावुकता में जहाँ पहुँच सकते हैं, वहाँ मेरी पहुँच नहीं। मुझमें उतनी देन कहाँ। ज्ञान से जहाँ नहीं पहुँचा जाता, वहाँ भी भावना से पहुँचा जाता है। वहाँ भावना से ही पहुँचा जाता है। लेकिन जैनेन्द्र, मैं सोचता हूँ काठिन्य भी चाहिये।'
जैनेन्द्र का लिखा लेख : 'प्रेमचन्द : मैंने देखा जाना और पाया', : 'हंस' : १९३७ : मई अंक (पृष्ठ ७७८)।

के सभी पहलुओं का नग्न चित्रण करता है। विशेष रूप से वह काम, क्रोधादि उन मनोवेगों की ओर ध्यान देता है, जिन पर अन्य लेखक साधारणतः मौन रहते हैं।

इस प्रकार का उपन्यास पहलेपहल फ्रेंच लेखक एमिल जोला ने लिखा था। इसका प्रचार पहले इंग्लैंड में हुआ फिर अंग्रेजी के माध्यम से हिन्दी में भी इसका अनुकरण हुआ। प्रेमचन्द-युग में चतुरसेन शास्त्री, बेचन शर्मा 'उग्र' और चंद्रशेखर पाठक ने इस प्रकार के उपन्यास लिखे। यद्यपि इन लेखकों ने भी नारी की सामाजिक समस्याओं को ही अपने उपन्यासों की कथावस्तु बनाया है और समाज-सुधार की दृष्टि से ही विधवाश्रमों और वेश्यालयों के दोषों एवं दिन-प्रतिदिन समाज में होने वाले व्यभिचारों का भण्डाफोड़ किया है तथापि इन्होंने स्त्री-पुरुष के यौन-सम्बन्धों एवं समाज के दूषित और घृणित पक्षों को रसपूर्ण और उत्तेजक शैली में इस प्रकार चित्रित किया है कि उसका प्रभाव बिल्कुल उल्टा ही पड़ता है। यही नहीं, इन्होंने विधवाश्रमों, वेश्यालयों एवं निकृष्ट समुदाय के ऐसे चरित्रों की सृष्टि की जिसको पढ़कर लगता है मानों पात्र पुकार-पुकार कर कह रहे हों कि मनुष्य और पशु की वृत्ति में कोई अन्तर नहीं है, अपितु कामासक्ति में मनुष्य पशु से भी निकृष्ट और पतित है। अतः इनके उपन्यास पाठकों की रुचि को उठाने की अपेक्षा नीचे गिराने में और नारी की समस्या को सुलझाने की अपेक्षा उलझाने में ही अधिक सहायक सिद्ध हुए।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रेमचन्द-युग के लगभग सभी उपन्यासकारों की प्रवृत्ति सामाजिक यथार्थ का आकलन करने की ओर थी जिसका चित्रण विभिन्न शैलियों में व्यक्तिगत रुचि के अनुसार हुआ है। इस युग के सभी उपन्यासकारों की प्रवृत्ति आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की ओर होते हुए भी उन्होंने यथार्थ पर विशेष बल दिया है। उपन्यासकार समस्या का जो समाधान हमारे सामने रखता है वह बहुत विश्वसनीय नहीं लगता। वह समस्या का सच्चा हल है भी नहीं। तभी तो प्रेमचन्द ने 'गोदान' में कोई समाधान नहीं रखा। इससे उनके दृष्टिकोण के क्रमिक विकास का परिचय मिलता है।

प्रेमचन्द-युग में ही कुछ उपन्यासकारों ने नारी-जीवन की कुछ समस्याओं को नये दृष्टिकोण से देखने का प्रयास किया। प्रेम की भित्ति पर पाप-पुण्य की समस्या भगवती-चरण वर्मा लिखित 'चित्रलेखा' (१९३४) में उठ चुकी थी। इस आदर्शवादी युग में ही लेखक ने ऐतिहासिक वातावरण के माध्यम से यह कहने का साहस किया कि प्रेम के क्षेत्र में भी पाप-पुण्य कुछ नहीं है, वह पूरी तौर से परिस्थिति एवं व्यक्ति की भावना पर निर्भर करता है। इसके अतिरिक्त जैनेन्द्र लिखित 'परख' (१९३०) 'सुनीता' (१९३६) तथा प्रफुल्लचंद्र ओझा लिखित 'तलाक' (१९३२) आदि उपन्यास भी इस युग मे लिखे गये जिनमें नारी-समस्या को दूसरे दृष्टिकोण से देखा गया। मनोवैज्ञानिक दृष्टि का महत्व बढ़ गया। 'परख' और 'सुनीता' में क्रमशः कट्टो और सुनीता की जो भोगी मनोवेदना परिलक्षित होती है, वह प्रेमचन्द के उपन्यासों मे नहीं। 'सुनीता' के साथ घर-बाहर की समस्या भी उठ खड़ी हुई जो नयी सामाजिक चेतना से उत्पन्न हुई थी। 'सुनीता'

में कर्तव्यनिष्ठ पतिव्रता पत्नी की ही विजय दिखाई गई है। इसलिए इसका आदर्श प्रेमचन्द का ही आदर्श है किन्तु चित्रण की भूमि वदल गई है। उपन्यासकारों का ध्यान मानव-मन की ओर जाने लगा जिसके कारण उपन्यास में अधिक तलस्पर्शिता आई। प्रेमचन्द के जाते-जाते जिस नवीन चेतना का उदय हुआ उसके मूल में नई राजनैतिक और मनोवैज्ञानिक उपलब्धियाँ थीं। यहीं पर प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों की सन्धि-रेखा मिलती है।

प्रेमचन्दोत्तर काल

प्रेमचन्द-युग के हिन्दी उपन्यासों की विचारधारा की आधार-भूमि समाज थी जो सामान्यतः १९०५ से १९३६ तक व्याप्त रही। प्रेमचन्द के जाते-जाते हिन्दी उपन्यास ने एक नया ओर स्पष्ट मोड़ लिया। सामान्य जीवन की दिन-प्रतिदिन की घटनाओं से उपन्यास अलग होता गया। उसका झुकाव मनुष्य के मानस की सारी प्रक्रियाओं के उद्‌घाटन की ओर एवं आन्तरिक सम्भावनाओं की ओर होता गया।

सन् १९३६ के वाद के हिन्दी उपन्यास का मुख्य विषय धन-लालसा और यौन-बुभुक्षा रहा है। यही दो कथावस्तु के आधार हैं जिन पर उपन्यास खोलते ही दृष्टि पड़ती है। ये सामाजिक जीवन के अविच्छिन्न अंग हैं जिनसे साहित्यकार अपने को अलग नहीं कर सकता। प्रेमचन्द के पश्चात् हिन्दी उपन्यासों में इन दो पहलुओं का जो चित्रण हुआ वह सामाजिक जीवन का सहज अंग होने पर भी दो प्रमुख प्रभावों के कारण हुआ। ये दो प्रभाव थे (१) मार्क्स की विचारधारा (२) फ़्रायड का मनोविश्लेपण।

कार्ल मार्क्स (१८४२-१८८४) का मुख्य सिद्धान्त द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद था जिसका प्रभाव भारतवर्ष की राजनीति पर तो पड़ा ही, हिन्दी साहित्य भी उससे अछूता न रहा।

मार्क्स की विचार-धारा

उनकी विचारधारा से प्रभावित होकर पश्चिम और पूर्व के अनेक देशों में कम्यूनिस्ट पार्टी की स्थापना हुई और अन्तर्राष्ट्रीय क्रान्ति के प्रयत्न हुए। पहले महायुद्ध के अन्त में रूस की कम्यूनिस्ट पार्टी ने क्रान्ति में सफलता पाई जिसके फलस्वरूप मार्क्स की विचारधारा का प्रभाव दूर-दूर तक फैल गया और कम्यूनिस्ट आन्दोलन को वहुत वल मिला। भारत में भी सन् १९२७ में कम्यूनिस्ट पार्टी की स्थापना हुई और कम्यूनिस्ट सिद्धान्तों का सहारा लेकर सन् १९३६ में प्रगतिशील लेखक संघ का जन्म हुआ।

मार्क्सवादी विचारधारा के अनुसार पूँजीवादी समाज-व्यवस्था में दो वर्ग होते हैं एक शोपक और दूसरा शोपित। इन दो वर्गों में आपस में संघर्प चलता रहता है। नारी शोपित है और पुरुप शोपक।[१] समाज की उन्नति एवं कल्याण के लिए नारी की आर्थिक

---

१. In the family, he is the bourgeois; the wife represents the proletariat.

Frederick Engels : The Origin of the family (page 106)

स्वतन्त्रता एवं उसके जीवन का विकास अत्यन्त आवश्यक है। स्त्रियाँ भी पुरुषों के ही समान मनुष्य हैं। समाज की उन्नति स्त्री के सहयोग के बिना नहीं हो सकती।

यद्यपि जॉन स्टुअर्ट मिल ने सन् १८६९ में अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक Subjection of women में ही नारी-स्वतन्त्रता का प्रतिपादन किया था जिसको पढ़कर उस समय के पुराण-पंथियों में खलबली मच गयी थी किन्तु मार्क्स-एंगेल्स ने पहली बार नारी-सम्बन्धों का ऐतिहासिक विश्लेषण किया और उन परिस्थितियों और सामाजिक कारणों का उद्घाटन किया जिनके कारण समाज में नारी अपने सम्मान एवं स्वतन्त्रता से वंचित हो गई। एंगेल्स ने कहा, 'जिसका उत्पादन के साधनों पर अधिकार होगा, समाज में उसी का सम्मान होगा, उसी के हाथ में सत्ता होगी।' उन्होंने कहा, 'नारी की मुक्ति तभी सम्भव हो सकती है, जब वह सामाजिक स्तर पर उत्पादन के योग्य हो।' यही कारण है कि मार्क्स के अनुयायियों ने नारी के घर से बाहर आकर सामाजिक स्तर पर कार्य करने एवं सामाजिक समानता प्राप्त करने पर बहुत बल दिया है।

मार्क्स वस्तु के बाह्यनिष्ठ अस्तित्व में विश्वास करते थे। मनुष्य के मानसिक जगत पर बाह्य वातावरण एवं परिस्थितियों का प्रभाव पड़ता है, इन्हीं के द्वारा मनुष्य के विचारों, भावों एवं अनुभावों का निर्माण होता है।[1] इसी के साथ-साथ मनुष्य समाज की परिस्थिति और वातावरण को प्रभावित और परिवर्तित भी कर सकता है। अर्थात् व्यक्ति समाज द्वारा प्रभावित भी होता है और उसका निर्माता भी है।

यह ठीक है कि मार्क्स और एंगेल्स भी मानव-आचरण में अचेतन मन की प्रेरणाओं के महत्व को स्वीकार करते हैं। किन्तु उन्होंने इन अनुभूतियों और प्रेरणाओं का सम्बन्ध आर्थिक आधार से माना है। आर्थिक आधार से उनका सम्बन्ध वही होता है जो फूल का मिट्टी से होता है। जिस प्रकार फूल मिट्टी से पैदा होता है, उसी का अंश है, उसी का परिष्कृत रूप है किन्तु यह सब होने पर भी उससे भिन्न प्रतीत होता है, उसी प्रकार मानव-मन की प्रेरणाओं का आधार आर्थिक होता है, उसी से वे नाना रूप धारण कर के प्रकट होती रहती हैं। एंगेल्स का मत है कि जब व्यक्ति की प्रेरणायें उसके मस्तिष्क से होकर उसकी इच्छा-शक्ति का अंग बन जाती हैं तभी विचार क्रिया का रूप लेते हैं। किन्तु फ्रायड ने काम को जीवन की मूल-शक्ति माना है जो मार्क्सीय सिद्धान्त के विपरीत है। मार्क्सवाद व्यक्ति के मस्तिष्क की अनेक-रूपात्मक क्रिया-प्रतिक्रियाओं से उतना सम्बन्ध नहीं रखता जितना मनोविश्लेषणवादी सम्प्रदाय रखता है।

मार्क्सवादी विचारधारा ने साहित्य में जिस प्रवृत्ति को जन्म दिया उसे 'प्रगतिवाद'

---

१. 'भौतिक परिस्थितियों और विचारों का सम्बन्ध नींव और उस पर खड़ी इमारत के समान है। यदि आर्थिक और सामाजिक सम्बन्ध नींव हैं तो ज्ञान, विज्ञान, कानून, दर्शन, साहित्य और कला उस नींव पर खड़ी इमारत के समान हैं।'
प्रकाशचन्द्र गुप्त : 'साहित्य-धारा' (पृष्ठ १)।

का नाम दिया गया है। शिवदान सिंह चौहान ने 'प्रगतिवाद' की व्याख्या करते हुए लिखा है : "'प्रगतिवाद' साहित्य की वह धारा है जो पूँजीवाद के अन्तिम काल में उत्पन्न होती है, जो पूँजीवादी साहित्य और कला की सारी कामयावियों और सजीव परम्पराओं को ग्रहण कर एक नये जन-साहित्य का निर्माण करती है।"[1] प्रगतिवादी साहित्य मनोविश्लेपणवादियों की भाँति व्यक्तिगत वर्जनाओं और विशिप्ट असाधारणत्व को महत्व नहीं देता। वह तो कला को पूरे समाज की सम्पत्ति मानता है। अतः वह यह मानता है कि अच्छे प्रगतिशील साहित्य में जन-साधारण की समस्याओं और भावनाओं का चित्रण ऐसी स्पष्ट शैली मे होना चाहिए कि जिससे उसका प्रभाव व्यापक मानव-समूह पर पड़ सके। यही कारण है कि इस साहित्य के मूल में 'मैं' की नही 'हम' की भावना प्रधान रहती है। प्रगतिवादी साहित्य में सामाजिक व्यवस्था एवं उसके फलस्वरूप समाज में उत्पन्न विपमताओं और संघर्प का सजीव चित्रण प्रधान होता है। इसके लेखक 'सामाजिक यथार्थवाद' (Social Realism) में विश्वास करते है। 'सामाजिक यथार्थवाद' की धारा ही साहित्य में प्रगतिवाद है।'[2]

फ्रायड का मनोविश्लेषण

यद्यपि डारविन के विकासवाद (Evolution) के फलस्वरूप लोगों का ध्यान व्यक्ति के जीवन और उसकी प्रतिक्रियाओं की ओर आकर्पित हो चुका था, तथापि सर्वप्रथम मनोविश्लेपण को विज्ञान का रूप प्रो० सिग्मंड फ्रायड (१८५६-१९३६) ने प्रदान किया। इसके फलस्वरूप १९१० ई० में इन्टरनेशनल साइकोएनालिटिकल एसोसियेशन की नींव पड़ी। फ्रायड ने बताया कि मानव-मन के तीन स्तर होते है (१) चेतन (२) अर्द्धचेतन और (३) अवचेतन। अवचेतन की खोज फ्रायड के मनोविश्लेषण का आधार-भूत सिद्धान्त है। इसके पहले मनुप्य केवल अपनी चेतनावस्था से ही परिचित था। किन्तु फ्रायड ने कहा कि मानव-मन का ३/४ भाग अवचेतन है। इसी अवचेतन के द्वारा मनुष्य के स्वभाव, व्यवहार तथा विचारादि रूप पाते है। चेतन हमारे मन का वह भाग है जो सामाजिक जीवन में सक्रिय रहता है तथा जिसकी क्रियाओं का हमें ज्ञान रहता है। अवचेतन में होनेवाली क्रियाओं का हमें ज्ञान नहीं होता। चेतन और अवचेतन दोनों का मध्यवर्ती स्तर अर्द्धचेतन है। हमारे विचार और प्रवृत्तियाँ अवचेतन से उत्पन्न होकर अर्द्धचेतन से होती हुई चेतन तक पहुँच जाती है। समाज की दृप्टि से जो विचार तथा व्यवहार निन्दनीय और लज्जास्पद होते है उन्हें चेतन और अवचेतन के बीच में बैठा हुआ एक प्रहरी (Censor) रोक देता है, किन्तु वे दमित प्रवृत्तियाँ एकदम समाप्त नही हो जातीं। ये प्रवृत्तियाँ अपनी अभिव्यक्ति के लिए अवचेतन में गुप्त रूप से संघर्प करती रहती है और स्वप्न में, कला में तथा साहित्य में प्रकट होकर अपना अस्तित्व

---

१. शिवदान सिंह चौहान : 'प्रगतिवाद', पृष्ठ १।

२. वही, (पृष्ठ ७)।

सिद्ध करती हैं। आधुनिक मनोवैज्ञानिकों का ध्यान इन दमित भावों तथा प्रवृत्तियों के उद्घाटन की ओर अधिक है। हमारा अवचेतन मन जिन दमित इच्छाओं का पुंज है वे मूलतः हमारी कामेच्छा का परिणाम होती हैं। फ़ायड ने इसको 'लिबिडो' कहा है। हमारी सभी व्यक्तिगत तथा समष्टिगत क्रियाओं तथा चेष्टाओं में काम के सूक्ष्म अन्तर्सूत्र विद्यमान रहते हैं।

काम अथवा राग की माध्यम मनुष्य की सहज वृत्तियाँ होती हैं। फ़ायड के अनुसार इन सहज वृत्तियों का उचित परितोष ही जीवन की सिद्धि है। यही फ़ायड का आनन्द सिद्धान्त 'प्लैजर प्रिन्सिपल' है। वे इसी को जीवन का मूल सिद्धान्त मानते थे। यद्यपि बाद में उन्हें विवेक की महत्ता भी स्वीकार करनी पड़ी।

फ़ायड के शिष्य तथा सहयोगी एडलर और युंग थे जिन्होंने फ़ायड से कुछ भिन्न अपने अलग-अलग सम्प्रदाय बनाये। एडलर ने मनुष्य की मूल वासना को काम-वासना न मानकर विजय की वासना माना है। उन्होंने कहा कि व्यक्ति में दूसरों पर विजय प्राप्त करने की, दूसरों से श्रेष्ठ बनने की भावना प्रधान होती है। इसी प्रकार युंग ने फ़ायड के मनोविज्ञान के सिद्धान्त का अपने प्रयोगों और अनुभवों के आधार पर विकास किया।

इन तीनों मनोवैज्ञानिकों में से हिन्दी उपन्यासों पर मुख्यतः फ़ायड के ही सिद्धान्तों का प्रभाव मिलता है। मनोविश्लेपण से प्रभावित होकर उपन्यासकारों ने मन की कुंठाओं और दमित वासनाओं का उद्घाटन एवं आत्म-निरीक्षण करना शुरू किया। उन्होंने व्यक्ति की मूल प्रवृत्तियों को पहचाना और उस प्रवृत्ति का सीधा और यथार्थ वर्णन किया जिससे साहित्य में अधिक मर्मस्पर्शिता, प्रखरता तथा गहराई आई। जिस समय मार्क्सवादी लेखक आर्थिक-सामाजिक जीवन को महत्व दे रहे थे, उस समय मनोविश्लेपणवादी लेखक व्यक्ति के अन्तर्मन के गहरे, अन्धकारमय, निभृत कक्षों का उद्घाटन कर रहे थे।

हिन्दी उपन्यास पर प्रभाव

मार्क्स और फ़ायड दोनों के ही दर्शन एक तरह से एकांगी सिद्ध हुए। मानव-जीवन के दो पहलू होते हैं—एक बाह्य, दूसरा आन्तरिक। मार्क्सवाद व्यावहारिकता एवं सामाजिकता पर अधिक महत्व देता है, और मनोवैज्ञानिक विचारधारा अन्तर्जगत पर। किन्तु यथार्थ जीवन में दोनों पहलुओं का सामजस्य अभिन्न रूप से मिलता है। इसलिए साहित्य में भी दोनों पक्षों पर ध्यान रखना आवश्यक हो जाता है।

फ़ायड ने नारी के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है वह उसके सम्मान की दृष्टि से गौरवपूर्ण नहीं कहा जा सकता। वह नारी को काम-वासना की प्रतीक एवं सभ्यता की विरोधिनी रूप में उपस्थित करता है।[1] उसने नारी की उन कोमल विशेपताओं को कम महत्व

---

१. डा० शैलकुमारी ने अपनी पुस्तक 'आधुनिक हिंदी काव्य में नारी भावना' में फ्रायड के दर्शन के अनुसार नारी में चार विशेषताओं का उल्लेख किया है: (१) लिंग ईर्षा

दिया जिसके लिए वह आज तक आदर्श मानी जाती थी। उसके त्याग, सेवा, निस्वार्थ प्रेम को बहाना मात्र माना। इस मनोविश्लेषणवादी विज्ञान ने भारतीय समाज की अनेक परम्परागत मान्यताओं और आदर्शों पर गहरा आघात किया। साहित्य में नारी को जीवशास्त्रीय अर्थ में भी देखा जाने लगा।

इन दो वाह्य प्रभावों के कारण हिन्दी साहित्य में एक नयी प्रबुद्ध चेतना का सूत्रपात हुआ। काव्य, निबंध, कहानी और उपन्यास-साहित्य के सभी अंगों में सामाजिक शोषण के प्रति आक्रोश और समाज में सब वर्गों की समानता की माँग परिलक्षित होती है। इसकी तर्क-संगत परिणति के रूप में इस काल का नारी-चित्रण भी एक नये यथार्थ पर स्थापित हुआ। वैज्ञानिक अध्ययन और विश्लेषण के फलस्वरूप नये नैतिक मूल्यों और नये धरातलों की स्थापना द्वारा नारी की वैयक्तिकता का महत्व बहुत बढ़ गया।[१] उपन्यास में सम्पूर्ण मानव-चित्रण के अधिक आग्रह के कारण मानव-मन को समझने का प्रयास किया गया जिसमें नारी का चित्रण विशेष रूप से हुआ और युग से उपेक्षित नारी-मन को समझने की चेष्टा की गई। और साथ ही साथ साहित्य की भावना भी एकदम बदल गई।[२]

यद्यपि मार्क्सवादी विचारधारा वर्ग-संघर्ष द्वारा समाज में क्रान्ति पर बल देती थी

---

(२) पुरुष से अधिक मात्रा में आत्म प्रेम (३) सांस्कृतिक कार्यों के लिए दुर्बल प्रेरणा शक्ति तथा उनके उदात्तीकरण (sublimation) की हीन सामर्थ्य। (४) सभ्यता के लिए सामान्य-विरोध-भाव।

१. "जिस नैतिक मूल्य का प्रश्न 'चित्रलेखा' में उठाया गया था, उसकी चरम परिणति 'शेखर : एक जीवनी' में हुई। जहाँ तक मनोवैज्ञानिक स्तरों का प्रश्न है, उसकी पुष्टि इलाचन्द्र जोशी और जैनेन्द्र के उपन्यासों द्वारा हुई। इस बौद्धिक विकास के अन्वेषण और विश्लेषण के महत्वपूर्ण क्षणों में कई और नये धरातल भी अपने आप उभर रहे थे। मनुष्य के मानवीय पक्षों का, यथार्थ की भौतिक क्रूरता का, वेदना-पूर्ण परिचय उस मानवीय दुःख और असंगति (human tragedy) के संदर्भ में व्यक्त होने लगा जो बहुत कुछ वैज्ञानिक जड़ता, मनोवैज्ञानिक अनिवार्यता और वैयक्तिक ग्रंथियों से सम्बन्ध रखते थे। इन नये स्तरों पर आकर मनोवैज्ञानिक अध्ययन और विश्लेषण के माध्यम से, आरोपित सामाजिक आदर्शों की अपेक्षा वैयक्तिक मर्यादाएँ, अनिवार्यताएं और नैतिक मूल्यों का विस्फोट-सा होने लगा।'
लक्ष्मीकान्त वर्मा : 'आलोचना' : 'उपन्यास विशेषांक', पृष्ठ (९२-९३)

२. 'मेरा तो विश्वास है कि जिस समय मानव की वैयक्तिकता ने, नारी के शुद्ध नारीत्व ने साहित्य मन्दिर में 'प्रवेश निषिद्ध' के विरोध में अपना समुचित अधिकार माँगने के लिए पैर बढ़ाया उसी दिन साहित्य भावना बदल गई।'
देवराज उपाध्याय : 'मार्क्स और साहित्य' : 'हंस' : मार्च १९४१ (पृष्ठ ५२६)।

और फ़ायड की मनोविश्लेषणात्मक प्रवृत्ति सामाजिक परिवर्तन के सम्बन्ध में मौन रहकर केवल व्यक्ति-मन के अन्तर्पटों का उद्घाटन करती थी, फिर भी हिन्दी उपन्यासों में नारी-चित्रण के संदर्भ में, उन दोनों में एक साम्य दिखाई देता है। चाहे मार्क्सवाद के अधकचरे अध्ययन के कारण ऐसा हुआ हो, अथवा निम्नवर्ग के यथार्थ जीवन के अभावों की प्रतिक्रिया के रूप में लेखक ने यह दृष्टि अपनाई हो, पर मार्क्सवादी लेखक भी यौन-सम्बन्धों पर बल देते थे और मनोवैज्ञानिक लेखक भी। उनकी विभिन्नता उद्देश्यगत और शैलीगत विभिन्नता थी, पर विषयगत नहीं। राजनैतिक क्रान्तिकारी आन्दोलन में कुछ शिक्षित महिलाओं के भाग लेने से मार्क्सवादी लेखक को नारी को निकट से देखने का अवसर मिला, और यह सिद्ध करने के लिए कि संस्कृति का आधार आर्थिक व्यवस्था होती है, उसने नारी के नैतिक मूल्यों को भी परिवर्तनशील माना।

इस प्रकार प्रेमचन्दोत्तर काल के उपन्यासों की मुख्य समस्या स्त्री-पुरुष के आकर्षण-विकर्षण अर्थात् काम-भाव की समस्या है। प्रेमचन्द के पूर्ववर्ती उपन्यासों में इस समस्या का चित्रण नहीं के बराबर हुआ। प्रेमचन्द ने नर-नारी के स्वाभाविक आकर्षण-विकर्षण का मार्मिक चित्रण अवश्य किया है किन्तु समाज के प्रतिबंधों एवं गाँधीवादी आदर्शों के कारण इस पक्ष के चित्रण में वे अत्यधिक संयत दिखाई देते हैं। प्रेमचन्दोत्तर काल में हिन्दी उपन्यासकार पर मनोवैज्ञानिकों का प्रभाव इतने गहरे रूप में पड़ा कि उन्होंने समाज के प्रतिबन्धों से ऊपर इस समस्या को उठाने का प्रयत्न प्रारम्भ किया। उन्होंने अपने उपन्यासों में यह दिखाने की चेष्टा की कि व्यक्ति की ये काम-वासनायें स्त्री-पुरुष की दैहिक प्रवृत्तियों से तो सम्बन्ध रखती ही हैं, उसके सामाजिक जीवन के सभी पहलुओं को भी प्रभावित करती हैं और उनका रूप भी निर्धारित करती हैं। इसी कारण आधुनिक जीवन में इनका इतना महत्व है।

विवाह के सम्बन्ध में प्रेमचन्दोत्तर-कालीन उपन्यासकारों एवं इसके पूर्ववर्ती उपन्यासकारों के दृष्टिकोणों में जमीन-आसमान का अन्तर है। पहले विवाह को नारी-जीवन का चरम उद्देश्य मानकर प्रेम की समस्या का अन्त विवाह में किया जाता था किन्तु अब विवाह को केवल एक सामाजिक गठबंधन के रूप में देखा गया। कहीं-कहीं तो उसके प्रति एक विद्रोह की भावना भी दिखाई देती है। साथ ही वैवाहिक जीवन में प्रेम की समस्या भी इस युग में पहली बार चर्चा का विषय बनी।

इस काल में सतीत्व से भी अधिक उसके नारीत्व को महत्व दिया गया। इस प्रकार का दृष्टिकोण बँगला में शरच्चन्द्र के उपन्यासों में मिलता है।[1] किन्तु हिन्दी के उपन्यासों में

---

१. एक बार इलाचन्द्र जोशी के पूछने पर शरच्चन्द्र ने कहा था: "मैं मानव धर्म को सती धर्म के बहुत ऊपर स्थान देता हूँ। सतीत्व और नारीत्व ये दोनों आदर्श समान नहीं हैं। नारी-हृदय की निखिल कल्याणकारी करुणा, उसकी मातृ-वेदना उसके सतीत्व से बहुत अधिक महत्वपूर्ण है। बहुत-सी स्त्रियाँ ऐसी देखी गई हैं जिनका किसी दूसरे पुरुष से कभी किसी प्रकार का शारीरिक अथवा मानसिक सम्बन्ध नहीं रहा है, तथापि

प्रेमचन्द के बाद ही इस दृष्टिकोण का आविर्भाव हुआ। नारी की पवित्रता को आँकने के मापदण्ड बदल गये।[१] या इस बात को यों कहें कि नारी की पवित्रता को जिस परिप्रेक्ष्य से देखा-जाता था; उसका रूप बदल गया। जैनेन्द्र के 'त्यागपत्र' (१९३७) की मृणाल कोयले वाले के पास रहकर एवं सभ्य समाज की दृष्टि में निकृष्ट समाज में रहकर भी लेखक उसकी आत्मा को पवित्र मानता है, उसके सतीत्व की सराहना करता है। 'सुनीता' (१९३६) की सुनीता हरिप्रसन्न की प्रसन्नता के लिए सब कुछ अर्पण करने के लिए प्रस्तुत होने पर भी उसके सतीत्व पर तनिक भी आँच नही आती। इसी प्रकार इलाचन्द्र जोशी लिखित 'प्रेत और छाया' (१९४३) की वेश्या मंजरी और 'सन्यासी' (१९४१) की शान्ति के अविवाहित रूप में एक अपरिचित पुरुष के साथ रहने पर भी उपन्यासकार ने उनके मानव-धर्म एव उनकी पवित्रता को ऊँचा स्थान दिया है।

प्रेमचन्दोत्तर-कालीन उपन्यासकारों का ध्यान विवाहित नारी के प्रेम की ओर विशेष रूप से गया। इसके पूर्व के लेखक यह मानते थे कि नारी एक बार जिसको पति-रूप में ग्रहण कर लेती है, उसके प्रति सदा तन-मन से समर्पित हो जाती है। यदि किसी कारणवश ऐसा करने में असफल या अयोग्य होती है, तो वह पतिता मानी जाती है। किन्तु आधुनिक उपन्यासकार क्योंकि चेतन से भी अधिक अवचेतन और अर्द्धचेतन प्रवृत्तियों पर बल देते है इसलिए वे नारी को पतित या उच्छृंखल मानने में इन ऊपरी कारणों पर अधिक ध्यान नहीं देते। वे मन की सचाई और प्रेम की एकान्तता को ही विशेष महत्व देते है। यदि नारी का मन निश्छल है, वह सम्पूर्ण मन से प्रेम करती है तो उसकी आत्मा पवित्र है, आदर्श-स्वरूप है। भगवतीप्रसाद बाजपेयी लिखित 'पिपासा' की शकुन्तला अपने पति के मित्र कमलनयन से प्रेम करती है, और अपनी क्षणिक नैतिक दुर्बलता को पाप भी नही समझती। वह स्वयं अपनी स्थिति स्पष्ट करते हुए कहती है, 'लेकिन क्या मैं तुमसे कहूँ कि मैं उसे पतन नहीं मानती। कभी मान ही नही सकती। वह तो नारी के तृषित मन का क्षणिक आमोद था। उसके बाद मैं फिर ज्यों की त्यों हो गई थी और तब से आज तक पूर्ववत् हूँ।"[१] इसी प्रकार वृन्दावनलाल वर्मा लिखित 'अचल मेरा कोई' (१९४८) में कुन्ती का आकर्षण

उनके स्वभाव में अत्यन्त नीचता, घोर संकीर्णता, परद्रोह तथा चोर वृत्ति पाई गई है। इसके विपरीत ऐसी पतिताओं से ॱरा परिचय रहा है जिनके भीतर मैंने मातृ-वेदना और नारी-हृदय की यथार्थ करुणा का अथाह सागर उमड़ा हुआ पाया है।"
'हंस' : जून १९३८' : (पृष्ठ ९०१)।

१. 'मैं उस नारी की पूजा करूँगा जो कैसे भी पुरुष को पति रूप में पाकर उसे देवता मानकर कभी भी पतिव्रत भाव से विमुख नहीं होती है, लेकिन कोई ऐसा न कर सके तो मैं सहज दोष और दण्ड के लिए भी आगे नहीं बढूँगा।'
जैनेन्द्र : 'काम, प्रेम और परिवार' (पृष्ठ १३७-१३८)।

२. भगवतीप्रसाद बाजपेयी : 'पिपासा' (पृष्ठ १९४)।

अपने पति के मित्र अचल की ओर है। इलाचन्द्र जोशी लिखित 'संन्यासी' में जयन्ती और कैलास में मौन आकर्षण निहित है। अज्ञेय लिखित 'शेखर: एक जीवनी' (१९४४) में भी विवाहिता शशि शेखर से प्रेम करती है।

इन सभी उपन्यासों में उपन्यासकारों ने विवाहित नारी के जीवन में अपर व्यक्ति के आकर्षण का चित्रण किया है। ये नारियाँ विवाह-बंधन में बँधने के बाद भी प्रेम के स्वाभाविक आकर्षण को अस्वीकार नहीं कर पातीं। जैनेन्द्र का तो कहना है: 'विवाह सम्बन्ध व्यक्ति को बन्द कर देता है, यह नहीं समझना चाहिये। स्त्री-पुरुष, पति-पत्नी बनकर गृहस्थी को अपने लिए जेलखाना बना लें इसका समर्थन नहीं है। स्त्री के जीवन में पति के अतिरिक्त अन्य पुरुषों का सद्भाव ही नहीं है माना जाय तो मैं इससे सहमत नहीं हूँ।.... विवाह को नारी पर प्राचीर बना कर घिराने का हक नहीं है।'[1] अतः उन्होंने विवाह को बंधन न मानकर विवाहोपरान्त भी नारी के निजी व्यक्तित्व को स्वतन्त्रता प्रदान करने की चेष्टा की है।

घर और बाहर की समस्या सबसे पहले जैनेन्द्र ने रवीन्द्रनाथ ठाकुर के उपन्यास 'घरे-बाहिरे' से प्रभावित होकर 'सुनीता' में उठाई थी। जैनेन्द्र पर मनोविज्ञान के प्रभाव के साथ-साथ जैन-धर्म के सिद्धान्तों और गाँधी जी के आदर्शों का भी प्रभाव है। इसीलिए जैनेन्द्र ने इस समस्या के चित्रण में मनोवैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि और भावनात्मक आदर्श का निराला सम्मिश्रण किया है। 'सुनीता' में घर बाहर के लिये कृतज्ञ है, उसमें बाहर के लिए पुकार है। पति-पत्नी का दैनिक जीवन नीरस हो चला था—इसलिए वे, विशेषकर पति चाहते हैं कि कोई उनकी गृहस्थी में प्रवेश करे जिससे जीवन में कुछ हलचल हो, नया रस आये। और वे सचेत प्रयत्न द्वारा बाहर का आवाहन करते हैं। इस प्रकार जब हरिप्रसन्न उनके घर आ जाता है तो श्रीकान्त उसको रोकने के लिए अपनी पत्नी सुनीता को ही माध्यम बनाता है। सुनीता पति की आज्ञानुसार आगे बढ़ती है, पग-पग पर उसके संस्कार उसे रोकते हैं किन्तु पति के आदर्शों की छत्र-छाया में वह सब-कुछ करने के लिए प्रस्तुत हो जाती है। यही इस उपन्यास की विशेषता है। जैनेन्द्र यथार्थ नहीं, एक काल्पनिक परिस्थिति का आदर्शवादी चित्रण कर रहे थे। इसीलिए उन्होंने सुनीता के हर कार्य के पीछे पति की सम्मति की छाप छोड़ दी है। सुनीता का समर्पण घर की कमजोरी का नहीं, अपितु घर की शक्ति का परिचायक है जिसके आगे बाहर को हार मानकर पलायन करना पड़ जाता है। हरिप्रसन्न के चले जाने के बाद पति-पत्नी पूर्ववत् रहने लगते हैं। उनके दाम्पत्य-जीवन में पहले से भी अधिक रस का संचार हो गया है। बाहर के समावेश से घर टूटता नहीं प्रत्युत नया स्थायित्व प्राप्त करता है। आदर्शवादी जैनेन्द्र 'सुनीता' के माध्यम से प्राचीन भारतीय आदर्शों को ही एक नये ढंग से उद्घाटित करते हैं।

किन्तु इस समस्या का ऐसा चित्रण अन्य उपन्यासों में नहीं है। वे यथार्थ के अधिक

---

१. जैनेन्द्र : 'काम, प्रेम और परिवार' (पृष्ठ ६४-६५)।

निकट हैं। शिक्षा और सामाजिक चेतना के प्रसार से आधुनिक परिवार में बाहर के प्रवेश की समस्या प्रत्यक्ष रूप ले उठी है। नारी-स्वातंत्र्य ने उसे और भी जटिल बना दिया है। इन उपन्यासों में इस परिस्थिति का चित्रण सहज रूप में हुआ है, पर उनमें समस्या का कोई समाधान न तो मिलता ही है, न देने का प्रयत्न ही किया गया है। यद्यपि आधुनिक समाज में यह माना जाने लगा है कि स्त्री एक बार गल्ती करके भी सुधर सकती है और यदि आधुनिक विचारों का पति हो तो उससे समझौता करके सुखी भी रह सकता है। अज्ञेय ने कहा भी है कि 'आज पहले की अपेक्षा ऐसे व्यक्ति बहुत अधिक हैं जिनके सेक्स-जीवन में विषमता हो, लेकिन ऐसे अपेक्षया बहुत कम हैं जिनका जीवन सेक्स के कारण नष्ट हो जाता है।'[1] फिर भी ऐसा चित्रण उपन्यासों में नहीं हुआ है। इसका मुख्य कारण यही है कि प्रेमचन्दोत्तर-कालीन उपन्यासकार भी अपने संस्कारों से मुक्त नहीं थे। वे मानते थे कि यदि पत्नी अपने पति के अतिरिक्त किसी और को प्रेमदान करेगी तो उसका घर टूटने की सम्भावना बढ़ जायेगी। वास्तविक बात तो यह है कि अपने दृष्टिकोण में आधुनिक होते हुए भी ये उपन्यासकार नारी के प्रेम के प्रति न्याय नहीं कर सके हैं। वे यह नहीं मान सके हैं कि स्थायी गृहस्थी के लिए नारी का उन्मुक्त प्रेम अत्यन्त आवश्यक है, और उस प्रेम के अभाव में गृहस्थी का टूट जाना ही श्रेयस्कर है। इसीलिए उन्होंने समस्या का साहसपूर्वक सामना करने की अपेक्षा गृहस्थी की सुख-शान्ति को सर्वोपरि मानने की परिपाटी का अनुकरण किया है। यही कारण है कि इन उपन्यासों में बाह्य के प्रवेश से घर की शान्ति भंग होती दिखाई गई है। 'पिपासा' की शकुन्तला, 'सन्यासी' की जयन्ती और 'अचल मेरा कोई' की कुन्ती के दाम्पत्य-जीवन में कटुता का समावेश हो जाता है। इस युग के उपन्यासकारों ने मानसिक संघर्ष में पड़ी नारी का चित्रण सम्वेदनापूर्ण किया है किन्तु नारी को अपनी मानसिक शान्ति बनाये रखने का कोई उपाय नहीं बताया है। समस्या के उलझाव के कारण ही इन तीनों उपन्यासों की नारियाँ आत्महत्या कर लेती हैं।

इन मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों में एक और प्रवृत्ति पाई जाती है। वह है, पति-पत्नी को निरंतर संघर्ष-रत, विरोध में संलग्न प्राणी के रूप में चित्रित करने की प्रवृत्ति। फ़ायड की अनेक मान्यताओं में एक परस्पर-विरोधी भाव-प्रवणता (ambivalence) भी है। इसका अर्थ यह है कि व्यक्ति में परस्पर दो विरोधी प्रवृत्तियाँ साथ-साथ प्रवाहित होती रहती हैं। यदि हम किसी से प्रेम करते हैं तो साथ ही उसके प्रति दमित रूप में कहीं-न-कहीं घृणा के भी भाव निहित रहते हैं। पति-पत्नी के सामंजस्यहीन जीवन के सम्बन्ध में फ़ायड ने कारण जो भी दिया हो, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि वर्तमान समाज में दाम्पत्य-जीवन की सफलता के लिए निरंतर साधना और पारस्परिक सद्भाव एवं सहिष्णुता अनिवार्य है। दाम्पत्य जीवन की विषमता का चित्रण पाश्चात्य उपन्यासों में बहुत पहले ही हो चुका था। टॉमस हार्डी की 'टैस', फ्लावेयर लिखित 'मादाम बोवारी' की एम्मा, टॉल्स-

---

१. अज्ञेय : 'कल्पना' : जून १९५२ : (पृष्ठ ४२)।

टॉय लिखित 'प्रेम की प्रतिक्रिया' की पाज्दनीशेफ़ की पत्नी, और 'अन्ना कैरेनिना' की अन्ना, श्रीमती क्रेक लिखित 'जान वावर वैंक की पत्नी' की एमिली तथा जोला की 'नाना की माँ' के चित्रण में नारी के असफल विवाहित जीवन का चित्रण मिलता है। शरच्चन्द्र लिखित 'चरित्रहीन' की किरणमयी, 'देवदास' की पार्वती और 'गृहदाह' की अचला का जीवन भी ऐसा ही है। किन्तु हिन्दी उपन्यास में विवाहित नारी के विपम जीवन का चित्रण पहली बार इन उपन्यासकारों ने ही किया। प्रेमचन्द-पूर्व या प्रेमचन्द-युग में इस ओर उपन्यासकार का ध्यान नहीं गया। सम्भवतः उस समय तक यह समस्या इतने उग्र रूप में प्रकट न हुई हो। फिर भी प्रेमचन्द ने पति-पत्नी के निरन्तर संघर्ष-रत जीवन एवं उनकी विरोधी प्रवृत्तियों का चित्रण किया अवश्य है। 'रंगभूमि' की इन्दु और उसके पति महेन्द्र-कुमार के विचारों में मौलिक अन्तर दिखाया गया है। धनिया और होरी में भी वात-वात पर लड़ाई ठन जाती है। 'सेवासदन', 'प्रेमाश्रम' और 'कर्मभूमि' में भी दाम्पत्य-जीवन में विरोधी भावनाओं की कमी नहीं है। किन्तु तो भी दोनों समय के उपन्यासकारों के दृष्टिकोणों में मौलिक अन्तर दिखाई देता है। प्रेमचन्द-युग संश्लेपणात्मक था। वह जीवन विविधता, विचित्रता और विभिन्नता के घटाटोप में भी मौलिक एकता को पकड़े रहता था किन्तु उसके बाद के उपन्यासकारों का दृष्टिकोण विश्लेपणात्मक हो गया है। वे एकता को जानते हुए भी विविधता ओर विभिन्नता पर वल देते हैं। हर एक वृत्ति को, जीवन के प्रत्येक कार्य को कुरेद-कुरेद कर देखते हैं। व्यवहार-जगत में होनेवाले कार्यो के पीछे उनके मूल में अवचेतन और अर्द्धचेतन वृत्तियों तक जाते हैं जिनके कारण जीवन में सामंजस्य से भी अधिक असामंजस्य दिखाई देता है।

प्रेमचन्दोत्तर-कालीन उपन्यासों में नारी के असामंजस्यपूर्ण वैवाहिक जीवन के विशेप चित्रण के सामाजिक कारण भी थे। पूर्ववर्ती-काल में लड़की का विवाह छोटी उम्र में हो जाने के कारण उसके व्यक्तित्व का विकास पति-गृह में ही होता था। अतः पति-पत्नी के विचारों में मौलिक अन्तर का प्रश्न ही नहीं उठता था। इसके अतिरिक्त पति को परमेश्वर मानने की प्रवृत्ति भी नारी के संस्कारों में मूल रूप से निहित थी। चेतन मन से चाहे अव-चेतन मन से नारी अपनी इच्छा को पति की इच्छा के प्रति सदैव समर्पित करती रही। उसका यही रूप आदर्श माना गया। किन्तु कालान्तर में परिस्थिति विल्कुल बदल जाती है। पति को परमेश्वर मानने की वात दवी ज़ुवान से ही की जाती है। आधुनिक शिक्षा ग्रहण कर नारी के व्यक्तित्व का भी विकास हो जाता है। अव विवाह होने पर दो विकसित व्यक्तित्व आकर टकराते हैं। यदि पति-पत्नी में एक दूसरे को समझने की क्षमता और सम-झौते की प्रवृत्ति हे तो दाम्पत्य जीवन आनन्दपूर्वक कट जाता है, अन्यथा जीवन में असंतोप-ही-असंतोप दिखाई देता है।

इस काल के उपन्यासकारों ने पत्नी पर पति के आधिपत्य की भावना पर भी प्रकाश डाला है। यह आधिपत्य की भावना उसकी संदेहात्मक प्रवृत्ति को जन्म देती है। नारी के प्रति पुरुप की इस प्रवृत्ति का चित्रण टॉमस हार्डी की 'टैस' में अत्यंत मार्मिक रूप में

हुआ है। शरच्चन्द्र के 'महिम' में भी स्वामित्व की यह भावना और संदेहात्मक प्रवृत्ति पाई जाती है। इस युग के हिन्दी उपन्यासकारों ने भी अनेक उपन्यासों में नारी के प्रति पुरुष की इस प्रवृत्ति का मनोवैज्ञानिक ढंग पर चित्रण किया है। यह सच है कि अनेक स्थलों पर पुरुष की इस संदेहात्मक प्रवृत्ति के विकसित होने में नारी-चरित्र की कमजोरी का भी हाथ है। फिर भी इन उपन्यासों में चित्रित नारी पति की इस संदेहात्मक प्रवृत्ति को चुपचाप सहन नहीं करती। इस प्रवृत्ति के उदय होते ही घर टूटने लगता है। यहाँ तक कि शरच्चन्द्र की 'विराज बहू' जैसी पतिव्रता और सुगृहिणी का घर भी नहीं टिक पाता। जैनेन्द्र की 'कल्याणी' (१९४०); भगवतीप्रसाद वाजपेयी लिखित 'पिपासा' की शकुन्तला, वृन्दावनलाल वर्मा लिखित 'अचल मेरा कोई' की कुन्ती, इलाचन्द्र जोशी लिखित 'संन्यासी' की शान्ति और जयन्ती, शिवचन्द्र शर्मा लिखित 'नया आदमी' (१९४९) की रेखा, अज्ञेय लिखित 'शेखर: एक जीवनी' की शशि, यशपाल लिखित 'देशद्रोही' (१९४३) की चन्दा आदि अनेक पत्नियाँ अपने पतियों की इस संदेहात्मक प्रवृत्ति की शिकार है जिससे अन्त में गृहस्थी भंग हो जाती हैं।

वैवाहिक जीवन में नारी के प्रेम की समस्या को उठानेवालों में से केवल वृन्दावनलाल वर्मा ने 'अचल मेरा कोई' में समस्या के समाधान का भी संकेत दिया है। उन्होंने पति-पत्नी की मानसिक वृत्तियों में सामंजस्य, एक दूसरे पर अपार विश्वास और श्रद्धा की भावना को ही सफल दाम्पत्य जीवन की कुंजी माना है।

इस प्रकार मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के प्रकाश में हिन्दी के आधुनिक उपन्यासकारों ने नारी-मन की कुंठाओं, वर्जनाओं और दमित वासनाओं का एवं उनके उदात्तीकरण का चित्रण किया। फिर भी यह कहना सही न होगा कि यह चित्रण नितान्त पाश्चात्य ढंग पर किया गया हैं। प्रत्येक उपन्यासकार ने समस्या को अपने विशिष्ट दृष्टिकोण से देखा है। और मनोविज्ञान को साधन-रूप में मानकर भी यथार्थ का चित्रण करने का प्रयत्न किया है। इस चेष्टा ने लेखक में समन्वित दृष्टि उत्पन्न की है, जो भारतीय जीवन की विशेषता है। जिस प्रकार जैनेन्द्र ने मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण के साथ-साथ गांधीवादी अहिंसा के आदर्श का समावेश किया है, उसी प्रकार इलाचन्द्र जोशी ने फ्रायड, एडलर, युंग जैसे मनोविश्लेषकों के सिद्धान्तों के प्रतिपादन के साथ-साथ आधुनिक नारी-मन को, उसकी समस्याओं को समझने की चेष्टा अपने विशिष्ट मत के अनुसार की है और उसके चरित्र में दया, क्षमा, ममता, प्रेम, त्याग एवं मातृत्व की भावना मानने के कारण उसके प्रति श्रद्धा व्यक्त की है।

हिन्दी उपन्यासकारों में सबसे अधिक इलाचन्द्र जोशी ने नारी के चेतन, अर्द्धचेतन और अवचेतन मन की छानबीन करके अनेक मानसिक ग्रंथियों और विकृतियों से ग्रसित नारी एवं उसके काम-दमन-जनित कार्य-कलापों और हीनता-ग्रस्त आत्मलीनता का चित्रण मनोविश्लेपणवादी दृष्टिकोण से किया है।

जोशी जी के पात्रों में दो मूल प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं, अहं और हीनता की भावना।

हीनता की भावना के ही कारण अधिकतर अहं की उत्पत्ति होती है। उनका मत है कि पुरुष का अहं नारी पर स्वत्व चाहता है और वह नारी का शोषण करता है। नारी के स्वतन्त्र व्यक्तित्व की एक झलक भी उसे ग्राह्य नहीं होती। किन्तु अंत में यह अहं टूट कर ही रहता है।

जोशी जी ने अपने उपन्यासों में पुरुष के अहं द्वारा पीड़ित नारी और उसकी मनोग्रंथियों का चित्रण किया है। उनके मत में आधुनिक युग की नारी पुरुष की इच्छा के बहाव में अपने को पूर्णतया बहा नहीं देती वरन् अपने विवेक से स्थिति को समझकर व्यक्ति और वर्ग के अत्याचारों का सामना करने के लिए अपना विकास कर रही है। जोशी जी ने नारी-सम्बन्धी अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए स्वयं लिखा है : "मेरे अपने उपन्यासों में अज्ञेय जी से ठीक उल्टा दृष्टिकोण प्रतिपादित हुआ है। मेरे सभी उपन्यासों का प्रधान उद्देश्य व्यक्ति के अहं भाव की ऐकान्तिकता पर निर्मम प्रहार करने का रहा है। 'घृणामयी' 'संन्यासी', 'पर्दे की रानी', 'प्रेत और छाया', 'निर्वासित'—इन पाँचों उपन्यासों में मैंने इसी दृष्टिकोण को अपनाया है। आधुनिक समाज में पुरुष की बौद्धिकता ज्यों-ज्यों बढ़ती चली जा रही है, त्यों-त्यों उसका अहं-भाव तीव्र से तीव्रतर और व्यापक से व्यापकतर रूप ग्रहण करता चला जाता है। अपने इस कभी तृप्त न होने वाले अहं-भाव की अस्वाभाविक पूर्ति की चेष्टा में जब उसे पग-पग पर स्वाभाविक असफलता मिलती है, तो वह बौखला उठता है और उस बौखलाहट की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप वह आत्म-विनाश के पहले आस-पास के संसार के विनाश की योजना में जुट जाता है। उसकी इस विनाशात्मक क्रिया का सबसे पहला और सबसे घातक शिकार बनना पड़ता है नारी को। युगों से प्रपीड़ित और शोषित वर्ग है यह नारी। उसे और अधिक प्रपीड़ित और अधिक शोषित करने की चेष्टा में आज का अहंवादी पुरुष बुद्धिवादी भी है, इसलिए अपनी मनोवृत्ति की यथार्थता से बहुत कुछ परिचित भी रहता है और इसी कारण उसके भीतर विस्फोटक संघर्ष मचते रहते है। साथ में यह बात भी ध्यान में रखने योग्य है कि उसी विस्फोट के उपादान वर्तमान युग की बुद्धिवादिनी नारी की शोषित अन्तरात्मा में भी प्रलयंकर रूप से जुटते चले जा रहे हैं—किन्तु विपरीत दिशा में। अर्थात् भारतीय नारी के भीतर निकट भविष्य में जो विस्फोट होगा वह उसकी युग-युग से पीड़ित आत्मा के प्रचण्ड विद्रोह की सामूहिक घोषणा करेगा। यही कारण है कि धीरे-धीरे वर्तमान युग की बुद्धिवादिनी नारी का दृष्टिकोण यथार्थवादी बनता चला जा रहा है, अर्थात् वह शरद् की नारी की तरह भावुकता के फेर में पड़कर अहंवादी पुरुष की इच्छा के बहाव में अपने को पूर्णतया बहाना और मिटा देना पसन्द नहीं करती, बल्कि स्थिति की वास्तविकता को समझकर व्यक्ति और समाज के अत्याचारों का सामना पूरी शक्ति से करने के योग्य अपने को बनाने की चेष्टा में जुट रही है। सामाजिक पर्दे के भीतर छिपे हुए इसी सत्य का उद्घाटन मनोवैज्ञानिक उपायों से करने का प्रयास मैंने किया है।"[1]

१. इलाचन्द्र जोशी : 'विवेचना' (पृष्ठ १२२-१२४)।

इसके अतिरिक्त इलाचन्द्र जोशी ने अपने उपन्यासों में सभ्य समाज की दृष्टि में हीन समझी जानेवाली नारियों की मनोग्रंथियों का भी चित्रण संवेदनापूर्वक मनोविश्लेषण-पद्धति पर किया है। 'पर्दे की रानी' (१९४१) की निरंजना वेश्या की पुत्री थी। 'प्रेत और छाया' को मंजरी वेश्या थी तथा 'संन्यासी' की शान्ति के कुल का भी कुछ पता न था।

अज्ञेय ने 'शेखर: एक जीवनी' में नर-नारी के प्रेम की समस्या को नये दृष्टिकोण से देखा है। स्त्री-पुरुष का आकर्षण-विकर्षण शाश्वत सत्य है। उनकी दृष्टि में नारी अपने वास्तव रूप में माता, बहन, पत्नी या पुत्री नहीं होती, वह केवल नारी है, जो पुरुष की भोग्या है, जो पुरुष पर न्यौछावर होती रहती है। रामवृक्ष बेनीपुरी ने 'कैदी की पत्नी' (१९४०) में परम्परा से भिन्न विषय लेकर नारी की सूक्ष्म भावनाओं का मार्मिक चित्रण किया है।

भगवती प्रसाद वाजपेयी ने अपने उपन्यासों के नारी-पात्रों द्वारा यह दिखाया है कि आज की नारी अपनी स्वतन्त्रता की प्रबल समर्थक बन गई है। वह प्रेम-स्वातन्त्र्य और आर्थिक-स्वातन्त्र्य दोनों के ही पक्ष में है। वह यह तो भली प्रकार जान गई है कि उसे पराधीन होकर नहीं रहना है पर किन उपायों से वह स्वाधीन हो सकती है और स्वाधीन होकर उसे किस प्रकार का जीवन व्यतीत करना चाहिये, यह वह अभी तक स्थिर नहीं कर पाई है। इसलिए उसके जीवन में अनेक प्रकार की विसंगतियाँ और मानसिक विषमताएँ उत्पन्न हो जाती हैं। वाजपेयी ने अपने उपन्यासों में नारी-जीवन की विसंगतियों, वर्जनाओं और अवरुद्ध आकांक्षाओं का मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है। उनके 'दो बहनें' नामक उपन्यास में बहन-बहन की आपसी ईर्षा-द्वेष-भावना का जो चित्रण मिलता है, वह प्रेम-चन्द-युग में नहीं मिलता।

इस काल में कुछ उपन्यासकार स्वप्नशील (Romantic) दृष्टिकोण लेकर भी उपन्यास-क्षेत्र में आये। यह स्वप्नशीलता छायावाद के उत्तरार्द्ध की समकालीन है और दोनों के उद्भव के मूल में एक-से कारण हैं। शिक्षा के प्रचार के फलस्वरूप युवक-मन की महत्वाकांक्षायें राजनीतिक परिस्थितियों के कारण साहित्य में अपनी तुष्टि खोजने लगी थीं। प्रगतिशील यथार्थोन्मुख धारा के दूसरे छोर पर यह मांसल स्वप्नशीलता इस युग की विशेषता है जो छायावाद के पूर्वार्द्ध के काल्पनिक आदर्शवाद से भिन्न है। इस धारा के उपन्यासकारों में उपेन्द्रनाथ 'अश्क' प्रमुख हैं। उपेन्द्रनाथ 'अश्क' के प्रथम उपन्यास 'सितारों के खेल' (१९४०) में लता और राजरानी, रांगेय राघव लिखित 'घरौंदे' (१९४६) में लीला और लवंग, रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' की 'चढ़ती धूप' (१९४५) में ममता और धर्मवीर भारती लिखित 'गुनाहों के देवता' (१९४९) में सुधा का चित्रण स्वप्नशील दृष्टिकोण से हुआ है। इनमें मुख्यतः युवक-युवती के वय:सन्धिकाल की अनुभवहीन कच्ची भावनाओं का चित्रण किया गया है।

आगे चलकर उपेन्द्रनाथ 'अश्क' ने यथार्थवादी दृष्टिकोण से निम्न-मध्यवर्ग की विभिन्न प्रवृत्तियों की नारियों का चित्रण किया। 'गिरती दीवारें' में चन्दा के माध्यम से उन्होंने

ऐसी नारी का चित्रण किया है जो अपने दाम्पत्य-जीवन को सफल बनाने के लिए अपने संस्कारों से मुक्ति पाना चाहती है किन्तु सफल नहीं हो पाती। अनूपलाल मण्डल और गंगा-प्रसाद मिश्र ने भी यथार्थवादी दृष्टिकोण से नारी-चित्रण किया है।

यथार्थवादी दृष्टिकोण का ही एक रूप है साम्यवादी दृष्टिकोण। साम्यवादी दृष्टिकोण से अनेक उपन्यासकारों ने नारी-चरित्र-विकास को परखने का प्रयास किया है। उन्होंने नारी को परम्परागत रूढ़ियों से मुक्त कर राजनैतिक क्षेत्र में पुरुष के समकक्ष लाकर खड़ा कर दिया। इन उपन्यासों में साम्यवादी दल में काम करने-वाली युवतियों का भी चित्रण मिलता है। साम्यवादी दृष्टिकोण का मूलाधार मार्क्सवादी दर्शन होता है। इसलिए उसके मूल में वस्तुवादी दृष्टिकोण का होना आवश्यक है। ये साहित्यकार मार्क्स के सिद्धान्त के प्रकाश में समाज और जीवन को परखते हैं तथा ऐसे मानव की प्रतिष्ठा करते हैं जो सामाजिक प्राणी हो।

साम्यवादी लेखक पूँजीवादी समाज में दो वर्ग मानते हैं, एक शोषक और दूसरा शोषित। वे पुरुष को शोषक और नारी को शोषित वर्ग के अन्तर्गत रखते हैं। इस समाज में अधिकांश नारियाँ भी आर्थिक गुलामी से ग्रस्त हैं। यह आर्थिक विपन्नता उनके व्यक्तित्व को अत्यंत संकीर्ण और रुद्ध कर देती है। नैतिक मान्यताएं और चारित्रिक मूल्य भी गिर जाते हैं। नारी में जो मनोवैज्ञानिक कुंठाएं, मानसिक विक्षिप्तता और जो यौन-विकृतियाँ पाई जाती हैं, उनका मूलाधार आर्थिक है। इस दृष्टिकोण के प्रमुख उपन्यासकार हैं यशपाल, जिन्होंने 'देशद्रोही' (१९४३) में चन्दा और राज का, और 'मनुष्य के रूप' (१९-४९) में सोमा और मनोरमा का चित्रण इसी दृष्टिकोण से किया है।

साम्यवादी लेखक विचारों की स्वतंत्र सत्ता नहीं मानते। उनके मत से मनुष्य के विचार समाज में उसकी स्थिति पर निर्भर करते हैं, और स्थिति में परिवर्तन के साथ-साथ मनुष्य के विचारों में भी परिवर्तन होता जाता है। हमारी विचार-धारा हमारे जीवन की परिस्थिति विशेष का परिणाम है। यशपाल ने विचारधारा के परिस्थिति-जन्य विकास को अनेक नारियों में दिखाया है। 'मनुष्य के रूप' की सोमा और मनोरमा दो विभिन्न सामाजिक स्तरों पर रहती हैं, उनकी परिस्थितियाँ भिन्न हैं, इसीलिए उनकी विचार-धाराओं में स्पष्ट अन्तर लक्षित होता है। इसके साथ-साथ साम्यवादी लेखक यह भी मानते हैं कि साहित्य राजनैतिक प्रचार का बहुत महत्वपूर्ण साधन है। इसीलिए वे अपने पात्रों द्वारा मार्क्सीय दर्शन का प्रचार करते हैं। यशपाल लिखित 'दादा कामरेड' (१९४१) की शैल और यशोदा, 'पार्टी कामरेड' (१९४६) की शीला और 'मनुष्य के रूप' की मनो-रमा राजनैतिक कार्यकर्त्री बन जाती हैं। कभी-कभी इन लेखकों में अपने सिद्धांत के प्रतिपादन का आग्रह इतना बढ़ जाता है कि उनकी रचनाओं में स्पन्दनशील व्यक्तित्व लुप्त होने लगता है।

साधारणतः साम्यवादी उपन्यासकारों ने सामाजिक मतवाद और स्वप्नशीलता का सम्मिश्रण किया है। प्रेम के क्षेत्र में यशपाल यह कहना चाहते हैं कि 'प्रेम केवल

४

जीवन का सहायक साधन है।'[१] पूँजीवादी समाज में वह एक सौदा मात्र है। नारी के रूप-विक्रय से ही उसे आश्रय सुलभ होता है। नारी पुरुष के आश्रय और प्यार की आकांक्षिणी है। इन दोनों के अभाव में उसका जीवन भार हो उठता है। इसी दृष्टिकोण के कारण उन्होंने स्त्री-पुरुष के आकर्षण-विकर्षण का विस्तार से चित्रण किया है। उनकी रचनाओं में कही-कहीं अश्लीलता का भी आरोप लगाया जाता है। यशपाल के इसी दृष्टिकोण के कारण एक समीक्षक ने 'देशद्रोही' के नारी-पात्रों के सम्बन्ध में लिखा है: 'क्या नर्गिस, क्या गुलशन, क्या चन्दा और क्या राज और यमुना सभी जैसे आत्मदान को, नारीत्व को समर्पित करने के लिए व्यग्र और आतुर है। नारीत्व का बोझ जैसे उनके लिए असह्य है। अवसर-अनवसर यशपाल जी के जिस किसी पात्र से उनकी भेंट हो जाय इस दुर्वह भार को उतार फेंकती हैं।'[२]

किन्तु नारी का ऐसा चित्रण अन्य साम्यवादी लेखकों में नहीं मिलता। नागार्जुन ने लोक-जीवन के मर्म को छूकर नारी-पात्र में सजीवता और स्वाभाविकता का समावेश किया है। 'रतिनाथ की चाची' में नागार्जुन ने आर्थिक पृष्ठभूमि पर असहाय ग्रामीण, विधवा ब्राह्मणी का करुणा-विगलित चित्र उपस्थित किया है।

सर्वदानंद वर्मा और मन्मथनाथ गुप्त ने अतियथार्थवादी दृष्टिकोण से नारी-चित्रण किया है। सर्वदानंद ने उन्मुक्त प्रेम की समस्या का ही अधिक उल्लेख किया है। वे पत्नी की पति-परायणता को पूँजीवाद की उपज समझते हैं। उनका कहना है कि पति की पूँजी के ही कारण पत्नी पति-परायण होती है। यदि पत्नी स्वतन्त्र है, स्वयं धनोपार्जन कर सकती है तो उसके पति-परायण होने की आवश्यकता नहीं है, पूँजीवाद के साथ इसको भी मिट जाना चाहिये। विवाहिता स्त्री को भी यह अधिकार मिलना चाहिये कि वह मनमाने पुरुष के साथ प्रणय-सम्बन्ध स्थापित कर सके।

सर्वदानंद का यह दृष्टिकोण परम्परागत नारी-भावना पर आघात तो करता ही है, वैज्ञानिकता की आड़ में वह निरा अवैज्ञानिक आरोप है, और मार्क्सवाद के अधकचरे अध्ययन का परिणाम है। वर्ग-संस्कृति के मिटने पर बहुत-सी बातों में परिवर्तन हो जाता है, यह सही है, पर संस्कृति के कुछ ऐसे शाश्वत मूल्य भी हैं जो वर्गाधार पर टिके नहीं रहते। अपने इस दृष्टिकोण में सर्वदानंद अकेले है। केवल ठाकुर श्रीनाथ-सिंह अपने उपन्यास 'उलझन' में इसी प्रकार के भाव व्यक्त करते पाये जाते हैं।

मन्मथनाथ गुप्त की मूल दृष्टि साम्यवादी है। इसलिए उन्होंने नारी को शोषित मानकर पुरुष के अत्याचारों का, व्यभिचार और असज्जनता का भण्डाफोड़ किया है।

---

१. यशपाल : 'मनुष्य के रूप' (पृष्ठ १८३)।

२. मोतीसिंह : 'आलोचना' : 'उपन्यास विशेषांक', : अक्टूबर १९५४, (पृष्ठ २०६)।

उनका उद्देश्य शुभ होते हुए भी उनकी शैली अति-यथार्थवादी हो उठी है जिसके कारण वे अपने प्रयास में सफल नहीं कहे जा सकते।

इस प्रकार हम देखते हैं कि देश की सामाजिक-राजनैतिक परिस्थितियों के साथ-साथ हिन्दी साहित्य में, और साहित्य की प्रगति के साथ-साथ उपन्यासकारों में नारी-सम्बन्धी दृष्टिकोण में क्रमिक विकास और परिवर्तन होता गया है। नारी के सित और असित दो चरम रूपों से आरंभ कर धीरे-धीरे उसके जीवन के प्रति दया, करुणा, ममता दिखाते-दिखाते लेखक उसके समानाधिकार की माँग करने लगे। बाद में मनोविज्ञान की खोज के साथ एक ओर नारी के मानस-लोक का रहस्योद्घाटन हुआ, दूसरी ओर राजनैतिक संघर्ष के परिणामस्वरूप नारी की सामाजिक प्रतिष्ठा की गई। आधुनिक काल तक आते-आते भारतीय जीवन में नाना दृष्टिकोणों के समावेश के फलस्वरूप हम उपन्यासकारों में भी भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों का प्रतिपादन पाते हैं, यद्यपि अधिकांश उपन्यासकार नारी की स्वतंत्रता, सम्मान-रक्षा और समानता का किसी-न-किसी रूप में समर्थन करते हैं। हिन्दी के उपन्यास की प्रमुख धारा नारी के प्रति न्याय करने में कृत-संकल्प है, यह संतोष का विषय है।

अध्याय ३

नारी-जीवन की समस्याएं और उनका समाधान : प्रेमचन्द-पूर्व

प्रेमचन्द-पूर्वकाल अर्थात् उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारतीय नारी के सामाजिक और पारिवारिक जीवन में अनेक दोष आ गये थे। पश्चिमी सभ्यता के अनुकरण के कारण उच्चवर्गीय भारतीय स्त्री-पुरुषों में विलासिता, वाह्याडम्बर आदि वातें वढ़ती जाती थीं। दूसरी ओर शिक्षा के अभाव के कारण परिवार में सास-वहू, ननद-भौजाई, देवरानी-जिठानी आदि के झगड़े अशान्ति का वातावरण वनाये हुए थे। वाल-विवाह, विधवा-विवाह-निषेध, अशिक्षा, अनमेल-विवाह, दहेज, अस्पृश्यता, जाति-भेद, स्त्रियों की दासता आदि अनेक सामाजिक कुरीतियाँ प्रचलित थीं। कुछ धर्म-प्रचारक और समाज-सुधारक इन दोनों ही वातों को रोकना चाहते थे। मध्यम मार्ग का अनुसरण करते हुए उनका कहना था कि पश्चिमी शिक्षा ग्रहण करने पर भी अपनी जीवन-पद्धति से विमुख नहीं होना चाहिये। उन्होंने अपने मत के प्रचार के लिए उपन्यास को साधन वनाया। अतः इस काल के उपन्यासों में उपदेशात्मक प्रवृत्ति पाई जाती है।

इस समय के लेखकों को भारतीय नारी-जीवन का ह्रास देखकर सच्ची मानसिक पीड़ा का अनुभव होता था। कथानक चाहे पौराणिक हो या ऐतिहासिक, सामाजिक हो या पारिवारिक, वे नारी-समाज के सम्मुख एक ऐसा उदाहरण प्रस्तुत करना चाहते थे जिसको देखकर वे अपने जीवन के दोषों को दूर कर उसे सुधार सके। इस समय के उपन्यासकार आधुनिक उपन्यासकारों की भाँति समग्र जीवन की गम्भीर समस्याओं की विवेचना नहीं करते किन्तु एक विशेप समस्या के गुण-दोषों पर विचार करते हुए सरल रीति से अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचने का प्रयास करते हैं।

पारिवारिक समस्याएं

संयुक्त परिवार की समस्या

मध्य युग में संयुक्त परिवार के प्रति अगाध प्रेम था। किन्तु जैसे-जैसे नयी सभ्यता का प्रचार होने लगा, परिवार-विच्छेद की समस्या उठ खड़ी हुई। इस समय के उपन्यासकार के मन में यद्यपि संयुक्त परिवार के प्रति परम्परागत ममत्व था किन्तु इस पारिवारिक जीवन में जो दोप आ गये थे उनको भी वे अनदेखा नहीं कर सकते थे। गोपालराम गहमरी ने वँगला के कुछ गार्हस्थ्य उपन्यासों, जैसे 'देवरानी-जिठानी', 'सास-पतोहू', 'तीन-पतोहू' आदि का अनुवाद करके इस समस्या पर ध्यान आकर्षित किया था।

अनेक हिन्दी उपन्यासों में भी गृहस्थ जीवन की समस्याओं का चित्रण हुआ है। कहीं तो नारी अपनी कार्य-कुशलता, चतुराई, त्याग एवं क्षमा के वल पर अपने परिवार में सुख-शान्ति प्रदान करती हुई उसे स्वर्ग-तुल्य वना लेती है और कहीं अपनी अशिक्षा, असहिष्णुता और ईर्ष्या-वृत्ति के कारण परिवार को अशान्तिमय वनाकर नरक-तुल्य बना देती हे। जैसे, ईश्वरीप्रसाद शर्मा ने 'वामा-शिक्षक' में चित्रित किया है कि मथुरादास की पत्नी अपनी कार्य-कुशलता और वुद्धिमत्ता द्वारा अपने घर और अपनी लड़कियों को सुधार लेती है जव कि जमुनादास की पत्नी के अच्छे व्यक्तित्व एव फूहड़पन के कारण घर और वच्चे दोनों ही विगड़ जाते हैं।

'वामा-शिक्षक' में ही ईश्वरीप्रसाद शर्मा ने संयुक्त-परिवार की समस्या उठाई है। देवरानी और जिठानी में मनमुटाव होता है। जिठानी घर-खर्च चलाती है किन्तु उससे चलता नही। उसकी अक्षमता के कारण घर-खर्च का भार छोटी वहू को दे दिया जाता है। किन्तु वड़ी वहू इसको अपना अपमान समझकर घर में अशान्ति का वातावरण उत्पन्न कर देती है। वह अलग रहने की सोचती है।

परिवार-विच्छेद के मूल में आर्थिक कारण अवश्य निहित रहता है। परम्परागत संयुक्त परिवार का प्रत्येक व्यक्ति अधिकतर एक ही व्यवसाय करता था। अतः घर की आमदनी एकत्र रूप में आती थी जिसको घर के सब प्राणी एकत्र रूप में खर्च करते थे; किन्तु नयी सभ्यता के विकास के साथ-साथ परिवार के व्यक्तियों के धंधे भी वँट गये, जिनसें घर की आमदनी का पृथक्करण हो गया। अव यदि घर में एक स्त्री का पति अधिक अर्थोपार्जन करता और दूसरी का कम, तो अधिक कमाने वाले पति की पत्नी घर में बढ़चढ़कर आधिपत्य जमाकर रहना चाहती है। नारी की इस भावना का सम्मिलित परिवार में विरोध होना स्वाभाविक वात है। अतः दोनों ओर से ही परिवार-विच्छेद की वात सोची जाने लगती है। 'वामा-शिक्षक' में भी जमुनादास की वहू आर्थिक कारण का सहारा लेकर ही सोचती है: "'प्रथम तो मेरा मालिक पच्चीस रुपये का नौकर है; दूसरे आधा गाँव मेरे वाँटे में अधिक आया है जो मैं देवरानी से अलग रहूँगी तो उसमें मेरा वड़ा लाभ है।' इसलिए अलग होने के लिए खुला खुली तो न कहती पर सब वात में तकरार करती और देवरानी के प्रबन्ध को बुरा बतलाया करती और उसे घड़ी भर भी चैन न लेने देती।"[1] अतः नारी की इस प्रवृत्ति के कारण सम्मिलित परिवार का विच्छेद होना अनिवाय है। इस उपन्यास में भी वाद में देवरानी-जिठानी अलग रहने लगती हैं। किन्तु फिर भी उपन्यासकार ने परिवार-विच्छेद को ममत्व नहीं दिया है। जिस नारी के कारण परिवार-विच्छेद होता है उस नारो का चित्रण फूहड़ और स्वार्थिनी के रूप में किया है।

पारिवारिक समस्याओं के अन्तर्गत देवरानी-जिठानी के झगड़ों के अतिरिक्त

---

१. ईश्वरीप्रसाद शर्मा : 'वामा-शिक्षक' (पृष्ठ १३-१४)

सास-बहू के झगड़ों पर भी विशेष महत्व दिया गया है। सास-बहू के झगड़ों के मूल में अशिक्षा और आर्थिक कारण निहित है। यदि सास-बहू दोनों अशिक्षित हैं, जीवन को समझने की शक्ति नहीं रखतीं तो व्यर्थ में ही घर में अशान्ति दिखाई देने लगती है। इस अशिक्षा के कारण ही सास में आधिपत्य को भावना का उदय होता है। इसके अतिरिक्त यदि बहू के मायके से दहेज कम आता है तो वह कोप की भाजन बन जाती है। यदि बहू ग़रीब घर की लड़की है, उसका पति कम अर्थोपार्जन करता है, या उसका आदर नहीं करता तब भी सास बहू को उपेक्षा की दृष्टि से देखने लगती है। 'आदर्श हिन्दू' में प्रियंवदा अपने पति से मृत सास की चर्चा करती हुई कहती है: 'मेरा अपराध यही था कि मैं ग़रीब घर की बेटी हूँ। मेरे विवाह से उनकी साध नहीं पुरी। बस इस बात का हरदम ताना दिया करती थीं। कभी-कभी गालियाँ देती थीं और कभी कहीं जुबान से कुछ जवाब निकल गया तो मार भी बैठती थीं।'[१]

इस युग के अधिकांश पारिवारिक उपन्यासों में सास की आधिपत्य और स्वामित्व की भावना एवं इसके विपरीत बहू की दयनीय स्थिति का वर्णन है। 'सुहागिनी' में सास की कटु मनोवृत्ति का चित्रण करते हुए कहा गया है: 'उग्र मूर्ति जसोदा इसे तरह-तरह के दुःख देती है, उसे इस बात का घमंड है कि मैं घर की मालकिन हूँ और यह मेरी दासी। इसके अतिरिक्त जसोदा यह नहीं चाहती थी कि अतुल तथा सावित्री में परस्पर मेल हो।'[२]

सास-वर्ग की आधिपत्य भावना एवं कठोर प्रवृत्ति के मूल में दो कारण और भी हैं। जब वे बहू बनकर ससुराल आई थीं तब वे भी अपनी सास द्वारा शासित की गई थीं। अब वे अपने को सास-रूप में पाकर वैसा ही व्यवहार अपनी बहू के साथ करती हैं। घर की मालकिन होने का घमंड भी उन्हें आ घेरता है। बेटे-बहू का मेल उनकी इस स्वामित्व भावना पर सीधा आघात करता प्रतीत होता है। उनके मन के किसी कोने में यह भय सदैव समाया रहता है कि कहीं बहू-बेटे मिलकर उनके शासन की अवहेलना न करें। इसलिए उनकी यह चेष्टा रहती है कि दोनों ही उन पर आश्रित रहें। प्रत्येक छोटी या बड़ी बात में उनकी ही सम्मति की अपेक्षा रहे।

इस काल में बाल-विवाह की प्रथा प्रचलित थी अतः अधिकांश बालिकाओं का व्यक्तित्व ससुराल में आकर ही बनता था। उनको अच्छा या बुरा जैसा भी वातावरण मिलता था उसी के अनुरूप वे अपने मन एवं स्वभाव को ढालने की चेष्टा करती थीं। धीरे-धीरे वह उनकी प्रवृत्ति बन जाती थी। फिर भी कुछ परिवारों में सास की शासन-प्रवृत्ति इतनी बलवती होती थी कि वे अबोध बालिका को दासी से भी तुच्छ समझकर उसका रहना कठिन कर देती थीं। सास की यह अन्यायपूर्ण अधिकार-भावना घर में अशान्ति उत्पन्न कर ही देती है और इस अशान्तिपूर्ण वातावरण से ऊब कर

---

१. लज्जाराम शर्मा : 'आदर्श हिन्दू' : पहला भाग : (पृष्ठ ४६)

२. चण्डिकाप्रसाद मिश्र : 'सुहागिनी' (पृष्ठ ३१-३२)

'सुहागिनी' उपन्यास में अतुल घर छोड़कर चला जाता है और परिवार छिन्न-भिन्न हो जाता है।

अन्य पारिवारिक समस्याएं

प्रेमचन्द-पूर्व काल के उपन्यासों में पारिवारिक समस्याओं के अन्तर्गत पति-पत्नी के सम्बन्धों की भी चर्चा की गई है। पत्नी को मनु के आदर्शानुसार पति की अनुगामिनी और अर्धांगिनी माना गया है। प्रियंवदा एक यूरोपियन लड़की को उत्तर देती हुई कहती है: 'हमा देश में भले घर की नारियाँ पति की गुलाम नहीं होतीं उसकी अर्धांगिनी होती हैं।'[1] किन्तु अर्धांगिनी का रूप अत्यन्त संकुचित अर्थ में स्वीकार हुआ है। नारी को पुरुष के समान शिक्षा, स्वतन्त्रता, तलाक़, पुनर्विवाह आदि के अधिकार न होने पर भी उसे जीवन में पुरुष की अर्धांगिनी माना गया है। और अर्धांगिनी मानने पर भी यह कहा गया कि 'स्त्री के लिए पति के सिवाय दूसरी गति नहीं। संसार में परमेश्वर के समान कोई नहीं, किन्तु स्त्री का पति ही परमेश्वर है।'[2]

अर्द्धांगिनी होकर पत्नी पति को सलाह दे सकती है किन्तु अपनी इच्छा उस पर आरोपित नहीं कर सकती। नारी के स्वतन्त्र व्यक्तित्व की भावना यहाँ नहीं है। पति लँगड़ा-लूला, व्यभिचारी-दुराचारी जैसा भी है पत्नी के लिए परमेश्वर के समान है। पत्नी के अनन्य प्रेम को ही महत्व दिया गया है। 'परीक्षा गुरु' में मदनमोहन की पत्नी, 'सुहागिनी' में सावित्री, 'आदर्श हिन्दू' में प्रियंवदा ऐसी ही नारियाँ हैं। जो नारियाँ ऐसी नहीं होतीं उनका जीवन दुखी और घर नष्ट होता हुआ चित्रित किया गया है।

इस काल के उपन्यासकारों ने नारी को उसके उत्तरदायित्व का स्मरण कराते हुए उसके गृहिणी रूप को ही उच्च और आदर्श माना है। 'हिन्दू गृहिणी बहुत ऊँची चीज है, घर की वह मालकिन है, गृहस्थी की वह प्रबन्धक है, कुल की आन रखने में वह सबसे दृढ़ दीवार है। समाज के रिवाज में वह सर्वज्ञ है।'[3] अतः यदि गृहिणी अपने उत्तर-दायित्व और आदर्शों का पालन कुशलतापूर्वक करे तो परिवार ही नहीं समाज का भी कल्याण हो सकता है। सभी पारिवारिक समस्याओं का समाधान गृहिणी की कुशलता, उदारता, त्याग और प्रेम पर ही निर्भर माना गया है।

पारिवारिक समस्याओं के अतिरिक्त इस समय के उपन्यासों में नारी-जीवन की अनेक सामाजिक समस्याओं का भी चित्रण किया गया है। समाज-सुधारकों ने विशेषकर नारी जीवन की सामाजिक समस्याओं के चित्रण के लिए ही सामाजिक उपन्यासों की रचना की।

---

१. लज्जाराम शर्मा : 'आदर्श हिन्दू' : तीसरा भाग (पृष्ठ ३०)
२. वही, (पृष्ठ ३३)
३. चण्डिकाप्रसाद मिश्र : 'सुहागिनी' (पृष्ठ १९)

में वह इतना ही सोचता है कि जिस घर में लड़की का विवाह हो वह अपने से न तो अधिक धनी हो, न दरिद्र। समान स्तर के घरों के सम्बन्ध को वह श्रेष्ठ समझता है।

पर्दा-प्रथा

पर्दा-प्रथा उन समस्याओं में प्रमुख है जिनकी ओर इस काल के लेखकों का ध्यान गया। परम्परागत शील-संकोच के पक्षपाती होने पर भी वे ऐसे पर्दे को त्याज्य समझते थे जिससे नारी जेलखाने का अनुभव करे।[1] यद्यपि अभी इन उपन्यासकारों के विचारों में इतना परिवर्तन नहीं हुआ था कि वे नारी-स्वतन्त्रता की बात करते, या नारी को पुरुष के समान अधिकार दिलाने की सोचते, फिर भी वे उसके जीवन को व्यर्थ की रूढ़ियों से मुक्त करना चाहते थे। इसीलिए धर्म-संकट के समय पर-पुरुष से नीची निगाह करके, सिर पर पल्ला रखकर संभाषण में कोई आपत्ति न करते हुए भी उन्होंने नारी के पर-पुरुष से हँसी-मजाक करने को दुश्चरित्रता का लक्षण माना है। 'आदर्श हिन्दू' की प्रियंवदा को उसकी माँ ने एक ओर कड़ा पर्दा करने के लिए मना किया था तो दूसरी ओर नौकरों से भी सलीके से बात करने का आदेश दिया था।[2] लेखक ने दिखाया है कि प्रियंवदा के स्वभाव में इतनी लज्जा का समावेश था कि उसे घर के बाहर अन्य व्यक्तियों के सामने अपने पति से बात करने में भी संकोच होता था। नारी का यही आदर्श है जिसको इस युग के उपन्यासकार ने मान्यता दी है।

अनमेल विवाह

इस समय समाज में बाल-विवाह एवं दहेज-प्रथा होने के कारण अनमेल विवाह की समस्या उठ खड़ी हुई थी। भारतेंदु ने 'पूर्ण प्रकाश चन्द्रप्रभा' (१८८९) नामक उपन्यास में ही इस समस्या पर सुधारवादी लेखकों का ध्यान आकर्षित किया था। इस उपन्यास में उन्होंने वृद्ध ढुण्ढिराज का नवयुवती चन्द्रप्रभा से विवाह कराया है। इस प्रकार के अनमेल विवाह का लेखक ने विरोध किया है तथा व्यंग्य शैली द्वारा बूढ़े दूल्हे का मजाक उड़ाया है। साथ ही पुराने विचारों के व्यक्तियों एवं प्रगतिशील विचारों के व्यक्तियों का संघर्ष दिखाने की भी चेष्टा की है। पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय ने 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' (१८९९) में मिथ्या आभिजात्य भावना के कारण अनमेल विवाह के दुष्परिणामों पर प्रकाश डाला है। 'सुहागिनी' में भी इस समस्या को उभारा गया है। अतुल के वृद्ध

---

१. 'इनके घर में मुसलमानों, कायस्थों और क्षत्रियों का सा ऐसा पर्दा भी नहीं था जिसके मारे सुकुमार ललनाएं घर के जेलखाने में दम घुट-घुट कर मर जायें और ऐसे वे पर्दे भी नहीं कि महिलाएं मुह खोल कर पर-पुरुष से हँसी-मजाक करें, पुरुष-समाज में खड़ी हो लेक्चर फटकारें।' 'आदर्श हिन्दू' (पृष्ठ ४४)

२. वही (पृष्ठ ३५)

पिता अपनी पत्नी की मृत्यु पर एक नवयुवती से दूसरा विवाह कर लेते हैं। जीवन में अतृप्त रहने के कारण पहले तो वह नवयुवती जसोदा अपने पति पर शासन करती है और अपनी सौत के बच्चों और बहू को अत्यधिक दुःख देती है, और बाद में भोलासिंह के साथ भाग जाती है। नारी के इस पतन का मुख्य कारण अनमेल विवाह ही है। व्रजनन्दन सहाय लिखित 'सौन्दर्योपासक' (१९१९) में भी अनमेल-विवाह के दुष्परिणाम बड़े साहसपूर्वक चित्रित किये गये हैं। नायक और मालती एक दूसरे से प्रेम करते हैं किन्तु नायक का विवाह दूसरी लड़की से होता है, उधर मालती का विवाह भी अन्य पुरुष से होता है। अन्त में परिणाम यह होता है कि नायक की पत्नी और प्रेयसी दोनों ही मृत्यु की शरण लेती हैं। इस प्रकार प्रेम का अभाव और वय की असाधारण असमानता दाम्पत्य जीवन में वैषम्य स्थापित कर देते हैं।

वेश्यावृत्ति की समस्या

अनमेल विवाह की कुरीति वेश्यावृत्ति को भी जन्म देती है। प्रेमचन्द-पूर्वकाल के उपन्यासकारों ने वेश्यावृत्ति के मूल कारणों की अवहेलना कर वेश्या को अत्यधिक हीन और घृणा की दृष्टि से देखा है। वेश्या के घृणात्मक एवं हीन जीवन का चित्रण प्रेमचन्द-युग में भी हुआ अवश्य है किन्तु उन लेखकों ने वेश्यावृत्ति के मूल कारणों पर एवं समस्या के मानवीय पक्ष पर भी ध्यान दिया है। इसके विपरीत इस काल के लेखकों ने मुख्यतः वेश्याओं के छल और आडम्बरपूर्ण जीवन, उसकी रूप-प्रदर्शन की लालसा, धन-लोलुपता एवं उनके अनैतिक कार्य-कलापों की व्याख्या करके उनसे सतर्क रहने के लिए ही आगाह किया है। वेश्या के चरित्र में कहीं कोई पीड़ित नारी भी छिपी हुई है, इसको वे नहीं देख सके हैं।

श्रीनिवासदास ने 'परीक्षा गुरु' (१८८९ द्वि सं०) में ही वेश्या की समस्या उठायी थी। देवकीनंदन खत्री ने 'काजर की कोठरी' (१९०२) में वेश्या का चित्रण करते हुए कहा है कि वेश्या का मुख्य काम दूसरों से रुपया हड़पना होता है। वह अपनी मीठी बातचीत और दिखावटी व्यवहार से एक समय में अनेक पुरुषों को ऐसे उलझाये रहती है कि पुरुष कामान्ध होकर उसके चंगुल में फँसकर अपना समस्त धन बर्बाद कर बैठता है। लेखक के अनुसार वेश्या किसी एक पुरुष की होकर रह ही नहीं सकती। वह प्रत्येक पुरुष से झूठे अपनत्व का प्रदर्शन करती है। 'काजर की कोठरी' में वेश्या बाँदी पारस बाबू से कहती है, 'मैं तुम्हें अपने खर्च के लिए भी तकलीफ देना नहीं चाहती, मैं इस लायक हूँ कि बहुत से सर्दारों को उल्लू बनाकर अपना खर्च निकाल लूँ। मैं तुमसे एक पैसा लेने की नीयत नहीं रखती, मगर क्या करूँ अम्मा के मिजाज से लाचार हूँ। इसी से जो कुछ तुम देते हो ले लेना पड़ता है।'[1]

---

1. देवकीनंदन खत्री : 'काजर की कोठरी' (पृष्ठ २३)

अपनी इस स्वार्थपूर्ति के लिए वेश्या अपनी साज-सज्जा, नृत्य-गान और कुचेष्टाओं द्वारा पुरुषों को आकर्षित करती है। ईश्वरीप्रसाद शर्मा ने 'स्वर्णमयी' में पुरुषों पर वेश्या सरस्वती के रूप एवं कुचेष्टाओं के प्रभाव का चित्रण करते हुए लिखा है : 'वास्तव में उसका रूप भी वैसा ही था। वस उस दर्शक-मण्डली में कोई उसकी पोशाक ही पर मर गया, कोई उसकी बाँकी अदाओं और तिर्छी चितवन ही पर जी-जान से फरेफ्तः हो गया, कोई उसके होठों पर चढ़ी हुई पान की ललाई ही में लीन हो गया और कोई उसके नयनों के पलक ही के पलने पर झूलने लगा।'[1]

इस काल के सुधारात्मक विचारों की सीमा इसी बात से पहचानी जा सकती है कि वेश्यावृत्ति के उन्मूलन की सोचने के वजाय कुछ सुधारकों का तो मत यह था कि समाज को पतन से बचाने के लिए वेश्याओं का होना नितांत आवश्यक है। वेश्याओं के अस्तित्व के फलस्वरूप ही शेष समाज पवित्र वना हुआ है। 'आदर्श हिन्दू' में वेश्याओं का होना दो कारणों से आवश्यक माना गया है: (१) वे अवश्य अपना आपा विगाड़ रही हैं, अपना सर्वस्व नष्ट कर रही है किंतु हिन्दू नारियों के सतीत्व की रक्षा करती हैं। (२) जव गाने-बजाने और नाचने का पेशा करने वाली हमारी सोसाइटी में न रहेंगी तव कुल-वधुएं इस काम को ग्रहण करेंगी।......यदि आप रंडी का नाच वन्द करेंगे तो एक दिन आपको वहू-वेटियाँ अवश्य नचानी पड़ेंगी।[2]

इन पंक्तियों से यह वात सिद्ध होती है कि बीसवीं सदी के प्रारम्भ तक संगीत और नृत्य-कला केवल वेश्याओं की वस्तु समझी जाती थी। इसके अतिरिक्त इस समय समाज के लोगों का नैतिकता के प्रति दृष्टिकोण भी आज की दृष्टि से अत्यन्त संकुचित था। कुछ असंयमी लोगों की अनैतिक वासना की पूर्ति के लिए कुछ नारियों को नारकीय जीवन विताने पर विवश करना कहाँ का न्याय है? फिर वेश्याओं के होने पर भी यह कौन कह सकता है कि शेष समाज सचमुच पवित्र है। पुरुष की काम-दुर्वलता और नारी की विवशता के कारण सभ्य कहलाने वाले समाज में भी प्रति-दिन ऐसी घटनाएं घटती रहती थीं जो उसकी नैतिकता पर कलंक लगाती थीं, पर जिन पर समाज के ठेकेदार अपने सम्मान की रक्षा के लिए पर्दा डाल देना ही श्रेयस्कर समझते थे। इस पहलू पर भी किशोरीलाल गोस्वामी का ध्यान आकर्षित हुआ है। 'स्वर्गीय कुसुम' (१८८९) में कुसुम का मत है कि यदि वेश्याओं को भी समाज में जगह मिल गई तो हिन्दू समाज एक दिन 'वेश्या-समाज' वन जायेगा; किन्तु वसंत नई विचारधारा से प्रभावित होकर उसकी इस वात का खण्डन करते हुए कहता है: 'पर सुनो तो, जिस हिन्दू समाज में बड़े-बड़े कुल की कुलवन्तियाँ भी ऐसे-ऐसे भयानक काम करती है कि जिन पर ध्यान देने से फिर कभी इस

---

१. ईश्वरीप्रसाद शर्मा: 'स्वर्णमयी' (पृष्ठ १०)
२. लज्जाराम शर्मा : 'आदर्श हिन्दू' : तीसरा भाग : (पृष्ठ-२२३-२२४)

समाज के नाम लेने का भी जी नहीं चाहेगा; ऐसी अवस्था में तुम्हारी ऐसी "स्वर्गीय कुसुम" ने क्या पाप किया है, जो समाज तुम्हें अपनी गोद में जगह न देगा।"[1]

इस प्रकार प्रेमचन्द-पूर्व के उपन्यासकारों ने वेश्यावृत्ति की समस्या के विभिन्न पहलुओं पर विचार किया है और इस समस्या के समाधान की ओर भी उनकी दृष्टि गई है। पर इसे तत्कालीन शिक्षा और समाज-दर्शन की सीमा ही कहना होगा कि वे समस्या को गहराई से न पकड़ सके और न कोई उचित समाधान ही दे सके। नारी की स्वतन्त्रता ही वेश्यावृत्ति का सफल उन्मूलन कर सकती है, यह दृष्टि यद्यपि प्रेमचन्द-युग में भी नहीं आई है, पर प्रेमचन्द ने समस्या का आदर्शोन्मुख सुधारवादी समाधान देकर अपने पात्रों के साथ अवश्य न्याय किया है।

देवदासी-प्रथा

देवदासी-प्रथा पर भी इस समय के लेखक का ध्यान गया। किशोरीलाल गोस्वामी ने 'स्वर्गीय कुसुम' में देवदासी-प्रथा की निन्दा की है। कुसुम राजा कर्णसिंह की पहली बेटी थी। बहुत दिनों तक कोई सन्तान न होने के कारण उन्होंने मनौती की थी कि यदि उनके सन्तान उत्पन्न होगी तो वे अपनी पहली सन्तान को भगवान जगन्नाथ के मन्दिर में अर्पण कर देंगे। इसी वचन के अनुसार वे छः महीने की कुसुम को पण्डा त्र्यम्बक को सौंप देते हैं। धार्मिक परम्परा के अनुकूल इस रीति से जो कन्याएं मन्दिर में आती हैं, उन्हें जीवन भर देवदासी बनना पड़ता है। इस प्रकार अपने परिवार और समाज से बिछुड़ कर अबोध बालिका धर्म के ठेकेदारों के अधीन होकर अनैतिक और कलंकपूर्ण जीवन बिताने पर विवश हो जाती है।

इस प्रकार धर्मान्धता के वशीभूत होकर माँ-बाप अपनी लाड़ली बेटी को मन्दिर को सौंप देते हैं और फिर उसके जीवन के प्रति तनिक भी रुचि नहीं दिखाते। वे इस बात की खोज-खबर भी नहीं लेते कि उनकी पुत्री का जीवन कैसा बीत रहा है। 'स्वर्गीय कुसुम' उपन्यास में भी पण्डा त्र्यम्बक कुसुम को वेश्या चुन्नी के हाथ बेच देता है। इस प्रकार राजघराने में जन्मी कुसुम का लालन-पालन वेश्या के यहाँ होता है। वेश्या के यहाँ रहने के कारण उसका जीवन अभिशाप बन जाता है। यद्यपि कुसुम शरीर से पवित्र है, उसकी आत्मा उच्च और महान है किन्तु किसी भी शर्त पर समाज उसे कुलीना मानने के लिए प्रस्तुत नहीं। कुसुम वसंत से प्रेम करती है, वह उसके साथ गान्धर्व-विवाह भी कर लेती है किन्तु वसन्त की सामाजिक प्रतिष्ठा को ध्यान में रखकर वह इस संबन्ध को प्रकट नहीं होने देना चाहती। वह वसंत को अपनी सगी बहिन गुलाब से विवाह करने के लिए बाध्य करती है और स्वयं संन्यासिनी की भाँति जीवन-यापन करती है।

कुसुम इस देवदासी-प्रथा से अत्यन्त क्रुद्ध होकर अपनी मनोवेदना अपने पिता के

---

१. किशोरीलाल गोस्वामी : 'स्वर्गीय कुसुम' (पृष्ठ ११८)

करती हैं। लेकिन ये शेष नारी-पात्र नौकरी करने की अपेक्षा घर में ही रहकर अर्थोपार्जन का पक्ष लेते हैं। साथ ही, जबतक पुरुष समर्थ हो, तब तक नारी के अर्थोपार्जन को वांछनीय नहीं माना गया है। 'नूतन चरित्र' में भी चित्रकला का भाई चित्रकला के इस प्रस्ताव पर अपने पौरुपत्व का अपमान समझता है। वह कहता है: 'अभी मैं ऐसा मुर्दा नहीं हो गया जो अपनी प्यारी बहिन को उदर-पालन के अर्थ काम करने की आज्ञा दूँ।'[1] इसी प्रकार 'वामा-शिक्षक' में किशोरीलाल के प्रस्ताव पर पुराने विचारों का प्रतिनिधित्व करने वाली उसकी सास असहमति प्रकट करती है। फिर भी लेखक ने उस समय की विवेकशील नारी के द्वारा यह कहलवाया है कि 'इसमें कुछ डर नहीं है, क्या हम किसी के घर भीख माँगने जायेंगे। यह तो राजा काम है, अपने घर बैठे करते रहो।'

जो भी हो, इस समय के उपन्यासकार का ध्यान नारी के अर्थोपार्जन पर गया अवश्य था। वक्त बे-वक्त आर्थिक संकट से मुक्ति पाने के लिए घर बैठे ही नारी के अर्थोपार्जन करने को वे बुरा नहीं मानते थे।

नारी के स्वच्छन्द-प्रेम की समस्या

प्रेमचन्द पूर्व के अनेक उपन्यासों में स्वच्छन्द प्रेम का चित्रण हुआ है। ठाकुर जगमोहनसिंह ने 'श्यामा स्वप्न' (१८८८) में स्वच्छन्द-प्रेम और गान्धर्व-विवाह की कहानी पुरानी काव्य रूढ़ियों का आश्रय लेकर कही। ब्रजनन्दनसहाय ने 'सौन्दर्योपासक' (१९१२) में प्राचीन रूढ़ियों और प्रचलित आदर्श भावना से हटकर स्वच्छन्द-प्रेम-निषेध के दुष्परिणाम बड़े साहस-पूर्वक दिखाये हैं। किशोरीलाल गोस्वामी ने भी लगभग अपने सभी उपन्यासों में स्वच्छन्द-प्रेम को प्रश्रय दिया है, 'चपला', 'स्वर्गीय-कुसुम', 'हृदयहारिणी' (१८९०), 'अँगूठी का नगीना' (१९१८) आदि उपन्यासों में स्वच्छन्द-प्रेम का प्रतिपादन किया गया है। ईश्वरीप्रसाद शर्मा के 'मागधी कुसुम' (१९११) और 'स्वर्णमयी' (१९१०) में भी यही भावना निहित है।

इन सभी उपन्यासों में स्वच्छन्द-प्रेम की भावना रीतिकालीन परिपाटी और सस्ती स्वप्नशील भावुकता को लेकर प्रकट हुई है। इसका वास्तविक कारण यह है कि उस काल में भारतीय सामाजिक जीवन अगति और अन्धकार में था। सामाजिक रूढ़ियाँ एवं जाति-पाँति के बन्धन अत्यन्त कड़े थे। शिक्षा का प्रसार न था। नर-नारी के मुक्त-प्रणय की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। विवाह जैसे महत्वपूर्ण और स्थायी सम्बन्ध का निर्णय भी अभिभावक ही करते थे। व्यक्ति के निजी राग-विरागों पर ऐसे कठोर सामाजिक प्रतिबंध को ही इस स्वप्नशील प्रेम-भावना का जनक मानना चाहिये। यथार्थ जीवन में व्यक्ति की दमित वासनाओं का प्रकाश साहित्य में आकर रोमानी वातावरण और सस्ती भावुकता की सृष्टि करने लगा। डा० इन्द्रनाथ मदान ने भी इस प्रकार

---

१. रत्नचंद्र प्लीडर: 'नूतन चरित्र' (पृष्ठ ३४)

के रोमांस की सृष्टि के मूल में व्यक्ति की दमित वासनाओं को माना है।[१]

इस समय के उपन्यासकार के मन मे स्वच्छन्द-प्रेम निषेध के प्रति असंतोष तो था, जो विभिन्न प्रकार के उपन्यासो में प्रकट हुआ, किन्तु सामाजिक रूढियों को तोड़ने का अथवा उनका विरोध करने का साहस उसमें नहीं था। 'श्यामा स्वप्न' में भी स्वच्छन्द-प्रेम और गान्धर्व-विवाह की कहानी इस प्रकार वर्णित की गई है कि प्रचलित सामाजिक रूढ़ियों के प्रति तत्कालीन शिक्षितों का आन्तरिक असंतोष साफ परिलक्षित होता है। फ़िर भी इन उपन्यासों में स्वतन्त्र-प्रेम का खुला समर्थन नहीं है। 'सौन्दर्योपासक' में स्वच्छन्द-प्रेम-निषेध के दुष्परिणामों पर लेखक ने साहस पूर्वक दृष्टिपात करते हुए भी सामाजिक प्रतिबंध को माना है।

इनमें से अधिकतर उपन्यासों में प्रचलित सामाजिक प्रतिवंध की मान्यता एक और ढंग से भी प्रकट होती है। जव जव स्वच्छन्द प्रेम का चित्रण किया गया है, तव तब लेखक ने उसकी परिणति विवाह में करायी है, और इस प्रकार स्वच्छन्द-प्रेम के विद्रोही तत्व को प्रभाव हीन वना दिया है। इस तरह के चित्रण करने से लेखक के दोनों उद्देश्य पूरे हो जाते है। वह नारी के स्वच्छन्द-प्रेम को भी महत्व प्रदान कर देता है और प्रचलित सामाजिक मान्यताओं की भी रक्षा कर लेता है। तिलिस्मी, ऐय्यारी और सामाजिक सभी उपन्यासो में यह प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है।

कुछ सामाजिक उपन्यासों मे स्वच्छन्द-प्रेम का चित्रण एक और ढंग से भी हुआ है। 'नूतन चरित्र' में चित्रकला विवेकराम को प्रेम करने पर भी भावुकता मे वहकर तुरन्त विवाह करने को प्रस्तुत नही होती। विवेकराम सच्चरित्र व्यक्ति है या नही इसकी परीक्षा वह अनेक उपायो से एवं विवेकराम को अनेक परिस्थितियों में डाल कर करती है। जब चित्रकला को विवेकराम को सच्चरित्रता, निश्छल प्रेम एवं सहृदयता पर विश्वास हो जाता है तभी वह उससे विवाह करती है।

'सुहागिनी' में प्रेयसि कुसुम के चरित्र मे लेखक ने आधुनिक शिक्षा के प्रभाव से उत्पन्न स्पष्टवादिता का भी समावेश किया है। वह अतुल से प्रेम करती है, यद्यपि उसका विवाह सुरेश से निश्चित होता है। वह पहले तो अतुल को भूलने का प्रयास करती है किन्तु जव सफल नहीं होती तो विवाह के ठीक पहले अपने भावी पति सुरेश को वुलाकर अपने मन को सच्ची स्थिति समझाती है। सुरेश भी आदर्शवादी युवक की भांति उसी समय उसे बहिन कह कर पुकारता है और स्वयं उसका विवाह अतुल से करा देता है। यद्यपि इन घटनाओं मे अस्वाभाविकता का पुट अवश्य है फिर भी कुसुम के चरित्र का इस प्रकार चित्रण करना नारी के नये रूप का आभास देता है।

लेकिन इस काल में कुछ उपन्यासकार ऐसे भी थे जो प्राचीन परिपाटी पर चलते रहना ही श्रेयस्कर समझते थे, और जिन्होने नारी को प्रेम अथवा विवाह के सम्वन्धो में

---

१. डा० इन्द्रनाथ मदान : 'माडर्न हिन्दी लिटरेचर' (पृष्ठ १३१)

किसी प्रकार की छूट देना उचित नहीं माना है। लज्जाराम शर्मा का 'आदर्श हिन्दू' नामक उपन्यास प्रेमचन्द-पूर्व कालीन समाज की मान्यताओं का चित्र उपस्थित करता है। उसमें उन्होंने नारी के प्रेम का विकास विवाहोपरान्त ही उचित माना है। विवाह के पूर्व किये गये प्रेम को वे पाश्चात्य देन समझते हैं।[1] उनके मत में कन्या के लिए घर और वर ढूंढ़ने का भार माता-पिता पर ही होना चाहिये।[2]

नारी-जीवन के आदर्श की समस्या

भारतेन्दु-युग भारतीय राष्ट्रीय चेतना के उदय और विकास का काल था। अंग्रेजी शिक्षा और सभ्यता का प्रभाव भारत में बड़ी तीव्रता से फैल रहा था। भारतीय धर्म-प्रचारक एवं समाज-सुधारक भारतीय जनता को, विशेषकर नारी को, विदेशी प्रभावों से बचाना चाहते थे। उनको भय था कि कहीं भारतीय नारी भी अपनी संस्कृति और परम्परा को भूलकर पाश्चात्य नारी की नकल न करने लगे। अतः उन्होंने एक ओर ऐतिहासिक उपन्यास लिखकर वीर ललनाओं के ऐसे उदाहरण प्रस्तुत किये जिन्होंने आत्म-सम्मान और स्वदेश-प्रेम के लिए अपने प्राणों की बलि दी थी, दूसरी ओर पौराणिक उपन्यासों में भी ऐसी आदर्श नायिकाओं का जीवन चरित्र प्रस्तुत किया जिनका अनुकरण कर नारियाँ धर्म और कर्तव्य के पथ पर चलें और उनके आदर्श से प्रेरित होकर अपना जीवन सुधार सकें। इस प्रकार सती सावित्री, सीता, अनसूया, सुभद्रा, चंद्रलेखा, सती सीमंतिनी, मदालसा आदि के उदाहरण उपस्थित किये गये। व्रजनंदनसहाय की 'रजिया वेगम' (१९१५), 'रामनरेश त्रिपाठी' की 'वीरांगना' (१९११) और 'वीरबाला' (१९११), गंगाप्रसाद गुप्त की 'वीर पत्नी (१९०३), किशोरीलाल गोस्वामी की 'हृदय हारिणी' (१८९०), 'लवंगलता' (१८९०), 'लखनऊ की कब्र' (१९०६) और तारा, वलदेव मिश्र की 'पानीपत' (१९०२), अम्बिकाप्रसाद चतुर्वेदी की 'कोहेनूर' (१९१९) आदि ऐसे अनेक ऐतिहासिक उपन्यास लिखे गये, जिनमें नारी के राष्ट्र-प्रेम, आत्मोत्सर्ग, आत्म-सम्मान, वीरता, प्रेम और त्याग के उदाहरण मिलते हैं। वे वीर नारियाँ कभी पति के साथ संग्राम में जाती हैं, कभी पति को युद्ध के लिए प्रोत्साहित करती हैं, कभी उन्हें रण के लिए स्वयं सुसज्जित करती है, वक्त पड़ने पर स्वयं हाथ में तलवार लेकर देश-रक्षा और आत्म-सम्मान के लिए युद्ध करती हैं, अपना बलिदान देती हैं और कभी पति की मृत्यूपरान्त जौहर-व्रत के पालन के लिए स्वयं सती हो जाती हैं।

इस प्रकार प्रेमचन्द-पूर्व के उपन्यासों में नारी-जीवन की पारिवारिक, सामाजिक, नैतिक, धार्मिक और राजनैतिक सभी प्रकार की समस्याओं का चित्रण हुआ है, और लेखकों ने उनका समाधान करने की भी चेष्टा की है। पर न तो इन उपन्यासों में वह गम्भीर विषाद और मार्मिक रूप मिल सका जो परवर्ती युग में प्राप्त हुआ और न कोई ऐसा समाधान ही दिया जा सका जो यथार्थ की कसौटी पर व्यावहारिक सिद्ध हो सके।

---

१. 'उनके यहाँ प्रणय पहले और हमारे यहाँ प्रणय पीछे होता है।' लज्जाराम शर्मा : 'आदर्श हिन्दू' तीसरा भाग : (पृष्ठ ८९) २. वही (पृष्ठ ८९)

अध्याय ४

नारी-जीवन की समस्याएं और उनका समाधान : प्रेमचन्द-युग

प्रेमचन्द-युग के उपन्यासकारों के सम्मुख राष्ट्रीय भावना, नारी की पारिवारिक, सामाजिक और आर्थिक समस्याएं एवं उनके आदर्शों की रूपरेखा स्पष्ट हो चुकी थी। इस कारण इस युग के लगभग सभी उपन्यासकारों को नारी की विभिन्न समस्याओं के चित्रण मात्र से संतोष नही हुआ। उन्होने इन समस्याओं के निराकरण पर भी सुधारवादी ढंग से सहानुभूति पूर्वक विचार किया है। प्रेमचन्द ने इन समस्याओं को अधिक सूक्ष्मता, कलात्मकता और गंभीरता प्रदान की। उनकी रचनाओं में ये समस्याएं नारी-जीवन की वास्तविक समस्याओं के रूप में चित्रित हुईं जिसका प्रभाव तत्कालीन समाज पर भी पड़ा। प्रेमचन्द ही ने सर्वप्रथम नारी को सर्वांगीण जीवन और व्यक्तित्व को समवेदना-पूर्वक ग्रहण किया।

इस युग के उपन्यासकार विशेषकर मध्यवर्गीय नारी के महत्वपूर्ण प्रश्नों को लेकर ही हिन्दी साहित्य मे अवतीर्ण हुए। यद्यपि उच्च और निम्नवर्गीय नारी की समस्याओं का भी चित्रण हुआ है, फिर भी वह चित्रण इस युग की मुख्य विशेषता नही है। मध्यवर्गीय नारी की समस्याओ का अधिक चित्रण होने के मुख्यतः दो कारण थे: (१) इस समय के अधिकतर उपन्यासकार मध्यवर्ग से ही आये थे। उनकी संवेदनशील चेतना नारी-समाज की विडम्बना एवं विपमता पर कैसे मौन रह सकती थी? उनके लिए यह असम्भव था कि वे उस वर्ग की नारी की समस्याओं के प्रति उदासीन होकर अन्य वर्ग की नारी की समस्याओं के सम्वन्ध मे विचार करते। (२) उस समय मध्यवर्गीय नारी की समस्याएं सवसे अधिक महत्वपूर्ण और जटिल थी। उनका समूचा जीवन अंध-विश्वास, रूढ़वादिता, मिथ्या आत्म-सम्मान, अभाव एवं प्रतिबंधों में इतना जकड़ा हुआ था कि उनकी आत्म-चेतना लुप्त-प्राय हो गई थी। वाल-विवाह, अशिक्षा, पर्दा, गहनों का मोह, दहेज, अनमेल-विवाह, विधवा-विवाह-निषेध, वेश्यावृत्ति आदि विभिन्न सामाजिक विपमताओ का दुष्परिणाम सबसे अधिक मध्यवर्गीय नारी को ही सहना पड़ता था। यही कारण है कि इस युग के उपन्यासकारों ने नारी की पारिवारिक समस्याओं से भी अधिक सामाजिक समस्याओं को आधार बनाकर अपने उपन्यासो की रचना की। उन्होने इन समस्याओं के प्रत्येक पहलू का विशद रूप से अध्ययन किया, और उनके समाधान की खोज का भरसक प्रयत्न किया।

सामाजिक-समस्याएं

बाल-विवाह

वास्तव में बाल-विवाह की प्रथा ही वह विष का मूल है जिससे नारी-पतन की शाखाएं पल्लवित होती हैं। इस युग के लगभग सभी उपन्यासकारों ने बाल-विवाह की प्रथा की निर्मम आलोचना की है। कहीं भी बाल-विवाह की परिणति सुख या सफलता में नहीं दिखाई गई है। प्रेमचन्द-पूर्व के उपन्यासों में ग्यारह-बारह वर्ष की कन्या के विवाह को आदर्श माना गया था। किन्तु प्रेमचन्द-युग में लड़की के विवाह की उम्र एक दो वर्ष और चढ़ गई थी। प्रेमचन्द, 'प्रसाद' आदि उपन्यासकारों ने बारह वर्ष से ऊपर की कन्या के विवाह को श्रेयस्कर माना है। 'प्रसाद' लिखित 'तितली' की तितली, प्रेमचन्द लिखित 'सेवासदन' की सुमन और शान्ता, 'कर्मभूमि' की सुखदा, 'गबन' की जालपा आदि अनेक कन्याएं विवाह के समय अबोध बालिकाएं नहीं थीं, उनके व्यक्तित्व का थोड़ा बहुत विकास हो चुका था। प्रेमचन्द-युग में जहाँ भी बाल-विवाह की चर्चा है वहाँ सामाजिक या आर्थिक परवशता के कारण ही ऐसा किया गया है। अधिकांश उपन्यासों में बाल-विवाह की चर्चा भविष्य में होने वाले दुष्परिणामों को ध्यान में रखकर की गई है। बाल-विवाह पर ही अशिक्षा, अनमेल विवाह और विधवा-जीवन की समस्याएं आश्रित हैं।

नारी-शिक्षा

बाल-विवाह के दुष्परिणामों में नारी की अशिक्षा प्रमुख है। विवाहित और अविवाहित दोनों स्थितियों में उसे पढ़ने का अवसर नहीं मिलता था। जैसे ही उसकी बुद्धि कुछ सजग होती थी, उसका विवाह हो जाता था। तदुपरान्त उसके जीवन का समस्त विकास गृहिणी अर्थात् दूसरे शब्दों में परिवार की दासी के रूप में होता था। वह सबके लिए जीती और मरती थी। उसकी कोई स्वतन्त्र सत्ता न थी और न इस सम्बन्ध में वह स्वतन्त्र रूप से कुछ सोच ही सकती थी। कहीं-कहीं इस अशिक्षा का उल्टापरिणाम भी हुआ। नारी का विवेक विकसित न होने के कारण वह अपनी स्वार्थ-भावना में ही डूबी रही और कर्कशा या कलहमयी बन गई। प्रेमचन्द-युगीन उपन्यासों में जहाँ भी कर्कशा नारी का चित्रण हुआ है, चाहे वह सास के रूप में हो या देवरानी, जिठानी, ननद, भौजाई या पत्नी के रूप में हो, वहीं अशिक्षा को मूल कारण माना है।

प्रेमचन्द के उपन्यासों की लगभग सभी मध्यवर्गीय नारियाँ साधारण शिक्षित दिखाई देती हैं। 'सेवासदन' (१९१६) में सुमन की छोटी बहिन शान्ता अपने श्वसुर को पत्र लिखती है। इस पत्र के द्वारा उसके दृढ़ विचारों एवं व्यक्तित्व की झलक मिलती है। 'निर्मला' (१९२३) में निर्मला विवाहोपरान्त भी मंशाराम से पढ़ने की चेष्टा करती है। 'कर्मभूमि' में सुखदा अर्थाभाव के कारण स्वयं पढ़ाने जाती है। जयशंकर 'प्रसाद' की 'तितली' (१९३४) मधुवन के चले जाने पर स्कूल खोलकर बालिकाओं को पढ़ाने का काम करती है।

इन उदाहरणों से यह सिद्ध है कि इस समय नारी शिक्षा का प्रचार हो चुका था किन्तु यह शिक्षा नितान्त भारतीय आदर्शों पर अवलम्बित हो, ऐसा आग्रह अभी विशेप रूप से किया जाता था। लोगों का विश्वास था कि पाश्चात्य ढंग की शिक्षा भारतीय नारी के लिए घातक सिद्ध होगी। पं० रामकिशोर मालवीय ने 'शैलकुमारी' (१९२४), में कात्यायिनी का चरित्र गाँधीवादी आदर्श पर विचित्र किया गया है। पढ़-लिख कर ऐसी आदर्श-नारी वनना चाहती है, जिससे लोग उच्च शिक्षा को दोप न दे सकें। उस समय मध्य-वर्ग की पुरानी पीढ़ी के मन में उच्च शिक्षा के प्रति घृणा की भावना थी। कात्यायिनी कालेज में पढ़ने जाती है इसलिए उसकी सास उससे कटु व्यवहार करती है। लेकिन नई पीढ़ी इन प्रचलित भावनाओं के आगे आत्म-समर्पण नहीं करती, यद्यपि प्रकट विद्रोह भी नहीं कर पाती। प्राचीन और नवीन का शान्तिपूर्ण समन्वय इस युग की विशेषता है। कात्यायिनी पढ़ना वन्द नहीं करती, पर साथ ही सास को प्रसन्न रखने की चेष्टा करती है। उसकी प्रत्येक चेष्टा इस वात के प्रतिपादन के लिए है कि उच्च शिक्षा पाकर भी नारी को अपनी सेवा-भावना का त्याग नहीं करना चाहिये। कात्यायिनी के चरित्र के विपरीत शैलकुमारी के चरित्र का चित्रण किया गया है। वह उच्च शिक्षा पाकर अपने भारतीय आदर्शों को भूलकर पुरुष के साथ प्रतिद्वन्द्विता में लग जाती है। शैलकुमारी के चरित्र में लेखक ने अतिवाद से काम लिया है। पाश्चात्य नारी प्रगति के आन्दोलन की मूल-प्रेरणा को यहाँ के लेखक सही अर्थ में ग्रहण नहीं कर सके। इस समय के प्रायः सभी लेखकों के मन में पाश्चात्य संस्कृति के प्रति एक वितृष्णा पाई जाती है जो सम्भवतः अपने अतीत-गौरव की स्मृति-रक्षा की चेष्टा की प्रतिक्रिया है। यही कारण है कि जब भी नारी पर पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली का प्रभाव चित्रित किया गया है तभी वह अस्वाभाविक और अतिरंजित रूप ले उठा है।

इस युग के उपन्यासकारों ने जब कोई आदर्श उपस्थित किया है, सुधार की प्रेरणा से ही किया है। कात्यायिनी पढ़-लिखकर अपने जीवन से अन्य महिलाओं के सम्मुख एक आदर्श-नारी का उदाहरण उपस्थित करती है। इसके अतिरिक्त गाँधी जी से प्रभावित होकर वह नारी की उन्नति के लिए रचनात्मक कार्य भी करती है। वह वहिनों को 'नारी सभा' बनाने की सलाह देती हुई कहती है कि उस सभा के द्वारा 'आप यह प्रयत्न कर सकेंगी कि शहर की म्यूनिसिपैलिटी में आपको पुरुषों के बराबर बोट देने और मैम्बर बनने का अधिकार मिल जाय तथा लड़कियों को अनिवार्य शिक्षा देने का नियम बन जाय'।[1]

इस प्रकार इस समय का लेखक नारी शिक्षा के प्रति सजग था, यद्यपि उसका अब भी यह विचार था कि भारतीय नारी को गार्गी, लोपामुद्रा आदि विदुषियों के रास्ते पर चलना चाहिए। शैल को अपनी भूल सुधारनी पड़ती है। 'महिला सेवक समाज' नाम से वह एक संस्था बनाती है जिसमें वर्तमान शिक्षा प्रणाली को हटाकर प्राचीन भारतीय

१. पं० रामकिशोर मालवीय : 'शैलकुमारी' (पृष्ठ १९७)

आदर्शों के अनुरूप नारी-शिक्षा के प्रचार की बात मुख्य रूप से कही गई है। फलस्वरूप 'राष्ट्रीय महिला विश्वविद्यालय' की स्थापना होती है जिसका मुख्य उद्देश्य नारी की नैतिक और मानसिक शिक्षा देना, नारी को पूर्ण विदुषी, देश और समाज की सेविका, सदाचारिणी और पतिव्रता वनाना है।

भगवतीप्रसाद वाजपेयी ने भी 'लालिमा' (१९३४) में संध्या द्वारा 'नारी मन्दिर' की स्थापना कराई है जिसमें मुख्य रूप से नारी-शिक्षा का ही कार्य होता है। इस प्रकार की शिक्षा संस्थाओं की स्थापना करके लेखक ने नारी शिक्षा के लिए एक आदर्श-मूलक समाधान देने की चेष्टा की है।

प्रेमचन्द-युग के अन्य उपन्यासकारों ने नारी-शिक्षा के सम्बन्ध में वहुत कम कहा है। पं० रामकिशोर मालवीय की 'शैलकुमारी' ही एक ऐसा उपन्यास है जिसमें नारी शिक्षा की समस्या को ही मूल कथावस्तु वनाया गया है। यद्यपि इस उपन्यास में ऐसा चरित्र-चित्रण नहीं मिलता, जो पाठक की अनुभूति को सहज ही ग्राह्य हो सके तथापि उपन्यासकार ने अपना जो दृष्टिकोण उपस्थित किया है, वह उस समय के समाज की मनोवृत्ति का ही प्रतिविम्व है। नारी-शिक्षा आवश्यक है, यह तो उस समय का समाज मानता था किन्तु शिक्षा की भारतीय प्रणाली ही उन्हें मान्य थी। पाश्चात्य और भारतीय आदर्शों की टकराहट और अन्त में भारतीय आदर्शों की विजय इस युग के उपन्यासों की मुख्य विशेशता है। अन्य नारी-समस्याओं के समाधान की भाँति नारी-शिक्षा के प्रति भी लेखकों का यही दृष्टिकोण परिलक्षित होता है।

पर्दा

नारी-शिक्षा-प्रसार के साथ-साथ पर्दे की प्रथा का भी लोप होने लगा था। यद्यपि साधारणतः मध्यवर्गीय नारी अभी घर में घूँघट काढ़ती थी। किन्तु लेखकों पर सामाजिक और राजनैतिक आन्दोलनों का प्रभाव इतना पड़ चुका था कि उनका ध्यान इस ओर जाना स्वाभाविक था। फिर भी आश्चर्य की वात है कि इस युग के किसी भी उपन्यास में पर्दे की प्रथा को समस्या के रूप में ग्रहण नहीं किया गया है। जहाँ कहीं भी उसका वर्णन आया है वह या तो एक आवश्यक किन्तु मिटती हुई रूढ़ि के रूप में अथवा उसके द्वारा उत्पन्न परिस्थिति के चित्रण के रूप में। भगवतीप्रसाद वाजपेयी लिखित 'प्रेम निर्वाह' में लोचन-प्रसाद की पत्नी राधिकाकान्त को देखकर और तारिणी वकील साहव को देखकर घूँघट कर लेती है। रमाशंकर सक्सेना के 'अवला' नामक उपन्यास में दिखाया गया है कि किस प्रकार वहू के अपने श्वसुर से न वोल सकने के कारण सास को उसकी शिकायतें करने का अवसर मिल जाता है। पर फिर भी यही कहना उचित होगा कि पर्दा-प्रथा का चित्रण वहुत कम हुआ है। इसका कारण, सम्भवतः यही है कि पुरानी पीढ़ी इस प्रथा को नारी-सदाचार और शील का प्रतीक समझती थी; इसलिए लेखकों ने उस पर सीधा प्रहार न कर उपेक्षा द्वारा उसको तुच्छ सिद्ध करना चाहा। इसका परिणाम भी शुभ हुआ; क्योंकि शिक्षा

के विकास के साथ-साथ उसका लोप होने में कोई देर न लगी। प्राचीन रूढ़िवादी पीढ़ी के प्रतीक लाला प्रभुदयाल आर्य समाज के सिद्धान्तों को मानने वाले लाला दीनदयाल के सम्बन्ध में जो कुछ कहते हैं उससे उस पीढ़ी की मनोवृत्ति का अच्छा परिचय मिल जाता है: 'लाला दीनदयाल ने इन लड़कियों को आर्य पाठशाला में पढ़ाया है, वहाँ पर लड़कियाँ निर्लज्ज बनाई जाती है। घर के काम-काज, रोटी करने को बुरा समझती हैं। किताब अखबार पढ़ना, चाहे जिसके साथ बात करना, पर्दा न करना, जेवर न पहनना अच्छा समझती हैं। उनकी शिक्षा बड़ी बुरी है। मर्दों की बराबरी करना, आप ही देखिये कोतवाल साहब! कौन से धर्म में है। मुसलमानों के यहाँ पर्दा करना कितना जरूरी है। जिस औरत ने कपड़े के पर्दे को ही नहीं रक्खा, वह औरों का पर्दा क्या रख सकती है।'[1]

किन्तु यह मनोवृत्ति उस युग की प्राचीन पीढी के साथ ही समाप्त हो जाती है। प्रेमचन्द-युग का लेखक ऊपरी आडम्बर और वास्तविक शील में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध नहीं मानता । वह कहता है कि कपड़े का पर्दा झूठा है, बाह्य आडम्बर मात्र है, आँखों का पर्दा ही मुख्य है। आँखों में लज्जा और शीलपूर्ण आचरण, ये ही गुण हैं, जो भारतीय नारी के लिए आदर्श-स्वरूप माने जा सकते हे।

दहेज

जब से नारी की कल्पना संपत्ति के रूप में की गई और उसका विवाह एक आवश्यक धार्मिक कृत्य माना गया, तभी से दहेज-प्रथा प्रारम्भ हुई। पिता की धन-सम्पत्ति पर पुत्री का कोई अधिकार न होने के कारण उसके धन का कुछ भाग उसको दहेज के रूप में दिया जाने लगा। धीरे-धीरे इस प्रथा ने इतना विकट रूप धारण कर लिया कि वर और कन्या से भी अधिक महत्व दहेज को दिया जाने लगा। इस कुप्रथा के जो दुष्परिणाम होते हैं उनमें चार मुख्य हैं: (१) लड़की के माँ-बाप अपना घर-द्वार बेचकर भी दहेज देते हैं और वे जीवन-भर ऋण के बोझ से दबे रहते हैं; (२) दहेज न दे सकने पर उनको अपनी कन्या का विवाह बहुधा अवांछनीय पुरुष से अथवा किसी वृद्ध से करना पड़ता है; (३) कम दहेज लाने पर ससुराल वाले बहू के साथ दुर्व्यवहार करते हैं। चारों ओर से उसे जो व्यंग्य सुनने पड़ते हैं और यंत्रणा सहनी पड़ती है वे उसके जीवन को नारकीय बना देते हैं; (४) दहेज की व्यवस्था करने में असमर्थ अपने अभिभावकों की दुश्चिन्ता देखकर अथवा दहेज से असंतुष्ट अपने ससुराल वालों के निष्ठुर व्यवहार से दुखी होकर कभी-कभी नारी को अपना जीवन समाप्त कर देने में ही कल्याण दिखाई देता है। दहेज की कुप्रथा से उत्पन्न इन चारों दुष्परिणामों को इस युग के लेखकों ने अपने उपन्यासों में चित्रित किया है।

ऋषभचरण जैन ने 'मास्टर साहब' (१९२७) मे यह चित्रित किया है कि दहेज की कुप्रथा ने ही बासंती को बाल-विधवा बनाया। इसी प्रकार अनूपलाल मण्डल लिखित

---

१. श्री रमाशंकर सक्सेना : 'अबला' (पृष्ठ ४६)

'निर्वासित' में दरिद्र होने के कारण अन्नपूर्णा का विवाह साठ वर्ष के वुड्ढे श्रीपति के साथ होता है। बासंती की भाँति अन्नपूर्णा भी विवाह के कुछ ही दिनों वाद विधवा हो जाती है। तेजरानी दीक्षित ने 'हृदय का काँटा' (१९२८) में प्रदर्शित किया है कि वहू प्रतिभाके मायके से कम दहेज आया है इसलिए उसके ससुराल वाले प्रतिभाके साथ अत्यधिक दुर्व्यवहार करते है। चारों ओर से, मुख्यतः घर की स्त्रियों की ओर से ही, उसे जो व्यंग्य और ताने सुनने पड़ते हैं वे उसके जीवन को नारकीय वना देते है। देवनारायण द्विवेदी ने भी 'दहेज' (१९३८), में दहेज की कुप्रथा पर वलिदान होने वाले एक हिन्दू परिवार की कन्याओं की जीवन-गाथा वड़े मर्मस्पर्शी ढंग पर चित्रित की है।

प्रेमचन्द ने दहेज की समस्या 'सेवासदन' (१९१६) में ही उठायी थी। सुमन के पिता उसके विवाह के लिए भागीरथ प्रयत्न करते है किन्तु आवश्यक रुपया इकट्ठा नहीं कर पाते। तव उन्हें झूठ की शरण जाना पड़ता है, फलस्वरूप वे जेल जाते है। तदुपरान्त दहेज न देने के कारण ही सुमन का विवाह गजाधर जैसे क्रोधी, अकर्मण्य एवं अविवेकी पुरुष से होता है। अन्त में अपनी प्रकृति के एकदम प्रतिकूल वातवारण में कष्ट भोगते-भोगते एक दिन सुमन अपनी परिस्थितियों की विवशता के कारण वेश्या बन जाती है।

'निर्मला' (१९२८) में प्रेमचन्द ने दहेज-प्रथा की समस्या को बड़े गम्भीर रूप में चित्रित किया है। उन्होंने एक ओर प्रचलित दहेज-प्रथा पर कटु व्यंग्य किया है तो दूसरी ओर उससे विकसित होने वाले भयंकर दुष्परिणामों को भी शिक्षित समाज के सामने रखा है।

निर्मला के पिता उदयभानु की समाज में प्रतिष्ठा थी। इसलिए निर्मला का विवाह-सम्बन्ध रईस घराने के वावू भालचंद्र के यहाँ पक्का हो गया था। किन्तु उदयभानु की मृत्यूपरान्त दहेज पाने की लालसा अपूर्ण रह जाने के भय से भालचंद्र यह विवाह-सम्वन्व तोड़ देते है। वे इस वात को समझने की चेष्टा नहीं करते कि इस प्रकार के दृष्टिकोण से कन्या और उसके अभिभावकों की मानसिक प्रतिक्रिया क्या होगी। इस स्थिति में अविवाहित कन्या अपने आपको चारों ओर के दुखद वातावरण का केन्द्र समझती है। वह यह सोचने के लिए वाध्य हो जाती है कि यदि वह न रहे तो सारी समस्या सुलझ जायेगी। इसीलिए वहुधा देखा जाता है कि ऐसी विकट परिस्थिति में कन्या आत्म-हत्या तक कर डालती है। रमाशंकर सक्सेना की 'अवला' में शीला ऐसा ही मानसिक कष्ट सहती है। जव वह एक दिन कहीं वाहर चली जाती है तव घर के लोग संदेह करते है कि उसने आत्म-हत्या कर ली होगी; 'क्योंकि उन दिनों लड़कियों का आतमहत्या कर लेना एक साधारण-सी वात थी।'[१]

प्राचीन भारतीय सामाजिक परम्परा के अनुसार नारी का विवाह अनिवार्य माना गया है। उपयुक्त घर और वर मिले या न मिले, लड़की को किसी भी भाँति पार लगाने

---

१. श्री रमाशंकर सक्सेना : 'अबला' (पृष्ठ २३)

की भावना प्राचीन समाज में पाई जाती है। अच्छा घर-वर साधारणतः धन के ही सहारे मिलता है। लड़की के गुणों का कोई मूल्य नहीं, कोई महत्व नहीं। इस कुप्रथा से व्यथित होकर निर्मला की माँ कल्याणी का हृदय जैसे रुदन कर उठता है। कल्याणी कहती है: 'वह रूपवती है, गुणशीला है, चतुर है, कुलीन है तो हुआ करे; दहेज हो तो सारे दोष गुण हैं। प्राणी का कोई मूल्य नही, केवल दहेज का मूल्य है। कितनी विषम भाग्य-लीला है।'[1]

अन्त मे कल्याणी को विवश होकर पैंतीस वर्ष की उम्र के एक वकील के साथ निर्मला का सम्बन्ध पक्का करना पड़ता है, जो ववासीर के रोग और अपने स्थूल शरीर के कारण और भी वृद्ध लगता है। उसके मुँह पर झुर्रियाँ पड़ी हुई हैं, वह तीन बच्चों का पिता है और उसका बड़ा पुत्र मंशाराम तो निर्मला की ही उम्र का है। कल्याणी का मन गवाही नहीं देता। यदि उसके पास पैसा होता तो वह यहाँ सम्बन्ध करने की सोचती तक नहीं, किन्तु सामाजिक और आर्थिक परवशता के कारण वह ऐसा करने को वाध्य होती है।

इस सामाजिक परवशता का दण्ड भोगना पड़ता है निर्मला को। दहेज न दे सकने के ही कारण उसका विवाह एक वृद्ध से होता है। फलस्वरूप उसे अनेक मानसिक यातनाएं सहनी पड़ती हैं। उसके एक पुत्री होती है। वह अभी दुधमुँही बच्ची ही है कि निर्मला को उसके विवाह के लिए रुपयों की चिन्ता हो जाती है। घर बिक जाने, वकील साहब के चले जाने और गहने चोरी हो जाने पर भी उससे जैसे बनता है, दहेज के लिए रुपया इकट्ठा करती है। इस संचय-वृत्ति के कारण परिवार की शान्ति भंग हो जाती है किन्तु वह उसकी भी परवाह नहीं करती। उसके हृदय के किसी कोने में यह भय समाया हुआ है कि कहीं धनाभाव में उसकी पुत्री की भी वैसी ही दुर्गति न हो जो उसे सहनी पड़ी है। तभी तो वह चिन्ताग्रस्त होकर कहती है: 'जवानों को जिन्दगी का तो भरोसा ही नहीं, बूढ़ों की जिन्दगी का क्या ठिकाना? वच्चो के विवाह के लिए वह किसके सामने हाथ फैलाती?'[2]

'निर्मला' में प्रेमचन्द ने दहेज को ही मुख्य समस्या मानकर उपन्यास की रचना की है। इस समस्या से ही नाना प्रकार की सामाजिक एवं मानसिक विषमताएं उत्पन्न होती हैं। निर्मला की छोटी वहिन कृष्णा के विवाह के अवसर पर डा० सिन्हा दहेज लिये विना ही अपने छोटे भाई से उसका विवाह करने को प्रस्तुत हो जाते हैं तो सारी समस्या वहीं हल हो जाती है। प्रेमचन्द ने इस समस्या के समाधान के रूप में सुधा के मुख से कहलवाया भी है कि 'यह वर का धर्म है कि यदि वह स्वार्थों के हाथों बिल्कुल विक नहीं गया है, तो अपने आत्मबल का परिचय दे।'[3] किन्तु इस स्थान पर डा० सिन्हा की दयालुता का कारण

---

१. प्रेमचन्द : 'निर्मला' (पृष्ठ ३१)
२. वही (पृष्ठ १६३)
३. वही (पृष्ठ १२१)

व्यक्तिगत है। डा० सिन्हा में यह परिवर्तन आत्मग्लानि के कारण हुआ है। एक व्यक्ति के सुधार से समस्या का वास्तविक हल नहीं होता। किसी भी कुप्रथा से मुक्ति पाने के लिए समस्त समाज की मनोवृत्ति को बदलना आवश्यक है।

भगवतीप्रसाद वाजपेयी ने 'प्रेम निर्वाह' (१९३४) में दहेज-प्रथा को ही जाति के सर्वनाश का कारण बताया है। उस समय अनेक सभा-सोसाइटी दहेज के विरोध में प्रस्ताव तो पास करती थीं किन्तु सक्रिय रूप में एक भी ऐसा कार्य नहीं करती थी जिससे एक भी बालिका का उद्धार हो सके, अथवा बिना दहेज दिये उसे उपयुक्त घर और वर मिल सके। यहाँ तक स्वयं समाज-सुधारक भी दहेज लेने से न चूकते थे। मल्लिका जैसी सुन्दर और निपुण लड़की के विवाह के अवसर पर जब कोई भी व्यक्ति दहेज में तीन हजार से कम रुपये लेने को तैयार नहीं होता तो सरोजिनी अपनी मनोव्यथा व्यक्त करती है: 'इस जाति का सर्वनाश होने को और कितने दिन बाकी हैं, यह भी तो ठीक तरह से मालूम नहीं होता। जिसका नाश होने को ही है, उसे बचा कौन सकता है। सो, जब उसे नष्ट होना ही है, तो जितनी जल्दी वह नष्ट हो जाये, अच्छा। आज मैं उनसे कहूँगी। कहूँगी नहीं, झगड़ा करूँगी। क्या उनके दोस्तों में कोई भी ऐसा नहीं जो इस फूलों के गुलदस्ते को प्रेम के साथ अपनाने को तैयार हो सके? क्या भारत में कोई भी ऐसा सहृदय ब्राह्मण-कुमार रह ही नहीं गया, जो निस्वार्थ भाव से एक बालिका को ग्रहण करने के लिए तत्पर हो सके? दहेज की कुप्रथा पर आँसू बहाने वाले वे पग्गड़धारी महज्जन क्या मर गये, जो महासभा की वार्षिक बैठकों में प्रति वर्ष अपनी प्रतिज्ञाओं को प्रस्तावों द्वारा दोहराया करते है?[1]

यदि वर-कन्या में प्रेम का सम्बन्ध स्थापित हो जाये तो दहेज की समस्या का समाधान हो सकता है; क्योंकि ये विवाह-सम्बन्ध प्रेम पर आधारित होंगे, धन के लालच पर नहीं। वृन्दावनलाल वर्मा ने 'लगन' (१९२८) नामक उपन्यास में दहेज की समस्या को उठाकर इस समाधान की ओर संकेत किया है। इस उपन्यास में दहेज-प्रथा के प्रति विद्रोह का संदेश है। प्रारम्भ में रामा के पिता बादल चौधरी ने अपनी पुत्री रामा के दहेज में सौ भैंसें देने का वचन देवसिंह के पिता शिवू माते को दिया था, किन्तु विवाह के अवसर पर वह अपने वचन का पालन नहीं करता। यह देखकर शिवू अत्यन्त क्रोधित होकर बारात लौटा ले जाता है और देवसिंह का विवाह दूसरी जगह कर देने को सोचता है। किन्तु रामा और देवसिंह के प्रेम के सम्मुख सबको झुक जाना पड़ता है। दहेज की समस्या का यह समाधान सामाजिक सम्बन्धों को नये स्तर पर लाने की चेष्टा करना है, और इसीलिए अपने युग के लिए क्रान्तिकारी संदेश बन जाता है।

---

१. भगवतीप्रसाद वाजपेयी : 'प्रेम निर्वाह' (पृष्ठ ७८)

अनमेल विवाह

बाल-विवाह और दहेज-प्रथा का ही प्रतिफल है अनमेल विवाह। हिन्दू समाज में कन्या का विवाह धार्मिक दृष्टि से अनिवार्य माना गया है। इसीलिए माँ-बाप किसी-न-किसी प्रकार अपनी लड़की को विवाहित देखना चाहते हैं। 'हिन्दू समाज में जन्म होने के अभिशाप की मुक्ति है विवाह।'[१] यही भावना उस समय के समाज में काम कर रही थी और आज भी यह भावना थोड़ी बहुत मात्रा में वर्तमान है। इसीलिए समाज में अनमेल विवाह की घटना साधारण बात है। हिन्दी उपन्यासों में अनमोल विवाह के कई रूपों का चित्रण मिलता है: (१) कहीं सात से दस वर्ष की बालिका का विवाह किसी बूढ़े से होता है तो (२) कहीं वयस्क कन्या का विवाह निरे बालक से हो जाता है; (३) कहीं-कहीं दाम्पत्य जीवन में स्वभावगत विभिन्नता को भी अनमेल विवाह की कोटि में माना गया है। सभी प्रकार के अनमेल विवाहों का परिणाम दुखद होता है। किन्तु इस युग के उपन्यासकारों की दृष्टि मूलतः अनमेल-विवाह के प्रथम रूप पर ही केन्द्रित है। उसी के उदाहरण प्रेमचन्द-युगीन उपन्यासों में प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। किन्तु चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' ने 'मंगल प्रभात' (१९२६) में अनमेल विवाह का दूसरा रूप भी लिया है जब सोलह वर्ष की राधा का विवाह बारह वर्षीय रोगी क्षीणकाय बालक के साथ होता है। पति की उम्र इतनी कम है कि उसका व्यक्तित्व अविकसित है। वह पति के कर्तव्य से एकदम अनभिज्ञ है, इसलिए वह माँ-बाप का कहना मानकर अपनी पत्नी की ओर तनिक भी ध्यान नहीं देता। पति की उपेक्षा और सास-ससुर के अत्याचार राधा को कुमार्ग पर चलने के लिए बाध्य कर देते हैं और वह प्रेमतीर्थ के साथ चली जाती है। अन्त में उसे वेश्यावृत्ति में शरण मिलती है। वेश्यावृत्ति स्वीकार करने में राधा का इतना दोष नहीं जितना समाज की दुर्व्यवस्था एवं अनमेल विवाह का है।

इस उपन्यास में राधा की सास का भी चित्रण है। वह नवयौवना है तथा उसका विवाह राधा के बूढ़े श्वसुर से हुआ है। सास-बहू दोनों समवयस्क हैं। दोनों अपने अनमेल विवाह से दुखी हैं, अपनी स्थिति से असंतुष्ट हैं। परिवार के जीवन को दुःख और यातनाओं का बवण्डर बना देने में दोनों के अनमेल विवाह उत्तरदायी हैं।

चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' ने अपने दूसरे उपन्यास 'मनोरमा' (१९२४) में भी अनमेल विवाह की समस्या को लिया है। अठारह वर्ष की मनोरमा का विवाह चौंसठ वर्ष के निर्बल वृद्ध से कर दिया जाता है। वह बूढ़ा और जर्जर है, फिर भी अपने-आपको पत्नी का परमेश्वर मानने के अधिकार से वंचित नहीं रहना चाहता। वह मनोरमा पर अत्याचार करने में तनिक भी नहीं हिचकिचाता, यहाँ तक कि उसे पीट भी देता है। ऐसी स्थिति में नारी विधवा न होकर भी विधवा से अधिक दुखी हो जाती है। लेखक ने मनोरमा की तुलना उस बाल-विधवा शान्ता से की है जो सात वर्ष की उम्र में ही विधवा बन चुकी थी। दोनों

---

१. प्रतापनारायण श्रीवास्तव : 'विदा' (पृष्ठ २२०)

दुखिया थीं; 'एक के सिन्दूर की शोभा वैधव्य के अंधकार में विलीन हो गई थी, दूसरी का सिन्दूर अग्नि की ज्वाला बनकर उसे तिल-तिल करके जला रहा था।'[१]

भगवतीप्रसाद वाजपेयी के उपन्यास 'अनाथ पत्नी' (१९२८), प्रफुल्लचन्द्र ओझा 'मुक्त' के 'तलाक़' (१९३२) और श्रीनाथसिंह के 'उलझन' (१९३४) में भी अनमेल विवाह की समस्या को उठाकर उससे होने वाले दुष्परिणामों का विशद चित्रण किया गया है।

'निर्मला' (१९२८) में अनमेल विवाह के दुष्परिणामों को प्रेमचन्द ने अन्य उपन्यासकारों से अधिक यथार्थ, मार्मिक और मनोवैज्ञानिक ढंग से चित्रित किया है। प्रेमचन्द ने यह नहीं किया है कि विवाह के छः महीने बाद ही निर्मला को विधवा बना दिया हो जैसा कि उस समय के अन्य उपन्यासकारों ने किया है। इसके विपरीत प्रेमचन्द ने उस मुख्य यथार्थ समस्या को उठाया है जिसका सामना नारी को सधवा रहते हुए करना पड़ता है। चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' ने 'मनोरमा' में भी इस प्रकार का चित्रण किया है किन्तु मनोरमा के पति को अधिक अत्याचारी के रूप में चित्रित करके वे यथार्थ से अयथार्थ की ओर चले गये हैं। हो सकता है इस प्रकार के भी दो-चार व्यक्ति समाज में मिल जायें किन्तु यह सामाजिक सत्य बनकर सामने नहीं आ सका है। इसके विपरीत समाज में देखा तो यह जाता है कि दूसरी शादी करने के बाद पति अपनी दूसरी पत्नी का पहली पत्नी से भी अधिक ध्यान रखता है। प्रेमचन्द का ध्यान इसी ओर है। उन्हीं ने सब से पहले अनमेल-विवाह से उत्पन्न होने वाली पति-पत्नी की मानसिक विकृतियों का सच्चा चित्रण 'निर्मला' में किया है। इसका मुख्य कारण यही है कि उनकी दृष्टि स्वप्नशील या अति यथार्थवादी न होकर वस्तुनिष्ठ और व्यापक थी।

सामाजिक दायित्व के अनुसार पत्नी-रूप में निर्मला का कर्तव्य था कि वह पति को हर प्रकार प्रसन्न रखे। इस कर्तव्य का उसे स्वयं ज्ञान है और तदनुसार ऐसा करने का वह भरसक प्रयत्न भी करती है, किन्तु उम्र की असमानता के कारण जीवन में दाम्पत्य-प्रेम का अभाव रहता है। कम उम्र वाला व्यक्ति अधिक उम्र वाले व्यक्ति का सम्मान कर सकता है, प्रेम नहीं। यही बात निर्मला के जीवन में भी घटित होती है। लेखक स्वयं ही निर्मला के मनोभावों का चित्रण करता है: 'लेकिन निर्मला को न जाने क्यों तोताराम के पास बैठने और हँसने-बोलने में संकोच होता था। इसका कदाचित् यह कारण था कि अब तक ऐसा ही एक आदमी उसका पिता था, जिसके सामने वह सिर झुकाकर, देह चुराकर निकलती थी; अब उसकी अवस्था का एक आदमी उसका पति था। वह उसे प्रेम की वस्तु नहीं, सम्मान की वस्तु समझती थी। उनसे भागती फिरती, उनको देखते ही उसकी प्रफुल्लता पलायन कर जाती थी।'[२]

---

१. चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' : 'मनोरमा' (पृष्ठ ११)
२. प्रेमचन्द : 'निर्मला' (पृष्ठ ३५)

'निर्मला' की सुमन और निर्मला एक ही मध्यवर्गीय समाज से आती हैं। दोनों ही अपने वैवाहिक जीवन से दुखी हैं किन्तु उनकी व्यक्तिगत चारित्रिक विशेपताएं भिन्न हैं, इसीलिए दोनों के परिणाम दो दिशाओं में दृष्टिगोचर होते हैं। बचपन से ही निर्मला का चरित्र गाम्भीर्य लिये हुए है। उसमें धैर्य है और है कठिनाइयों को सहन करने की असीम शक्ति। निर्मला समाज द्वारा शासित वह दुर्वल नारी है जो अपनी इच्छाओं को समाज की प्रचलित रूढ़िवादिता में ढालने की भरसक चेष्टा करती है किन्तु परिस्थितियों के वैषम्य के कारण ऐसा नहीं कर पाती। उसमें साहस का अभाव है इसलिए वह किसी भी परिस्थिति से विद्रोह नहीं करती। ऐसी परिस्थिति में विकसित होने वाले मध्यवर्गीय नारी के मानसिक वैषम्य और उसकी दुर्वलता का बड़ा सशक्त चित्रण प्रेमचन्द ने किया है।

निर्मला के तन में यौवन था। यौवनोचित सभी उपकरणों को वह ग्रहण कर सकती थी। उसे बनाव-शृंगार भी बुरा नहीं लगता था। किन्तु उसका मन तोताराम जैसे पति को उसका भोक्ता नहीं मानता था। यद्यपि वकील साहव दम्पति-विज्ञान में कुशल थे। उम्र की असमानता के कारण उन्हें इस बात का भय भी सदैव सताया करता था कि निर्मला जैसी सुन्दर युवती मुंह पर झुर्रियाँ पड़े बुड्ढे को प्रेम नहीं कर सकती। इसलिए वे अपने प्रेम-प्रदर्शन में थोड़े अतिवाद से काम लेते थे : 'लेकिन निर्मला को इन बातों से घृणा होती थी। वही बातें जिन्हें किसी युवक के मुँह से सुनकर उसका हृदय प्रेम से उन्मत्त हो जाता, वकील साहव के मुंह से निकलकर उसके हृदय पर शर के समान आघात करती थी। उनमें रस न था, हृदय न था; केवल बनावट थी, धोखा था और था शुष्क नीरस शब्दाडम्बर।'[१]

उम्र की असमानता पति-पत्नी के सम्बन्धों में कितना मानसिक-वैपम्य स्थापित कर देती है यह उपर्युक्त उद्धरण से जाना जा सकता है। अवस्था का भेद मिटाना उसके वश की बात न थी। खूसट पति निर्मला को रिझाने के लिए शृंगार की सामग्रियों का सहारा लेते थे, काम-विज्ञान की पुस्तकें पढ़ते, इत्र-फुलेल लगाते थे एवं अपने बालों को खिजाब से रँगते थे। निर्मला भी पति को प्रसन्न करने के लिए शृंगार करती थी तो खण्डर रूपी पति के सामने रत्न-जटित चित्रशाला जैसी लगती थी। और यदि वह शृगार न करती तो पति यह समझते थे कि उनके बुढ़ापे से दुखी होकर उसने वैराग्य ले लिया है। दोनों ही परिस्थितियों में अपने-आपको बेमेल पाकर निर्मला असहनीय मानसिक यातनाएं सहती है। जीवन के इस कठोर सत्य को वह इन शब्दों में व्यक्त करती है: 'न वह जवान हो सकते हैं, न मैं बुढ़िया हो सकती हूँ। जवान बनने के लिए वह न जाने कितने भस्म और रस खाते रहते हैं, मैं बुढ़िया बनने के लिए घी, दूध सभी छोड़ बैठी हूँ। लेकिन न उन्हें पौष्टिक पदार्थों से कुछ लाभ होता है, न मुझे उपवासों से।'[१]

निर्मला अपना बनाव-शृंगार पति के प्रेमाविक्य के वशीभूत होकर नहीं करती थी, उसके मूल में दया-भाव ही था। यह अनचाहा शृंगार उसकी अतृप्त कामनाओं को और

---

१. प्रेमचन्द : 'निर्मला' (पृष्ठ ३५)

भी तीव्र कर देता था। 'बाँका सवार बूढ़े लद्दू टट्टू पर सवार होना कब पसन्द करेगा चाहे उसे पैदल ही क्यों न चलना पड़े। निर्मला की दशा उसी बाँके सवार की-सी थी। वह सवार होकर उड़ना चाहती थी, उस उल्लासमयी विद्युत् गति का आनन्द उठाना चाहती थी, टट्टू के हिनहिनाने और कनौतिया खड़ी करने से क्या आशा होती?[१]

निर्मला का पति यदि समवयस्क होता तो दोनों का मानसिक स्तर, दोनों की भावनाएं, उनका उल्लास समान रूप से होता। किन्तु यहाँ पति-पत्नी के मानसिक और शारीरिक विकास में बहुत अन्तर है, प्रेम के दान-प्रतिदान के लिए यहाँ स्थान नहीं है। वह प्रेम से शून्य, कर्तव्य-भावना से प्रेरित होकर सुगृहिणी बन सकती थी। उसमें उसको संतोष भी होता था। वह अपने पति को घर के मालिक के रूप में देखती थी। 'गृहस्थी के सम्बन्ध में उनसे खूब बातें करती। इन्हीं बातों के लायक वह उनको समझती थी। ज्यों ही विनोद की बात उनके मुँह से निकल जाती उसका मुख मलीन हो जाता था।'[२]

नारी को यदि पति का प्रेम न मिले तो प्रणय की ओर से निराश तृषित जीवन घर की व्यवस्था और बच्चों के लालन-पालन में लग जाता है। बच्चों के साथ हँसने-बोलने में उसकी मातृत्व भावना तृप्त होती थी। किन्तु सौतेली माँ होने के कारण उसे बच्चों से भी सीधा सरल स्वाभाविक स्नेह प्राप्त नहीं होता।

सब तरफ से निराश होकर उसका झुकाव स्वाभाविक रूप में अपने हमसिन मंशाराम की ओर होता है। मंशाराम उसका सौतेला पुत्र है किन्तु उम्र की समानता निर्मला के असंतोषी जीवन को बरबस खींचती है। 'मंशाराम से हँसने-बोलने में उसकी विलासिनी कल्पना उत्तेजित होती थी और तृप्त भी। उससे बातें करते उसे एक अपार सुख का अनुभव होता था जिसे वह शब्दों में प्रकट नहीं कर सकती थी। वासना की उसके मन में छाया भी न थी। वह स्वप्न में भी मंशाराम से कलुषित प्रेम करने की बात न सोच सकती थी। प्रत्येक प्राणी को अपने हमजोलियों के साथ हँसने-बोलने की जो एक नैसर्गिक तृष्णा होती है, उसी की तृप्ति का वह अज्ञात साधन था। अब वह अतृप्त तृष्णा निर्मला के हृदय में दीपक की भाँति जलने लगी, रह-रह कर उसका मन किसी अज्ञात वेदना से विकल हो जाता।[३]

यह सत्य है कि निर्मला के चेतन मन में मंशाराम के प्रति कुवासना की छाया भी न थी। निर्मला इतनी कर्तव्य-परायण नारी थी कि तृषित जीवन लेकर भी वह किसी अन्य पुरुष से, और विशेषकर मंशाराम से, जो कि उसका पुत्र लगता था, प्रेम करने की बात सोच भी न सकती थी। इसलिए चेतनावस्था में इस प्रकार के प्रेम को स्थान नहीं दिया जा सकता। किन्तु मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अनमेल-विवाह का सबसे बड़ा दुष्परिणाम

१. प्रेमचन्द : निर्मला' (पृष्ठ ३६)
२. वही : (पृष्ठ ३६)
३. वही : (पृष्ठ ६०)

यही होता है कि व्यक्ति की वासनाओं की तृप्ति स्वाभाविक रूप में न होने के कारण उसका मन चाहे जिस ओर झुक जाता है। कर्तव्य का ध्यान छूट जाने और संयम का बाँध टूट जाने पर कभी-कभी बड़ा अनर्थ भी होता है। प्रेमचन्द ने 'निर्मला' में अपनी कहानी 'नया विवाह' की भाँति किसी युवक को बीच में डालकर नारी के सौन्दर्य और यौवन को सार्थक करने की चेष्टा नहीं की है। केवल मंशाराम के माध्यम से इस ओर संकेत भर किया है। उन्होंने मंशाराम और निर्मला को लेकर जो चर्चा की है वह दूसरों के अभियोग के ही रूप में की है। स्वयं मंशाराम और निर्मला की ओर से ऐसी कोई चेष्टा नहीं है। प्रेमचन्द आदर्शवादी थे, इसलिए उन्होंने इन दोनों का चित्रण आदर्श के रूप में किया है। ऐसा करने में उनकी दृष्टि व्यापक थी और लक्ष्य गहरा था। वृद्ध तोताराम समाज में प्रचलित इस प्रकार के अनुचित सम्बन्धों से परिचित था। इसलिए निर्मला और मंशाराम को लेकर उसके मन में एक शंका घर कर लेती है। उन दोनों का साथ उठना-बैठना उसे अच्छा नहीं लगता। अन्त में वह मंशाराम के निवास का प्रबन्ध विद्यालय के छात्रावास में कर देता है।

जिस दिन निर्मला को तोताराम की इस शंकालु प्रवृत्ति का परिचय मिलता है, वह अपमान और ग्लानि से क्षुब्ध हो उठती है। घर के सब सदस्य यहाँ तक कि स्वयं मंशाराम भी यही सोचता है कि उसको छात्रावास में भेजने के पीछे निर्मला का ही हाथ है। बेचारी निर्मला ऐसे धर्म-संकट में है कि कुछ कह भी नहीं सकती, उसके कहने से परिस्थिति की गम्भीरता बढ़ने की ही अधिक संभावना है।

निर्मला जिस व्यक्ति को आराम पहुँचाना चाहती थी, जिससे मिलकर वह हृदय के दुःख को थोड़ी देर के लिए भूल सकती थी, समाज उसको उसी से दूर रहने के लिए बाध्य करता है। और जिस शंकाशील वृद्ध पति को वह घृणा करती थी उसे प्रेम करने का आदेश देता है। पहले निर्मला को तोताराम पर दया आती थी किन्तु तोताराम की शंकालु प्रवृत्ति उसको घृणा का पात्र बना देती है। निर्मला उन्हें मन ही मन घृणा करने लगती है फिर भी सतीत्व-रक्षा और कर्तव्य-भावना से प्रेरित होकर वह पति का संदेह दूर करने के लिए प्राणों की बाजी लगा देती है। किन्तु समाज उसको कोई मूल्य नहीं देता। ऐसी स्थिति में निर्मला के जीवन में जो वैषम्य आ जाता है उसको नारी-मन के पारखी प्रेमचन्द ने बड़े सशक्त रूप से व्यक्त किया है: 'कर्तव्य की वेदी पर उसने अपना जीवन और अपनी सारी कामनाएं होम कर दी थीं। हृदय रोता रहता था, पर मुख पर हँसी का रंग भरना पड़ता था, जिसका मुँह देखने को जी न चाहता था, उसके सामने हँस-हँस कर बातें करनी पड़ती थीं। जिस देह का स्पर्श उसे सर्प के शीतल स्पर्श के समान लगता था, उससे आलिंगित होकर उसे जितनी घृणा, जितनी मर्मवेदना होती थी, उसे कौन जान सकता है। उस समय उसकी यही इच्छा होती थी कि धरती फट जाये और मैं उसमें समा जाऊँ।'[1]

---

१. प्रेमचन्द : 'निर्मला' (पृष्ठ ७०)

मंशाराम का मानसिक कष्ट, पति का संदेह, ननद की उपेक्षा और अपने मौन रुदन के कारण निर्मला विक्षिप्त-सी हो जाती है। पुरुष की अर्धांगिनी और घर की लक्ष्मी समझने वाली सामाजिक व्यवस्था ने निर्मला को घर के अन्दर घोंटकर मार डाला और अन्त में वह सिसकती-सिसकती प्राण त्याग देती है। किन्तु मरने के पहले वह अपना सारा अनुभव बटोर कर अपनी ननद को सावधान कर जाती है: 'बच्ची को आपकी गोद में छोड़े जाती हूँ। अगर जीती-जागती बचे तो किसी अच्छे कुल में विवाह कर दीजियेगा। मैं तो इसके लिए जीवन में कुछ न कर सकी, केवल जन्म भर देने की अपराधिनी हूँ। चाहे क्वाँरी रखियेगा, चाहे विष देकर मार डालियेगा, पर कुपात्र के गले न मढ़ियेगा, इतनी ही आपसे मेरी विनय है।'[१]

इस प्रकार वृद्ध दोहाजू के साथ यौवना नारी का विवाह होने पर चारों ओर से उसके ऊपर अत्याचार होने लगते हैं। उसकी परिस्थितियाँ अत्यन्त विषम हो उठती हैं। एक तो वह उम्र की असमानता के कारण पति को प्रेम नहीं कर सकती, उसका जीवन असंतुष्ट रहता है, कामवासना अतृप्त रहती है। दूसरे, पति अपनी हीन भावना के कारण विभिन्न उपकरणों द्वारा पत्नी को प्रसन्न करना चाहता है जिसके कारण आसपास के लोग उसे पत्नी के हाथ का खिलौना समझकर और अधिक आलोचना करने लगते हैं। तीसरे, पहले विवाह की सन्तानों को समाज नयी सौतेली माँ के प्रति इस प्रकार की कुशिक्षा देता है कि वे उसे माँ नहीं, शत्रु मान बैठते हैं। नयी माँ का स्वाभाविक स्नेह भी शंका की दृष्टि से देखा जाता है। अतः समाज का पूर्वाग्रह सौतेली माँ और बच्चों के सम्बन्धों में अस्वाभाविकता का समावेश कर देता है। और चौथे, वृद्ध पति की शंकालु प्रवृत्ति के कारण पत्नी को अनेक प्रकार की मानसिक यातनाएं सहनी पड़ती हैं। पीड़ित निर्मला का चरित्र इन सभी सामाजिक विडम्बनाओं से निर्मित है। यह करुण कहानी निर्मला की ही नहीं, समूची मध्यवर्गीय नारी की रुदन भरी गाथा है।

जो व्यक्ति वृद्धावस्था में विवाह करते हैं उनके मन में दो में से कोई एक भावना होती है। कुछ लोग तो अपनी शारीरिक पिपासा शान्त करना चाहते हैं और कुछ लोग आत्मिक पिपासा। यदि 'निर्मला' में पहले प्रकार के व्यक्ति का चित्रण है, तो 'ग़बन' (१९३१) में रतन के पति वकील साहब का जो चित्रण हुआ है वह दूसरी श्रेणी में आता है। प्रथम प्रकार के पुरुष अपनी पत्नी पर विशेष निगरानी रखते हैं, जरा-ज़रा सी बात उनके संदेह का कारण बन जाती है। जैसे 'निर्मला' उपन्यास में तोताराम का चरित्र है। दूसरे प्रकार के पति अपनी पत्नी पर वैसी निगरानी नहीं रखते। वह क्या करती है, कहाँ जाती है, इससे उन्हें अधिक मतलब नहीं। वह तो हर प्रकार से उसे प्रसन्न रखना चाहते हैं। उसके साहचर्य की कामना करते हैं किन्तु साहचर्य के लिए बाध्य नहीं करते। वकील साहब

---

१. प्रेमचन्द : 'निर्मला' (पृष्ठ १७४)

ऐसे ही थे। उम्र की असमानता के कारण रतन भी वकील साहब को प्रेम नहीं कर सकी। उनका स्नेह पिता-पुत्री का-सा था।[1] एक साथ रहकर भी उन दोनों की दुनिया अलग थी।

इन सब कारणों के अतिरिक्त कभी-कभी व्यक्तिगत कारण भी ऐसे होते हैं जहाँ वैवाहिक जीवन में विपन्नता आ घेरती है। प्रतापनारायण श्रीवास्तव ने अभिजात-वर्गीय नारी का चित्रण किया है। 'विकास' (१९३९) में उन्होंने अनमेल विवाह के दूसरे रूप को लिया है। मालती का विवाह राजकुमार कामेश्वर से होता है, जो नपुंसक है। अपनी अयोग्यता जानकर भी वह विवाह करता है। यह पुरुष की अहम्मन्यता ही है जिसको मालती कभी भी क्षमा नहीं कर पाती।

इस युग के उपन्यासों में अनमेल विवाह के और भी कई रूप मिलते हैं। पं० रामकिशोर मालवीय ने 'शैलकुमारी' में एक प्रसिद्ध विद्वान नारायण का विवाह रमदेई जैसी मूर्खा स्त्री से कराया है जिसके कारण दोनों का जीवन बर्वाद होता है। यहाँ लेखक का मन्तव्य यही है कि विवाह का निश्चय करने के पूर्व कन्या और वर दोनों के स्वभाव और रुचि में मेल के तत्व होना आवश्यक हैं। और इसके लिए यह उचित है कि विवाह के पूर्व परिचय की छूट दी जाय। प्रतापनारायण श्रीवास्तव लिखित 'विदा' में भी लेखक ने विवाह के पूर्व परिचय को महत्व दिया है। स्वभाव न मिलने के ही कारण इस उपन्यास में निर्मला और कुमुदिनी का दाम्पत्य जीवन कटु बन जाता है। लेखक ने चपला द्वारा वैवाहिक जीवन में अशान्ति के कारण बताकर सुखमय दाम्पत्य जीवन के लिए एक समाधान भी प्रस्तुत किया है। समाज-सेविका के रूप में चपला कहती है: 'यह जरूरी है कि हम उसकी जड़ नाश करें। यह नहीं कि बीच में दवा देकर उस रोग को शान्त करने का उपाय करें। इस अशान्ति की जड़ है अनमेल विवाह। इसको रोकना चाहिये। स्त्रियों को शिक्षा दी जाय और उनको भी यह अधिकार हो कि वे अपनी सम्मति या असम्मति निस्संकोच प्रकट कर सकें। हर एक लड़के-लड़की का जैसा भी चरित्र हो वहाँ लिखा रहना चाहिये, जहाँ उसने शिक्षा पाई है। लड़का और लड़की दोनों एक दूसरे का चरित्र-इतिहास देख जायें। अगर दोनों की सम्मति हो, तो विवाह किया जाय, नहीं तो नहीं।'[2]

इस प्रकार प्रेमचन्द-युग के उपन्यास हमारी सामाजिक समस्याओं को ही हमारे सामने उपस्थित नहीं करते बल्कि उनके बदलते हुए स्वरूप को और प्रगति के लिए व्यक्ति की अकुलाहट को भी व्यक्त करते हैं। साथ ही समस्या के समाधान की ओर भी संकेत करने का प्रयास करते हैं।

विधवा-जीवन की समस्या

प्रेमचन्द-युग में सबसे अधिक महत्वपूर्ण समस्या थी विधवा-जीवन की समस्या, जो

---

१. प्रेमचन्द : 'गबन' (पृष्ठ १२३)

२. प्रतापनारायण श्रीवास्तव 'विदा' (पृष्ठ १९४)

मध्यवर्गीय समाज में आज भी कुछ अंशों में वैसी ही बनी हुई है। बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध की पत्र-पत्रिकाओं को देखने से ज्ञात होता है कि इन दिनों की रचनाओं में विधवा-जीवन के अभाव और अत्याचारों को प्रमुख स्थान मिलता था। विधवा-जीवन के प्रश्न को लेकर उस समय अनेक सुधार-संस्थाओं का भी जन्म हुआ था। एक ओर आर्यसमाज विधवा-विवाह की स्वीकृति के लिए जबर्दस्त आन्दोलन कर रहा था, दूसरी ओर सनातन-धर्म की दुहाई देकर पुराण-पंथी-समुदाय उसके विरोध में अपनी सारी शक्ति खर्च कर रहे थे। इन दो मतों के खण्डन-मण्डन ने, इन दो विरोधी विचार-धाराओं की टकराहट ने इतना उग्र रूप धारण कर लिया था कि उस समय के लगभग सभी प्रबुद्ध उपन्यासकारों ने विधवा-जीवन की समस्या को अपने उपन्यासों में चित्रित किया है। प्रेमचन्द के प्रारम्भिक उपन्यास 'प्रतिज्ञा' (१९०६) में ही अमृतराय विधवा-विवाह के समर्थक के रूप में चित्रित हुआ है। इसमें कहा गया कि जो लोग विधुर हैं, कम-से-कम उनका तो यह निश्चित कर्तव्य है कि यदि वे पुनर्विवाह के इच्छुक हों तो विधवा से ही विवाह करें। दूसरी ओर प्रेमचन्द ने बद्रीप्रसाद जैसे पुराण पंथी व्यक्ति का भी चित्रण किया है जो विधवा-विवाह को घृणित और हिन्दुत्व के विनाश का चिह्न समझता है तथा समाज-सुधारकों के पथ का रोड़ा बन कर सामने आता है।

इस युग के उपन्यासकारों में विधवा की समस्या के प्रति तीन मुख्य दृष्टिकोण मिलते हैं:

(१) यदि वह अपने जीवन को सेवा-भाव और सात्विक वृत्ति से निभा सके तो हिन्दू विधवा का जीवन स्वयं एक बहुत बड़ी तपस्या है। उसका सात्विक जीवन स्वयं ही निर्गुण उपासना के समान फलदायक है।

(२) यदि विधवा संयमित जीवन नहीं बिता सकती तो समाज से उसे पुनर्विवाह करने की अनुमति मिलनी चाहिये।

(३) यदि इन दोनों में से एक भी विकल्प उसे न मिलेगा तो विधवा का जीवन पतन की ओर जाने को बाध्य होगा।

इनमें से पहले दो दृष्टिकोणों का प्रतिपादन समस्या के समाधान एवं समाज-सुधार की दृष्टि से किया गया है। और तीसरे दृष्टिकोण का विस्तृत विवेचन इस युग के उपन्यासों में यथार्थ की भूमि पर हुआ है। इन उपन्यासों में चित्रित विधवा-जीवन के आधार पर विधवा नारी के नारकीय जीवन और अंत में उसके पतन के मुख्यतः चार कारण दिखाई देते हैं:

(१) विधवा-जीवन का आर्थिक अभाव।

(२) प्रचलित सामाजिक परिपाटी द्वारा विधवा-जीवन पर आरोपित नाना प्रकार के निषेध, विधि-विधान, प्रतिबंध और उनसे उत्पन्न अत्याचार। ये बातें विधवा नारी को मानसिक विकृति का शिकार बना देती है।

(३) पुरुष समाज की काम-लोलुपता।

(४) नारी-मन की दुर्बलता।

पति की मृत्यु होते ही नारी को आर्थिक संकट का सामना करना पड़ता है। यह आर्थिक संकट मध्यवर्गीय विधवा नारी के सम्मुख और भी विकट रूप में आता है। उच्च वर्ग के पास तो धन का सहारा होता है और निम्नवर्गीय नारी मेहनत-मजदूरी करके अपना काम चला लेती है। पर मध्यवर्गीय विधवा के पास न तो धन होता है, और न घर के बाहर उसका काम करना उचित माना जाता है जिससे उसका जीवन दुःख और अभाव की कहानी बन जाता है।

(१) अर्थाभाव

मध्यवर्गीय नारी के आर्थिक संकट को उषादेवी मित्रा ने 'पिया' (१९३७) नामक उपन्यास की नीलिमा के चरित्र में भली प्रकार चित्रित किया है। बाल-विधवा नीलिमा का मन अपनी परिस्थितियों से बराबर विद्रोह करता है। वह भद्र ब्राह्मण-परिवार में पैदा हुई है, इसलिए ग़रीबी की दशा में भी उसे न तो कहीं काम करने दिया जाता है और न उसके पहनने-ओढ़ने का कोई प्रबन्ध होता है। मध्यवर्गीय समाज अन्दर से खोखला होने पर भी ऊपरी टीमटाम बनाये रखना चाहता है। नीलिमा अपनी माँ के सम्मुख इन थोथी मान्यताओं का भण्डाफोड़ करती हुई कहती है : 'भद्र घर के सम्मान ने ही तो हमें बेकाम बना दिया है। यदि मैं नाई, धींवर, चमार, मेहतर के घर पैदा हुई होती तो कहीं मजूरी कर पेट भर भोजन तो कर लेती। कोई बुरा कहने को नहीं होता। मजूरी करने में उन्हें लज्जा-शर्म नहीं है और न वंश-मर्यादा के लिए अनाहार रहना पड़ता है। यहाँ तो हाथ पैर रहते हुए भी उसे काट कर बैठो।''[1]

विधवा नारी का यह अर्थाभाव उसे पतन की ओर ले जाने का प्रमुख कारण होता है। प्रेमचन्द ने 'प्रतिज्ञा' में और राधिकारमणसिंह ने 'राम रहीम' (१९३६) में विधवा के पतन का मूल कारण आर्थिक संकट ही माना है। अर्थाभाव के कारण ही विधवा अन्य जनों का आश्रय लेने के लिए बाध्य होती है, और वहाँ उसे पुरुष की काम-लोलुपता का शिकार बनना पड़ता है।[2] 'प्रतिज्ञा' की प्रेमा विधवाओं की यह विवशता व्यक्त करते हुए कहती है : 'वे जिधर आँख उठाती हैं, उधर ही उन्हें पिशाच खड़े दिखाई देते हैं जो उनकी दीनावस्था को अपनी कुवासनाओं के पूरा करने का साधन बना लेते हैं। हमारी लाखों बहिनें इस भाँति केवल जीवन-निर्वाह के लिए पतित हो जाती हैं। क्या आपको उन पर दया नहीं आती ? मैं विश्वास से कह सकती हूँ कि अगर उन बहिनों को रूखी रोटियों और मोटे कपड़ों का भी सहारा हो तो वे अन्त समय तक सतीत्व की रक्षा करती रहें। स्त्री हारे दर्जे ही दुराचारिणी होती है।'[3]

इस उपन्यास में आर्थिक संकट से मुक्ति पाने के लिए एक 'वनिता आश्रम' की स्थापना

---

१. उषादेवी मित्रा : 'पिया' (पृष्ठ २०)

२. राधिकारमणसिंह : 'राम रहीम' (पृष्ठ ८४१)

३. प्रेमचन्द : 'प्रतिज्ञा' (पृष्ठ ८७)

होती है। इस प्रकार के आश्रम स्थापित कर समाज की कर्तव्य-भावना के सहारे समस्या का समाधान करना प्रेमचन्द-युग की विशेपता है।

(२) सामाजिक निषेध और प्रतिबंध

प्रेमचन्द लिखित 'प्रेमाश्रम' (१९२२) उपादेवी मित्रा लिखित 'पिया' (१९३७), कुमारी तेजरानी दीक्षित के 'हृदय का कॉटा' (१९२८) रामकिशोर मालवीय के 'शैल कुमारी' (१९२४), 'हृदयेश' लिखित 'मनोरमा' (१९२४), ऋषभचरण जैन के 'मास्टर साहब' (१९२७), त्रिमूर्ति लिखित 'मीठी चुटकी' (१९२७), चतुरसेन शास्त्री लिखित 'अमर अभिलाषा' (१९३३), भगवतीप्रसाद वाजपेयी के 'पतिता की साधना' (१९३६), प्रतापनारायण श्रीवास्तव लिखित 'विजय' (१९३७), राधिकारमण सिह के 'राम रहीम' (१९३६), ईश्वरीप्रसाद गुप्त और मदनविहारी वर्मा लिखित 'कमला' (१९४०) तथा चंद्रशेखर पाठक लिखित 'विधवा की आत्मकथा' आदि अनेक उपन्यासों में विधवाओं पर लगाये गए पारिवारिक और सामाजिक प्रतिबन्धों का और तज्जनित अत्याचारों का अच्छा चित्रण मिलता है। समाज के नाना प्रकार के प्रतिबंधों और अत्याचारों के कारण वह मानसिक विकृति की शिकार हो जाती है। उपर्युक्त उपन्यासों में ऐसी विधवा नारी के करुण जीवन का चित्रण बड़ी मर्मस्पर्शी सहानुभूति के साथ किया गया है।

विधवा एक तो स्वयं ही त्रस्त और उपेक्षित होती है, फिर समाज के लोग उसके दुःख में सहानुभूति प्रकट करने के स्थान पर उल्टे उसके साथ अमानुषिक व्यवहार करते हैं। ऐसी स्थिति मे विधवा की मानसिक अवस्था कैसी विपन्न हो जाती है, वह क्या सोचती है, इस पर लेखकों ने विशेष ध्यान दिया है।

शारीरिक और मानसिक दोनों दृष्टियों से समाज में विधवा की स्थिति एक दासी से भी हीन होती है। सब प्रकार की लांछना और यातना सहकर भी उसे जीवित रहना पड़ता है। दासी भी उसकी अपेक्षा अधिक स्वतन्त्र होती है। विधवा होते ही नारी को स्वयं उसके दुर्भाग्य का कारण मानकर कोसा जाता है। सास समझती है कि बहू के दुर्भाग्य के ही कारण उसके पुत्र की मृत्यु हुई है और वह कोसती हुई कहती है, 'राँड़ ने मेरे घर को उजाड़ डाला'[1]। अच्छी या बुरी किसी भी स्थिति में उसे चैन नहीं मिलता। 'राम रहीम' में बेला के चित्रण द्वारा लेखक ने विधवा नारी के दैनिक जीवन का बड़ा यथार्थ चित्रण किया है। 'मैली साड़ी रहती, तो गंदी रहने की लांछना; अगर धुली धोती होती, तो विधवा के फैशन की कुत्सा; मकान के पिछवारे की बावली से पानी लाने गई, तो यह ताना कि आँखें मिलाने जाती है; पानी न लाई, तो यह फबती कि रानी बनी बैठी है।'[2]

रूढ़िवादी समाज बाल-विधवा से भी यह आशा करता है कि वह अपनी सारी कोमल

---

१. राधिकारमण सिंह : 'राम रहीम' (पृष्ठ ६)

२. वही : (पृष्ठ ८)

भावनाओं और सुख-स्वप्नों को तिलांजलि देकर दासी की भाँति सारे काम-काज में संलग्न रहे। जैसे पति के चले जाने से उसका अपना अस्तित्व भी मिट गया हो। 'पिया' में नीलिमा अपढ़ बाल-विधवा है। समय के प्रभाव के फलस्वरूप उसकी छोटी बहिन कविता शिक्षा पाने लगती है। पढ़ने के उपरान्त उसका विवाह होगा और वह सुख से रहेगी। अपनी बहिन और अपने जीवन की विपरीत गतियों को देखकर वह अपनी सगी बहिन से ही स्पर्द्धा करने लगती है। वे दोनों एक ही माँ की बेटियाँ हैं। माँ स्नेहशीला, ममतामयी कही जाती है किन्तु नीलिमा का वैधव्य माँ के व्यवहार में भी भिन्नता ला देता है। अपनी इस असह्य परिस्थिति से नीलिमा का मन विद्रोह करता है[1] किन्तु उसकी स्थिति में कोई अन्तर नहीं आता।

'विजय' में भी कुसुमलता अपनी सखी मनोरमा की मानसिक प्रसन्नता देखकर स्पर्द्धा करने लगती है। दोनों समवयस्क हैं, फिर भी कुसुम मनोरमा से कुछ अधिक सुन्दर है। किन्तु बाल-विधवा होने के कारण वह उस सुख से वंचित है जो मनोरमा को प्राप्य है। उसका मन ऐसी विसंगति में विद्रोह करता है। 'मेरे भाग्य में पति-सहवास का सुख नहीं है, यह निश्चेष्ट कार्य है, इसीलिए भाग्य है, किन्तु अगर मैं अपना दूसरा विवाह कर लूँ तो वही सुख मेरे भाग्य में हो जायेगा।'[2]

विधवा के अन्तर्मन की यह पीड़ा स्वाभाविक है। किन्तु समाज के कठोर बंधनों के सामने यह सम्भव नहीं होता कि वह इसे व्यक्त कर सके, विद्रोह करना तो दूर की बात है। जिस नारी ने सुख का एक क्षण भी नहीं जाना उसे अपनी भावनाओं को दबाकर रखना पड़ता है। प्यार से वंचित रहने के कारण साधारण-सी बात भी उसे असाधारण लगती है। 'पिया' में नीलिमा का बड़ा मनोवैज्ञानिक चित्रण किया गया है। नीलिमा की बहिन कविता दूर खड़ी हुई अपने प्रेमी विभाष से बातें कर रही थी। 'नीलिमा आँखें फाड़-फाड़ कर देखने लगी, कैसा वह आनन्द, आशापूर्ण, उद्वेगहीन मुख है। दोनों के मुख आशा, आनन्द में चंद्रमा से मधुर हो रहे हैं और मैं? अपने अन्तर की ओर नीलिमा ने दृष्टि फेरी। वह स्तम्भित हो रही। सुख, आशा, आनन्द, उत्साह, अवलम्बन के लिए एक तिनका? नहीं, कुछ भी नहीं है। है मात्र विडम्बित जीवन की लाञ्छना भरी टोकरी और हाहाकार। नहीं, नहीं, खोई हुई अतीत की कोई ऐसी मनोरमा स्मृति भी तो नहीं है। अतीत, वर्तमान और भविष्य निष्पेक्षित हो रहा है। केवल रिक्तता के भीतर से, व्यर्थता से, मात्र अभाव से बहाने के लिए आँसू भी नहीं हैं, फिर वह करे क्या, जाये कहाँ? कहाँ, कहाँ?'[3]

बाल-विधवा के पास सुख-पूर्ण स्मृति की एक रेखा भी तो नहीं होती जिसके आधार पर

---

१. उषादेवी मित्रा 'पिया' (पृष्ठ १०)
२. प्रतापनारायण श्रीवास्तव : 'विजय' (पृष्ठ ५६)
३. उषादेवी मित्रा : 'पिया' (पृष्ठ २०)

वह अपनी जीवन नौका खे सके। 'पतिता की साधना' (१९३६) में भगवती प्रसाद वाजपेयी ने बाल-विधवा नंदा का चित्रण किया है। जिसने अपने पति की शक्ल तक नहीं देखी है, उसको भी समाज त्याग का जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य करता है। नंदा के मन में समाज द्वारा बनाये गए अन्यायपूर्ण नियमों के प्रति विद्रोह की भावना तीव्र रूप में निहित है। वह अपने मन से पूछती है। 'कौन कहता है तुम विधवा हो? कौन कहता है तुम्हारा विवाह हुआ था या तुमने पति नाम की किसी वस्तु को प्राप्य किया था? वह तो एक खेल था; पुरुषों का नहीं, बच्चों का भी नहीं, उस अंधे समाज का, हिन्दू जाति की अधोगति के कंकाल का, जिसे नष्ट ही होना है, जिसका नाश ही अभीप्ट है।'[1]

नारी-मन के इस दारुण हाहाकार का मुख्य कारण यह है कि जब वह किशोरावस्था में पैर रखती है, वह स्वभावतः अपने भावी जीवन के रंगीन स्वप्नों में रम जाती है, और उस दिन की उत्सुकता से बाट देखने लगती है, जब उसकी कामनाएँ साकार होंगी। तभी अदृश्य के कठोर आघात से उसका सिंदूर पुछ जाता है और उसके लिए अपनी आशाओं का गला घोंट कर शेप जीवन-भर कलपते रहने के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं बचता। असमय वैराग्य ग्रहण करने की यह विवशता अनेक उपन्यासों में वर्णित है।

प्रेमचन्द ने 'प्रेमाश्रम' (१९२२) में गायत्री के चरित्र में विधवा-नारी की मानसिक विकृतियों का बड़ा मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है। क्योंकि समाज विधवा को तपस्विनी और संन्यासिनी के रूप में देखना चहाता है इसलिए वह समाज की आलोचना से बचने के लिए क्या-क्या स्वाँग भरती है, स्वयं अपने मन को किस प्रकार समझाती है, उसके बाह्य आचरण से अवचेतन मन की प्रतिक्रिया कितनी भिन्न होती है, यह गायत्री के माध्यम से बड़े यथार्थ रूप में चित्रित हुआ है। संयम के आवरण में ढँकी उसकी अतृप्त वासनाएँ ज्ञानशंकर के थोड़े से प्रेम-प्रदर्शन से विचलित हो उठती हैं। उसकी विलासमयी प्रवृत्ति ज्ञानशंकर की ओर बार-बार झुकती है, किन्तु समाज के डर से वह बरबस अपने-आपको रोकती है। तो भी अवचेतन मन ज्ञानशंकर की ओर झुक ही जाता है और वह मानसिक विकृतियों की शिकार बन जाती है।

वह अपनी वासना की पूर्ति के लिए भगवद्भक्ति, कृष्णलीला और रासलीला का सहारा लेती है। ज्ञानशंकर के साथ कृष्ण-गोपी का अभिनय करने में उसकी वासना तृप्त होती है। इन क्षणों में उसके चेतन और अवचेतन मन का संघर्ष शान्त हो जाता है। इस प्रकार गायत्री में प्रेमचन्द ने विधवा-नारी की कामना और विवेक के संघर्ष का यथार्थ चित्रण किया है।

गायत्री का चित्रण नगर-जीवन की वास्तविक परिस्थितियों के अनुसार हुआ है। ग्रामों का चित्रण करते समय प्रेमचन्द ने विधवा-विवाह की समस्या पर विशेप बल नहीं दिया है, क्योंकि जिस वर्ग का उन्होंने वर्णन किया है उसमें साधारणतः विधवा-विवाह की

---

१. भगवतीप्रसाद वाजपेयी : 'पतिता की साधना' (पृष्ठ १९९)

समस्या है ही नहीं। फिर भी महाजन-जमींदारों के चित्रण में विधवा-जीवन की झलक भी मिलती है। 'गोदान' में दुलारी (सहुआइन) का विनोद वार्तालप यद्यपि निश्छल लगता है, पर उसमें विधवा के अभाव ग्रस्त मन की ललक भी छिपी हुई है। ग्रामीण विधवा की मानसिक विकृतियों का सुन्दर चित्रण हमें 'प्रसाद' के उपन्यास 'तितली' में मिलता है। राजकुमारी का चौबे के प्रति आकर्षण सहज है। पर विधवा होने के कारण वह अस्वाभाविक रूप ले उठता है। अन्त में राजकुमारी के इस सहज आकर्षण की परिणति आत्म-ग्लानि में होती है।

अपनी स्वाभाविक इच्छाओं की पूर्ति न होने के कारण एवं उसके वैराग्य-पूर्ण जीवन के प्रति समाज के अत्यधिक आग्रह के कारण विधवा का मन सहज रूप से संन्यास की ओर उन्मुख नहीं होता। अपढ़, अज्ञान बाल-विधवा को समाज की रूढ़िवादिता और कठिन नियमों के सामने सिर झुकाना पड़ता है। वह समाज की लांछना से बचने के लिए फूँक-फूँक कर पैर रखती है पर यहीं पर उसकी यंत्रणा का अन्त नहीं होता। उसे कभी-न-कभी पुरुषों की काम-लोलुपता का शिकार बनना ही पड़ता है। उनकी पाशविक वृत्ति असहाय, दीन, अनाश्रित नारी की खोज में रहती है और कभी लोभ से, कभी छल से और कभी बलपूर्वक वे उसे सन्मार्ग से डिगाना चाहते हैं। यहाँ तक कि विधवाश्रम में भी उसे चैन नहीं मिलता। वहाँ भी नारी के अज्ञान, अशिक्षा और अंध-विश्वास का लाभ उठाने लोलुप पुरुष पहुँच जाते हैं। पुरुष की पाशविक वृत्ति और नारी की धर्मान्धता की कटु आलोचना करते हुए 'मीठी चुटकी' उपन्यास में कहा है :

(३) पुरुष की काम-लोलुपता

'कुत्सित वासना की पूर्ति के लिए विधवाओं के हितैषी बन विधवा-आश्रम खोलना और इस तरह विधवाओं की मर्यादा के साथ खेलना, उनकी दलाली तक करना, उन्हें प्रलोभनों में फँसाकर व्यभिचार में रत करना या बेच देना, महन्तों को गुरु बनाने की आवश्यकता पर जोर देकर स्त्रियों का सर्वस्व लुटा देना भारत की अस्सी फ़ीसदी अशिक्षित जनता की अज्ञानता और धर्मान्धता के कारण ही सम्भव हो रहा है।'[1]

यदि विधवा नारी का मन तनिक भी दुर्बल हुआ तो इतने प्रलोभनों और हथकण्डों के सामने वह अडिग नहीं रह पाती और पथभ्रष्ट हो जाती है। तिस पर उसके पतन के लिए समाज पुरुष को नहीं, नारी को ही दोषी ठहराता है। उसी को जीवन भर त्रास और अपमान सहना पड़ता है। पुरुष अपने स्वार्थ में लिप्त होकर अबला नारी की परिस्थितियों का अनुचित लाभ उठाकर, उसे बलपूर्वक भ्रष्ट करके भी समाज की आँखों में भला बना रहना चाहता है और बना भी रहता है, जैसे 'रामरहीम' में दिनेश। पुरुष में इतना नैतिक साहस नहीं कि वह अपनी इच्छाओं को खुले रूप में समाज के सामने रखे, विधवा से लुके-छिपे सम्पर्क रखने की अपेक्षा उससे नियमानुसार विवाह करके उसको सामाजिक रूप

१. त्रिमूर्ति : 'मीठी चुटकी' (पृष्ठ ८५)

में ग्रहण करे। कुछ पुरुषों की पाशविक-वृत्ति इतनी प्रबल होती है कि वे अंधे होकर भविष्य की तनिक भी चिन्ता न कर विधवा के जीवन से खेलते हैं और फिर अपनी स्वार्थ भावना की पूर्ति हो जाने पर भाग खड़े होते हैं। इस प्रकार उनके क्षणिक सुख के लिए दुखी विधवा के पवित्र जीवन पर सदा के लिए कलंक लग जाता है जो फिर किसी प्रकार नहीं धोया जा सकता। 'अमर अभिलाषा' में भगवती का, 'रामरहीम' में वेला का ऐसा ही अभिशापित जीवन है।

'शैलकुमारी' में भी रामकिशोर मालवीय ने पुरुष की अनुचित प्रवृत्ति पर प्रहार किया है। समाज का नग्न चित्रण करते हुए लेखक स्वयं कहता है: 'आत्मकथा सुनाने वाली युवती ज्ञानवती हिन्दू समाज की वर्तमान विधवाओं पर बीतने वाली मुसीबतों का सच्चा फोटो है। हिन्दू विधवाओं पर कैसी-कैसी मुसीबतें पड़ती हैं, अपने सतीत्व की रक्षा के लिए उन्हें कैसे-कैसे आक्रमण सहने पड़ते हैं, पाप-मार्ग पर चलनेवाले कुलीन घरानेके युवक अपनी पाप-वासना तृप्त करने के लिए अबलाओं पर कैसे-कैसे कुचक्र चलाते हैं; . . . .तीर्थ-पण्डे कैसे-कैसे दुराचरण धर्म के पैसे पट करते हैं; योगियों को किस प्रकार सताते हैं; यदि कोई स्त्री आ गई, तो उसे धर्म-भ्रष्ट कैसे कर देते हैं; आदि बातों की नंगी तस्वीर ज्ञानवती के जीवन में दिखलाई देती है।'[१]

इस प्रकार विचाराधीन काल के उपन्यासकारों ने पुरुष की इस काम-लोलुपता एवं अनुचित आचरण की कटु आलोचना की है। उनका मत है कि यदि पुरुष अपनी इस वृत्ति से प्रेरित होकर विधवा नारी के सात्विक जीवन में रोड़े न अटकाये तो अनेक विधवाएँ संयमी, पवित्र एवं आदर्श जीवन व्यतीत कर सकती हैं। परोक्ष रूप में इस चित्रण से यह भी सिद्ध होता है कि विधवा का अरक्षित जीवन एक ओर जहाँ उसके लिए घोर दुःख का जनक है, वहीं दूसरी ओर वह पुरुष की निम्न वृत्तियों को भड़काने का काम भी करता है। जहाँ तक सम्भव हो, विधवा का पुनर्विवाह ही इन सब समस्याओं का एकमात्र हल है।

(४) नारी-मन की दुर्बलता

कहा जाता है कि यदि नारी का चरित्र दृढ़ है, उसमें आत्मबल है तो बाह्य प्रलोभन उसको नहीं डिगा सकते। किन्तु व्यक्ति में चारित्रिक दृढ़ता और नैतिक बल परिपक्व अवस्था, शिक्षा और अनुभव के पश्चात् आते हैं। बेचारी बाल-विधवा उम्र, शिक्षा और अनुभव तीनों में ही अपरिपक्व होती थी। ऐसी स्थिति में उससे ऐसे दृढ़ चरित्र की आशा करना, जिसके सामने पुरुष नत मस्तक हो जाए, सही नहीं कहा जा सकता। 'रामरहीम' की बेला ने अपने चरित्र को बचाने के लिए क्या-क्या नहीं किया, किन्तु वह अपनी पवित्रता की रक्षा न कर सकी। फिर भी प्रेमचन्द-युग के उपन्यासकारों ने अपनी आदर्शवादिता के कारण कुछ ऐसे विधवा-चरित्र भी चित्रित किये हैं जिनकी चारित्रिक दृढ़ता और

१. रामकिशोर मालवीय: 'शैलकुमारी' (पृष्ठ १२३)

पवित्रता देखकर कामी पुरुष ऐसे ही भाग जाते हैं जैसे सूर्य को देखकर अंधकार। किन्तु ऐसे चरित्र आदर्श उपस्थित करने के उद्देश्य से अंकित किये गये प्रतीत होते हैं, यथार्थ का उनमें अभाव ही लगता है।

जहाँ विधवा का व्यक्तित्व विकसित हो चुका है, वहाँ विधवा के चारित्रिक बल का महत्व अवश्य बढ़ जाता है। प्रेमचन्द ने इस ओर भी ध्यान दिया है। विधवा के चारित्रिक बल का महत्व बताने के लिए उन्होने 'प्रेमाश्रम' की गायत्री जैसी वयस्का, बुद्धिमती और स्वतन्त्र नारी को चुना है। गायत्री चाहती तो अपने चरित्र को पूर्णतः पवित्र रख सकती थी। किन्तु अपनी विलासमयी प्रवृत्ति, आत्म-दुर्बलता और बाह्य आकर्षण के कारण उसके जीवन में वैषम्य आ जाता है। गायत्री का यह चित्रण मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यथार्थ के अनुरूप हुआ है। इसमें लेखक ने एक आदर्श उपस्थित न करके विधवा-मन के सच्चे संघर्ष का चित्रण किया है जो प्रेमचन्द के दृष्टिकोण में विकास का प्रमाण है और विधवा-जीवन को स्वाभाविक मूल्यों की कसौटी पर परखने का प्रयत्न है।

वैधव्य की मर्यादा के प्रति पूर्णतः समर्पित होने के कारण प्रारम्भ में गायत्री के मन में ज्ञानशंकर के साथ सिनेमा-थियेटर जाने मे संकोच होता है। वह मन को समझाती रहती है: 'मेरे लिए अब तीर्थ-यात्रा, गंगा-स्नान, पूजा-पाठ, दान और व्रत है। यह विलास सोहागिन के लिए है।'[1] किन्तु थोड़े ही हेल-मेल के बाद वह ज्ञानशंकर का सामीप्य इतनी व्यग्रता से चाहने लगती है कि उसके चरित्र की शिथिलता, संयम के आवरण में ढँकी अतृप्त वासना साफ दिखाई देती है। गायत्री के मन की यह दुर्बलता इतने स्वाभाविक ढंग से चित्रित हुई है कि पाठक उससे सहानुभूति करने लगता है।

यद्यपि विधवा-मन की निजी दुर्बलता के ऐसे कुछ उदाहरण हमें इस काल के उपन्यासों में मिलते हैं, पर वे अधिक नही है, और न इस दुर्बलता को लेखकों ने कोई अन्तिम महत्व दिया है। इसका कारण स्पष्ट है। वे विधवा-जीवन की समस्या के सामाजिक पक्ष का चित्रण कर रहे थे ताकि जनता का ध्यान उसकी दुरवस्था की ओर आकर्षित हो, और विधवा को पुनर्विवाह का अधिकार मिल सके। विधवा को मूलतः चरित्रहीना सिद्ध करना न तो उनका उद्देश्य ही था; न वह यथार्थ से मेल खा सकता था। विधवा की स्थिति इतनी अस्वाभाविक हो जाती है कि उसे साधारण नियमों की तुलना पर तौलना अन्याय ही माना जाएगा। प्रेमचन्द-युग के लेखक जानते थे कि ऐसी अस्वाभाविक अवस्था में विधवा से स्वाभाविक व्यवहार की आशा रखना गलत होगा। इसीलिए उन्होने समस्या के सामाजिक पक्ष पर बल दिया जिससे विधवा को भी स्वाभाविक जीवन बिताने का अवसर मिले।

यही कारण है कि विधवा के आर्थिक संकट, उस पर होनेवाले कठोर अत्याचार, उसकी करुण स्थिति और पुरुष की काम-लोलुपता का जो चित्रण इन उपन्यासों

---

१. प्रेमचन्द : 'प्रेमाश्रम' (पृष्ठ ११२)

में मिलता है, वह समाज-सुधार की दृष्टि से किया गया है। स्थान-स्थान पर उपदेशात्मक प्रवृत्ति आगे आ गई है। कभी पात्र तो कभी स्वयं लेखक समाज पर व्यंग्य या आलोचना करता चलता है। भगवतीप्रसाद वाजपेयी लिखित 'पतिता की साधना' में विधवा-जीवन का यह हाहाकार समाज के प्रति तीखे व्यंग्य के रूप में व्यक्त हुआ है।[१]

विधवा की समस्या और समाज-सुधार

उषादेवी मित्रा लिखित 'पिया' की नीलिमा चेष्टा करने पर भी निष्कलंक नहीं रह पाती। अपनी छोटी बहिन कविता के पति सुकान्त के जाल में फँसकर वह गर्भवती हो जाती है। समाज की लांछना और तिरस्कार से बचने के लिए सुकान्त उसे गर्भपात कराने की सलाह देता है। किन्तु कविता में समाज-सुधार की तीव्र भावना निहित है। वह सोचती है कि पाप और पुण्य की मर्यादा व्यक्ति की बनाई हुई है, जिसका वास्तविक सम्बन्ध व्यक्ति के मन से है। स्वार्थरत भावना से ऊँचे उठकर वह बहिन को अपने पति से विवाह कर लेने की सलाह देती है। 'तुम हत्या न करो, जिसको मन से पति रूप में ग्रहण किया है, एक निष्ठ प्रेम किया है, उससे विवाह करो।'[२] इसी प्रकार अपने पति सुकान्त के मन में भी वह नैतिक साहस का संचार करती है। पुरुष यदि विधवा की असहाय स्थिति से लाभ उठाकर उसे अपनी वासना का साधन बनाता है, उससे प्रेम करने का दम भरता है तो फिर उससे विवाह करके अपना उत्तरदायित्व क्यों नहीं पालता? पुरानी पीढ़ी की रूढ़िवादिता ऐसी घटना को किसी प्रकार सहन नहीं कर सकती थी। वह समाज में लांछनीय समझे जाने वाले प्रसंग को किसी प्रकार छिपा लेने में ही अपना निस्तार समझती है। किन्तु कविता व्यक्ति की नैतिकता पर बल देती हुई कहती है, 'वास्तविक अपराध को छिपाकर दुनिया के सामने साधु बनना एक पाप है माँ।'[३]

समाज की विडम्बना पर इस युग के उपन्यासकारों ने कटु आलोचना की है। वह

---

१. 'किन्तु हिन्दू समाज की विधवा नारी जीवित होकर भी मृत्तिका है, पाषण है, शिलाखण्ड की भाँति उसे शब्दहीन, गतिहीन, निष्पन्द, निश्चल और निश्चेष्ट होकर रहना पड़ता है। जगत भर के लिए वर्षा और बसंत, कोयल और मोर, पुष्प और सौरभ, भ्रमर और तितली, ध्वनि और राग, सरोवर और हंस, कपोत और कपोती, हास और क्रीड़ा सभी जागृत और उत्फुल्ल हैं, किन्तु एक विधवा प्राण, देह, वय, श्वास, रक्त, कांक्षा और विकार रहते हुए भी इन सबसे हीन है, सर्वदा रहित। क्योंकि संयम-नियम, आदेश, उपासना, तपस्या, साधना, त्याग और बलिदान यदि हिन्दू संस्कृति के गर्व तथा गौरव की जितनी भी दिगन्त व्यापी ध्वजाएं हैं, सबकी सब उसी के भाग्य में पड़ी हैं।'
भगवतीप्रसाद वाजपेयी : 'पतिता की साधना' (पृष्ठ २५२)

२. उषादेवी मित्रा 'पिया' पृष्ठ १६०

३. वही : (पृष्ठ १६२)

विधवा को देता तो कुछ भी नहीं है और माँगता है उसके जीवन की आहुति। विधवा की शिक्षा, उसके व्यक्तित्व-निर्माण एवं जीवन-विकास पर तनिक भी ध्यान दिये बिना वह चाहता है कि विधवा आचार-व्यवहार में आदर्श सिद्ध हो, यह कैसी प्रवंचना है। उषादेवी मित्रा आदि अनेक उपन्यासकारों ने इस ओर पाठक का ध्यान आकर्षित करने की चेष्टा की है कि यदि समाज विधवा के मन को समझकर उसके साथ मानवीय व्यवहार करे, उसकी समस्याओं को समझकर उसके समाधान की ओर ध्यान दे तो विधवा पतन की ओर जाने से बच जाएगी। कविता अपनी माँ से कहती है:

'चिल्लाओ मत। सुनो तो सही। उस बेचारी को क्यों कोसती हो! वह तो जनम-दुखिया है। न वह लिखना जानती है न पढ़ना, पाप-पुण्य भी नहीं पहिचानती। कह दिया कि यह पाप है, और बस। पाप के रूप को कभी पहिचानने का अवसर भी दिया था? पुण्य से उसका परिचय कराया था? ब्रह्मचर्य का नियम बचपन से उसे पालन कराया था? ब्रह्मचर्य के शुभ को किसी ने उसे समझाया था? उस ओर उसकी रुचि कभी तुमने कराने की चेष्टा की थी? दुनिया ने उसे दिया था क्या? कहो न चुप क्यों हो? क्या दिया था? नहीं कहोगी? मैं तो जानती हूँ, उसे क्या दिया था। केवल अविराम लांछना, परिहास और दरिद्रता, केवल परिश्रम एवं नियमों का एक काला पहाड़ बस। दिया था इससे ज्यादा कुछ? .....जरा सी सहानुभूति भी नहीं थी उसके लिए? मैं पूछती हूँ, उस अपढ़, ग्रामीण विधवा के सहारे के लिए एक हल्का-सा तिनका भी कभी उठाकर धर दिया था उसके हाथ पर? नहीं, कुछ नहीं, मैं जानती हूँ कुछ नहीं। और उसी विधवा से दुनिया यदि बड़ा सा त्याग माँग बैठे तो वह उसे कहाँ से दे सकती है?'[1]

इसी प्रकार 'मनोरमा' में हृदयेश ने स्त्री-पुरुष की दो भिन्न जीवन-गतियों का चित्रण करते हुए तत्कालीन समाज की थोथी आदर्शवादिता की आलोचना की है।[2] यदि समाज निष्पक्ष रीति से स्त्री और पुरुष दोनों के लिए समान व्यवस्था देता तो विधवा नारी के जीवन में इतनी अशान्ति के दर्शन न होते, 'जब पुरुषों के लिए व्यभिचार भूषण है तब स्त्रियाँ उसे कैसे दूषण मानेंगी? पुरुष चाहे वेश्यागामी हो या कुलाङ्गना-भोगी, परवे चिर पवित्र हैं। यदि हम उनके प्रखर अत्याचार से उद्भ्रान्त होकर स्वप्न में भी पर-पुरुष की कामना करें तो महा अपवित्र एवं परम वीभत्स है। वाह रे पुरुष समाज! स्वार्थ का तू कैसा विलास मन्दिर है।'[3]

'आत्मदाह' (१९३६) में चतुरसेन शास्त्री ने सुधीन्द्र का चरित्र नव चेतना के प्रतीक रूप में रखा है। वह वैधव्य को पृथ्वी पर मनुष्य जाति की मूर्खता का भयानक चिह्न समझता है। वह अपनी विधवा दीदी को पुनर्विवाह की सलाह देता है। किन्तु दीदी

---

१. उषादेवी मित्रा 'पिया' : (पृष्ठ १६२)
२. चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' : 'मनोरमा' (पृष्ठ १४९)
३. वही : (पृष्ठ १८८)

उसकी सलाह न मानकर अपने भाग्य को दोष देती है। इस पर सुधीन्द्र सामाजिक अंध-विश्वास का भण्डाफोड़ करता हुआ कहता है, 'क्या कहा: भाग्य विधान दीदी, तुम पढ़ी-लिखी लड़की होकर भी भाग्य विधान की बात कर रही हो? जहाँ पाँच वर्ष की कन्याओं का विवाह कर दिया जाता है और वे विधवा बना दी जाती हैं? यह पाप करते है माता-पिता और भाग्य-दोष मिलता है लड़कियों को, यह कहाँ का न्याय रहा? यदि छोटी कन्याओं का विवाह न करके उन्हें पढ़ाया जाए, तो कैसे उनका भाग्य-दोष उन्हें विधवा बना सकता है? क्या यह बात दिल को थर्रा देने वाली नहीं कि दुधमुँही विधवाओं की संख्या भारतवर्ष में साढ़े पाँच लाख से भी अधिक है?'[1]

किसी भी घटना के दुष्परिणाम का कारण न खोजकर भाग्य को दोष देना भारतीय जनता की पुरातन मनोवृत्ति है। ऐसा करने से व्यक्ति अंधविश्वासी और रूढ़िवादी बनता जाता है। व्यक्ति की क्रियात्मक शक्ति नियति के जाल में निष्क्रिय हो जाती है। जो व्यक्ति सोच-विचार नहीं सकते, अविवेकी और अशिक्षित हैं, वे ही अज्ञान के कारण भाग्य की दुहाई देते हैं। किन्तु शिक्षित व्यक्ति के पास प्रत्येक घटना और समस्या का सही कारण जानने की क्षमता होती है। इसीलिए सुधीन्द्र न तो स्वयं भाग्य पर विश्वास करता है, न पढ़ी-लिखी बहिन से वैसी आशा करता है।

इस प्रकार प्रेमचन्द-युग के उपन्यासकारों ने विधवा की सभी समस्याओं को बड़े मार्मिक ढंग से चित्रित किया है और उनके समाधान की भी ओर ध्यान दिया है। इस युग के उपन्यासों को देखने से दो बातें ज्ञात होती हैं। (१) पहली यह कि उपन्यासकारों ने केवल बाल-विधवा के ही पुनर्विवाह की ओर आग्रह किया है। जो नारी अनाघ्रात कुसुम की भाँति शरीर और मन से बिल्कुल पवित्र है, वास्तव में जिसका विवाह हुआ ही नहीं, उसी को वे पुनर्विवाह का अधिकार दिलाने के लिए सचेष्ट थे। बाल-विधवा के प्रति दया भावना ही उन्हें पुनर्विवाह की ओर अग्रसर करती हैं। नारी के व्यक्तित्व, स्वाधीनता और प्रेम को महत्वपूर्ण मानकर उसको पुनर्विवाह की अनुमति देने का विचार उनके मन में नहीं आया; (२) दूसरी बात यह है कि प्रेमचन्द-युग के उपन्यासकारों ने विधवा के पुनर्विवाह का चित्रण बहुत कम किया है। उन्होंने विधवा के कष्टों की और उसके पुनर्विवाह की आवश्यकता की चर्चा तो खूब की है, पर क्रियात्मक रूप में उसका प्रतिपादन करने में वे झिझकते रहे हैं। इसका कारण यह भी हो सकता है कि वे समाज के प्रबल संस्कारों को ऐसा धक्का नहीं पहुँचाना चाहते थे जिसकी प्रतिक्रिया भी बलवती हो अपितु वे धीरे-धीरे सामाजिक चेतना के विकास द्वारा अपना उद्देश्य सिद्ध करना चाहते थे। इसलिए विधवा कभी किसी आश्रम की शरण लेती है, तो कभी भगवद्भक्ति में लीन हो जाती है, कभी आत्महत्या कर लेती है। केवल दो-एक उपन्यासों में विधवा के पुनर्विवाह का अंकन मिलता है। ऋषभचरण जैन ने 'मास्टर साहब' में दो विधवाओं का

---

१. चतुरसेन शास्त्री : 'आत्मदाह' (पृष्ठ १४६)

विवाह कराया है। समाज-सुधारक सम्पतराय विधवा सुमित्रा से विवाह करता है और मुरारीलाल का विवाह विधवा वसंती से होता है। 'पतिता की साधना' में विधवा नंदा और उसका प्रेमी हरि विवाह न कर सकने के कारण प्रारम्भिक जीवन में दुखी रहते हैं किन्तु अपने मन को साधना में अटल रहने के कारण एक दूसरे को प्राप्त करते हैं। यद्यपि इन दोनों के जीवन-क्रम का चित्रण यथार्थ न होकर कल्पना पर ही आश्रित है किन्तु अन्त दोनों के सम्मिलन पर ही होता है। यहाँ तक कि बारह वर्ष पूर्व हरि से ही उत्पन्न अपने पुत्र को नंदा गोकुल से बुलाकर अपने पास रख लेती है। 'अमर-अभिलाषा' में नारायणी, सुशीला और मालती का पुर्नविवाह आर्य-समाज की पद्धति के अनुसार विधि पूर्वक करा दिया जाता है।

विधवा के पुर्नविवाह को मध्यवर्ग उस उदारता से न देख सका जिस उदारता से उच्च शिक्षित वर्ग देखता है। उच्च शिक्षित परिवारों में विधवा-विवाह को अग्राह्य नहीं किया गया है। अपनी शिक्षा और विवेक के कारण वे जानते थे कि बाल-विधवा के माथे पर जीवन पर्यन्त वैधव्य की कालिमा रहने देना अनुचित है। प्रतापनारायण श्रीवास्तव के उपन्यास 'विजय' में अभिजात वर्गीय विधवा कुसुम के जीवन में आत्महत्या करने या वेश्यावृत्ति करने की स्थिति उत्पन्न नहीं होती। उसके पिता सर रामप्रसाद कहते हैं, 'मैं तुम्हारा विवाह करना चाहता हूँ। हिन्दू समाज में ऐसा विवाह प्रचलित हो गया है और शास्त्र इसकी अनुमति देता है।'[1] बाद में कुसुम का विवाह साधारण कुमारी की ही भाँति होता है। उसका विधवा-विवाह मध्यवर्ग की भाँति सामाजिक चर्चा और वाद-विवाद का विषय नहीं बनता।

उच्च, मध्य और निम्न तीनों वर्गों में विधवा के तपस्विनी रूप को आदर्श माना गया है। विधवा का जो चित्रण इन उपन्यासों में हुआ है उसका उद्देश्य यही है कि जो विधवा अपनी पवित्रता नहीं बनाये रख सकती उसको पुनर्विवाह की अनुमति मिलनी ही चाहिए

विधवा-जीवन का आदर्श

क्योंकि मानसिक विकृति और पतन से उसको बचाने का यही एक उपाय है। प्रतापनारायण श्रीवास्तव लिखित 'विजय' में भी यही बात स्पष्ट रूप में दिखाई देती है। मनोरमा की सखी कुसुमलता बाल-विधवा है। मनोरमा अपनी सखी की रागात्मक भावना से भी परिचित है इसलिए वह पुर्नविवाह करने की अनुमति देती है। फिर भी अपने मन में वह उस विधवा को अधिक सम्मान देती है जो कर्म, मन, वचन से पवित्र वैधव्य का पालन कर सकती है।[2]

---

१. प्रतापनारायण श्रीवास्तव : 'विजय' (पृष्ठ १६९)

२. मनोरमा कहती है, 'मैं विधवा-विवाह के खिलाफ़ नहीं हूँ, परन्तु यह कहती हूँ कि अगर विधवा अपनी तपस्या साधन करे, और साँसारिक प्रलोभनों से दूर रह कर तप करे, तो यह उसके लिए कल्याण कारक है।'
प्रतापनारायण श्रीवास्तव : 'विजय'

'हृदयेश' के उपन्यास 'मनोरमा' में विधवा कल्याणी स्वयं एक आदर्शचरित्र है। वह विधवाओं के कर्तव्य के सम्बन्ध में कहती है: 'हम विधवाओं का संन्यासी जीवन है, संन्यासी जीवन विरक्त होकर भी संसार के कल्याण के लिए अग्रसर होता है।''[1] इसी उपन्यास में सात वर्ष की उम्र में विधवा होने वाली शान्ता का चरित्र उसके संयमित जीवन के कारण महत्वपूर्ण बन गया है। जब बलवन्तसिंह धोखा देकर हथियार द्वारा उसका अपहरण करना चाहता है तो शान्ता अपनी छुरी अपने सतीत्व की रक्षा करती है। उसके सतीत्व का चित्रण लेखक ने बड़े श्रद्धापूर्वक किया है:

'वास्तव में सती का सतीत्व ब्रह्म से भी अधिक विशाल, हिमाचल से भी अधिक अटल एवं भगवान शंकर की जटाजूट से कन्दिरा में पतित होने वाली त्रिपथगामिनी मन्दाकिनी की शीतल-धारा से भी अधिक पवित्र है।[2]

अन्त में विधवाओं को सात्विक जीवन व्यतीत करने का अवसर देने के लिए एक आदर्श 'वनिता-आश्रम' की स्थापना होती है। 'हृदयेश' के दूसरे उपन्यास 'मंगल-प्रभात' में सुभद्रा का चरित्र तथा ईश्वरीप्रसाद गुप्त और बिहारी वर्मा के 'कमला' (१९४०) में विधवा-जीवन का उच्च आदर्श उपस्थित किया गया है। इसमें वर्णित विधवाओं का चरित्र तप, संयम और पवित्रता से मंडित है। सुभद्रा का चरित्र इतना दिव्य है कि उसके मन में कलुषित विचार कभी स्थान नहीं पाते तथा उसके संसर्ग में आने वाले व्यक्ति भी शान्ति प्राप्त करते है। इसी प्रकार लोक-सेवा करना विधवा कमला के जीवन का ध्येय बन जाता है। उसका आश्रम-संचालन, त्याग और प्रेम की वेदी पर अपूर्व बलिदान श्लाघनीय और युग के लिए अनुकरणीय वस्तु बन गया है।

चतुरसेन शास्त्री ने 'अमर अभिलाषा' में इसी आदर्श को थोड़े विकसित रूप में रखा है। वे विधवा को वैधव्य से बलात् बाँधे रखने को पशु-कर्म समझते है। अतः उन्होंने बाल-विधवाओं के विवाह को उचित माना है किन्तु जिस नारी को पति का साहचर्य प्राप्त हो चुका है उसके वैधव्य को वे पवित्र और वांछनीय समझते है।[3] यही कारण है कि उन्होंने उपर्युक्त उपन्यास में बाल-विधवा नारायणी, सुशीला और मालती का तो विवाह करा दिया है किन्तु कुमुद से वैधव्य के नियमों का पालन कराया है।

इस दृष्टिकोण में और नारी को पुरुष के समान मानकर पुरुष के समान अधिकार दिलाने का दावा करने वाले परवर्ती दृष्टिकोण में मौलिक अन्तर है, जिस पर ध्यान

---

१. चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' : 'मनोरमा' (पृष्ठ १४७)

२. वही : (पृष्ठ २९६)

३. 'वैधव्य को मैं एक बहुमूल्य और पवित्र वस्तु जरूर समझता हूँ, परन्तु विधवा को वैधव्य से बलात् बाँध रखना पशुओं का कर्म समझता हूँ।'
चतुरसेन शास्त्री : 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान', २८ अगस्त १९५५ : (पृष्ठ ७)

देना आवश्यक है। प्रेमचन्द कालीन लेखक नारी के प्रति न्याय के लिए पुनर्विवाह का समर्थन नहीं कर रहे थे, वरन् विधवा-जीवन की अस्वाभाविकता से उत्पन्न समाज के दोषों को मिटाने के लिए ऐसा कर रहे थे।

यही कारण है विधवा के कानूनी अधिकारों के प्रति प्रेमचन्द को छोड़कर अन्य किसी उपन्यासकार का ध्यान नहीं गया। जो नारी पति के जीवित रहने पर घर की मालकिन होती है, उसे अपना ही घर समझकर एक-एक पैसे की बचत करती है, विधवा होते ही उस घर से उसका सारा अधिकार छिन जाता है। वह अपने ही घर में दासी की भाँति रोटी-कपड़ा पाने भर की अधिकारिणी समझी जाती है। प्रेमचन्द ने इस समस्या को अपनी एक प्रसिद्ध कहानी 'बेटोंवाली विधवा' में उठाया था, जहाँ फूलमती के विधवा होते ही उसका पुत्र उमानाथ कहता है, 'कानून की बात यही है कि बाप के मरने के बाद जायदाद बेटों की हो जाती है। माँ का हक केवल रोटी-कपड़े का है।'[1] 'ग़बन' में यह समस्या और अधिक विकृत रूप धारण करके सामने आती है। वकील साहब के जीवित रहने पर उनकी पत्नी रतन लाखों की सम्पत्ति की मालकिन थी। किन्तु वकील साहब के मरते ही उनका भतीजा मणिभूषण उनकी सारी सम्पत्ति का मालिक बन बैठता है। 'बेटों वाली विधवा' कहानी में घर की सम्पत्ति पर बेटों का ही अधिकार हुआ था। यहाँ पुत्र न होने पर उनके दूर के रिश्तेदार (जो सम्भवतः उस घर में कभी आता भी न था) मणिभूषण को धन-सम्पत्ति मिलती है, उनकी विधवा पत्नी को नहीं। मणिभूषण बड़े गर्व के साथ कहता है : 'सम्मिलित परिवार में विधवा का अपने पति की सम्पत्ति पर कोई अधिकार नहीं होता।'[2] लेकिन आत्माभिमानिनी शिक्षिता नारी इस अपमान को सहन न कर सकी। आँसुओं के उमड़ते हुए वेग को रोककर रतन जो कुछ कहती है उसमें समस्त विधवा जाति की वेदना छिपी हुई है।

विधवा के अधिकार का प्रश्न

'मैंने कह दिया, इस घर की चीज से मेरा नाता नहीं है। मैं किराये की लौंडी थी। लौंडी का घर से क्या सम्बन्ध ? न जाने किस पापी ने यह कानून बनाया था। अगर ईश्वर कहीं है और उसके यहाँ कोई न्याय होता है, तो एक दिन उसी के सामने उस पापी से पूछूँगी, क्या तेरे घर में माँ-बहिनें न थीं ? तुझे उनका अपमान करते लज्जा न आई ? अगर मेरी जुबान में इतनी ताकत होती कि सारे देश में उसकी आवाज़ पहुँचती, तो मैं सब स्त्रियों से कहती : 'बहिनो, किसी सम्मिलित परिवार में विवाह न करना और अगर करना, तो जब तक अपना घर अलग न बना लो, चैन की नींद मत सोना। यह मत समझो कि तुम्हारे पति के पीछे उस घर में तुम्हारा मान के साथ पालन होगा। अगर तुम्हारे पुरुष ने कोई तरका नहीं छोड़ा, तो तुम अकेली रहो चाहे परिवार में, एक ही बात है। तुम

१. प्रेमचन्द : 'मानसरोवर' : भाग १ (पृष्ठ ७२)
२. प्रेमचन्द : 'ग़बन' (पृष्ठ २६६)

अपमान और मजूरी से नहीं बच सकतीं। अगर तुम्हारे पुरुष ने कुछ छड़ा है, तो अकेले रहकर भोग सकती हो, परिवार में रहकर तुम्हें उससे हाथ धोना पड़ेगा। परिवार तुम्हा लिए फूलों की सेज नहीं; काँटों की शय्या है, तुम्हें पार लगाने वाली नौका नहीं, तुम निगल जाने वाला जन्तु है।"[1]

सम्मिलित परिवार में नारी को कोई अधिकार प्राप्त नही है। यदि पति अपनी पत्नी के नाम अलग से अपनी धन-सम्पत्ति के विपय में कुछ लिख जाता है तव तो उसको वह भाग मिल जाता है, अन्यथा उसे केवल उतना ही खाना, कपड़ा और रहने का स्थान मिलता है जिसमें किसी प्रकार उसकी जीविका चल सके। उपर्युक्त उदाहरण में नारी हृदय की करुण पुकार एवं उसकी स्थिति से असंतोष को मार्मिक शब्दों में अंकित किया गया है। इस युग में नारी मनु और पाराशर आदि पुरुषों के वनाये नियमों पर क्रोधित हो सकती थी, अपना विद्रोह और खीझ प्रकट कर सकती थी, पर उसके पास कोई ऐसा समाधान नहीं था जिससे इस नियम में परिवर्तन हो सकता। रतन के चरित्र में नारी जागरण के चिह्न साफ़ दृष्टिगोचर होते है। नारी अपने अधिकारों के प्रति सजग है। वह परम्परागत स्थिति से संतुष्ट नहीं है किन्तु फिर भी कोई क्रान्तिकारी कदम नहीं उठा पाती। उस समय के देश की सामाजिक स्थिति को ध्यान में रखकर वैसा चित्रण करना यथार्थ भी न होता।

• वेश्यावृत्ति की समस्या

नारी-जीवन की अन्य समस्याओं की भाँति इस युग के उपन्यासकार ने वेश्या-वृत्ति की समस्या का भी समाज-सुधार की दृष्टि से चित्रण किया है। इन उपन्यासों को देखने से प्रतीत होता है कि लेखकों ने वेश्यावृत्ति के मूल में आठ कारणों पर प्रकाश डाला है।

(१) अनमेल विवाह, वाल-वैधव्य, पति-परिवार अथवा समाज द्वारा उपेक्षा और उत्पीड़न।

(२) अशिक्षा, आर्थिक परतंत्रता अथवा जीविका का प्रश्न।

(३) नारी की सच्चरिता पर पुरुष का सहज अविश्वास।

(४) पुरुष की काम-लोलुपता।

(५) दलालों और कुटनियो के कुचक्र।

(६) नारी मन की दुर्वलता।

(७) परम्परागत विवशता के कारण वेश्यावृत्ति का स्वीकार।

(८) आसपास के वातावरण और अन्य विशिष्ट परिस्थितियों का प्रभाव।

बहुधा देखा जाता है कि इन कारणों में से जव तीन-चार कारण एकत्र हो जाते है तभी नारी विवश होकर वेश्या वनती है। यदि उपर्युक्त आठों कारणों के मूल में छानवीन

---

१. प्रेमचंद : 'ग़बन' (पृष्ठ २६९)

करें तो पता चलता है कि अन्य तथ्यों का महत्व होने पर भी आर्थिक समस्या ही वेश्यावृत्ति का मुख्य कारण है।[1] अधिकांशतः अनमेल विवाह और बाल-वैधव्य दहेज के ही कारण होता है। नारी को निरीह, असहाय और निराश्रित जानकर ही पति, परिवार और समाज उस पर अत्याचार करता है। जीविका-निर्वाह का कोई मार्ग न होने के कारण ही वह दर-दर भटकती फिरती है और कुटिल जनों के हाथ का खिलौना बनती है। यह आर्थिक समस्या ही नारी-मन की दुर्बलता को प्रोत्साहित करती है। यदि नारी का जीवन साधारण परिस्थितियों में साधारण ढंग पर व्यतीत हो तो ऐसी अनेक नैतिक दुर्बलताओं का पता ही न चले जिनका विकास असामान्य परिस्थितियों में ही हो पाता है।

समाज व्यवस्था की असामान्य प्रणाली वेश्यावृत्ति को आश्रय देती है। यह सामंतशाही और पूंजीवादी समाज में ही पनपती है जहाँ पुरुष शोषक हैं और स्त्री शासित। पुरुष और स्त्री दोनों के सम्बन्ध में समाज के नियम भिन्न-भिन्न हैं। जो कार्य पुरुष के लिए क्षम्य माना गया है, वही नारी के लिए वर्जित है। विधुर के विवाह को, चाहे वह कितना ही वृद्ध क्यों न हो, समाज स्वीकार कर लेता है। इसी प्रकार पुरुष के अनैतिक आचरण को देखकर भी अनदेखा कर देता है। किन्तु विधवा, चाहे उसकी उम्र कितनी ही कम हो, दुबारा विवाह नहीं कर पाती। सच्चरित्र से सच्चरित्र नारी का अनिवार्य परिस्थितियों में एक रात्रि को भी बाहर रह जाना अक्षम्य अपराध माना जाता है। यही नहीं, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में नारी को पुरुष के आश्रित रहना पड़ता है। फलतः जब किसी भी कारण-वश नारी पुरुष की छत्रछाया से वंचित हो जाती है तो वह भटक जाती है, और अन्त में वेश्या बन जाती है।

सन् १९१६ में प्रेमचन्द्र ने 'सेवासदन' प्रकाशित कर हिन्दी उपन्यास-जगत में हलचल पैदा कर दी थी। यह उपन्यास वेश्यावृत्ति का विश्लेषण करने वाला एक सामाजिक समस्या-मूलक उपन्यास है। 'सेवासदन' अपने मनोवैज्ञानिक चित्रण, विषय की गम्भीरता, तत्कालीन वेश्यावृत्ति की समस्या की जटिलता और उसके प्रस्तावित समाधान के लिए निर्विवाद रूप से एक युगान्तरकारी रचना है। नारी वेश्या क्यों बनती है, उसकी व्यक्तिगत दुर्बलताएँ, समाज की कुप्रथाएँ, सामाजिक वातावरण और पारिवारिक परिस्थिति किस प्रकार नारी को अनैतिकता की ओर ले जाने में सहायक होते हैं, यह 'सेवासदन' की नायिका सुमन के चरित्र से जाना जा सकता है।

अनमेल विवाह और बाल-वैधव्य दोनों की समस्याएँ साधारणतः समान हैं। दोनों

---

१. 'मानव प्रगति के आदिम शत्रु लोभ और वासना एवं मानव प्रगति के आदिम व्यवधान, अज्ञान और आलस्य, आत्मरति, दम्भ और नैतिक उत्तरदायित्व का अभाव—सदा की भाँति आज भी सामाजिक बुराई के यही कारण हैं किन्तु फिर भी वेश्यावृत्ति आदि युग से लेकर आज तक अधिकांशतः एक आर्थिक समस्या ही रही है।' गार्लिन स्पेन्सर : 'विमन्स शेयर इन सोशल कल्चर' (पृष्ठ १२२)

ही स्थितियों में एक ओर नारी परिवार और समाज की उपेक्षा तथा अत्याचार सहन करती है तो दूसरी ओर अनुकूल जीवन-प्रणाली न पाने के कारण उसका मन और तन दोनों ही असंतुष्ट रहते हैं।

अनमेल विवाह के ही कारण सुमन की प्रवृत्तियाँ दूसरी ओर आकर्षित होती हैं। सुमन प्रारम्भ से ही अच्छे खाने-पहनने और रहने की अभ्यस्त, चंचल प्रकृति की नारी थी। दहेज न दे सकने के कारण उसका विवाह एक अपढ़, गँवार, दरिद्र, कृपण, शंकाशील, उजड्ड और लापरवाह व्यक्ति गजाधर से होता है। पति-पत्नी की प्रकृति में आकाश-पाताल का अन्तर है। सुमन वचपन से जिस वातावरण में पली थी उसने उसको अपव्ययी और आत्माभिमानिनी वना दिया था। सुख-संतोष के साथ ग़रीवी के दिन काटना उसके स्वभाव में ही न था। वह अपने स्वभाव के कारण अपने को रानी समझती थी किन्तु उसको अपनी भावनाओं के प्रतिकूल निर्धनता में रहना पड़ता था। जव आस-पड़ोस की स्त्रियाँ वस्त्र-आभूषणादि के विपय में उसकी सम्मति लेतीं तो सुमन ऊपर से उन्हें निष्काम भाव से सलाह देती, पर मन-ही-मन उसे वड़ा दुःख होता था। वह सोचती : 'ये सव नये-नये गहने वनवाती हैं, नये-नये कपड़े लेतीं हैं और मेरे यहाँ रोटियों के भी लाले हैं।' इन वातों ने सुमन के आत्म-सम्मान एवं अहंकार-भावना को भले ही तृप्त किया हो किन्तु अपने जीवन के प्रति असंतोप की उसकी भावना तीव्रतर हो गई। उसके हृदय के असंतोप को प्रेमचन्द ने वड़े मनोवैज्ञानिक ढंग से चित्रित किया है।

व्यक्ति की इस अहंभावना के साथ-साथ प्रेमचन्द ने दिखाया है कि किस प्रकार समाज में नैतिक आचार-विचारों की आड़ में अनेक ऐसे अनैतिक कार्य होते रहते हैं जिनका प्रभाव व्यक्ति के मन पर अनिवार्य रूप से पड़ता है। जिन पुरुषों के पास धन है, यश है वे अनैतिक कार्य करके भी धर्मात्मा एवं आदरणीय वने रह सकते हैं। सुमन के मन को नैतिक आचार-विचारों ने ही किस प्रकार अनैतिकता की ओर अग्रसर किया है इसका अत्यन्त स्वाभाविक चित्रण प्रेमचन्द ने किया है। प्रारम्भ में सुमन के हृदय में भी परम्परा-गत नैतिकता और अनैतिकता का विवेक था। वह वेश्या को दुश्चरित्र और कुलटा समझती थी और अपने को समझाती थी कि 'मैं दरिद्र सही, दीन सही, पर अपनी मर्यादा पर दृढ़ हूँ, किसी भलेमानुप के घर में मेरी रोक तो नहीं, कोई मुझे नीच तो नहीं समझता।'[1] वाद में अपने जीवन से दुखी सुमन को अपनी इस नैतिक भावना पर कुठाराघात करना पड़ता है। वह समाज की थोथी नैतिकता से वार-वार प्रश्न करती पाई जाती है। सुमन यदि अपने जीवन से दुखी न होती, उसे अपने पति गजाधर का प्रेम मिला होता तो शायद उसका ध्यान अन्यत्र आकर्पित न होता। किन्तु असंतोपी जीवन चारों ओर भटकता है। इसके अतिरिक्त परिस्थितियों के चक्कर में पड़कर उसके आत्म-सम्मान पर वार-वार सीधी चोट पड़ती है। वाह्य परिस्थिति और आंतरिक अहंकार में वरावर संघर्ष होता

---

१. प्रेमचन्द : 'सेवासदन' (पृष्ठ २४)

रहता है। अन्त में वह अपने को सँभाल नहीं पाती और समाज की विडम्बनाओं के भँवर में तिनके के समान बहती चली जाती है।

दुर्भाग्य से सुमन के घर के सामने ही भोली नाम की वेश्या का घर है। इसलिए सहज ही सुमन का ध्यान उधर आकर्पित होता है। यदि उसके घर के सामने वेश्या का घर न होता तो सम्भवतः सुमन का ध्यान उस ओर न जाता। वह उस वेश्या के यहाँ सभी प्रतिष्ठित लोगों को जाते देखती है, यहाँ तक कि उसका पति गजाधर भी जाता है। रामनवमी के दिन मन्दिर में जन्मोत्सव के अवसर पर वह भोली को वैष्णव तिलकधारियों के बीच जाते देखती है। धर्मात्मा और ज्ञानी-ध्यानी कहे जाने वाले लोग भी भोली के एक-एक कटाक्ष में स्वर्ग-लोक का-सा आनन्द पा रहे थे। इस दृश्य ने सुमन के हृदय पर वज्र का-सा आघात किया। अपने नैतिक आचरण के बल पर वह जिस भोली को नीची दृष्टि से देखती थी, उसी को उसने देवी की तरह पुजते देखा। तब सुमन ने अनुभव किया कि भोली के आगे धन ही सिर नहीं झुकाता, धर्म भी उसका कृपाकांक्षी है। चौकीदार का थकी-माँदी सुमन को अपमानित करके बेंच से उठाना और उन्हीं बेंचों पर वेश्या भोली का स्वागत करना ,उसकी क्रोध की अग्नि के लिए घी का काम करता है। वकील पद्मसिंह, जिनको वह देवता का अवतार समझती थी, म्युनिस्पैलिटी के चुनाव में सफल होने पर भोली को बुलाकर नाच-गाने का आयोजन करते हैं। और मामूली रसिक की भाँति वेश्या के रूप से अपने नयनों को तृप्त करते जान पड़ते हैं। भद्र और प्रतिष्ठित व्यक्तियों के इस प्रकार के व्यवहार ने सुमन को बाध्य कर दिया कि वह अपने उपेक्षित जीवन की तुलना भोली के सम्मानित जीवन से करे। वह सोचती है कि वह भोली से अधिक सुन्दर होने पर भी और सभ्य समाज में रहकर भी समाज के लिए पैर की जूती के समान है, जब कि नीच कर्म करने वाली भोली समाज की रानी बनी बैठी है। एक ओर सुमन के मन में भोली के प्रति प्रतिद्वन्द्विता बढ़ती जाती है तो दूसरी ओर रूढ़िवादी नैतिकता के प्रति उसकी विरोध-भावना भी तीव्रतर होती जाती है।

इस मनोदशा में जब सुमन को एक रात देर से घर पहुँचने के अपराध में क्रोधी गजाधर बिना कोई जाँच-पड़ताल किये घर से निकाल देता है, तब भी उसके पैर भोली के घर की ओर नहीं उठते। कुमार्ग पर जाने के लिए उसके संस्कार रोकते हैं। घर से निकाले जाने पर अबला नारी के पास कोई ऐसा स्थान नहीं जहाँ वह सुरक्षित रह सके। नारी के आर्थिक रूप से असहाय होने के कारण उसके एकाकी जीवन को समाज में कोई आदर नहीं मिल पाता। हारकर वह वकील पद्मसिंह के यहाँ चली जाती है, किन्तु कुछ ही दिन पश्चात् लोकापवाद के डर से पद्मसिंह भी उसको जाने के लिए कहने पर विवश हो जाते हैं और वह निराश्रित हो जाती है। तब वह सिलाई करके अपना पेट भरना चाहती है, किन्तु उसमें भी पुरुप की कामुक प्रवृत्ति उसे चैन नहीं लेने देती। अन्त में जिस सुमन को समाज के कर्णधार अपने घर में आश्रय न दे सके उसे भोली वेश्या अपने कोठे पर आश्रय देती है। समाज का नैतिक अधःपतन यहाँ पराकाष्ठा को पहुँच जाता है। परम्परागत रूढ़ियों का,

पीड़न और अत्याचार का, धर्म, धन और सज्जनता के मिथ्याडम्बर का ही फल है कि अविवेक और लोकापवाद के आघातों से हतप्राय सुमन विवश होकर भोली के चंगुल में फँस जाती है। सुख-भोग की अबाध आकांक्षा, पति की दासता से मुक्त होने की लालसा, रूप-प्रदर्शन की दुर्बलता, आर्थिक परतन्त्रता, पति की और अपनी अनुभव हीनता ने मिलकर उसे भोली के मायाजाल में डाल दिया। वह गृहिणी से वेश्या बन जाती है।

चण्डीप्रसाद हृदयेश ने 'मंगल प्रभात' में राधा के वेश्या बनने का मूल कारण अनमेल विवाह को माना है। राधा का विकसित नारीत्व अबोध पति को प्रेम नहीं कर पाता। न वह अपने पति और सास-ससुर के अत्याचारों को सहन कर पाती है। अपने आत्मसम्मान, यौवन और सौन्दर्य को तिरस्कृत होते देखकर उसके हृदय में ज्वाला-सी धधकने लगती है। वह मानसिक और शारीरिक तृप्ति के लिए प्रेमतीर्थ की ओर आकर्षित होती है; किन्तु वह प्रेम मरुमरीचिका ही सिद्ध होता है। अन्त में असहाय, अनाश्रित हो वह वेश्यावृत्ति स्वीकार कर लेती है।

पुरुष नारी के सदाचरण पर सदियों से अविश्वास करता आया है। वह उसके चरित्र को संदेहात्मक दृष्टि से देखता है। यदि स्त्री किसी भी कारण-वश एक रात भी बाहर रह जाती है तो पुरुष की शंका इतनी प्रबल हो जाती है कि वह उसे कलंकित समझकर पुनः घर में स्वीकार नहीं करता। यदि कोई सुधारक पुरुष ऐसी नारी की रक्षा करता है तो उस पुरुष को भी समाज अविश्वास की दृष्टि से देखने लगता है।[1] इस प्रकार घर से परित्यक्त होकर नारी दर-दर की भिखारिणी बन जाती है। समाज के भय से कोई भी परिवार उसे शरण नहीं देता।[2] ऐसी स्थिति में यदि उसे किसी सज्जन का सम्पर्क मिल गया, तब तो उसका जीवन सम्मानपूर्वक व्यतीत हो जाता है, अन्यथा उसे या तो अपना धर्म त्यागना पड़ता है या वेश्यावृत्ति स्वीकार करनी पड़ती है।[3]

विनोदशंकर व्यास लिखित 'अशान्त' में वीणा का चरित्र ऐसा ही है। यद्यपि वीणा ने अपने प्राणों की बाजी लगाकर विधर्मियों से अपने सतीत्व की रक्षा की किन्तु तो भी उसका परिवार उसे स्वीकार नहीं करता और इस ओर से निराश होकर वह अनाथाश्रम की शरण लेती है। किन्तु ये स्थल भी निरापद नहीं होते। एक ओर स्वयं आश्रम के मंत्री महोदय उसकी इज्जत लूटना चाहते हैं, दूसरी ओर वह एक कुटनी के फंदे में फँस जाती है। 'अमर अभिलाषा' में चतुरसेन शास्त्री ने भी यही दिखाया है कि सुशीला और भगवती दोनों ही कुटनी के फंदे में पड़ जाती हैं। सुशीला तो एक सज्जन की सहायता से

---

१. ऋषभचरण जैन : 'मास्टर साहब' (पृष्ठ ११२)

२. तेजकुमारी दीक्षित : 'हृदय का काँटा' (पृष्ठ ९२)

३. प्रेमचन्द ने अपनी पत्नी शिवरानीदेवी से कहा था, 'अब भी तुम्हारे घर की जो स्त्रियाँ निकाली जाती हैं, वे मुसलमानों के ही घर जाती हैं, या चकले में जाती हैं।' शिवरानीदेवी प्रेमचन्द : 'प्रेमचन्द : घर में' (पृष्ठ १३०)

वेश्या होने से बच जाती है किन्तु भगवती को और कोई मार्ग नहीं रहता। ऋषभचरण जैन के उपन्यास 'वेश्या पुत्र' में हिन्दू-मुस्लिम दंगे में मारे गये एक पुरुष की पत्नी पुरुष की लम्पटता और चरित्रहीनता से तंग आकर वेश्या हो जाती है। उमाशंकर मिश्र लिखित 'बनारस की वेश्याएँ' (१९३९) नामक उपन्यास में भी अलका, जमना, लीला और साबित्री की जीवन-गाथा के द्वारा यह दिखाया गया है कि सामाजिक विडम्बना, कुरीति और प्रवंचना के कारण स्त्रियाँ वेश्या बन जाती हैं।

इतना होने पर भी इन उपन्यासकारों ने यह दिखाया है कि यदि नारी का चरित्र पर्वत के समान अटल और समुद्र के समान मर्यादित हो तो बाहरी तूफ़ान उसे नहीं डिगा सकते। हिन्दी उपन्यासों में ऐसी सच्चरित्र नारियाँ भी चित्रित हैं जिनकी दृढ़ता और पवित्रता के सम्मुख पुरुष की कामवासनाएँ भी परास्त हो जाती हैं। किन्तु ऐसे चरित्र नितान्त आदर्श बनकर सामने आये हैं। विषम परिस्थितियों की घनघोर घटा में व्यक्ति का मन कब भटक जाए, कहना कठिन है। इस युग की सुधारवादी चेतना व्यक्ति-मन की दुर्बलता को भी क्षमा न कर सकी। वेश्यावृत्ति के लिए उन्होंने एक ओर समाज-व्यवस्था को दोषी ठहराया है तो दूसरी ओर नारी के अबोध और अनुभवहीन मन की दुर्बलता को भी। यही कारण है कि 'सेवासदन' की सुमन वेश्यावृत्ति से उबरने पर आत्मपीड़क बन जाती है। वह समाज को दोषी ठहराने के स्थान पर अपनी विलास-वृत्ति और अज्ञान को ही दोष देती पाई जाती है।

जब एक बार नारी सद्गृहिणी से वेश्या बन जाती है, तब समाज की लांछना उस तक ही सीमित नहीं रहती प्रत्युत उसके सगे सम्बन्धियों और विशेषतः उसकी संतान के लिए भी अभिशाप सिद्ध होती है। इस प्रकार नारी को पीढ़ी-दर-पीढ़ी वेश्यावृत्ति ग्रहण करनी पड़ती और एक ऐसे विष-चक्र की रचना हो जाती है जिसका अंत दिखाई ही नहीं देता। यदि वेश्या की पुत्री स्वयं उस निन्दनीय वातावरण से निकलकर स्वस्थ जीवन की साँस लेना चाहे, जीविका का कोई सम्मानपूर्ण प्रबन्ध करना चाहे और इस प्रकार स्वाभाविक जीवन बिताना चाहे तो भी उसके लिए कोई उपाय नहीं मिलता। किसी भी परिस्थिति में समाज उसे स्वीकार करने को प्रस्तुत नहीं होता। वह जहाँ है, जिस स्थिति में है, उसी में रहने के लिए बाध्य हो जाती है। इस युग के लेखकों का ध्यान समाज की इस विडम्बना पर भी गया है।

भगवतीचरण वर्मा लिखित 'तीन वर्ष' में जब रमेश वेश्या सरोज से पूछता है कि क्या उसे वेश्यावृत्ति स्वीकार करते हुए बुरा नहीं लगा था, तब वह कहती है : 'मैं न जाने कितनी रोई हूँ, न जाने कितनी तड़पी हूँ। लेकिन जो कुछ भगवान ने दिया, वह लेना ही पड़ा। मैं सच कहती हूँ कि मेरी माँ भी बहुत दुखी हुईं। इसी दुःख से वे घुल-घुल कर मर गईं। लेकिन होता क्या है? धीरे-धीरे मैं इसकी आदी हो गई।'[1]

---

१. भगवतीचरण वर्मा : 'तीन वर्ष' (पृष्ठ २६२)

उषादेवी मित्रा लिखित 'जीवन की मुस्कान' (१९३९) में पूरवी का जन्म वेश्यालय में होने के कारण ही उसको वेश्या बनना पड़ता है। उसका मन बड़ा कोमल और भावुक है, वह रात-दिन रोया करता है। किन्तु उसे दूसरा कोई उपाय दृष्टिगोचर नहीं होता। उल्टे इसी के कारण उसकी विवाहिता छोटी बहिन को भी उसका पतित्याग देता है। पूरवी उदास होकर अपने अभिशप्त जीवन की कहानी पृथीश से कहती है: 'मेरे ही लिए तो उस बेचारी को पति ने छोटे बच्चों के साथ त्याग दिया। उसे पता चल गया कि इसकी बहिन वेश्या है। और एक मेरे ही कारण क्वाँरी है। वेश्या की बहिन को कौन ब्याहने लगा।'[1]

'सेवासदन' में भी मदनसिंह को जैसे ही पता चलता है कि शान्ता वेश्या सुमन की ही बहिन है, वे बारात लौटा लाते हैं। शान्ता अपनी बहिन के पास विधवाश्रम में शरण लेती है किन्तु विधवाश्रम में भी जैसे ही पता चलता है कि सुमन पहले वेश्या थी, वहाँ हलचल मच जाती है और अनेक विधवाएँ आश्रम छोड़कर चली जाती हैं। अन्त में जब सुमन सात्विक जीवन बिताने लगती है और मदनसिंह का ही पुत्र सदन बड़े साहसपूर्वक शान्ता के साथ विवाह करके सुमन की ही कुटिया में रहने लगता है, तब भी सदन के माँ-बाप उसके पास जाकर रहने में अपना अपमान समझते हैं।

वेश्या में नारी-सुलभ गुण

इस युग के कुछ उपन्यासकारों ने वेश्या की कुचेष्टाओं को सामाजिक समस्या के लिए गौण जानकर समस्या के अधिक गम्भीर पक्ष की ओर ध्यान दिया है। उसकी कुचेष्टाएँ तो बाह्य व्यवहार मात्र हैं जो उसे सामाजिक और आर्थिक विवशता के कारण करना पड़ता है। उन्होंने इस व्यवहार के नीचे दबी हुई सहज नारी-भावना एवं नारी-सुलभ गुणों को देखने का प्रयास किया है। वेश्या का ऐसा चित्रण करने में उपन्यासकारों का मुख्य दृष्टिकोण यह है कि वेश्या घृणित नहीं, उसका कर्म घृणित है,[2] जो उसे परिस्थितिवश करना पड़ता है। नहीं तो उसकी आत्मा भी उतनी ही पवित्र और महान हो सकती है जितनी किसी अन्य चरित्रवती नारी की। वह भी सच्चे एक-निष्ठ प्रेम की उतनी ही आकांक्षिणी हो सकती है जितनी कोई पतिव्रता। उसके मन में जीवनोद्धार की अभिलाषा है किन्तु रास्ता नहीं मिलता।[3] यदि हम उसकी समस्याओं को सहानुभूतिपूर्वक सुलझा

---

१. उषादेवी मित्रा : 'जीवन की मुस्कान' (पृष्ठ १२०)

२. 'हमें उनसे घृणा करने का कोई अधिकार नहीं है। यह उनके साथ घोर अन्याय होगा। यह हमारी ही कुवासनाएँ, हमारे ही सामाजिक अत्याचार, हमारी ही कुप्रथाएँ हैं जिन्होंने वेश्या का रूप धारण किया। यह दालमण्डी हमारे ही जीवन का कलुषित प्रतिबिम्ब, हमारे ही पैशाचिक अधर्म का साक्षात्कार स्वरूप है। हम किस मुँह से उन्हें घृणा करें।'
प्रेमचन्द : 'सेवासदन' (पृष्ठ २१५)

३. 'आपको यह देख कर आश्चर्य होगा कि उनमें कितनी धार्मिक श्रद्धा, पाप-जीवन से

सकें, उसे इस घृणित नारकीय जीवन से मुक्त कर सकें तो वह भी कुलवधू की भाँति सम्मानित जीवन व्यतीत कर सकती है और उपयोगी नागरिक वन सकती हैं।

वहुत-सी वेश्याएँ ऐसी होती है जो भिन्न-भिन्न व्यक्ति के मन को पहचान कर तदनुरूप व्यवहार और आचरण करती हैं। जो पुरुप उसके पास केवल काम-वासना की तृप्ति के लिए आते हें उनके प्रति उनके मन में तनिक भी श्रद्धा नही होती। किन्तु सहृदय व्यक्ति को देखकर कभी-कभी वेश्या के मन की प्रसुप्त नारी-सुलभ कोमल भावनाएँ जाग उठती हैं। वे उनको प्रेम करने लगती है—ऐसा निस्वार्थ प्रेम जिसमें निरा समर्पण होता हे, प्रतिदान की आकांक्षा नही होती, जो कुल-वधू में भी मुश्किल से मिलता है।

प्रेमचन्द ने वेश्या-जीवन के इस सत्य की ओर 'गवन' ओर 'सेवासदन' दोनों में ही संकेत किया हे। 'गवन' में वेश्या जोहरा रामनाथ से प्रेम करने लगती है, उसी की प्रेरणा से रमानाथ में सद्वुद्धि जागृत होती है और वह अपना झूठा वयान वदलता है। जोहरा की इस सद्वृत्ति को स्वयं रमानाथ स्वीकार करता है।[1] इसी प्रकार 'सेवासदन' मे सुमन भी सदन को सच्चा प्रेम करती है। अपने स्वार्थवश उसने कभी भी सदन को कुमार्ग की ओर प्रेरित नही किया। उल्टे, जव सदन अपने घर से सोने के कंगन चुरा लाकर उसे देता है तो वह उन्हें उसी के घर वापस पहुँचवा देती है। ऐसी मनोदशा में सुमन को अपनी वेश्यावृत्ति से तीव्र असंतोप होने लगता है। वह किसी एक की होकर एक पुरुष के प्रेम में अपने को समाहित कर देना चाहती है, किन्तु वेश्या के लिए ऐसा प्रेम सम्भव नहीं। यहाँ उसकी भावना का नहीं, रूप का मूल्य हे। वेश्या का मन किस प्रकार पति-व्रत अपनाने के लिए लालायित होता है इसका प्रेमचन्द ने वड़ा मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है:

'सुमन का ध्यान इस समय सुभद्रा की ओर लगा हुआ था। वह मन में उससे अपनी तुलना कर रही थी। जो शान्तिमय सुख उसे प्राप्त हे, क्या वह मुझे मिल सकता है? असम्भव! यह तृष्णा-सागर है, यहाँ शान्ति-सुख कहाँ? जव पद्मसिंह के कचहरी से आने का समय होता तो सुभद्रा कितनी उल्लसित होकर पान के वीड़े लगाती थी, ताजा हलवा पकाती थी। जव वह घर में आते थे तो वह कैसी प्रेम-विह्वल होकर उनसे मिलने दौड़ती थी। आह! मैंने उनका प्रेमालिंगन भी देखा है, कितना भावमय। कितना सच्चा। मुझे वह सुख कहाँ? यहाँ या तो अंधे आते हैं या वातो के वीर। कोई अपने धन का जाल

कितनी घृणा, अपने जीवनोद्धार की कितनी अभिलाषा हे...उन्हें केवल एक सहारे की आवश्यकता है।'

प्रेमचन्द 'सेवासदन' (पृष्ठ ३११)

१. 'मं इसे अपना सौभाग्य समझता हूँ कि मुझे उस तरफ़ से प्रकाश मिला जिधर से औरों को अंधकार मिलता है। विष से मुझे सुधा प्राप्त हो गई।'

प्रेमचन्द : 'ग़बन' (पृष्ठ ३१८)

बिछाता है, कोई अपनी चिकनी-चुपड़ी बातों का। उनके हृदय भाव-शून्य, शुष्क और ओछेपन से भरे हुए होते हैं।"[1]

इसी प्रकार 'तीन वर्ष' में भगवतीचरण वर्मा ने वेश्या सरोज का एवं 'जीवन की मुस्कान' में उषादेवी मित्रा ने वेश्या पूरबी का जो संवेदनापूर्ण चित्रण किया है वह भी पाठक के मन को छूता है।

ऋषभचरण जैन लिखित 'चम्पाकली' में चम्पाकली और अनूपलाल मंडल लिखित 'मीमांसा' में वेश्यापुत्री अरुणा के कोमल हृदय का भी अच्छा चित्रण हुआ है। अनूपलाल मण्डल ने दूसरे उपन्यास 'समाज की वेदी पर' में भी वेश्या बालिका के प्रेम का मार्मिक चित्रण किया है।

इस युग के उपन्यासकारों ने जहाँ एक ओर वेश्या के कलंकित वेश में छिपी परित्यक्ता, तिरस्कृता नारी की कोमल भावना और उद्धार-कामना का चित्रण किया है, वहीं दूसरी ओर उसकी प्रकट कुचेष्टाओं और हाव-भाव-प्रदर्शन का भी विस्तृत वर्णन किया है। पर इस वर्णन का उद्देश्य किसी भी प्रकार की रस-सृष्टि नहीं है। ऐसे वर्णन द्वारा ये लेखक पुरुष-समाज को वेश्या के पास जाने से विरत करना चाहते थे। वेश्यावृत्ति के उन्मूलन के एक पहलू के रूप में ही हमें इस वर्णन को ग्रहण करना होगा।

वेश्या की कुचेष्टाओं का चित्रण

अनेक सामाजिक, आर्थिक और परिस्थिति-जन्य विवशताओं के कारण जब नारी को वेश्यावृत्ति स्वीकार करनी पड़ती है, तब वह उसी में अपना मन लगाने की चेष्टा करती है। धीरे-धीरे वह इसकी अभ्यस्त हो जाती है। जीविका का अन्य कोई साधन न होने के कारण उसको अपने इस कार्य में छल, कपट, झूठ और आडम्बर का सहारा लेना पड़ता है। यही इस वृत्ति की प्रकृति है, यही उसका पेशा है। बिना इन चेष्टाओं का सहारा लिये वेश्या बनकर भी उसकी जीविका की समस्या हल नहीं हो सकती। इस प्रकार का आचरण करते-करते कुछ वेश्याएँ इतनी अभ्यस्त हो जाती है कि वे इन कुचेष्टाओं का पुंजीभूत स्वरूप होकर रह जाती है। उनकी सद्वृत्तियों का सर्वथा लोप हो जाता है।

विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' के उपन्यास 'माँ' में वेश्या के आडम्बर-युक्त लोलुप जीवन का सच्चा चित्रण है। वह किस प्रकार मिथ्या प्रेम-प्रदर्शन करके युवकों को फँसाये रहती है, किस प्रकार जिस पुरुष के पास जितना अधिक धन होता है उसके प्रति उसके प्रेम-प्रदर्शन की मात्रा भी उतनी ही बढ़ जाती है, यह इस उपन्यास में भली प्रकार वर्णित है। विश्वनाथ, श्यामनाथ और गोकुलचन्द तीनों वेश्यागामी पुरुषों को देखकर वेश्या बन्दी की माँ कहती है: 'या अल्लाह, जब से आपको चौक में घूमते देखा, तब से मछली की तरह तड़पती फिरती रही। कई बार कहा—आज अभी तक नहीं आये, क्या न आवेंगे। और मैं कहती थी आवेंगे ज़रूर। आखिर वही

---

१. प्रेमचन्द : 'सेवासदन' (पृष्ठ ९९)

हुआ।'[1] तब वन्दी और अधिक रंग जमाने के लिए एक हृदय-हारिणी मुख-भंगी करके कहती है: 'भई, हम अपनी आदत को क्या करें। हमारी तो जिससे मुहब्बत होती है, उसी से बातचीत करने को जी चाहता है। यों हमसे हँसा नहीं जाता, चाहे कोई लखपति हो या करोड़पति। हम तो मुहब्बत के भूखे हैं, रुपये के भूखे नहीं। रुपया लेकर हमें करना क्या है? जिस खुदा ने पैदा किया है, वह शाम तक खाने को दे ही देगा।'[2] जब कमरुन्निसा और शम्सुन्निसा वेश्याओं के कारण श्यामनाथ बहुत दिन तक वेश्या बन्दी के यहाँ नहीं जा पाता तो उसकी स्वार्थ भावना प्रकट हो जाती है। बन्दी अपनी माँ से कहती है: 'मैं उन्हें आसानी से थोड़े छोड़ दूँगी, अगर कहीं आँख लगी भी होगी, तो भी जहाँ तक होगा, पंजे से निकलने न दूँगी।'[3]

इस प्रकार इस युग के उपन्यासकारों ने वेश्या की नितान्त स्वार्थ-वृत्ति का चित्रण करके पुरुष-समाज को सावधान करने का प्रयत्न किया। साथ ही उन्होंने यह भी कहने की चेष्टा की कि वेश्या-गमन से स्वास्थ्य और धन की हानि तो होती ही है, वेश्यागामी पति की पत्नी का जीवन भी अस्वाभाविक-रूप में बीतने लगता है। पति की उपेक्षा पाकर या तो वह भी भटक जाती है या फिर मानसिक असंतोष और यातनाओं को सहते सहते क्षय-ग्रस्त होकर मृत्यु को प्राप्त होती है। 'कौशिक' के 'माँ' में सती-साध्वी चुन्नी का ऐसा ही चरित्र है जो पति के वेश्यागामी होने के कारण मरकर ही चैन पाती है।

सेठ गोविन्ददास ने अपने 'इन्दुमती' (१९५०) उपन्यास में वेश्यावृत्ति के सम्बन्ध में समाज की दूषित मनोवृत्ति पर व्यंग्य करते हुए लिखा है कि सन् १९१७ मे यद्यपि

वेश्यावृत्ति और समाज का दायित्व

वेश्या-नृत्य के विरोध में आवाज उठने लगी थी, पर सभ्य कहलाने वाले समाज से उसका बहिष्कार नहीं हो पाया था। उस समय के लोग वेश्याओं को 'मंगलामुखी' के नाम से पुकारते थे, और ब्याह-शादी, जन्मोत्सव और धार्मिक समारोहों में वेश्या-नृत्य को आवश्यक मानते थे। उस समय का अधिकांश समाज धार्मिक उत्सवों में जड़मूर्ति के दर्शन के लिए नहीं, इस चेतन प्रतिमा के प्रेक्षण के लिए पधारता था।[4]

वेश्यावृत्ति में 'सेवासदन' की सुमन को जो अनुभव होता है वह समाज की रूढ़िवादी नैतिकता पर चुभता हुआ व्यंग्य है। जब सुधारक विट्ठलदास सुमन से वेश्यावृत्ति छोड़ने का आग्रह करता है तब वह कहती है: 'मेरा तो यह अनुभव है कि ज़ितना आदर मेरा अब हो रहा है उसका शतांश भी तब नहीं होता था। एक बार मैं सेठ चिम्मनलाल के ठाकुरद्वारे में झूला देखने गई थी, सारी रात बाहर खड़ी भीजती रही, किसी ने भीतर न

---

१. विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' : 'माँ' (पृष्ठ १३०)
२. वही : (पृष्ठ १३१)
३. वही : (पृष्ठ ३०३)
४. सेठ गोविन्ददास : 'इन्दुमती' (पृष्ठ ४७-४८)

जाने दिया, लेकिन कल उसी ठाकुरद्वारे में मेरा गाना हुआ तो ऐसा जान पड़ता था मानो मेरे चरणों से वह मन्दिर पवित्र हो गया।[१] खोखली नैतिकता के विरुद्ध सुमन के मन का यह विद्रोह प्रगतिशील भावना है।

प्रेमचन्द तथा उनके समकालीन लेखकों ने समाज के अनैतिक आचार-विचारों का खूब भण्डाफोड़ किया है। समाज के जो नेता हैं, जिनके हाथ में समाज की बागडोर है, जो आर्थिक रूप से मदद करने में समर्थ हैं वे ही दुर्वासनाओं की कीच में सने हुए हैं तो फिर समाज की दशा कैसे सुधर सकती है? कोई रसिक वेश्याओं को संगीत कला की संरक्षिका समझता है तो कोई सौन्दर्योपासकों की देवियाँ। कुछ पुरुष अपने स्वार्थ के लिए वेश्या को उसी स्थिति में बने रहने देना चाहते हैं। उनका मत है: 'इससे गन्दगी गन्दी जगह रह जाती है, बाकी समाज की शुद्धता बच जाती है।'[२] तत्कालीन समाज में प्रचलित इन सब प्रवृत्तियों का ही फल है कि एक पद्मसिंह के अतिरिक्त सुधारक विट्ठलदास की कोई मदद नहीं करता, उल्टे सब पग-पग पर उसके काम में बाधा पहुँचाना चाहते हैं।

'सेवासदन' में पद्मसिंह और विट्ठलदास समाज-सुधारक के रूप में हमारे सामने आते हैं। उनके मन में वेश्या-उद्धार की सच्ची लगन है। वे जानते हैं कि पुरुष की कुवासनाओं, सामाजिक अत्याचार और कुप्रथाओं के कारण ही नारी वेश्या का रूप धारण करती है। इसलिए वे उनके उद्धार के लिए सतत प्रयत्न करते हैं।

समाज में अनैतिक रूढ़ियों और धर्माडम्बर के हिमायतियों की कटु आलोचना 'हृदयेश' ने 'मंगल प्रभात' में और भगवतीचरण वर्मा ने 'पतन' में की है। जो महंत और बड़े-बड़े दिग्गज तिलकधारी पंडित धर्म के विचार से अनाश्रिता नारी को अवलम्ब और आश्रय नहीं देते वे ही नारी के वेश्या बन जाने पर छुपे-छिपे उसके रूप के पतंग बनते फिरते हैं।[३] यही है समाज की विडम्बना।

प्रेमचन्द ने 'सेवासदन' में दिखाया है कि कुछ वेश्याएँ अपने नारकीय जीवन से मुक्त होने के लिए धन-सम्पत्ति का बलिदान करने को भी प्रस्तुत हो जाती हैं किन्तु तो भी समाज के कर्णधार उधर ध्यान नहीं देते। मजाक उड़ाने वाले तो ढेरों हैं किन्तु मदद करने वाला कोई दिखाई नहीं देता।[४] केवल दो-चार समाज-सुधारक ही इस समस्या को सुलझाने की ओर सचेष्ट दिखाई देते हैं।

प्रेमचन्द ने नारी द्वारा वेश्यावृत्ति अपनाने के जितने भी कारण हो सकते हैं, लगभग

---

१. प्रेमचन्द : 'सेवासदन' (पृष्ठ ९७)
२. चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' : 'मंगल प्रभात' (पृष्ठ ४९४)
३. वही : (पृष्ठ ४९४)
४. प्रेमचन्द : 'सेवासदन' (पृष्ठ ३११)

सभी सुमन के चरित्र के माध्यम से 'सेवासदन' में पाठकों के सम्मुख रख दिये है। इसलिए जब वेश्याओं की स्थिति सुधारने का प्रश्न उठता है तब उन सब कारणों के निराकरण पर ध्यान जाना स्वाभाविक है। यदि सुमन के घर के सामने भोली वेश्या न रहती तो सम्भवतः सुमन वेश्यावृत्ति की ओर न झुकती। पार्क आदि सार्वजनिक स्थलों पर वेश्याओं के जाने से सभ्य समाज में उनके नाच और मुजरे के प्रबन्ध होने से घर की बहू-बेटियों का ध्यान बरबस उस ओर आकर्षित होता था। इन्हीं सब बातों पर ध्यान रखते हुए पद्मसिंह म्युनिसिपल बोर्ड में प्रस्ताव रखते है:

वेश्यावृत्ति की समस्या और उसका समाधान

(१) वेश्याओं को शहर के मुख्य स्थलों से हटाकर बस्ती से दूर रखा जाए।

(२) उन्हें शहर के मुख्य सैर करने के स्थलों और पार्कों में आने का निषेध किया जाए।

(३) वेश्याओं का नाच कराने के लिए एक भारी टैक्स लगाया जाए, और ऐसे जलसे किसी हालत में न हों।[1]

रूढ़िवादियों के विरोध के कारण यद्यपि यह प्रस्ताव पास नही हो पाता तथापि इस प्रस्ताव से यह ज्ञात हो जाता है कि उस समय आर्य-समाज आदि सुधारवादी संस्थाएँ इस समस्या का समाधान किस प्रकार करना चाहती थीं। लेखक ने समाधान के रूप में 'सेवासदन' के नाम से एक आदर्श आश्रम की स्थापना की है। 'सेवासदन' में वेश्याओं की ही लड़कियाँ रखी जाती थीं। उन्हें शिल्प आदि की शिक्षा देकर उनको जीविकोपार्जन के योग्य बनाना ही उसका मुख्य उद्देश्य था। इस प्रकार प्रेमचन्द ने एक समाधान अवश्य प्रस्तुत किया हे, किन्तु वे स्वयंइससे सतुष्ट न थे। क्योंकि उनको इस बात का पक्का विश्वास नही था कि इन लड़कियों को समाज ग्रहण कर ही लेगा। यदि संयमित जीवन बिताने का प्रण करने पर भी वेश्या की लड़कियों को समाज ग्रहण नही करता तो वेश्यावृत्ति की समस्या हल नही होती। सुभद्रा के पूछने पर सुमन सरल भाव से उत्तर देती है: 'यही तो टेढी खीर है। हमारा कर्तव्य यह है कि इन कन्याओं को चतुर गृहिणी बनने योग्य बना दें। उनका आदर समाज करेगा या नही, नहीं कह सकती।'[2]

सच तो यह हे कि 'सेवासदन' में दिया गया समाधान प्रेमचन्द के प्रारम्भिक आदर्शवादी मान्यताओं का ही प्रतिबिम्ब है। इस उपन्यास की रचना के समय उनको यथार्थ की वह सम्पूर्ण दृष्टि नही मिली थी जो 'गोदान' में है। यही कारण है कि उनका दिया हुआ समाधान इसी समस्या पर लिखे गए अलैक्जैण्डर कुप्रिन के प्रसिद्ध उपन्यास 'यामा दि पिट' से इतना भिन्न है। वेश्यावृत्ति के अन्त के लिए नारी की सामाजिक स्थिति में आमूल परिवर्तन अनिवार्य है, यह प्रेमचन्द अभी नहीं जान पाये थे।

---

१. प्रेमचन्द : 'सेवासदन' (पृष्ठ २६७)
२. वही : (पृष्ठ ३५३)

देश में राष्ट्रीय आन्दोलन एवं नारी-जागरण से प्रभावित होकर इलाचन्द्र जोशी ने 'घृणामयी' (१९२९) में वेश्याओं के सुधार के लिए एक नये प्रकार का सुझाव दिया है। 'ऑल इण्डिया कांग्रेस कमेटी' के आगामी अधिवेशन में यह प्रस्ताव पेश किया जाए कि हिन्दुस्तान भर की सब वेश्याओं को कांग्रेस की सदस्या बनने के लिए देश भर में प्रचार कार्य होना चाहिए. . . .वेश्याओं में सार्वजनिक जीवन की वृत्ति जागरित होने से उनका पतित जीवन भी सुधर सकेगा और देश को भी सहायता मिलेगी।'[1]

इस काल के अन्तिम चरण में सामाजिक समस्याओं को हल करने में आर्य-समाज और कांग्रेस की विचारधारा के अतिरिक्त एक और विचारधारा का समावेश हो रहा था। वह थी साम्यवादी विचारधारा। प्रेमचन्द पर इस विचारधारा का प्रभाव पड़ा था। 'सेवासदन' सन् १९१६ में प्रकाशित हुआ था और 'गोदान' १९३६ में। 'सेवासदन' से 'गोदान' तक आते-आते उनकी विचारधारा में एक स्पष्ट परिवर्तन है, विकास है। 'सेवासदन 'में वे 'सेवासदन' जैसे आश्रम से ही संतोष कर लेते हैं किन्तु 'गोदान' में वे मेहता के शब्दों में कहते हैं: 'रोजी के लिए और बहुत से जरिए हैं। देश की भूख रोटियों से नहीं जाती। उसके लिए दुनिया के अच्छे-अच्छे पदार्थ चाहिए। जब तक समाज की व्यवस्था ऊपर से नीचे तक बदल न डाली जाए, इस तरह की मंडली से कोई फायदा न होगा।'[2]

साधारणतः वेश्यावृत्ति को नगर की समस्या माना जाता है। यही कारण है कि इस युग के हिन्दी उपन्यासकारों ने केवल शहरों में रहने वाली वेश्या का ही चित्रण किया है, गाँव की वेश्या की ओर किसी का भी ध्यान नहीं गया है, यद्यपि

गाँवों में वेश्या-वृत्ति की समस्या

ग्रामीण क्षेत्र भी इससे अछूते नहीं है। वहाँ भी सशुल्क और निःशुल्क दोनों प्रकार की वेश्याएँ पाई जाती है। कुछ ग्रामीण क्षेत्रों में इसने आतिथ्य का रूप भी धारण कर लिया है। माँ या बेटी अथवा दोनों ही घर में आये हुए अतिथि के आदर-सत्कार में अपने को समर्पित कर देती है। इसका कोई उल्लेख हिन्दी उपन्यासों में नहीं मिलता। यशपाल ने अपनी कुछ कहानियों में ऐसा चित्रण अवश्य किया है। इसके अतिरिक्त यह भी देखा जाता है कि दलाल लोग ग्रामीण बालाओं को बहका कर आसपास के नगरों में ले जाकर वेश्यावृत्ति कराते हैं। फिर भी ग्रामीण क्षेत्रों में वेश्यावृत्ति अधिक प्रचलित नहीं है। चोरी-छिपे ग्रामीण घरों में दो-चार उदाहरण भले ही मिल जाएँ किन्तु खुले आम चकलों की स्थापना यह शहर की ही विशेषता है। इसका मुख्य कारण यही है कि गाँव का नैतिक मापदण्ड शहर के नैतिक मापदण्ड से भिन्न है। इसके अतिरिक्त शहर की नारी को असहाय परिस्थिति और मानसिक यातनाओं का जितना सामना करना पड़ता है, उतना गाँव की

---

१. इलाचन्द्र जोशी : 'घृणामयी' (पृष्ठ २६)
२. प्रेमचन्द : 'गोदान' (पृष्ठ ४१५)

नारी को नहीं करना पड़ता। कुछ ग्रामीण जातियों में विधवा-विवाह और तलाक़ की भी प्रथा प्रचलित है। शहर की नारी की भाँति गाँव की नारी आर्थिक रूप से इतनी परतन्त्र नहीं होती कि आवश्यकता पड़ने पर जीविका की समस्या हल न कर सके। नारी द्वारा अर्थोपार्जन गाँवों में बुरा नहीं माना जाता : अतः गाँव में वेश्यावृत्ति अधिकांशतः नारी की चारित्रिक दुर्बलता अथवा पुरुष की काम-लोलुपता के ही कारण होती है।

स्वच्छन्द प्रेम और अन्तर्जातीय विवाह की समस्या

अनमेल-विवाहों के दुष्परिणामों एवं नवीन सामाजिक चेतना के फलस्वरूप प्रेमचन्द युग के सभी उपन्यासकारों का ध्यान नारी के जीवन में प्रेम की आवश्यकता पर गया। उन्होने प्रचलित मान्यताओं के साथ-साथ विवाह में प्रेम को आवश्यक माना। यद्यपि इस युग के उपन्यासकारों ने नारी में उन सभी गुणों का समावेश किया है जिनके बल पर वह समाज में आदर-भाव पाती है, तथापि इनके साथ-साथ प्रेम-तत्त्व को और जोड़ दिया है; क्योंकि प्रेम के विना सफल-से-सफल गृहस्थी भी थोड़े ही दिनों में नष्ट हो सकती है। इन लेखकों की धारणा थी कि एक प्रेम ही ऐसा तत्त्व है जो दो व्यक्तियों के मन को एक सूत्र में बाँधने की क्षमता रखता है, उसी से व्यक्ति के व्यक्तित्व में बल और पूर्णता आती है और जीवन के विकास के लिए सच्चा आधार मिलता है। रवीन्द्रनाथ टैगोर की भाँति इस युग के लेखकों ने प्रेम को नारी की सबसे बड़ी विभूति और शक्ति माना है। प्रेम की अनुभूति के विना नारी-जीवन अपूर्ण है।[1] प्रेम करना उसका नैसर्गिक[2] और जन्मसिद्ध अधिकार है।[3] इस प्रेम-तत्त्व के ही कारण नारी पुरुष की वर्बरता पर विजय प्राप्त करने में समर्थ होती है। इसीलिए ,उन्होंने वाल-विवाह, अनमेल विवाह और वृद्ध-विवाह का घोर विरोध किया है, क्योंकि ऐसे विवाह-सम्बन्धों में प्रेम की कोई सम्भावना नहीं रहती। उन्नीसवीं शताब्दी तक कन्या का विवाह पूर्णतः अभिभावक की इच्छा पर निर्भर होता था।

---

१. प्रेमचन्द ने कहा : 'औरत को यदि जीवन में प्रेम न मिले, तो उसका मर जाना ही अच्छा है।'
हंसराज रहबर : प्रेमचन्द : 'जीवन और कृतित्व' (पृष्ठ २९२)

२. 'वहाँ प्राकृतिक, स्त्री जनोचित प्यार कर लेने का जो हमारा नैसर्गिक अधिकार है जैसा कि घटनावश प्रायः स्त्रियाँ किया करती हैं, उसे क्यों छोड़ दूँ ?'
जयशंकर प्रसाद : 'कंकाल' (पृष्ठ १८९)

३. 'स्त्रियों का हृदय...प्रेम का रंगमंच है...। स्त्रियों का यह जन्मसिद्ध उत्तराधिकार है मंगल। उसे खोजना-परखना नहीं होता, कहीं से ले आना नहीं होता। वह विखरा रहता है असावधानी से—धन-कुबेर की विभूति के समान। उसे सँभालकर केवल एक ओर व्यय करना पड़ता है...इतना ही तो।'
वही : (पृष्ठ २५९)

किन्तु प्रेमचन्द के काल तक समाज ने काफ़ी उन्नति कर ली थी। उच्च और मध्यवर्ग की नारी शिक्षा प्राप्त करने लगी थी, उसका व्यक्तित्व विकसित होने लगा था। वह प्रेम और उसके अभाव के अन्तर को समझने लगी थी। नारी की प्रगति और अपनी आदर्श-भावना इन दोनों की प्रेरणाओं के फलस्वरूप इन लेखकों ने नारी-जीवन में प्रेम को इतना महत्व दिया है। यही कारण है कि प्रेमचन्द-युग के उपन्यासों में अधिकांश प्रेयसियाँ यथार्थ रूप में चित्रित होकर भी अन्त में आदर्शगामिनी वन जाती हैं। उनके अनुसार यदि स्त्री-पुरुष के प्रेम का आधार केवल रूप का आकर्षण और कामवसाना है तो वह प्रेम छिछला है, किन्तु यदि इस प्रेम के पीछे व्यक्ति का त्याग, आदर्श और आन्तरिक ऐक्य की भावना है तो वह प्रेम वांछनीय है, स्थायी है, समाज के विकास के लिए स्वास्थ्यकर है।

इस प्रकार प्रेमचन्द आदि उपन्यासकारों ने प्रेम-तत्त्व के चित्रण में मानसिक कुंठाओं का चित्रण नहीं किया है। प्रेम और काम को वे स्वाभाविक प्रवृत्ति के रूप में अवश्य स्वीकार करते हैं किन्तु उन्होंने उसको प्रतिपाद्य विषय नहीं वनाया है। इसका मुख्य कारण यह है कि इस युग के प्रवर्तक प्रेमचन्द इस विषय में मूलतः परम्परावादी थे। वे त्याग, सेवा और पवित्रता को नारी के मुख्य आदर्श मानते थे।[1] पाश्चात्य प्रभाव के कारण स्वच्छन्द प्रेम और स्वेच्छया विवाह की जो लहर भारत में वड़े प्रवल रूप से फैल रही थी उसको उनका संस्कारी मन आत्मसात न कर सका; क्योंकि उसमें उनको छिछले प्रेम और क्षणिक मोह के दर्शन होते थे; किन्तु परम्परावादी होते हुए भी वे विचारक और सुधारक भी थे। उनके संस्कार तो परम्परावादी थे किन्तु जव वे समाज की गतिविधि को देखते और समझते थे तो अपने इन संस्कारों में ही उलझे नहीं रह जाते थे। वे समय के साथ बदलने में विश्वास करते थे।[2] इसलिए यद्यपि वे अपने परम्परागत विचारों का सर्वथा

---

१. 'मेरा नारी का आदर्श है एक ही स्थान पर त्याग, सेवा और पवित्रता का केन्द्रित होना। त्याग विना फल की आशा के हो, सेवा सदैव बिना असंतोष प्रकट किये हुए हो और पवित्रता सीजर की पत्नी की भाँति ऐसी हो, जिसके लिए पछताने की आवश्यकता न पड़े।'
उपर्युक्त पंक्तियाँ प्रेमचन्द ने डा० इन्द्रनाथ मदान को ७ सितम्बर १९२५ लिखे पत्र में लिखी थीं।
डा० इन्द्रनाथ मदान : 'प्रेमचन्द : एक विवेचन' (पृष्ठ १७७)

२. 'तुम सुधार चाहती हो तो तुम्हारे लड़के उसको मिटाना जरूर ही चाहेंगे। इसमें घवड़ाने की कौन-सी बात है? जैसा समय होता है, उसी तरह क़ायदे-क़ानून भी तो बदलेंगे। सदी तो वीसवीं है और आप चाहती हैं पहले वाला युग। नहीं वीसवीं सदी के अनुसार क़ायदे-कानून भी वनेंगे और वनने चाहिये, जिसमें एकतरफ़ा डिगरी करने का किसी को हक़ न रहे।'
शिवरानी देवी प्रेमचन्द : 'प्रेमचन्द : घर में' (पृष्ठ १३३)

त्याग न कर सके किन्तु उन्होंने उनमें समयानुकूल परिवर्तन, संशोधन अवश्य किया जो उनकी समन्वित दृष्टि का आधार बना। अपने विचारों को समयानुरूप ढालने की उनकी प्रवृत्ति प्रगतिशीलता की द्योतक है। इस समन्वित दृष्टि के सहारे प्रेमचन्द ने नारी के प्रेम का जो रूप प्रस्तुत किया है वह आधुनिक भारतीय नारी का सच्चा चित्र है। मध्यकालीन शृंगारिक नारी-भावना की प्रतिक्रिया-स्वरूप प्रेमचन्द ने नारी को शक्तिमती और संकल्पवती का रूप दिया है, जैसे 'रंगभूमि' की सोफ़ी, 'कायाकल्प' की मनोरमा, 'गोदान' की मालती, 'ग़बन' की जालपा और 'कर्मभूमि' की सुखदा। नारी के इसी कर्मठ रूप को वे उसका सच्चा सौन्दर्य मानते थे। उनके उपन्यासों की पृष्ठभूमि में नई सामाजिक चेतना थी। इसलिए वे प्रेमिका का चित्रण करते समय भी उसके सामाजिक प्रभाव का ध्यान रखते थे। यथार्थ और आदर्श का सामंजस्य ही उनके उपन्यासों की प्रेयसियों की विशेषता है। उनकी नारी शरद की नारी की भाँति भावुकता की पिटारी मात्र नहीं है। उसमें संकल्प एवं देशोद्धार की भावना प्रधान है।

प्रेमचन्द की भाँति इस युग के अन्य उपन्यासकार प्रसाद, प्रतापनारायण श्रीवास्तव, भगवतीचरण वर्मा, सियारामशरण गुप्त, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, वृन्दावनलाल वर्मा, उषादेवी मित्रा, रामवृक्ष बेनीपुरी आदि ने भी प्रेम के क्षेत्र में सोद्देश्यता और संयम का ध्यान रखा है। इनके उपन्यासों में चित्रित प्रेयसियों में बलिदान और त्याग की भावना है तथा कष्ट-सहन करने की प्रवृत्ति है। इन्होंने नारी के प्रेम को कहीं भी उच्छृंखल या कलुषित नहीं बनने दिया है। प्रत्युत इन्होंने तो यह माना है कि यदि नारी पुरुष से सच्चा एकनिष्ठ प्रेम करती है तो कुमार्ग पर चलने वाला व्यक्ति भी सुमार्ग ग्रहण कर सकता है।

इन उपन्यासों में वर्णित नारी-प्रेम में त्याग, मर्यादा एवं अनन्यता पर इतना बल इसीलिए दिया गया है कि इस युग के लेखक को यह भय था कि कहीं नारी पाश्चात्य प्रभाव के कारण उच्छृंखल न बन जाए। समाज में स्वच्छन्द प्रेम की जो प्रवृत्ति बल पकड़ रही थी उसको कोई रोक नहीं सकता था। वरन् इसके विरोध के कारण कहीं-कहीं तो बड़े अनर्थ भी दिखाई दे रहे थे। अतः इस युग के उपन्यासकार ने स्वच्छन्द प्रेम का समर्थन तो किया किन्तु भारतीय आदर्शों के अनुरूप प्रेम में आत्मसमर्पण और निस्वार्थ भावना को आवश्यक माना है। उनका मत है कि जो प्रेम नितान्त काम से प्रेरित होकर किया जाता है वह सच्चा प्रेम नहीं है। इसी कारण इस युग के लेखकों ने ऐसे निस्वार्थ आन्तरिक मिलन के सामने विवाह के रीति-विधान को भी गौण माना है।[१] यद्यपि प्रेम में विवाह की इच्छा स्वाभाविक

---

१. (अ) 'प्रेम जब आत्मसमर्पण का रूप लेता है, तभी वह ब्याह है, उसके पहले ऐयाशी।' प्रेमचन्द : 'गोदान' (पृष्ठ १८५)

(आ) 'जो कहते हैं अविवाहित जीवन पाशव है, उच्छृंखल है, वे भ्रांत हैं। हृदय का सम्मिलन ही तो ब्याह है। मैं सर्वस्व तुम्हें अर्पण करता हूँ और तुम मुझे; इसमें किसी के मध्यस्थ की आवश्यकता क्यों—मंत्रों का महत्व कितना। झगड़े

है क्योंकि यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि जिस वस्तु को व्यक्ति प्यार करता है, उसको पाना चाहता है, किन्तु इन लेखकों ने अपनी आदर्शवादिता के कारण प्रेम की अनिवार्य परिणति के रूप में विवाह को स्वीकार नहीं किया है। लगभग सभी उपन्यासों ने निस्वार्थ और आन्तरिक प्रेम की दुहाई दी है। प्रेमचन्द ने 'कर्मभूमि' में सकीना और मुन्नी का ऐसा ही चित्रण किया है। यहाँ तक कि 'गोदान' में भी मालती निस्वार्थ प्रेम के आदर्श के वशीभूत होकर विवाह को आवश्यक नहीं मानती। प्रतापनारायण श्रीवास्तव ने स्पष्ट शब्दों में निस्वार्थ प्रेम की सराहना करते हुए कहा : 'विवाह की इच्छा स्वार्थ है, इसलिए वह प्रेम पाप है। अगर उसका निस्वार्थ प्रेम है, तो वह कभी विवाह की इच्छा ही नहीं करेगी। एक रूप से, एक भाव से, निरन्तर प्यार करती रहेगी, और उसी प्रेम में अपना जीवन उत्सर्ग कर देगी।'[1] उषादेवी मित्रा के 'वचन का मोल' में कजरी का चरित्र और 'पिया' में पिया का चरित्र तथा भगवतीचरण वर्मा के 'तीन वर्ष' में सरोज का चरित्र ऐसा ही है। ये प्रेमिकाएँ अपने निस्वार्थ प्रेम की एकनिष्ठा पर मर मिटती हैं किन्तु प्रतिदान की आकांक्षा नहीं करतीं।

प्रेम-भावना की इस अनन्यता पर बल देने में लेखकों का दुहरा उद्देश्य था। आधुनिकता के विरोधी लोग स्वच्छन्द प्रेम में जो दोप देखते थे उनसे बचने का यह सीधा उपाय था। दूसरे क्षणिक आकर्षण के आधार पर किये गए विवाह-सम्बन्ध यथार्थ की कसौटी पर बहुत कम खरे उतरते हैं। इसीलिए इन लेखकों ने यह सिद्ध किया कि यदि स्त्री-पुरुष का मन एक दूसरे से मिलता है तो फिर विवाह के आडम्बर का कोई महत्व नहीं है। प्रेम ही जीवन का सत्य है।[2] विवाह तो बाह्य उपकरण मात्र है, दिखावा है।[3] यदि स्त्री-पुरुष का

को, विनिमय की यदि सम्भावना रही तो समर्पण ही कैसा। मैं स्वतन्त्र प्रेम की सत्ता स्वीकार करता हूँ, समाज न करे तो क्या।'
जयशंकर प्रसाद : 'कंकाल' (पृष्ठ १८७)

१. प्रतापनारायण श्रीवास्तव : 'विदा' (पृष्ठ २८२)

२. (अ) 'जिसको सब कहते हुए छिपाते हैं; जिसे अपराध कह कर कान पकड़ कर स्वीकार करते हैं, वही तो जीवन का, यौवनकाल का ठोस सत्य है।'
प्रसाद : 'कंकाल' (पृष्ठ ११८)

(आ) 'हम एक दूसरे को चाहते हैं, एक दूसरे को प्यार करते हैं। स्पष्ट तो है कि हमने एक दूसरे को अपना हृदय दे रखा है। फिर मैं उससे दूर क्यों रहूँ; उससे अलग रहने की कोशिश में तबाह क्यों बनूँ?'
रामवृक्ष बेनीपुरी : 'पतितों के देश में' बेनीपुरी ग्रंथावली: भाग १ : (पृष्ठ २१)

३. 'किन्तु यहाँ सवाल होता है, शादी है क्या चीज़? क्या शादी उसी को कहा जाए, जिसमें कहीं का ईंट, कहीं का रोड़ा, 'भानमती का कुनबा जोड़ा' की कहावत के अनुसार दो प्राणियों को दो जगह से लाकर जबर्दस्ती गठबंधन कर दिया जाए? क्या विवाह के लिए दो हृदयों के पारस्परिक मिलन की कोई अनिवार्यता है ही नहीं?' वही (पृ० ८२)

मन नहीं मिलता, उसमें आन्तरिक आदान-प्रदान सम्भव नहीं होता तो फिर विवाह का बन्धन भी निरर्थक हो जाता है और यदि उनमें प्रेम की अजस्र धारा प्रवाहित होती रहती है तो फिर उनका विवाह न होने पर भी उनका जीवन सफल हो जाता है। विवाहित और अविवाहित जीवन की यही व्याख्या 'कंकाल' के सभी नारी-पात्रों में चरितार्थ की गई है। 'कंकाल' की विवाहिता किशोरी को अपने पति से प्रेम नहीं है इसलिए उसे आन्तरिक सुख की झलक भी नहीं मिलती। यमुना अपने जीवन का संचित प्रेम मंगल को अर्पित कर समाज की रूढ़ियों को थोथा सिद्ध कर देती है। घंटी और गाला अविवाहित होकर भी अनन्य प्रेम के आदर्श का पालन करती हैं। इसी प्रकार रामवृक्ष बेनीपुरी विवाह में आन्तरिक मिलन पर इतना अधिक बल देते हैं कि उसके बिना पति-पत्नी के समाजानुमोदित सम्बन्धों को वे व्यभिचार मानते हैं। प्रेम और विवाह के प्रचलित मापदण्डों पर उन्होंने कटु व्यंग्य किया है जिससे पाठक सच्चे प्रेम के महत्व को समझ सकें। उन्होंने 'पतितों के देश में' कहा है: 'मेरे ख्याल से तो सबसे बड़ा व्यभिचारी पति नामधारी वह महापुरुष है, जो पत्नी नामी एक अबला पर, हृदय-मिलन की आवश्यकता के बिना महसूस किये ही, केवल इसीलिए कि वह किसी पंडित जी या कुछ बड़े-बूढ़ों के द्वारा पति क़रार कर दिया गया है, अपनी पाशविक तृष्णा की पूर्ति करता है। कैसा भयंकर अंधेर। तथाकथित विवाह की ओट में होने वाली दिन-रात की इस व्यभिचार लीला पर तो कुछ विचार नहीं किया जाता और यदि कभी इकले-दुकले युवक-युवती हृदय की पुकार से बाध्य हो परस्पर मिलते हैं, तो व्यभिचार-व्यभिचार का तूमार खड़ा कर दिया जाता है।'[1] इस प्रसंग में अंग्रेजी के विख्यात विचारक और नाटककार जार्ज बर्नर्ड शा का यह मत भी दृष्टव्य है कि 'विवाह नियमानुमोदित वेश्यावृत्ति है।'

'प्रसाद', प्रेमचन्द, बेनीपुरी आदि उपन्यासकारों ने प्रेम की अनन्यता और हृदय के सम्मिलन पर बल अवश्य दिया है पर उन्होंने विवाह की अवहेलना नहीं की है। इस युग का उपन्यासकार विवाह को भी आवश्यक मानता है क्योंकि विवाह एक-निष्ठ प्रेम का प्रमाण माना गया है। उन्होंने विवाह-संस्कार को तभी हेय माना है, जब वर-वधू में प्रेम न होने के कारण वह आडम्बर मात्र बन कर रह जाता है। यदि प्रेम की परिणति विवाह में होती है तो वह वांछनीय है। विवाहोपरान्त नारी के जीवन का वास्तविक विकास होता है, उसमें पूर्णता आती है। 'प्रसाद' ने 'कंकाल' में केवल प्रेम-स्वातन्त्र्य पर ही आग्रह किया था किन्तु 'तितली' तक आते-आते उनके विचारों में विकास पाया जाता है। इसमें उन्होंने प्रेम-स्वातन्त्र्य के साथ-साथ विवाह को भी आवश्यक माना है। तितली और शैला दोनों विवाह करके प्रेममय स्वस्थ जीवन व्यतीत करती हैं।

विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' ने 'भिखारिणी' में स्वतन्त्र प्रेम और विवाह की समस्या को विभिन्न पहलुओं से देखने का प्रयास किया है। लेखक ने एक ओर रमानाथ

---

१. रामवृक्ष बेनीपुरी : 'पतितों के देश में' (पृष्ठ ८३)

के चित्रण द्वारा युवकों के छिछले प्रेम पर तीक्ष्ण व्यंग्य किया है, दूसरी ओर जस्सो के स्वतन्त्र प्रेम को आदर्श की भाँति उपस्थित किया है। रमानाथ का चरित्र उन युवकों का प्रतीक है जिनका प्रेम रूप और यौवन के प्रति कामान्धता पर आधारित रहता है, और जो समाज की आँखों से बचकर अपने प्रेम की दुहाई देते रहते हैं किन्तु परीक्षा के समय पीछे हट जाते हैं। जस्सो पर प्राण न्योछावर करनेवाला रमानाथ अपने पिता से विवाह के सम्बन्ध में दो शब्द कहने का भी साहस नहीं बटोर पाता है। लेकिन स्वतन्त्र प्रेम का समर्थन करने के साथ-साथ लेखक यह भी चाहता है कि समाज भी उसकी वांछनीयता स्वीकार करे। यदि समाज उसे स्वीकार नहीं करता तो फिर केवल स्वतन्त्र प्रेम के बल पर किया गया विवाह सफल नहीं हो सकता। क्योंकि उस दशा में समाज पग-पग पर बाधा बन कर सामने आता है। इस प्रकार 'कौशिक' ने विवाह के विषय में समाज की सम्मति को बहुत महत्व दिया है। उन्होंने किसी भी पात्र का ऐसा चित्रण नहीं किया है जो सामाजिक मान्यताओं का विरोध कर प्रसन्न रह सका हो। इसके लिए सम्भवतः लेखक के परम्परा-वादी संस्कार ही उत्तरदायी हैं। इसके अतिरिक्त इस युग का वातावरण भी ऐसा था कि कोई क्रान्तिकारी कदम उठाना उसके लिए संभव न था। इसलिए उसने इस समस्या का कोई व्यावहारिक हल नहीं बताया है। व्यक्ति के मन का संघर्ष उसके अन्तर्द्वन्द्व तक ही सीमित रह जाता है। जस्सो को अपनी समस्या का हल नहीं मिलता तो वह जहर का घूँट पीकर हँसने का प्रयास करती है, सामाजिक विवशता के कारण आत्मा का हनन करती है; और अपनी कामनाएँ फलहीन देखकर विद्रोह के स्थान पर आध्यात्मिक शान्ति की खोज में निकल पड़ती है।

इस युग के लगभग सभी उपन्यासकारों ने पाश्चात्य प्रणाली के अनुकरण पर किये जानेवाले प्रेम की भर्त्सना की है। पाश्चात्य प्रेम के सम्बन्ध में उनका विचार यह है कि उसमें एकनिष्ठता, अनन्यता, त्याग, संयम और आत्मसमर्पण का अभाव है, जब कि भारतीय प्रेम-पद्धति में यही गुण आदर्श माने गए हैं। इसी प्रतिकूल उद्देश्य के कारण उन्होंने पाश्चात्य प्रेम-प्रणाली की कटु आलोचना की है ताकि भारतीय नारी पाश्चात्य लहर में अपने निजी व्यक्तित्व को न भुला दे। किसी प्रणाली का अंधानुकरण वांछनीय नहीं है। इन उपन्यासकारों ने कहा कि अपनी परिस्थितियों, परम्परा और संस्कृति को ध्यान में रखकर ही हम किसी प्रभाव को ग्रहण कर सकते हैं। उषादेवी मित्रा ने 'वचन का मोल'[1] और 'पिया' दोनों उपन्यासों में पाश्चात्य नक़ल पर किये गए विवाह-पूर्व प्रेम को निषिद्ध माना है।[2] भगवतीचरण वर्मा ने 'तीन वर्ष' में उच्च-वर्गीय प्रभा के प्रेम का ऐसा चित्र

---

१. 'हम क्रिश्चियन तो हैं नहीं कि शादी के पहले प्रेम करना पड़ेगा।'
उषादेवी मित्रा : 'वचन का मोल' (पृष्ठ ४२)

२. आलोक नाम का युवक प्रतिभा से कोर्टशिप करके, विवाह स्वीकार कर उसका सतीत्व नष्ट करके भाग जाता है। तब विभूति कहता है : 'कोर्टशिप का यह पुरस्कार

उपस्थित किया है कि प्रेम के प्रति श्रद्धा ही उठने लगती है। प्रभा अवकाश के क्षणों में मन बहलाने के लिए प्रेम का आश्रय लेती है। उसमें कोई गहराई या स्थायित्व नहीं है। इसी कारण विवाह की चर्चा चलने पर वह पुरुष की आर्थिक स्थिति पर अधिक बल देती है। राधिकारमणप्रसाद सिंह लिखित 'राम रहीम' में बिजली का भी ऐसा ही चरित्र है जो अनेक पुरुषों से प्रेम का स्वाँग रचती है। 'प्रसाद' ने 'तितली' में अनवरी तथा प्रेमचन्द ने 'गोदान' में मीनाक्षी जैसी उद्दण्ड और मालती जैसी स्वतन्त्र प्रकृति की नारी का चित्रण किया है। इस प्रकार नारी-उदाहरण प्रस्तुत करने के मूल में लेखक का उद्देश्य पाश्चात्य प्रेम-पद्धति के दोषों का उद्घाटन करना था। यद्यपि उन्होंने अपनी आदर्शवादिता के कारण अन्त में अधिकाँश ऐसी प्रेमिकाओं को भी त्याग, तपस्या आदि गुणों से विभूषित कर दिया है[१]

संक्षेप में, इन लेखकों का यह निश्चित मत है कि जो प्रेम केवल निजी स्वार्थ अथवा ऊपरी आकर्षण पर आश्रित होता है, वह स्थायी नहीं हो सकता। जब दो व्यक्तियों के मन मिल कर एक हो जाते हैं, तभी उनमें गहराई आती है, और उसे स्थायित्व प्राप्त होता है। इसके लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति का मन निश्छल हो, उसका दृष्टिकोण विशाल हो, उसमें आत्मसमर्पण की भावना हो, और उसे अपने कर्तव्यों का सही ज्ञान हो। तभी उसका प्रेम सफल होगा, अन्यथा वह उसके जीवन को विषाक्त बना देगा।

इस प्रकार इस युग के उपन्यासकार ने भारतीय चरित्रादर्शों से मर्यादित स्वच्छन्द प्रेम को मान्यता दी है। उनके युग की दृष्टि से यह मान्यता एक साहसपूर्ण क़दम है क्योंकि यह जर्जर जाति-वर्ण-व्यवस्था के बंधनों पर सीधा प्रहार करती है।

अन्तर्जातीय विवाह

प्रेमचन्द ने विभिन्न धार्मिक संप्रदायों के सदस्यों के बीच होने वाले अन्तर्जातीय विवाह का भी कहीं विरोध नहीं किया है। उन्होंने 'गोदान' में सरोज और रुद्रपाल के स्वच्छन्द-प्रेम और विवाह को बुरा नहीं माना है। जब रायसाहब अपने पुत्र रुद्रपाल का विवाह उसकी इच्छा के विरुद्ध अन्यत्र करना चाहते हैं तो मेहता साहब उनका मजाक उड़ाते हैं। उनके मत में प्रत्येक वयस्क व्यक्ति को अपने विवाह का दायित्व स्वयं ग्रहण करना चाहिए क्योंकि तब वह अपना हानि-लाभ समझने के योग्य हो जाता है।[१] फिर भी साधारणतः प्रेमचन्द के पात्रों ने इस प्रकार का साहसी कदम नहीं उठाया है। कई स्थलों पर प्रेमचन्द ने पात्रों के स्वच्छन्द

है पिया, अब चिढ़ने से क्या होता है? नक़ल करना है हमें विलायती और फिर वे भी बुरी चीज़ों की। तो फिर फल भोगने आयगा कौन?'
उषादेवी मित्रा : 'पिया' (पृष्ठ १४३)

१. 'आप अपनी शादी के जिम्मेदार हो सकते हैं, लड़के की शादी का दायित्व आप क्यों अपने ऊपर लेते हैं, ख़ासकर जब आपका लड़का बालिग़ है और अपना नफ़ा-नुकसान समझता है।
प्रेमचन्द : 'गोदान' (पृष्ठ ४०५)

प्रेम को सहानुभूति देते हुए भी उन्हें विवाह की स्थिति तक नहीं पहुँचाया है। सम्भवतः इस मानसिक स्थिति के पीछे लेखक के जाति-गत संस्कार ही काम कर रहे हैं। 'रंगभूमि' की सोफ़िया के जीवन में ऐसे अनेक अवसर आते हैं जब वह विनय से विवाह कर सकती थी। किन्तु प्रत्येक वार वह हिचकने लगती है और अन्त में आत्महत्या कर लेती है। 'कर्मभूमि' की सकीना के भावों में भी अनायास परिवर्तन आ जाता है और अन्त में वह अमरकान्त के प्रति अपना प्रेम भुलाकर सजातीय सलीम से विवाह कर लेती है। 'गोदान' में मालती और मेहता साहब में प्रबल और गहरा आकर्षण है। मालती की मातृत्व-भावना अतृप्त दिखाई गई है। यही नहीं, वह प्रायः अनुगता की भाँति ही मेहता साहब के स्वास्थ्य और दैनिक जीवन की देखभाल करती है, लेकिन फिर भी उनके साथ विवाह-बंधन में नहीं बँधती। उसका अनुमान है कि विवाह करने से उनका प्रेम सीमित हो जाएगा। वह अपने प्रेम को व्यापक रूप देकर समाज-सेवा में लगा देना चाहती है, और अन्त में इस निष्कर्ष पर पहुँचती है कि प्रिय पुरुष की पत्नी बनने से उसकी मित्र बनकर रहना कहीं अच्छा है![1]

जयशंकर 'प्रसाद' के जीवन-दर्शन में प्रेम के आधार पर आनन्द की प्राप्ति को लक्ष्य माना गया है। इसलिए उन्होंने स्त्री-पुरुष के चिरन्तन सम्बन्धों में प्रेम-स्वातन्त्र्य को बहुत महत्व दिया है। उनके उपन्यासों में पात्रों के विवाह प्रेम पर आधारित हैं, जाति पर नहीं। जो लोग जाति-बंधन स्वीकार करते हैं, उन्होंने उनकी कसकर आलोचना की है। 'कंकाल' में मंगल यमुना से प्रेम करके भी समाज के डर के कारण उससे विवाह नहीं करता इसलिए उसको उन्होंने कायर के रूप में चित्रित किया है। 'तितली' में शैला और इन्द्रदेव अन्तर्जातीय विवाह करते हैं। जब शैला विवाह के बाद सजातीय वाट्सन की ओर अपनी मानसिक दुर्बलता प्रकट करती है तो तितली उसे तुरन्त सँभाल लेती है।

वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यासों में चित्रित प्रेमी-प्रेमिकाओं के प्रेम की एकाग्रता और तीव्रता के कारण जाति-बंधन ढीले पड़ गए हैं। लेखक ने 'गढ़कुंडार' में प्रणय और अन्तर्जातीय विवाह को एक समस्या के रूप में रखा है। नागदेव खंगार होकर बुन्देला हेमवती को प्रेम करता है, अग्निदत्त ब्राह्मण होकर खंगार मानवती से विवाह करना चाहता है, और दिवाकर कायस्थ होकर ब्राह्मण-कन्या तारा पर न्यौछावर हो रहा है। समाज अपनी प्रथा के कारण इस प्रेम को विवाह का रूप नहीं दे पाता, इसलिए समूचे उपन्यास में जाति-पाँति के बंधन के प्रति असंतोष और विद्रोह की भावना निहित है। नागदेव और अग्निदत्त अपने प्रेम में विफल होते हैं, दिवाकर सफल। दिवाकर की सफलता का रहस्य यह है कि दोनों ओर प्रेम की उत्कटता एक-सी थी, बल्कि तारा का प्रेम दिवाकर से भी

---

१. 'अन्त में मैंने यह तय किया है कि मित्र बन कर रहना स्त्री-पुरुष बनकर रहने से कहीं सुखकर है।'

प्रेमचन्द : 'गोदान' (पृष्ठ ४३२)

अधिक गहरा सिद्ध होता है। किन्तु हेमवती और मानवती में इतना संकल्प नहीं था कि वे समाज की अवहेलना कर सकतीं,' इसलिए उनका प्रेम हार जाता है। स्वयं दिवाकर और तारा में समाज की रूढ़ियों को तोड़ने का साहस तो है, पर समाज के सामने डटे रहने का नहीं। वे योग-साधन का मार्ग अपनाते हैं।[1] समाज के अत्याचारों से बचने के लिए बाहर चले जाते हैं। इस प्रेम-कथा को ऐसा मोड़ देकर यद्यपि लेखक ने उसका क्रान्तिकारी प्रभाव घटा दिया है, फिर भी उसके माध्यम से वर्ण-व्यवस्था के दोषों पर कटु टिप्पणी हो गई है, जो अभिनन्दनीय है। उनके दूसरे उपन्यास 'कुण्डली चक्र' में लेखक के दृष्टिकोण में और भी प्रगति दिखाई देती है, जब पूना और अजित अन्तर्जातीय विवाह करते हैं पर फिर भी उन्हें योग-मार्ग अपनाने की आवश्यकता नहीं पड़ती। इन दोनों के प्रेम पर भी समाज चुप है। लेकिन उनके परवर्ती उपन्यास 'मृगनयनी' में यह पलायन की भावना फिर दिखाई देती है। अहीर कन्या लाखी गूजर जाति के अटल से प्रेम करती है। वे दोनों परस्पर विवाह करना चाहते हैं किन्तु समाज और धर्म के ठेकेदारों को यह सम्बन्ध स्वीकार नहीं। गाँव का पुजारी बोधन इस विवाह का सक्रिय विरोध करता है। गूजर और अहीर में विवाह-सम्बन्ध वर्णाश्रम-धर्म का अपमान माना जाता है। किन्तु लाखी और अटल अपने प्रेम पर दृढ़ रहते हैं और समाज की व्यवस्था के विरुद्ध विवाह करके एक रात गाँव छोड़कर नटों के साथ चले जाते है। इस प्रकार वृन्दावनलाल वर्मा ने अपने उपन्यासों में स्वच्छन्द प्रेम और अन्तर्जातीय विवाह का समर्थन किया है। उनके पात्रों में अन्तर्जातीय विवाह करने का भी साहस है यद्यपि वे समाज की आलोचना से बचना चाहते हैं।

सेठ गोविन्ददास लिखित 'इन्दुमती' में इन्दुमती कायस्थ है और उसका प्रेमी ललित-मोहन मारवाड़ी वैश्य। किन्तु अपनी उच्च-शिक्षा और स्वतन्त्र व्यक्तित्व-विकास के फलस्वरूप राष्ट्रीय जागरण के प्रथम चरण में ही वह अन्तर्जातीय विवाह जैसा साहसपूर्ण क़दम उठाती है। इंदुमती के श्वसुर इस विवाह के कट्टर विरोधी हैं इसीलिए ये दम्पति अपनी पैतृक धन-सम्पत्ति का त्याग कर बड़े साहसपूर्वक स्वतन्त्र रूप से प्रेममय जीवन-यापन करते हैं। अन्त में नई पीढ़ी के सम्मुख पुरानी पीढ़ी को झुकना ही पड़ता है।

निराला अपने विचारों में इन लेखकों से आगे निकल गये हैं। उनके 'निरुपमा' उपन्यास में प्राचीन संस्कारों में पली बड़ी-बूढ़ी स्त्रियाँ भी अन्तर्जातीय विवाह के पक्ष में

---

१. विवाहोपरान्त दिवाकर अपने भविष्य के सम्बन्ध में कहता है : 'तारा, हमारा संयोग अखंड और अनंत है। वर्णाश्रम धर्म हमारी देहों के संयोग का निषेध कर सकता है परन्तु आत्मा के संयोग का निषेध नहीं कर सकता। यही हमारा संयोग है। तारा, हम लोग योग-साधन करेंगे।'
वृन्दावनलाल वर्मा : 'गढ़कुंडार' (पृष्ठ ४६६)

हैं। यह बात थोड़ी अस्वाभाविक लगती है। यहाँ तक कि कुमार की माँ अपने पुत्र का विवाह एंग्लो इन्डियन महिला से करने में भी कोई बुराई नहीं देखती। उनके मत में जिस लड़की पर पुत्र का स्नेह होगा उस लड़की पर माँ का स्नेह होना स्वाभाविक बात है। अन्त में कुमार और निरुपमा का अन्तर्जातीय विवाह सम्पन्न होता है। बाद में इस सम्बन्ध को समाज भी मान लेता है।

विश्वंभरनाथ शर्मा 'कौशिक' ने 'भिखारिणी' में मुख्य रूप से अन्तर्जातीय विवाह की समस्या उठाई है। जाति-भेद के फलस्वरूप प्रेम-विवाह न हो सकने के कारण कितने अबोध जीवन नष्ट हो जाते हैं, यही विषमता इस उपन्यास की मुख्य समस्या है। इसलिए इस उपन्यास में जाति-भेद के दुष्परिणामों पर विस्तार से विचार किया गया है। नंदराम-सिंह और सोना को अन्तर्जातीय विवाह सूत्र में बाँधकर लेखक ने यद्यपि एक क्रान्तिकारी कदम भी उठाया है तथापि उसका अन्त दुष्परिणाम में दिखाया है। लेखक ने समाधान के समय कहा है कि जिस सम्बन्ध को समाज अनुचित मानता है, उसे हेय दृष्टि से देखता है, वह व्यक्ति के लिए कभी शुभ नहीं हो सकता, क्योंकि समाज की सम्मति के बिना या उससे छिपकर किया गया कार्य पाप की कोटि में आता है और उसका अंत अनिवार्यतः दुखद होता है।

प्रफुल्लचंद्र ओझा 'मुक्त' ने 'पाप और पुण्य' में अन्तर्जातीय विवाह के समर्थन में बड़े-बड़े भाषण दिलवाये हैं।[1] अरुण और जान्हवी अन्तर्जातीय विवाह भी करते हैं किन्तु अन्त में बड़े नाटकीय ढंग से लेखक यह दिखाता है कि वास्तव में वे बचपन में विवाह-सूत्र में बँध चुके थे। उपन्यास की यह घटना अन्तर्जातीय विवाह के पक्ष को कमजोर ही करती है।

इस प्रकार इस युग के उपन्यासों में अन्तर्जातीय विवाह की समस्या को वह महत्व नहीं मिल सका है जो स्वतन्त्र प्रेम की समस्या को दिया गया है। यही कारण है कि इस युग के अधिकांश उपन्यासकार युवक-युवतियों के आकर्षण-विकर्षण, उनके मानसिक द्वन्द्व और स्वतन्त्र प्रेम के चित्रण मात्र से संतुष्ट हो गए हैं। स्वतन्त्र प्रेम की समस्या को सहानुभूति से देखने के कारण, जहाँ भी अन्तर्जातीय विवाह की समस्या उठी है, वहाँ धीमे स्वर में उसका समर्थन करने की ही चेष्टा की है। केवल पं० गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' ने अपने उपन्यास 'अरुणोदय' में अन्तर्जातीय विवाह की भीषण रूप से छीछालेदर की है। फिर भी अधिकाँश उपन्यासों में पात्रों को अन्तर्जातीय विवाह की स्थिति तक कम पहुँचाया गया है। 'प्रसाद', 'निराला' और वृन्दावनलाल वर्मा ही ऐसे उपन्यासकार हैं जिन्होंने इस ओर साहसपूर्वक क़दम उठाया है।

---

१. 'जाति-पाँति के झूठे अभिमान में भर कर अपना सर्वनाश न कीजिये; ऊँच का आडम्बर फैला कर अपने को नीचे मत गिराइये।'
प्रफुल्लचन्द्र ओझा 'मुक्त': 'पाप और पुण्य' (पृष्ठ २१४)

असफल विवाह और तलाक की समस्या

नई सामाजिक चेतना के फलस्वरूप प्रेमचन्द-युग में तलाक़ की समस्या भी उठ खड़ी हुई थी। किन्तु इस युग के किसी भी उपन्यासकार ने तलाक़ को वांछनीय नहीं माना है। वैवाहिक जीवन की असफलता की ओर लेखकों का ध्यान तो गया है, और कहीं-कहीं इस विषमता-पूर्ण जीवन से मुक्ति पाने के लिए या पति के अत्याचारों का प्रतिशोध लेने के लिए पत्नी के मन में विद्रोह भी उत्पन्न हुआ है किन्तु तलाक़ की अनुमति किसी लेखक ने नहीं दी है।

प्रेमचन्द लिखित 'कर्मभूमि' में अमरकान्त जब सकीना से प्रेम करता है और बिना कुछ कहे अपनी पत्नी सुखदा को छोड़कर चला जाता है तो सुखदा के मन में जो विद्रोह की भावना विकसित होती है वह तलाक़ की ओर सीधा संकेत करती हुई प्रतीत होती है। प्रेमचन्द उसके मन का विद्रोह इन शब्दों में प्रकट करते हैं: 'उसका विद्रोही मन सारे संसार से प्रतिकार करने के लिए जैसे नंगी तलवार लिये खड़ा रहता है। कभी-कभी उसका मन इतना उद्विग्न हो जाता है कि समाज और धर्म के सारे बन्धनों को तोड़कर फेंक दे। ऐसे आदमियों की सजा यही है कि उनकी स्त्रियाँ भी उन्हीं के मार्ग पर चलें। तब उनकी आँखें खुलेंगी और उन्हें ज्ञात होगा कि जलना किसे कहते हैं। एक मैं कुल-मर्यादा के नाम को रोया करूँ; लेकिन यह अत्याचार बहुत दिन नहीं चलेगा। अब कोई इस भ्रम में न रहे कि पति चाहे जो कहे, उसकी स्त्री उसके पाँव धो-धोकर पियेगी, उसे अपना देवता समझेगी, उसके पाँव दबायेगी और वह उससे हँसकर बोलेगा, तो अपने भाग्य को धन्य मानेगी। वह दिन लद गए। इस विषय में उसने पत्रों में कई लेख भी लिखे हैं।'[1]

'रंगभूमि' में भी प्रेमचन्द ने इन्दु और महेन्द्रकुमार के दाम्पत्य जीवन की घोर विसंगति का मार्मिक चित्रण किया है। उन दोनों का मत कभी भी नहीं मिल पाता। वे जो कुछ करते हैं या सोचते हैं, उसका फल सदा प्रतिकूल ही होता है।[2] अतः उनका दाम्पत्य जीवन कटु से कटुतर होता जाता है। अन्त में जब इन्दु सूरदास की प्रतिमा के लिए अपने पास से एक हजार रुपये का चन्दा दे देती है तो बात बढ़ जाती है। वह अमीर

---

१. प्रेमचन्द : 'कर्मभूमि' (पृष्ठ २०५)

२. महेन्द्रकुमार स्वयं कहते हैं : 'मैं जानता हूँ, तुम ज़िद में ऐसा नहीं करतीं। मैं यहाँ तक कह सकता हूँ, तुम मेरे आदेशानुसार चलने का प्रयास भी करती हो किन्तु फिर जो यह अपवाद हो जाता है, उसका क्या कारण है ? क्या यह बात तो नहीं कि पूर्व जन्म में हम और तुम एक दूसरे के शत्रु थे; यों विधाता ने मेरी अभिलाषाओं और मंसूबों का सर्वनाश करने के लिए ही मेरे पल्ले बाँध दिया है ? मैं बहुधा इसी विचार में पड़ा रहता हूँ, पर कुछ रहस्य नहीं खुलता।'
प्रेमचन्द : 'रंगभूमि' दूसरा भाग (पृष्ठ १३७-१३८)

घर की बेटी है, जिन्दगी भर लौंडी बनना पसन्द नहीं करती।[१] उधर महेन्द्रकुमार भी उससे मुक्ति पाना चाहते हैं।[२] अभिमानिनी प्रकृति की इन्दु पति द्वारा अपमानित होने पर 'स्त्री-धन' लेकर पति-गृह छोड़कर मातृ-गृह चली आती है।[३] कानूनी कार्यवाही तक न पहुँचने पर भी यह घटना तलाक़ की ही श्रेणी में आती है। किन्तु ऐसा कटु दाम्पत्य जीवन व्यतीत करने पर भी जब इन्दु पति से सम्बन्ध-विच्छेद कर मातृ-गृह लौटती है तो उसकी माँ को अच्छा नहीं लगता। वह कहती है: 'तुमने उससे बिना पूछे चन्दा क्यों लिखा?'

'इन्दु : मैंने किसी के हाथों अपनी आत्मा नहीं बेची है।'

'जाह्नवी : जो स्त्री अपने पुरुष का अपमान करती है, उसे लोक-परलोक कहीं शान्ति नहीं मिलती।'

'इन्दु: क्या आप चाहती हैं कि यहाँ से भी चली जाऊँ? मेरे घाव पर नमक न छिड़कें।'

'जाह्नवी : 'पछताओगी, और क्या। समझाते-समझाते हार गई, पर तुमने अपना हठ न छोड़ा।'[४]

इस चित्रण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचने को बाध्य होते हैं कि प्रेमचन्द के मत में सुखी वैवाहिक जीवन का उत्तरदायित्व पति से अधिक पत्नी पर है। पत्नी को पति की इच्छानुसार आचरण करना चाहिये ताकि विच्छेद की स्थिति ही न आने पाये।

प्रेमचन्द लिखित 'गोदान' में भी मिस्टर खन्ना और मिसेज खन्ना के कटु वैवाहिक जीवन का इतना अधिक चित्रण हुआ है कि ऐसी स्थिति से मुक्ति के उपाय के रूप में पाठक का ध्यान बरबस तलाक़ की ओर चला जाता है। मिसेज खन्ना अपने पति के अत्याचारों से दुखी होकर एक बार घर से निकल भी पड़ती है, किन्तु बात तलाक़ तक नहीं पहुँचती। मेहता साहब मिसेज खन्ना को घर लौटा लाते हैं और मातृत्व के उत्तरदायित्व का स्मरण कराते हैं। बाद में पति-पत्नी में सन्धि हो जाती है। इसी प्रकार 'कर्मभूमि' में सुखदा और अमरकान्त भी अन्त में अपनी-अपनी भूल स्वीकार करते हैं। प्रेमचन्द

---

१. 'आपको अपनी कीर्ति और सम्मान मुबारक रहे; मेरा भी ईश्वर मालिक है। मैं भी जिन्दगी से तंग आ गई। कहाँ तक लौंडी बनूँ, अब हद हो गई।'
प्रेमचंद : 'रंगभूमि' दूसरा भाग (पृष्ठ ३९८)

२. महेन्द्रकुमार कहते हैं : 'न-जाने वह कौन दिन होगा कि तुमसे मेरा गला छूटेगा। मौत के सिवा शायद अब कहीं ठिकाना नहीं है।'
वही : (पृष्ठ ३९८)

३. इन्दु : 'अच्छा अब चुप रहिये, बहुत हो गया, मैं आपकी गालियाँ सुनने नहीं आई हूँ, यह लीजिये अपना घर, खूब टाँगें फैला कर सोइए।'
वही : (पृष्ठ ३९८)

४. वही : (पृष्ठ ४००)

विवाह को एक पवित्र बंधन मानते थे जिसको तोड़ने का अधिकार न पति को था, न पत्नी को।"[1]

प्रफुल्लचन्द्र ओझा 'मुक्त' ने तो 'तलाक़' (१९३२) उपन्यास उसके गुण-दोषों पर विचार करने के लिए ही लिखा। चुन्नी और निरुकार के असंतोषमय जीवन को देखकर पाश्चात्य विचारधारा का प्रतीक डाक्टर चुन्नी को तलाक़ देने की सलाह देता है : 'हमारे समाज की वैवाहिक-प्रथा बहुत ही विशृंखल हो गई है, फिर भी शृंखला उसकी इतनी मज-बूत और अटूट है कि वह हमारा-तुम्हारा गला घोंट देती है। तो, इसी से, मैं वैवाहिक-प्रथा के ही विरुद्ध हूँ। लेकिन, जिनका विवाह हो चुका है और पति-पत्नी का मन नहीं मिलता, तो मैं उनको यही नेक सलाह दूंगा कि वे एक-दूसरे को तलाक़ देकर एक-दूसरे के मार्ग से हट जावें। स्वयं सुखी हों और दूसरों को सुखी होने दें। घुल-घुलकर मरने और मारने में कोई मजा नहीं है। मनुष्य को अपने हृदय की संकीर्णता दूर करनी ही होगी, तभी समाज का, देश का और व्यक्ति का कल्याण होगा। मनुष्य प्रेम के बंधन में बँध कर रह सकता है, कानून या रीति-रिवाजों के नहीं। उसे यदि जबर्दस्ती बाँधने की चेष्टा की जाएगी, तो उसके जीवन का दुरुपयोग होगा।[2] किन्तु हिन्दू संस्कृति में पली चुन्नी को यह पथ पसन्द नहीं है। वह यह मानती है कि स्वामी से अलग रहकर पत्नी सुखी रह ही नहीं सकती।[3] उधर निरुकार को यह गलतफहमी हो जाती है कि चुन्नी उसे तलाक़ देना चाहती है। इसी गलतफहमी के कारण वह कहीं चला जाता है जिसके फलस्वरूप दोनों ही सुख से वंचित हो जाते हैं। लेखक ने यद्यपि समस्या का कोई समाधान उपस्थित नहीं किया है किन्तु अन्त में दोनों के विशृंखल जीवन को देखकर यही प्रतीत होता है कि लेखक तलाक को पसन्द नहीं करता।

प्रतापनारायण श्रीवास्तव ने अपने 'विदा' और 'विकास' दोनों उपन्यासों में तलाक़ का विरोध किया है। उनके मत में तलाक़ पश्चिमी सभ्यता का कलंक है जहाँ विवाह वासना की तृप्ति के लिए किये जाते हैं।[4] इसके विपरीत भारतीय समाज में विवाह को

---

१. 'विवाह को मैं सामाजिक समझौता समझता हूँ और उसे तोड़ने का अधिकार न पुरुष को है, न स्त्री को।'
प्रेमचन्द : 'गोदान' (पृष्ठ ७५)

२. प्रफुल्लचंद्र ओझा 'मुक्त' : 'तलाक़' (पृष्ठ २३२)

३. 'मैं हिन्दू की कन्या हूँ, हिन्दू के घर में पैदा हुई हूँ, हिन्दुस्तान के अन्न-जल से मेरा शरीर पला है। मैं अपना कर्तव्य कैसे भूल सकती हूँ ? वो मेरे स्वामी हैं—कैसे भी हों, यह बात मैं कैसे भूल जाऊँ कि वो मेरे स्वामी हैं। स्वामी कैसा भी हो, स्त्री उससे अलग होकर कैसे सुखी रह सकती है, यह जिन्दगी तो इन्हीं के साथ पार होगी. . .फिर चाहे हँसकर हो, या रोकर।' वही : (पृष्ठ २३२)

४. प्रतापनारायण श्रीवास्तव : 'विदा' (पृष्ठ १९४)

पवित्र बंधन मानते हैं। इसको तलाक़ द्वारा तोड़ना जघन्य कर्म है।[1] अतः तलाक़ बिल पास होने से गृहस्थ-जीवन छिन्न-भिन्न हो जाएगा। ज़रा-ज़रा-सी बात पर तलाक़ होने लगेंगे और मनुष्य पशु के समान हो जाएगा।[2]

तलाक़ की अनुमति न देने के कारण यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि फिर असफल दाम्पत्य जीवन से मुक्ति पाने का क्या उपाय है। इसके लिए उपन्यासकार अनमेल विवाह को मिटा देने की बात कहता है। क्योंकि उसके मत में अनमेल विवाह के ही कारण दाम्पत्य-जीवन में विसंगतियाँ उत्पन्न होती हैं। 'विदा' की चपला कहती है: 'प्रतिकार के लिए हमको यह जरूरी है कि हम उसकी जड़ नाश करें, यह नहीं कि बीच में दवा देकर उस रोग को शान्त करने का उपाय करें। इस अशान्ति की जड़ है अनमेल विवाह। इसको रोकना चाहिए। स्त्रियों को शिक्षा दी जाए, और उनको भी यह अधिकार हो कि वे अपनी सम्मति या असम्मति निस्संकोच प्रकट कर सकें। हर एक लड़के-लड़की का जैसा भी चरित्र रहा हो, वह वहाँ लिखा रहना चाहिये, जहाँ उसने शिक्षा पाई है। लड़का और लड़की दोनों एक दूसरे का चरित्र-इतिहास देख जाएँ, अगर दोनों की सम्मति हो, तो विवाह किया जाए, नहीं तो नहीं।'[3]

नारी की आभूषण-प्रियता

नारी की आभूषण-प्रियता की समस्या आर्थिक ही नहीं है, वह सांस्कृतिक और मनोवैज्ञानिक भी है। आभूषण-प्रियता की प्रवृत्ति उच्च, मध्य और निम्न तीनों वर्गों की नारियों में समान रूप से पाई जाती है। उच्च वर्ग में वह समस्या बनकर सामने नहीं आती क्योंकि उसकी उत्तम आर्थिक स्थिति के कारण आभूषण-प्रेम न तो अस्वाभाविक लगता है और उनकी प्राप्ति के लिए न किसी प्रकार की कठिनाई का सामना करना पड़ता है। इसी प्रकार निम्नवर्ग में भी उसका कोई जटिल रूप नहीं मिलता; क्योंकि उस वर्ग की नारी अपनी आर्थिक दुरवस्था की अभ्यस्त होती है। किन्तु मध्य-वित्त समाज में यह समस्या विकट रूप धारण करके सामने आती है, क्योंकि मध्यवर्ग की आर्थिक स्थिति अनिश्चित और डाँवाडोल होती है, परन्तु वह अपने-आपको उसी प्रतिष्ठा और सम्मान का अधिकारी समझता है, जो उच्च-वर्ग को मिलती है। इन विषम स्थितियों के कारण उसका जीवन दुःखमय बन जाता है और उसे कभी-कभी अपनी इस इच्छा की पूर्ति के लिए झूठ, प्रवंचना, चोरी, छल और पलायन सभी का सहारा लेना पड़ता है।

आभूषणों के प्रति नारी के इस असाधारण मोह का एक और कारण है। बचपन से ही भारतीय परिवार में कन्या अपने पूर्वजों और गुरुजनों से आभूषण-प्रेम की परम्परा में

---

१. प्रतापनारायण श्रीवास्तव : 'विदा' (पृष्ठ १९६)
२. प्रतापनारायण श्रीवास्तव : 'विकास' (पृष्ठ २९३)
३. प्रतापनारायण श्रीवास्तव : 'विदा' (पृष्ठ १९४)

दीक्षित हो जाती है। उठते-बैठते, सोते-जागते वह नारी-समुदाय में इन्हीं की चर्चा विशेष रूप से पाती है, जिसके फलस्वरूप उसके अबोध मन पर आभूषणों के प्रति एक अमिट-ललक अंकित हो जाती है। प्राचीन परिपाटी पर चलने वाले परिवार में तो नारी के लिए विवाह का अर्थ विशेषतः आभूषणों की प्राप्ति ही होने लग गया था। यदि किसी कारण-वश विवाह में उसे सन्तोषजनक आभूषण न मिल पाते, तो उसका धक्का वह जीवन भर न भूल सकती थी। यही नहीं, अपढ़ नारी का मन आभूषणों को ही पति-प्रेम का प्रमाण मानता है। यह कहना अत्युक्ति न होगी कि प्रेमचन्द के युग में भी विवाहित जीवन के सुख और आनन्द का प्रतीक नारी ने आभूषण को ही माना था। यदि नारी के पास भड़कीले गहने हैं तो नारी-समाज उसे सौभाग्यवती और सुखी मानने पर बाध्य होता था। यही कारण है कि मध्यवर्ग की नारी के प्राण आभूषणों में ही बसते थे। और आभूषणों का अभाव, या आभूषणों की हानि उसके जीवन को दुःख और अशान्ति की कहानी बना देती थी।

ऐसी परिस्थिति में यह स्वाभाविक ही था कि प्रेमचन्द का ध्यान नारी की इस समस्या की ओर जाता। उन्होंने प्रत्यक्ष अनुभव किया कि इस समस्या के कारण घर-के-घर तबाह हो जाते हैं। इसीलिए अपने उपन्यास 'ग़बन' में उन्होंने इस समस्या को ही कथानक का केन्द्र बनाया है। उन्होंने नारी की आभूषण-प्रियता के सारे पहलुओं को मार्मिक ढंग से उपस्थित करने के लिए जालपा जैसी मध्यवर्गीय नारी को अपनी सम्वेदना का विषय बनाया है और उसको व्यक्ति-विशेष के रूप में न देखकर एक वर्ग-विशेष के रूप में चित्रित किया है, जिससे इस उपन्यास का महत्व बहुत बढ़ गया है। जालपा की मनोवृत्ति समूचे मध्यवर्गीय नारी-समाज की मनोवृत्ति है जिसके कारण वह अपना और अपने परिवार का जीवन अशान्तिमय बना देती है। नारी के मन में आभूषणों का मोह इतना अधिक होता है कि उनकी प्राप्ति के लिए अन्य सभी सुखों को तुच्छ मानती है, यहाँ तक कि वह अपने पति, सास, श्वसुर, माँ-बाप के प्रेम को भी आभूषणों की तुला में ही तौलती है।

प्रेमचन्द ने नारी की आभूषण-प्रियता को एक सामाजिक समस्या के रूप में लिया है। इसलिए उन्होंने उसके कारण, प्रभाव और निदान-सभी पक्षों पर गंभीरता से विचार किया है। बचपन से ही नारी कैसे आभूषण प्रिय बन जाती है, विवाहोपरान्त उसकी इस इच्छा का कैसे विकास होता है, कैसे घर की शान्ति-भंग होती है तथा उसके क्या दुष्परिणाम होते हैं—इन सभी घटनाओं का उन्होंने ऊहापोहात्मक चित्रण किया है। जालपा जब अबोध बालिका थी तभी उसने अपनी दादी से गहनों की चर्चा सुनी थी। उसके पिता उसके खेलने के लिए खिलौनों के स्थान पर गहने लाया करते। जालपा स्वयं गुड़ियों का खेल खेलते समय आभूषणों को लेकर मान-लीला करती रहती। नारी-समाज में आभूषणों को लेकर सदा मनोरंजक प्रसंग छिड़ता रहता। जालपा की माँ मानकी चन्द्रहार पाकर मुग्ध हो गई थी, उसके बहुत दिनों की साध पूरी हुई थी। फलतः बचपन में ही जालपा आभूषणों के ही कारण अपनी माँ से भी होड़ करती पाई जाती है।

जालपा माँ से ही कहती है, 'तुमने अपने लिए बनवाया है, मेरे लिए क्यों नहीं बनवाती।'[१] ससुराल से उसके लिए नया चंद्रहार आएगा, यह सुनकर वह भविष्य के स्वप्न देखती हुई बिल्लौर के नकली चंद्रहार से ही संतोष करती है। किन्तु अपने विवाह के अवसर पर जब वह देखती है कि उसके ससुराल से भी चंद्रहार नहीं आया तब मानो उसकी चिर-संचित अभिलाषा पर तुषारापात हो जाता है। 'उसके कलेजे पर चोट-सी लग गई। मालूम हुआ देह में रक्त की एक बूँद भी नहीं है। मानो उसे मूर्छा आ जाएगी। वह लालसा जो आज सात वर्ष हुए उसके हृदय में अंकुरित हुई थी, जो इस समय पुष्प और पल्लव से लदी खड़ी थी, उस पर वज्रपात हो गया। वह हराभरा लहलहाता हुआ पौधा जल गया केवल उसकी राख रह गई।'[२]

ससुराल से चंद्रहार न आने पर जालपा की यह निराशा किसी संन्यासी की तपस्या-भंग होने से कम नहीं है।

ससुराल में आकर उसकी आभूषण-प्रियता की धार और तेज़ हो जाती है। खाने-पहिनने की यही तो उम्र है—यह भावना आभूषण-लिप्सा को तीव्र कर देती है। नये-नये गहने खरीदना और बनवाना वह अपना पत्नी-सुलभ अधिकार समझती है। 'जालपा को गहनों से जितना मोह था, उतना कदाचित् संसार की और किसी वस्तु से नहीं।'[३] आभूषणों के चोरी चले जाने की बात को जानकर वह मूर्छित होकर गिर पड़ती है, उनके अभाव में वह न पति से प्रसन्न है और न सास-श्वसुर से। पति को जली-कटी सुनाती तो सास-श्वसुर को पराया समझती। आभूषण-लिप्सा के कारण नारी इतनी अंधी हो जाती है कि वह अपने घर की आर्थिक स्थिति को समझने की भी चेष्टा नहीं करती। यदि नये गहने नहीं बनते हैं तो वह यही समझती है कि घर के सब लोग उसकी उपेक्षा कर रहे हैं। और यदि हर बार कुछ-न-कुछ नया गहना बनता रहे तो दासता की जंजीर में भी अपने-आपको प्रसन्न और सुखी समझती है। नारी का यह मिथ्या आत्मसंतोष कितना दुःख-दायी है।

यह जानकर भी कि उसके पति की आमदनी कम है। जालपा नित्य ही उसे सराफ़े की ओर जाने को प्रेरित करती है। अपनी सहेलियों को लिखे गए उसके पत्रों से पता चलता है कि वह गहनों के अभाव में अपने जीवन को व्यर्थ समझती है। रमानाथ की नौकरी लगने की खबर सुनकर वह सबसे पहले अपने लिए एक चंद्रहार बनवाने की इच्छा प्रकट करती है। इसके लिए वह रमानाथ के रिश्वत लेने को भी बुरा नहीं मानती और अपनी सास को वेतन की रकम घटाकर सिर्फ पंद्रह रुपये बताने की बात कहती है। आवश्यक धन इकट्ठा होने तक वह अपनी अतृप्त भावना को बहलाने की दृष्टि

१. प्रेमचन्द : 'ग़बन' (पृष्ठ ५)
२. वही : (पृष्ठ १२)
३. वही : (पृष्ठ २८)

से छिप-छिप कर आभूषणों के एक पुराने सूचीपत्र को बड़ी तन्मयता से देखती रहती है।

प्रेमचन्द ने नारी के आभूषण-प्रेम की वृत्ति को एक समस्या के रूप में उपस्थित करने के कारण सभी नारियों के हृदय में मोह और पुरुषों के हृदय में चिन्ता का चित्रण किया है। किन्तु उच्च वर्ग में आर्थिक कठिनाई न होने के कारण यह समस्या कुछ भिन्न रूप में दिखाई देती है। वहाँ नारी की ओर से पूर्ण आग्रह है किन्तु पुरुष को उस आग्रह में किसी प्रकार का कष्ट नहीं है। प्रत्युत नारी को गहनों का पुरस्कार दे कर वह उसके हृदय को अनायास जीत लेता है। गहनों का यह उपहार पाकर नारी अपने जीवन के अन्य असंतोषों को भुला देना चाहती है। 'ग़बन' की रतन इस उच्च नारी वर्ग की प्रतीक है। वह अपने पास दो जोड़ी कंगन होने पर भी तीसरी जोड़ी बनवाती है। उसके पति वकील साहब हाथों-हाथ जौहरी से उसके लिए साढ़े ग्यारह सौ रुपये का हार खरीद लेते हैं।

नारी की आभूषण-प्रियता के कारण निम्नवर्ग में भी एक समस्या उठ खड़ी होती है। 'ग़बन' में ही देवीदीन जिन शब्दों में अपनी बुड्ढ़ी पत्नी का परिचय देता है उससे उस समाज की नारी की मनोवृत्ति, पुरुष की परेशानी एवं उस समाज की आर्थिक समस्या पर प्रकाश पड़ता है। 'अब भी गहने पहनती है। सोने की बालियां और सोने की हँसुली पहने दूकान पर बैठी रहती है — अब भी एक-न-एक गहना बनवाती ही रहती है। न जाने कब इसका पेट भरेगा। सब घरों का यही हाल है। जहाँ देखो हाय गहने। गहने के पीछे जान दे दें। घर के आदमियों को भूखा मारें, घर की चीज़ें बेचें। और कहाँ तक कहूँ अपनी आबरू तक बेच दें। छोटे-बड़े, अमीर-ग़रीब सब को यही रोग लगा हुआ है।'[1] देवीदीन और पुलिस इन्सपैक्टर आभूषण-प्रियता को ही ग़बन के अपराध का मूल कारण बताते हैं। स्वयं देवीदीन अपनी पत्नी की आभूषण-लालसा के कारण तीन वर्ष की जेल काट चुका है।

जेब में रुपये न होने पर भी जब रमानाथ रमेश से सर्राफ तक चलने का अनुरोध करता है तब प्रत्युत्तर में रमेश जो कुछ कहता है, उसके द्वारा स्वयं प्रेमचन्द ही मानो नारी की प्रवृत्ति और देश की आर्थिक परिस्थिति से दुखी होकर भारतीय नारी को शिक्षा देना चाहते हैं: 'गहनों का मर्ज़ न जाने इस दरिद्र देश में कैसे फैल गया? जिन लोगों के भोजन का ठिकाना नहीं, वे भी गहनों के पीछे प्राण देते हैं। हर साल अरबों रुपये केवल सोना-चाँदी खरीदने में व्यय हो जाते हैं। संसार के और किसी देश में इन धातुओं की इतनी खपत नहीं होती। बात क्या है। उन्नत देशों में धन व्यापार में लगता है, जिससे लोगों की परिवरिश होती है और देश का धन बढ़ता है। यहाँ धन शृंगार में खर्च होता है, उससे उन्नति और उपकार की जो महान शक्तियाँ हैं, उन दोनों का ही अन्त हो जाता है। बस, यही समझ लो कि जिस देश में लोग जितने मूर्ख होंगे, वहाँ जेवरों का प्रचार भी उतना ही अधिक होगा।......धन जो भोजन में खर्च होना चाहिए, बाल-बच्चों का पेट

---

१. प्रेमचंद : 'ग़बन' (पृष्ठ १३९)

काट कर गहनों की भेंट कर दिया जाता है। बच्चों को दूध न मिले, न सही। घी की गंध तक उनकी नाक में न पहुँचे, न सही। मेवों और फलों के दर्शन उन्हें न हों, कोई परवाह नहीं, पर देवी जी गहने जरूर पहनेंगी और स्वामी जी गहने जरूर बनवायेंगे। दस-दस, बीस-बीस रुपये पाने वाले क्लर्कों को देखता हूँ जो सड़ी हुई कोठरियों में पशुओं की भाँति जीवन काटते हैं, जिन्हें सवेरे का जलपान तक मयस्सर नहीं होता, उन पर भी गहनों की सनक सवार रहती है। इस प्रकार से हमारा सर्वनाश होता जा रहा है। मैं तो कहता हूँ, यह गुलामी पराधीनता से बढ़कर है। इसके कारण हमारा कितना आत्मिक, नैतिक, दैहिक, आर्थिक और धार्मिक पतन हो रहा है, इसका अनुमान ब्रह्मा भी नहीं कर सकते।'[१]

व्यथित हृदय से निकले इस उद्‌गार में प्रेमचन्द ने गहनों के प्रति नर-नारी के दृष्टिकोण एवं आर्थिक विषमता का कितना यथार्थ चित्रण किया है। गहनों की समस्या केवल नारी की ही समस्या नहीं है, पुरुष भी नारी को गहने देकर, उसे पहना कर अपना गौरव एवं अपने कर्तव्य की पूर्ति समझता है। गहनों की प्रथा के फलस्वरूप हमें जीवन में कितनी अनैतिकता एवं आर्थिक संकट का सामना करना पड़ता है, इसका विस्तृत चित्रण करके प्रेमचन्द ने हमें अपना भविष्य सुधारने की जो प्रेरणा दी, उसके लिए भारतीय नारी सदा उनकी कृतज्ञ रहेगी।

जालपा के आभूषण-प्रेम और अपने मिथ्या प्रदर्शन के कारण ही रमानाथ कर्ज से लदता है, मानसिक यातनाएँ सहता है और अन्त में एक दिन झूठी प्रतिष्ठा के भण्डाफोड़ के अवसर पर कायरों की भाँति घर से भाग जाता है। इस प्रकार आभूषण-प्रेम की प्रवृत्ति अपनी चरम सीमा पर पहुँचकर सारे परिवार के जीवन को नष्ट कर देती है।

प्रेमचन्द ने 'कायाकल्प' में भी स्त्रियों के आभूषण-प्रेम की चर्चा की है।[२] किन्तु यह बात ध्यान देने की है कि प्रेमचन्द ने गहने पहनने को इतना बुरा नहीं माना है जितना उनके प्रति अत्यधिक मोह की उस भावना को जिसके कारण पारिवारिक शान्ति नष्ट हो जाती है। उन्होंने नारी की आभूषण-प्रियता की समस्या को सामाजिक और आर्थिक समस्या के रूप में ग्रहण किया है और समाज-सुधार की दृष्टि से उस पर गम्भीरता से विचार किया है। उन्होंने इसके लिए केवल नारी को दोषी न ठहराकर समाज की दूषित मनोवृत्ति पर ही मुख्य रूप से प्रहार किया है। प्रेमचन्द आदर्शवादी थे। वे नारी को त्याग और क्षमा की मूर्ति समझते थे। अतः एक ओर जहाँ उन्होंने नारी के इस असाधारण मोह की

---

१. प्रेमचंद : 'ग़बन' (पृष्ठ ५२)

२. 'रानी देवप्रिया के बहुमूल्य आभूषणों के लिए तो वह संग्राम छिड़ा कि कई दिनों तक आपस में गोलियाँ-सी चलती रहीं। राजा साहब पर क्या बीत रही है, राज्य की क्या दशा है, इसकी किसी को सुधि न थी। उनके जीवन में यदि कोई वस्तु थी तो वह रत्न और आभूषण थे।'
प्रेमचन्द : 'कायाकल्प' (पृष्ठ १९७)

भर्त्सना की है, वहाँ दूसरी ओर यह भी चित्रित किया है कि संकट के समय नारी अपने आभूषणों का त्याग करने में तनिक भी नहीं हिचकिचाती। जालपा को जैसे ही पति की परेशानियों का पता चलता है, वह स्वयं सराफे में जाकर गहने बेच देती है। 'प्रेमाश्रम' की शीलमणि भी समाज-सेवा के लिए तुरन्त अपने गहने अर्पण करने को प्रस्तुत हो जाती है। 'कर्मभूमि' की सुखदा भी श्वसुर को गहने लौटा देती है और स्वाभिमानिनी की भाँति पति से कहती है : 'तुम समझते होगे मैं गहनों के लिए कोने में बैठकर रोऊँगी, और अपने भाग्य को कोसूँगी। स्त्रियाँ अवसर पड़ने पर कितना त्याग कर सकती हैं, यह तुम नहीं जान सकते। मैं इस फटकार के बाद इन गहनों की ओर ताकना भी पाप समझती हूँ।'[1]

यद्यपि प्रेमचन्द के अतिरिक्त अन्य किसी उपन्यासकार ने इस समस्या को अपना विषय नहीं बनाया है, तथापि प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में, और विशेषतः 'गबन' में इस समस्या के सारे पहलुओं पर इतना विशद प्रकाश डाला है कि दूसरे उपन्यासकारों की यह उपेक्षा खटकती नहीं।

नारी-स्वातन्त्र्य की समस्या

प्रेमचन्द-युग में नारी-स्वतन्त्रता का प्रश्न महत्वपूर्ण बन कर सामने आया। इस युग के उपन्यासकारों ने नारी की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और उसकी आर्थिक स्वतन्त्रता दोनों पर ही विचार किया है। उन्होंने पाश्चात्य प्रणाली के अनुकरण पर आश्रित नारी-स्वतन्त्रता की जी खोलकर निन्दा करते हुए भी भारतीय आदर्शों के अनुरूप उसकी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को स्वीकार किया है। आधुनिक शिक्षा के माध्यम से शहर की नारी का विकास होता है तो खेतों में पुरुष का हाथ बँटाने के कारण ग्रामीण नारी में आत्म-विश्वास की भावना का संचार होता है। प्रेमचन्द लिखित 'प्रतिज्ञा' की सुमित्रा, 'ग़बन' की जालपा, 'कर्मभूमि' की सुखदा, 'रंगभूमि' की जाह्नवी, सोफ़ी और इन्दु, 'प्रेमाश्रम' की शीलमणि, 'गोदान' की मालती और धनिया, 'प्रसाद' लिखित 'तितली' की तितली और शैला, उषा-देवी मित्रा लिखित 'पिया' की पिया और कविता तथा 'वचन का मोल' की कजरी, प्रताप-नारायण श्रीवास्तव लिखित 'विदा' की चपला, केट, लज्जावती और कुमुदिनी, 'विजय' की कुसुम और मनोरमा, 'विकास' की मालती आदि अनेक नारियों के चरित्र-चित्रण में वैयक्तिक स्वतन्त्रता की भावना लक्षित होती है। ये नारियाँ पुरुष के प्रभुत्व के कारण कोई कार्य नहीं करतीं प्रत्युत इनके प्रत्येक कार्य के पीछे मन का सच्चा सहयोग ध्वनित होता है। किन्तु नारी की वैयक्तिक स्वतन्त्रता को सिद्धान्त-रूप में स्वीकार करते हुए भी इस युग के उपन्यासकार ने उसके आचरण की मर्यादा पर विशेष बल दिया है। कहीं पर भी उसे इतनी वैयक्तिक स्वतन्त्रता प्रदान नहीं की है कि उसका व्यवहार उच्छृंखल कहा जा सके। उसके कार्य-क्षेत्र के सम्बन्ध में घर को प्रधानता दी गई है। इसके साथ-साथ

वैयक्तिक स्वतन्त्रता

---

१. प्रेमचन्द : 'कर्मभूमि' (पृष्ठ ११३)

इन उपन्यासकारों का मत है कि भारतीय नारी को वैयक्तिक स्वतन्त्रता देने पर भी उसके मन में अनजाने ही परम्परागत पातिव्रत संस्कार इतने प्रबल हैं कि विषम-से-विषम परिस्थिति में भी वह अपनी स्वतन्त्रता का दुरुपयोग नहीं करती।

नारी की स्वतन्त्रता की समस्या का विवेचन सेठ गोविन्ददास लिखित 'इन्दुमती' में बड़े विस्तार से किया गया है। इन्दुमती प्रतिष्ठित और सम्पन्न वकील अवध-विहारी लाल की एक मात्र संतान है। प्रारम्भ से ही उसके पिता उसे केवल एक ही शिक्षा देते रहे हैं: 'विश्व में निज का व्यक्तित्व ही सब कुछ है; जो अपने को ही केन्द्र मान सब कुछ अपने लिए करता है, संसार की समस्त वस्तुओं को अपने आनन्द के लिए साधन मानता है, उसी का जीवन सुखी और सफल होता है।'[1] पिता के इस उपदेश को इन्दुमती घुट्टी की भाँति पचाकर जीवन की पगडंडियों में पैर बढ़ाती है। अपने व्यक्तित्व को ही जीवन का केन्द्र मानने के कारण वह परम्परागत भारतीय आचार से दूर रहने की भरसक चेष्टा करती है। लगता है उपन्यासकार इन्दुमती जैसी नारी के चित्रण द्वारा यह प्रयोग करना चाहता है कि यदि नारी को चेष्टा करके प्रारम्भ से ही पूर्ण वैयक्तिक स्वतन्त्रता प्रदान की जाए तो उसके व्यक्तित्व का विकास किस प्रकार होगा तथा वह उस स्वतन्त्रता का उपयोग किस प्रकार करेगी। इसीलिए इन्दुमती का चरित्र-चित्रण अन्य सभी नारी-पात्रों से एकदम भिन्न, एक विचित्र नारी के रूप में हुआ है।

इन्दुमती जब कालेज में पढ़ती है तब निज को ही महत्वपूर्ण मानने के कारण वह सभी छात्र-छात्राओं की नेत्री बन जाती है। वह मारवाड़ी-पुत्र ललितमोहन से प्रेम करती है, फिर अन्तर्जातीय विवाह करती है और राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेती है। पति की मृत्यु के उपरान्त पति के वंश की रक्षा के हेतु वह कृत्रिम गर्भाधान द्वारा पुत्र उत्पन्न करती है। कुछ दिनों बाद वह मजदूर-नेता वीरभद्र की ओर आकर्षित होती है। इसी प्रबल आकर्षण के फलस्वरूप वह मजदूरों की बस्ती में सेवा-कार्य करती है, असाधारण परि-परिस्थितियों में जन्म प्राप्त करने के कारण जब उसके पुत्र मयंक को समाज में अपमान का सामना करना पड़ता है तो वह अपने पुत्र की प्रसन्नता को निज की प्रसन्नता मानकर अमरीका चली जाती है और शशिबाला नाम से नर्तकी के रूप में ख्याति प्राप्त करती है।

इस प्रकार इन्दुमती के जीवन में अनेक मोड़ आते हैं, और प्रत्येक में वह अपने व्यक्तित्व को ही परम महत्वपूर्ण मानकर कार्य करती है। फिर भी जीवन में उसे कभी भी शान्ति का अनुभव नहीं होता। अन्त में जब वह अमरीका से स्वदेश लौटती है, तब लेखक एक थोथे सिद्धान्त के पीछे नष्ट होने-वाले उसके जीवन की व्यर्थता को छिपाने के लिए दार्शनिकता का सहारा लेने लगता है। फिर भी वह इतना तो सिद्ध कर ही देता है कि आत्म-व्यक्तित्व को सर्वोपरि मानकर अन्य परिस्थितियां और प्रभावों को ठुकराते रहने में नारीका कल्याण सम्भव नहीं है।

---

१. सेठ गोविंददास : 'इंदुमती' (पृ॰. ५३)

नारी की आर्थिक स्वतन्त्रता की समस्या

नारी-शिक्षा और पाश्चात्य प्रभाव के कारण नारी की आर्थिक स्वतन्त्रता की समस्या भी उठ खड़ी हुई थी। समाज में धीरे-धीरे यह प्रगतिशील विचारधारा फैल रही थी कि आर्थिक रूप से स्वतन्त्र हुए बिना नारी अपनी दासता की जंजीरों से पूर्णतः मुक्त नहीं हो सकती। आर्थिक स्वतन्त्रता से ही उसकी परवशता मिट सकती है, उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा और व्यक्तित्व का विकास होता है, वह पुरुष के समकक्ष खड़ी हो सकती है। किन्तु इस विचार-धारा को प्रेमचन्द-युगीन उपन्यासकारों ने स्वीकार नहीं किया है। उनका मत है कि 'स्त्री घर की स्वामिनी है और पुरुष बाहर का।'[1] 'स्त्री का जन्म अपने पति की सेवा के लिए हुआ है, और पुरुष का जन्म उसकी रक्षा के लिए। दोनों को अपने-अपने कर्तव्य-पालन करने चाहिए'[2] किन्तु इसके साथ-साथ स्त्री में इतनी योग्यता होनी चाहिए कि समय पड़ने पर अपनी जीविका का भी प्रबन्ध कर सके।[3]

यों तो इस युग के कई उपन्यासों में नारी की आर्थिक स्वतन्त्रता के उदाहरण मिल जायेंगे, जैसे यशपाल की 'दिव्या', भगवतीचरण वर्मा की 'चित्रलेखा', निराला की 'अप्सरा', चतुरसेन शास्त्री की 'वैशाली की नगर वधू' सभी आर्थिक रूप में स्वतन्त्र नारियाँ हैं। 'प्रसाद' लिखित 'तितली' की अनवरी रानी साहिबा की सेविका है। तितली स्वयं लड़कियों का स्कूल खोलती है तथा शैला नीलकोठी में ग्रामसुधार के कार्य में जुट जाती है जिसके द्वारा वह आर्थिक रूप से स्वतन्त्र होने में समर्थ होती है। 'गोदान' की मालती डाक्टर है। 'कर्मभूमि' की सुखदा एक स्कूल में अध्यापिका का कार्य करती है। किन्तु शैला, तितली और मालती को छोड़कर अन्य नारियों की आर्थिक स्वतन्त्रता को आनुषंगिक महत्व ही मिला है, उसका चित्रण नारी-स्वातन्त्र्य की समस्या और उसके समाधान के रूप में नहीं हुआ है। शैला के चित्रण से इस बात का आभास मिलता है कि 'प्रसाद' के मत में आर्थिक रूप से स्वतन्त्र होने पर ही स्त्री आपसी सम्बन्धों के विषय में मुक्त भाव से कुछ कह सकती है। शैला इन्द्रदेव पर आर्थिक रूप से निर्भर है, वह उसको प्रेम भी करती है। उसके मन में यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि कहीं आर्थिक स्वार्थ के कारण ही तो वह प्रेम नहीं करती। इसलिए वह नीलकोठी में ग्रामसुधार के कार्य द्वारा आर्थिक रूप से स्वतन्त्र हो जाना चाहती है। उसका मत है कि अपने पैरों के नीचे ठोस भूमि पाकर ही वह जीवन के बारे में निर्लिप्त भाव से सोच समझ सकती है। वह इन्द्रदेव से कहती है: 'तुमको-अपने को समान अन्तर पर रखकर कुछ दिन परीक्षा लेकर, तब मन से पूछूँगी।'[4] यहाँ 'प्रसाद'

---

१. प्रतापनारायण श्रीवास्तव : 'विदा' (पृष्ठ १८३)
२. वही (पृष्ठ १८३)
३. वही (पृष्ठ १८३)
४. जयशंकर 'प्रसाद' : 'तितली' (पृष्ठ १८३)

ने पुरुष और नारी के व्यक्तित्वों को समान भूमि पर लाकर खड़ा कर दिया है; जहाँ न किसी का प्रभुत्व है और न कोई किसी का आश्रित है।

इस प्रकार 'प्रसाद' ने नारी की आर्थिक स्वतन्त्रता का केवल एक पहलू लिया है। इस क्षेत्र में भी प्रेमचन्द ही एक ऐसे उपन्यासकार हैं जिन्होंने समस्या के सभी पहलुओं पर गम्भीरता से विचार किया है। 'गोदान' में मेहता नारी की आर्थिक स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में जो कुछ कहते है, वे मानो प्रेमचन्द के ही विचार हैं। वे स्त्री और पुरुष के कार्यक्षेत्र को भिन्न मानते हैं। मेहता कहते है: 'स्त्री को पुरुष के रूप में, पुरुष के कर्म में रत देखकर मुझे उसी तरह वेदना होती है, जैसे पुरुष को स्त्री के रूप में स्त्री के कर्म करते देखकर। मुझे विश्वास है ऐसे पुरुषों को आप अपने विश्वास और प्रेम का पात्र नहीं समझतीं और मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ, ऐसी स्त्री भी पुरुष के प्रेम और श्रद्धा का पात्र नहीं बन सकती।[1]......'देवियो, मैं उन लोगों में नहीं हूँ, जो कहते हैं, स्त्री और पुरुष में समान शक्तियाँ हैं, समान प्रवृत्तियाँ हैं, और उनमें कोई भिन्नता नहीं है। इससे भयंकर असत्य की मैं कल्पना नहीं कर सकता'[2]......'आपकी विद्या और आपका अधिकार हिंसा और विध्वंस में नहीं, सृष्टि और पालन में है। क्या आप समझती हैं, वोटों से मानव-जाति का उद्धार होगा या दफ्तरों में और अदालतों में ज़बान और क़लम चलाने से? इन नक़ली अप्राकृतिक, विनाशकारी अधिकारों के लिए आप वे अधिकार छोड़ देना चाहती हैं, जो आपको प्रकृति ने दिये हैं।'[3]

प्रेमचन्द ने नारी की आर्थिक स्वतन्त्रता को पाश्चात्य आदर्श मानकर उसकी भर्त्सना की है। इसके विपरीत भारतीय नारी का आदर्श उन्होंने गृह-संचालन माना है। पत्नी यदि अर्थोपार्जन करती है तो पति के आत्म-सम्मान और अहं को धक्का लगता है।[4] फिर भी प्रेमचन्द ने संकट के समय नारी द्वारा अर्थोपार्जन का समर्थन किया है। 'कर्मभूमि' में सुखदा जब ससुराल त्यागकर अपना घर अलग बसाती है और मायके से मिले गहने भी अपनी माँ को लौटा देती है तो उसके पति अमरकान्त को बुरा लगता है। किन्तु वह पति को ढाढ़स दिलाती हुई आत्म-सम्मानपूर्वक कहती है: 'मैं तुम्हारे भरोसे पर नहीं

---

१. प्रेमचन्द : 'गोदान' (पृष्ठ १९९)
२. वही : (पृष्ठ २००)
३. वही : (पृष्ठ २०३)
४. 'कायाकल्प' में अहल्या लेख आदि लिखकर कुछ अर्थोपार्जन करती है किन्तु उ इस कार्य से उसके पति चक्रधर के अहं को आघात पहुँचता है, 'उनके अहंकार धक्का-सा लगा। उनके मन में गृहस्वामी होने का जो गर्व अलक्षित रूप में बैठा हु था, वह चूर-चूर हो गया। वे अज्ञात भाव से बुद्धि में, विद्या में एवं व्यावहारिक ज्ञ में अपने को अहल्या से ऊँचा समझते थे। रुपये कमाना उनका काम था। अधिकार उनके हाथ से छिन गया।' प्रेमचन्द : कायाकल्प : (पृष्ठ २०१)

जा रही हूँ। अपनी गुजर भर को आप कमा लूँगी। रोटियों में ज्यादा खर्च नहीं होता। खर्च होता है आडम्बर में।"[1]

'गोदान' की मालती भी अपनी डाक्टरी द्वारा अर्थोपार्जन करती है। जबतक पश्चिमी नारी की भाँति विलासमय जीवन व्यतीत करना उसका आदर्श रहा, लेखक उसकी आर्थिक स्वतन्त्रता को श्रेय नहीं दे सका। किन्तु जब वह समाज-सेवा के हेतु अर्थोपार्जन करने लगती है तब उसका वही कार्य सराहनीय बन जाता है।

इस समस्या के चित्रण के सम्बन्ध में दो बातों पर और ध्यान जाता है। एक तो, इस युग के किसी भी लेखक ने उस नारी द्वारा अर्थोपार्जन का समर्थन नहीं किया है जो विवाहिता है और अपने पति के साथ रहती है। इस स्थिति में उपन्यासकारों ने गृह-संचालन ही उसका मुख्य कर्तव्य माना है। 'प्रसाद' लिखित 'तितली' में तितली और प्रेमचन्द लिखित 'कर्मभूमि' की सुखदा उसी समय अर्थोपार्जन करती हैं जब उनके पति घर से चले जाते हैं। 'तितली' की शैला और 'गोदान' की मालती अविवाहितावस्था में धनोपार्जन करती हैं। 'कायाकल्प' की अहल्या पति के साथ रहकर कुछ धनोपार्जन करना चाहती है तो पति के अहं-भाव पर चोट लगती है और वह उसको ऐसा करने से रोक देता है। दूसरे इस युग के लेखक पुरुषों के समकक्ष बैठकर दफ्तरों और अदालतों में कार्य करने को नारी के लिए हानिकर मानते हैं। आवश्यकता पड़ने पर भी वे नारी को केवल अध्यापन और डाक्टरी के काम की ही अनुमति देते हैं। प्रेमचन्द ने सुखदा से और 'प्रसाद' ने तितली से अध्यापन-कार्य कराया है तथा मालती से डाक्टरी का कार्य।

पारिवारिक समस्याएँ

सम्मिलित परिवार का विघटन

प्रेमचन्द-पूर्व के उपन्यासों में सम्मिलित परिवार के प्रति जो प्रगाढ़ मोह की भावना थी, वह इस समय तक आते-आते टूटने-सी लगती है। सम्मिलित परिवार के प्रति मोह तो अब भी है, किन्तु इस युग का उपन्यासकार देखता है कि पारिवारिक सम्बन्धों में अब तेजी से परिवर्तन हो रहे हैं, उसके सदस्यों की वैयक्तिकता प्रधान होती जा रही है तथा परिवार में आर्थिक समस्याएँ जटिल बनती जा रही हैं।

पहले सम्मिलित परिवार में घर का बड़ा ही घर का मालिक माना जाता था, चाहे वह छोटों से कम उपार्जन करता हो। किन्तु अब जो अर्थोपार्जन करता है, वही अपने को घर का मालिक समझता है और उसकी पत्नी अपने-आपको घर की मालकिन समझती है। वैयक्तिकता की प्रधानता के कारण सम्मिलित परिवार में स्नेह का वह पवित्र बंधन ढीला पड़ता जाता है जो उसे एक सूत्र में बाँधे रहता था। उदाहरण के लिए 'ग़बन' में जालपा ही अपने आपको घर की मालकिन समझती है क्योंकि उसका पति रमानाथ कमाता

---

१. प्रेमचन्द : 'कर्मभूमि' (पृष्ठ ११२)

ने पुरुष और नारी के व्यक्तित्वों को समान भूमि पर लाकर खड़ा कर दिया है; जहाँ न किसी का प्रभुत्व है और न कोई किसी का आश्रित है।

इस प्रकार 'प्रसाद' ने नारी की आर्थिक स्वतन्त्रता का केवल एक पहलू लिया है। इस क्षेत्र में भी प्रेमचन्द ही एक ऐसे उपन्यासकार हैं जिन्होंने समस्या के सभी पहलुओं पर गम्भीरता से विचार किया है। 'गोदान' में मेहता नारी की आर्थिक स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में जो कुछ कहते हैं, वे मानो प्रेमचन्द के ही विचार हैं। वे स्त्री और पुरुष के कार्यक्षेत्र को भिन्न मानते हैं। मेहता कहते हैं: 'स्त्री को पुरुष के रूप में, पुरुष के कर्म में रत देखकर मुझे उसी तरह वेदना होती है, जैसे पुरुष को स्त्री के रूप में स्त्री के कर्म करते देखकर। मुझे विश्वास है ऐसे पुरुषों को आप अपने विश्वास और प्रेम का पात्र नहीं समझतीं और मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ, ऐसी स्त्री भी पुरुष के प्रेम और श्रद्धा का पात्र नहीं बन सकती।'[1]...... 'देवियो, मैं उन लोगों में नहीं हूँ, जो कहते हैं, स्त्री और पुरुष में समान शक्तियाँ हैं, समान प्रवृत्तियाँ हैं, और उनमें कोई भिन्नता नहीं है। इससे भयंकर असत्य की मैं कल्पना नहीं कर सकता'[2]...... 'आपकी विद्या और आपका अधिकार हिंसा और विध्वंस में नहीं, सृष्टि और पालन में हैं। क्या आप समझती हैं, वोटों से मानव-जाति का उद्धार होगा या दफ्तरों में और अदालतों में ज़बान और क़लम चलाने से? इन नक़ली अप्राकृतिक, विनाशकारी अधिकारों के लिए आप वे अधिकार छोड़ देना चाहती हैं, जो आपको प्रकृति ने दिये हैं।'[3]

प्रेमचन्द ने नारी की आर्थिक स्वतन्त्रता को पाश्चात्य आदर्श मानकर उसकी भर्त्सना की है। इसके विपरीत भारतीय नारी का आदर्श उन्होंने गृह-संचालन माना है। पत्नी यदि अर्थोपार्जन करती है तो पति के आत्म-सम्मान और अहं को धक्का लगता है।[4] फिर भी प्रेमचन्द ने संकट के समय नारी द्वारा अर्थोपार्जन का समर्थन किया है। 'कर्मभूमि' में सुखदा जब ससुराल त्यागकर अपना घर अलग बसाती है और मायके से मिले गहने भी अपनी माँ को लौटा देती है तो उसके पति अमरकान्त को बुरा लगता है। किन्तु वह पति को ढाढ़स दिलाती हुई आत्म-सम्मानपूर्वक कहती है: 'मैं तुम्हारे भरोसे पर नहीं

---

१. प्रेमचन्द : 'गोदान' (पृष्ठ १९९)
२. वही : (पृष्ठ २००)
३. वही : (पृष्ठ २०३)
४. 'कायाकल्प' में अहल्या लेख आदि लिखकर कुछ अर्थोपार्जन करती है किन्तु उसके इस कार्य से उसके पति चक्रधर के अहं को आघात पहुँचता है, 'उनके अहंकार को धक्का-सा लगा। उनके मन में गृहस्वामी होने का जो गर्व अलक्षित रूप में बैठा हुआ था, वह चूर-चूर हो गया। वे अज्ञात भाव से बुद्धि में, विद्या में एवं व्यावहारिक ज्ञान में अपने को अहल्या से ऊँचा समझते थे। रुपये कमाना उनका काम था। यह अधिकार उनके हाथ से छिन गया।' प्रेमचन्द : कायाकल्प : (पृष्ठ ३०१)

जा रही हूँ। अपनी गुजर भर को आप कमा लूँगी। रोटियों में ज्यादा खर्च नहीं होता। खर्च होता है आडम्बर में।"[1]

'गोदान' की मालती भी अपनी डाक्टरी द्वारा अर्थोपार्जन करती है। जबतक पश्चिमी नारी की भाँति विलासमय जीवन व्यतीत करना उसका आदर्श रहा, लेखक उसकी आर्थिक स्वतन्त्रता को श्रेय नहीं दे सका। किन्तु जब वह समाज-सेवा के हेतु अर्थोपार्जन करने लगती है तब उसका वही कार्य सराहनीय बन जाता है।

इस समस्या के चित्रण के सम्बन्ध में दो बातों पर और ध्यान जाता है। एक तो, इस युग के किसी भी लेखक ने उस नारी द्वारा अर्थोपार्जन का समर्थन नहीं किया है जो विवाहिता है और अपने पति के साथ रहती है। इस स्थिति में उपन्यासकारों ने गृह-संचालन ही उसका मुख्य कर्तव्य माना है। 'प्रसाद' लिखित 'तितली' में तितली और प्रेमचन्द लिखित 'कर्मभूमि' की सुखदा उसी समय अर्थोपार्जन करती हैं जब उनके पति घर से चले जाते हैं। 'तितली' की शैला और 'गोदान' की मालती अविवाहितावस्था में धनोपार्जन करती हैं। 'कायाकल्प' की अहल्या पति के साथ रहकर कुछ धनोपार्जन करना चाहती है तो पति के अहं-भाव पर चोट लगती है और वह उसको ऐसा करने से रोक देता है। दूसरे इस युग के लेखक पुरुषों के समकक्ष बैठकर दफ्तरों और अदालतों में कार्य करने को नारी के लिए हानिकर मानते हैं। आवश्यकता पड़ने पर भी वे नारी को केवल अध्यापन और डाक्टरी के काम की ही अनुमति देते हैं। प्रेमचन्द ने सुखदा से और 'प्रसाद' ने तितली से अध्यापन-कार्य कराया है तथा मालती से डाक्टरी का कार्य।

पारिवारिक समस्याएँ

सम्मिलित परिवार का विघटन

प्रेमचन्द-पूर्व के उपन्यासों में सम्मिलित परिवार के प्रति जो प्रगाढ़ मोह की भावना थी, वह इस समय तक आते-आते टूटने-सी लगती है। सम्मिलित परिवार के प्रति मोह तो अब भी है, किन्तु इस युग का उपन्यासकार देखता है कि पारिवारिक सम्बन्धों में अब तेजी से परिवर्तन हो रहे हैं, उसके सदस्यों की वैयक्तिकता प्रधान होती जा रही है तथा परिवार में आर्थिक समस्याएँ जटिल बनती जा रही हैं।

पहले सम्मिलित परिवार में घर का बड़ा ही घर का मालिक माना जाता था, चाहे वह छोटों से कम उपार्जन करता हो। किन्तु अब जो अर्थोपार्जन करता है, वही अपने को घर का मालिक समझता है और उसकी पत्नी अपने-आपको घर की मालकिन समझती है। वैयक्तिकता की प्रधानता के कारण सम्मिलित परिवार में स्नेह का वह पवित्र बंधन ढीला पड़ता जाता है जो उसे एक सूत्र में बाँधे रहता था। उदाहरण के लिए 'ग़बन' में जालपा ही अपने आपको घर की मालकिन समझती है क्योंकि उसका पति रमानाथ कमाता

---

१. प्रेमचन्द : 'कर्मभूमि' (पृष्ठ ११३)

है। इस परिवार में स्नेह का अभाव है, सभी व्यक्ति अपने-अपने स्वार्थों को लेकर चलते हैं। जालपा पति की तनख्वाह में से गहने बनवाना चाहती है इसलिए वह अपनी सास को वेतन की रकम कम बताती है। जालपा और उसकी सास में गहनों के प्रश्न पर वैमनस्य भी हो जाता है।

इस युग के उपन्यासकारों ने देवरानी-जिठानी और ननद-भौजाई के झगड़ों पर उतना ध्यान नहीं दिया है जितना सास-बहू के झगड़ों पर। कहीं सास बहू पर और कहीं बहू सास पर अत्याचार करती दिखाई देती है। 'हृदयेश' लिखित 'मंगल प्रभात' में और रमाशंकर सक्सेना लिखित 'अबला' में सास बहू पर अत्याचार करती है तो प्रतापनारायण श्रीवास्तव लिखित 'विदा' में कुमुदिनी और चतुरसेन शास्त्री लिखित 'आत्मदाह' में भगवती अपनी सास पर अत्याचार करती है।

इन्हीं सब कारणों से सम्मिलित परिवार टूटने लगता है। उसको बिखरने से रोकना किसी के वश की बात नहीं। 'कर्मभूमि' में अमरकान्त सैद्धान्तिक मतभेद के कारण अपने पिता समरकान्त के घर रहना नहीं चाहता। उसकी पत्नी को पहले तो ससुर-गृह से अलग रहने की कल्पना भी अच्छी नहीं लगती। वह अमरकान्त को उसके पिता के साथ रहने के लिए बाध्य करती है। किन्तु जब वह स्वयं अनुभव करती है कि उसके श्वसुर अमरकान्त के प्रत्येक मामले में हस्तक्षेप करते हैं तो वह ससुराल से अलग रहने का प्रस्ताव करती है। 'कायाकल्प' में चक्रधर अपनी आदर्शवादिता के कारण अनाथ-बालिका अहल्या से विवाह करता है। उसके पिता इसको पसन्द नहीं करते। अतः उसका अपने परिवार से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। इसी प्रकार 'प्रेमाश्रम' में भी सम्मिलित परिवार छिन्न-भिन्न होते दिखाया गया है। 'गोदान' में होरी बड़ी चेष्टा करता है कि सम्मिलित परिवार बना रहे किन्तु उसके देखते-देखते सब अलग हो जाते हैं। पहले वह अपने भाइयों से अलग होता है और बाद में उसका बेटा गोबर भी उसे छोड़कर नौकरी करने शहर चला जाता है। 'प्रसाद' लिखित 'तितली' में भी दो पीढ़ियों के स्वभावों में इतना मौलिक अन्तर है कि परिवार-विच्छेद अनिवार्य हो जाता है।

सम्मिलित परिवार के इस विघटन के मूल में आर्थिक कठिनाइयाँ, शिक्षा द्वारा व्यक्तित्व का विभिन्न दिशाओं में विकास और गाँव की मिट्टी से हटकर नगर की ओर संक्रमण का हाथ तो है ही, उसका एक प्रमुख कारण समाज में नारी की स्थिति में क्रमिक परिवर्तन भी है। जब गोबर अपने पिता होरी को छोड़कर शहर जाता है तो उसकी पत्नी झुनिया उसके साथ शहर जाने में अत्यन्त उत्साहित और प्रसन्न दिखाई देती है। पति गोबर के साथ शहर जाने में झुनिया के प्रसन्न होने का एक कारण यह भी है कि आज की नारी चाहे वह अपढ़-गँवार ही क्यों न हो, घर में सास के आधिपत्य में रहना नहीं चाहती। आधुनिक युग में नारी की वैयक्तिकता का तेज़ी से विकास होने के कारण वह भी पुरुष की भाँति अपने भावों और कामनाओं को चरितार्थ करना चाहती है। वह चाहती है कि अपनी गृहस्थी स्वयं बनाकर वह उसकी स्वामिनी बने। 'रंगभूमि' में ताहिरअली की

पत्नी कुल्सूम को भी अपनी सास-द्वय का आधिपत्य स्वीकार नहीं है। वह उनसे अलग रहना चाहती है।

अतः सम्मिलित परिवार का मेरुदण्ड युग-युग से नारी के समर्पण और बलिदान पर ही टिका था। उसके नष्ट हो जाने के कारण अब सम्मिलित परिवार के लिए कोई टेक ही न बची। 'तितली' में वर्णित विच्छेद का भी ऐसा ही कारण है। श्यामदुलारी और माधुरी के विचार इन्द्रदेव के विचारों से मेल नहीं खाते। थोड़ा-सा विरोध इस छोटी-सी गृहस्थी को तोड़ देने में सफल होता है। इन्द्रदेव खिन्न होकर स्वयं सम्मिलित परिवार के विच्छेद का विश्लेषण करते हैं। इस विश्लेषण में आज के समाज का गहरा अध्ययन मिलता है। 'भारतीय सम्मिलित कुटुम्ब की योजना की कड़ियाँ चूर-चूर हो रही हैं। वह आर्थिक संगठन अब नहीं रहा, जिसमें कुल का एक प्रमुख सबके मस्तिष्क का संचालन करते हुए रुचि की समता का भार ठीक रखता था। . . . .प्रत्येक प्राणी, अपनी व्यक्तिगत चेतना के उदय होने पर, एक कुटुम्ब में रहने के कारण अपने को प्रतिकूल परिस्थिति में देखता है। इसलिए सम्मिलित कुटुम्ब का जीवन दुःखदायी हो रहा है।'[1]

इसके अतिरिक्त जबतक नारी देखती है कि परिवार में उसकी सेवा की कद्र है, तबतक तो वह सम्मिलित परिवार को स्वीकार करती है, किन्तु जैसे ही उसे विदित होता है कि परिवार के अन्य व्यक्ति स्वार्थी हैं, उनके लिए चाहे जितने कष्ट सहे, वे आड़े दिनों में काम नहीं आयेंगे, तो वह सम्मिलित परिवार में रहना पसन्द नहीं करती। 'गोदान' की धनिया ने अपनी देवरानियों और देवर की भलाई के लिए क्या नहीं किया। स्वयं भूखी रहती पर देवरानियों के जलपान का भी ध्यान रखती थी। अपने शरीर पर मैला-कुचैला ही क्यों न हो, देवरानियों के लिए दो-दो चार-गहने तक बनवा दिये थे। पर जब इतने उपकारों पर भी देवर-देवरानी कोई कृतज्ञता अनुभव नहीं करते, उल्टे उसे उल्टी-सीधी सुनाते हैं, तब परिवार का विघटन अनिवार्य हो जाता है। विच्छेद के बाद भी होरी सम्मिलित परिवार के संस्कारों को त्याग नहीं पाता। वह जानते हुए भी कि उसकी गाय को उसी के छोटे भाई हीरा ने ज़हर खिलाया है, परिवार की बदनामी के भय से वह सच्ची बात नहीं कहता, उल्टे सच बोलनेवाली अपनी पत्नी धनिया को ही पीटता है। लेकिन धनिया के मन के संस्कार मिट चुके हैं। यथार्थ की आग में तपकर वह इतनी बदल गई है कि सम्मिलित परिवार की झूठी प्रतिष्ठा को बचाने की उसे कोई चिन्ता नहीं। होरी से पिटने पर भी वह पंचों के सामने हीरा को ही अपराधी बताती है। इसी प्रकार 'रंगभूमि' का ताहिरअली होरी की भाँति अपनी सौतेली माँ-द्वय का और भाइयों का भरण-पोषण करना अपना कर्तव्य समझता है।[2]

---

१. जयशंकर 'प्रसाद' : 'तितली' (पृष्ठ ११६)

२. 'कैसी बात करती हो, आखिर वे लोग कोई गैर तो नहीं हैं। अपने ही भाई हैं, अपनी माँएँ हैं। उनकी परवरिश मेरे सिवा और कौन करेगा!' प्रेमचन्द : 'रंगभूमि' प्रथम भाग : (पृष्ठ १५८)

जिसके कारण वह अपनी पत्नी और बच्चों पर भी ध्यान नहीं दे पाता। किन्तु उसकी पत्नी कुल्सूम सौतों की स्वार्थी मनोवृत्ति को अच्छी तरह पहचानती है इसलिए वह पति से कहती है: 'तुम समझते होगे, वे तुम्हारे मुहताज हैं; मगर उन्हें तुम्हारी रत्ती भर भी परवाह नहीं। सोचती हैं, जबतक मुफ्त का मिले, अपने खजाने में क्यों हाथ लगायें। मेरे बच्चे पैसे-पैसे को तरसते हैं, और वहाँ मिठाइयों की हाँडियाँ आती है, उनके लड़के मजे में खाते हैं। देखती हूँ और आँखें बन्द कर लेती हूँ।'[1] सम्मिलित परिवार के प्रति मोह के कारण यद्यपि ताहिरअली को कुल्सूम की बात प्रिय नहीं लगती, फिर भी स्वार्थ की पराकाष्ठा के कारण अन्त में परिवार-विच्छेद हो ही जाता है।

इस प्रकार से देखा जाये तो सम्मिलित परिवार का विघटन नारीकी मुक्ति का घोषणा-पत्र है। बड़े परिवार में नारी आजीवन सेवा करने पर भी अपने अधिकार का दावा नहीं कर सकती थी। पुरुष-वर्ग और घर की बड़ी-बूढ़ी स्त्रियाँ उस पर सदैव शासन करती रहती थीं। छोटे-छोटे मुक्त परिवार में ही नारी को पुरुष की समभागिनी और समानाधिकारिणी बनने का अवसर मिलता है। इस प्रकार सम्मिलित परिवार का अन्त समय की गति का प्रतीक है, उसके लिए किसी को दोषी नहीं ठहराया जा सकता, न सम्मिलित परिवार के अतीत गौरव के गीत गाने से उसे जीवित ही रक्खा जा सकता है।

जब परिवार-विच्छेद होता है तो पति-पत्नी और उनके बच्चों का एक अलग छोटा-सा परिवार बन जाता है जिसमें पति घर का स्वामी होता है और पत्नी घर की स्वामिनी। सम्मिलित परिवार में रहते समय वे अनेक महत्वपूर्ण निश्चयों का भार अपने माँ-बाप पर छोड़कर निश्चिन्त रहते हैं। परन्तु परिवार-विच्छेद के उपरान्त सभी निश्चयों का उत्तरदायित्व उनके ऊपर आ जाता है। ऐसी स्थिति में पति-पत्नी की अल्पवयस्कता अथवा अनुभवहीनता के कारण कभी-कभी परेशानियाँ भी उत्पन्न हो जाती हैं। परिवार-विच्छेद से उत्पन्न इस दशा को भी प्रेमचन्द ने देखा और 'गोदान' में चित्रित भी किया है। जब गोबर अपनी गर्भवती पत्नी झुनिया को अपने माँ-बाप के पास छोड़ जाता है, तब न तो गोबर को झुनिया की कोई चिन्ता करनी पड़ती है और न झुनिया को ही किसी प्रकार की चिन्ता होती है। अनुभवी धनिया के कारण झुनिया को प्रसव-काल में भी किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होती, उल्टे पुत्र-जन्म की खुशी में उत्सव भी मनाया जाता है। किन्तु जब झुनिया गोबर के साथ शहर चली जाती है, तब अकेले ही घर को सँभालते हुए उसको अनुभव होता है कि वास्तव में प्रसव के समय बड़ों की मदद कितनी आवश्यक होती है। इस संबंध में गोबर और झुनिया दोनों ही अबोध हैं। ऐसे अवसर पर झुनिया अपनी सास का स्मरण करती है, पर घर से लड़कर आ जाने के कारण अब लौटकर जाने का कोई मार्ग नहीं। परिवार-विच्छेद के पश्चात् छोटे-छोटे परिवारों की मदद आस-पड़ोस ही

---

१. प्रेमचन्द : 'रंगभूमि' प्रथम भाग : (पृष्ठ १५८)

करता है। यहाँ झुनिया की मदद चुहिया करती है। चुहिया के रूप में प्रेमचन्द ने नारी के हृदय की सारी करुणा और सहानुभूति का चित्रण किया है।

दाम्पत्य-प्रेम

परिवार को वनाने या विगाड़ने में पति-पत्नी के सम्वन्ध विशेष रूप से महत्व रखते हैं। पाश्चात्य नारी स्वातन्त्र्य-आन्दोलन के प्रभाव से भारतीय नारी भी अपनी स्वतन्त्रता के लिए चिन्तित होने लगी थी। इस युग के लेखक को भय था कि कहीं नारी गलत रास्ते पर भटककर अपने पारिवारिक जीवन को अशान्तिमय न वना ले। इसलिए उन्होंने सच्ची स्वाधीनता की व्याख्या करते हुए पति-पत्नी के कर्तव्यों को भी निश्चित किया। प्रतापनारायण श्रीवास्तव लिखित 'विदा' में चपला कहती है: 'नहीं, सच्ची स्त्री-स्वाधीनता वही है, जहाँ स्त्री पर अत्याचार न हो। स्त्री-पुरुष दोनों एक होकर रहें, दोनों में मतभेद न होने पावे। स्त्री को यह गर्व न हो कि मैं स्वामी से वड़ी हूँ और न स्वामी को अभिमान हो कि ईश्वर ने सव वुद्धि मेरे ही हिस्से में रक्खी है। स्त्री घर की मालकिन है और पुरुष वाहर का। लेकिन दोनों में मतैक्य हो। दोनों उस पवित्र प्रेम-सूत्र में वँधे हों, जहाँ न राज है न अभिमान, न द्वेष है और न कलह। असीम शान्ति है, अनंत प्रेम है।'[1] इस अनन्त प्रेम के वल पर ही परिवार में शान्ति रह सकती है। यह प्रेम का सम्वन्ध चाहे पति-पत्नी में हो, सास-वहू में हो, देवरानी-जिठानी में हो या ननद-भौजाई में हो। जहाँ प्रेम नहीं, वहाँ पारिवारिक कलह उत्पन्न हो जाती है।

सन्तान का लालन-पालन

परिवार में वच्चों का भी विशेष महत्व है। वच्चे का लालन-पालन जव माँ-वाप मिलकर करते हैं तव कोई समस्या उत्पन्न नहीं होती किन्तु पिता की मृत्यु हो जाने पर या कहीं चले जाने पर उसका सारा भार माँ के कंधों पर आ पड़ता है। 'प्रसाद' लिखित 'तितली' में तितली का पति मधुवन और सियारामशरण गुप्त लिखित 'नारी' में जमना का पति घर छोड़कर चले जाते हैं। दोनों नारियाँ परित्यक्ता हैं। दोनों की गोद में वालक हैं। इनका लालन-पालन करना दोनों ही नारियों के लिए एक समस्या है। फिर भी दोनों अपने वच्चों के मानसिक विकास पर ध्यान देते हुए उनका लालन-पालन कर अपना उत्तरदायित्व निभाती हैं।

सौतेली माँ—सौतेली संतान

परिवार में जव सौतेली माँ का पदार्पण होता है तो अनेक पारिवारिक समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं। सौतेले वच्चों के प्रति सौतेली माँ के व्यवहार में एक प्रकार की कटुता पाई

---

१. प्रतापनारायण श्रीवास्तव : 'विदा' (पृष्ठ १८३)

जाती है, जिसके कारण पारिवारिक शान्ति भंग हो जाती है। सौतेली माँ के कटु व्यवहार को उपन्यासकारों ने बहुत ही सतही ढंग से देखा है। केवल प्रेमचन्द ने 'निर्मला' उपन्यास में इस समस्या को जड़तक पहुँचने की चेष्टा की है। निर्मला का विवाह जब विधु तोताराम से होता है तो प्रारम्भ में वह उनकी मृत पहली पत्नी के बच्चों को अपना मानकर उनके साथ सीधा, सरल, स्नेह पूर्ण व्यवहार करती है। किन्तु प्रेमचन्द ने दिखाया है कि सामाजिक वातावरण ऐसे व्यवहार को पनपने नहीं देता। निर्मला की ननद रुक्मिणी एक ओर निर्मला के इस उत्तम आचरण और व्यवहार को शंका की दृष्टि से देखती है और दूसरी ओर उन बच्चों को अपनी सौतेली माँ के विरुद्ध नित्य-प्रति उल्टी-सीधी बातें सिखलाती रहती है। बच्चों को 'उसके पास फटकने भी नहीं देती, मानो वह कोई पिशाचिनी है जो उन्हें निगल जायेगी।'[1]

इस प्रकार, साधारण परिवार के व्यक्ति यह मानकर चलते हैं कि सौतेली माँ का व्यवहार सौत के बच्चों के प्रति अच्छा हो ही नहीं सकता। प्रेमचन्द ने समाज की इस मनोवृत्ति पर भी तीखा व्यंग्य किया है। निर्मला अपनी सौत के बड़े पुत्र मंशाराम को जीवन देने के लिए अपने प्राण भी दे सकती थी। निर्मला के प्रति तोताराम की मूर्खता और शंकालु स्वभाव के कारण मंशाराम की मृत्यु होती है। किन्तु समाज के लोग वास्तविक कारण की खोज नहीं करते। वे सौतेली माँ को ही सब आपत्तियों की जड़ समझ बैठते हैं। वे मंशाराम की मृत्यु का कारण भी सौतेली माँ निर्मला को ही मानते हैं। 'चारों ओर यही चर्चा थी। ईश्वर न करे, लड़कों को सौतेली माँ से पाला पड़े। जिसे अपना बना-बनाया घर उजाड़ना हो, अपने प्यारे बच्चों की गर्दन पर छुरी फेरवानी हो, वह बच्चों के रहते हुए अपना दूसरा ब्याह करे। ऐसा कभी नहीं देखा कि सौत के आने पर घर तबाह न हो गया हो। वही बाप जो बच्चों पर जान देता था, सौत के आते ही उन्हीं बच्चों का दुश्मन हो जाता है उसकी मति ही बदल जाती है। ऐसी देवी ने जन्म ही नहीं लिया, जिसने सौत के बच्चे को अपना समझा हो।'[2]

इस युग के अधिकाँश उपन्यासकारों ने भी इसी पूर्वाग्रह की भावना से सौतेली माँ का चित्रण किया है। अवधनारायण ने 'विमाता' में रघुनन्दन की सौतेली माँ को ऐसी हृदय-हीना अत्याचारिणी के रूप में चित्रित किया है कि शायद ही कोई विश्वास कर सके। रघुनन्दन जैसे सच्चरित्र और साधु प्रकृति के बालक के साथ किसी भी व्यक्ति का ऐसा अमानवीय व्यवहार अप्रत्याशित ही नहीं, असंभाव्य भी है।

फिर भी, यह सही है कि साधारणतः नई माँ अपने सौतेले बच्चों को वह स्नेह और यत्न नहीं दे पाती, जो वे अपनी वास्तविक माँ से पाते। पर इसका मुख्य कारण नई माँ के मन में समाई ईर्ष्या नहीं, उसकी अयोग्यता है। प्रेमचन्द-युग में लड़कियों का विवाह

---

१. प्रेमचन्द : 'निर्मला' (पृष्ठ ३६)
२. वही : (पृष्ठ १३५)

छोटी उम्र में होने के कारण, वे मातृत्व-भावना लेकर नहीं, यौवन की उमंगें लेकर सुसराल में आती थीं। आते-आते ही गृहस्थी और बाल-बच्चों की देखरेख का भार उनके कोमल कंधों पर लाद दिया जाता था। विधुर से विवाह होने के कारण पति भी प्रायः समवयस्क नहीं होता था। अतः नव-वधू के अरमान मन में ही रह जाते और अतृप्त जीवन की कड़वाहट उसके व्यवहार में प्रकट होने लगती। फलतः वह सौत के बच्चों को वह स्वाभाविक स्नेह नहीं दे पाती जो उनकी माँ दे सकती। अपने व्यक्तिगत असंतोषों पर विजय पाकर यदि कोई सौतेली माँ सौत के बच्चों को स्नेह दे भी पाती तो उसे उन बच्चों की ओर से वह निश्छल स्नेह नहीं मिलता जो अपनी संतान से मिल सकता था। इस विषम स्थिति के कारण सौतेली माँ और सौत के बच्चों का सम्बन्ध साधारणतः शान्तिपूर्ण नहीं हो पाता। किन्तु प्रेमचन्द के अतिरिक्त अन्य लेखकों ने इन कारणों पर कम ध्यान देकर परिवार के उस अशान्तिपूर्ण वातावरण पर ही विशेष ध्यान दिया है जो सौतेली माँ के पदार्पण के बाद दिखाई देता है।

नैतिक मूल्यों में परिवर्तन की समस्या

यद्यपि प्रेमचन्द-युग के उपन्यासकारों का ध्यान नारी की दुरवस्था और उससे उसके उद्धार के उपायों पर ही केन्द्रित था, तथापि वे बदलती सामाजिक परिस्थिति में परम्परागत नैतिक मूल्यों की व्यर्थता और नए नैतिक मूल्यों की आवश्यकता की उपेक्षा नहीं कर सके। सदियों से भारतीय समाज नारी की परवशता और दासता पर ही आधारित था। पुरुष के चरणों में अपना सारा विवेक, कर्तव्य, ज्ञान और जीवन अर्पित कर देने में ही उसका कल्याण माना गया। यहाँ तक कि पुरुष के अनैतिक आचरण का दोष भी उसी के मत्थे मढ़ा जाता था। पर नई सामाजिक चेतना के फलस्वरूप जब नारी-उद्धार की भावना प्रकट होने लगी, तब उसके आचरण की नई कसौटी की भी आवश्यकता प्रतीत हुई। यद्यपि स्पष्ट रूप से इस युग के लेखकों ने यह माँग नहीं की है कि नारी के आचरण को पुराने मापदण्ड पर न परखा जाय, फिर भी तत्कालीन जीवन का उन्होंने जो यथार्थ चित्रण किया है, उसमें उनका यह मंतव्य अवश्य झलकता है। इस प्रसंग में सबसे महत्वपूर्ण उपन्यास जयशंकर 'प्रसाद' का 'कंकाल' है, जिसमें जर्जर समाज के खोखलेपन और परम्परागत नैतिक मूल्यों की निस्सारता का ऐसा निर्मम उद्घाटन किया गया है कि पाठक तिलमिला उठता है। यमुना, जो समाज के लिए, परिवार के लिए, यहाँ तक कि अपने प्रेमी मंगल के लिए भी त्याज्य समझी गई, सच्चे अर्थ में पवित्र जीवन व्यतीत करती है। वेश्या के घर रहकर भी उसका तन-मन निष्कलंक है। दूसरी ओर किशोरी है जो विवाहिता है, समाज में सम्मानित है, किन्तु जो अपने पति को प्रेम नहीं करती। पति के बाहर जाने पर वह धूर्त महात्मा के साथ रहती है, उसी को पति-रूप में मान लेती है। उसके पति उसके खर्चे के लिए प्रति मास रुपये भेज देते हैं, यही उसके लिए सब-कुछ है। 'बाह्य धर्माचरण

दिखलाना ही उसके दुर्बल चरित्र का आवरण था।'[1] भंडारे, दक्षिणा, तीर्थयात्रा के वाह्य प्रदर्शन के कारण उसकी मूल अनैतिकता पर समाज ध्यान भी नहीं देता। इस प्रकार 'कंकाल' में 'प्रसाद' ने यमुना और किशोरी के दो विरोधी चरित्र खड़े करके नारी की नैतिकता के नए मूल्यांकन की आवश्यकता पर व्यंग्यपूर्ण शैली में गम्भीरता से विचार किया है।

भगवतीचरण वर्मा के 'चित्रलेखा' में भी पाप-पुण्य की समस्या है। चित्रलेखा समाज की दृष्टि में भोग्या है, वेश्या है, अपवित्र है। कुमारगिरि योगी है, संन्यासी है, पवित्र है। किन्तु लेखक जीवन को विभिन्न परिस्थितियों में उनके आचरण द्वारा यह सिद्ध कर देता है कि वास्तविकता यह नहीं है। चित्रलेखा अपने मन के प्रति, अपने प्रेम के प्रति अधिक सच्ची और ईमानदार है। जो उसके अन्दर है वही बाहर भी है। वह समाज के डर से वाह्याडम्बर के फेर में पड़कर कोई कार्य नहीं करती, मन की सचाई पर ही विशेष महत्व देती है; जब कि योगी कुमारगिरि क्षणिक वासना में अन्धा होकर अपने तप और ब्रह्मचर्य से च्युत हो जाता है। नर्तकी चित्रलेखा और योगी कुमारगिरि की इस प्रतिद्वन्द्विता में चित्रलेखा ही विजयी होती है। सच्ची नैतिकता अन्तःकरण की पवित्रता में है, और ऊपर से नैतिकता का दम भरनेवाला पाखण्ड त्याज्य है, इस युग का लेखक बार-बार इस सिद्धान्त को दुहराता है।

प्रेमचन्द के 'सेवासदन' में इस समस्या के एक दूसरे पहलू पर प्रकाश डाला गया है। सुमन के वेश्या बनने में पुरुष-समाज की अनीति का बहुत बड़ा हाथ है। बिना सोचे-समझे गजाधर का सुमन को उस रात में घर से बाहर निकालना अनैतिक कार्य था, उसका वेश्या भोली के यहाँ जाना भी अनैतिक कार्य था। समाज के भाग्य-विधाता ही अनेक प्रकार के अनैतिक कर्म द्वारा वेश्यावृत्ति को प्रश्रय देते हैं। प्रेमचन्द ने पुरुषों के इस अनैतिक आचरण पर तीखा व्यंग्य किया है जिसके कारण सुमन को वेश्या बनना पड़ता है। दूसरी ओर सुमन की सच्ची नैतिकता द्वारा उन्होंने नारी का गौरव बढ़ाया है; क्योंकि वेश्या बनकर भी सुमन तन-मन से निष्कलंक रहती है।

इसी प्रकार उषादेवी मित्रा लिखित 'पिया' में सुशिक्षित कविता नैतिकता और अनैतिकता के वास्तविक अर्थों को समझती है। केवल समाज के डर से कोई अनैतिक कार्य करने के लिए उसका मन साक्षी नहीं देता, उसकी बाल-विधवा बड़ी बहिन नीलिमा को उसके (कविता) पति सुकान्त से गर्भ रह जाता है। समाज की भर्त्सना से बचने के लिए सुकान्त और नीलिमा की माँ हरमोहिनी गर्भपात की सलाह देते है किन्तु कविता इसको उचित नहीं मानती। वह बहन से कहती है कि तुम हत्या न करो, जिसको मन से पति रूप में ग्रहण किया है, उससे विवाह करो। अपने पति सुकान्त को भी वह नीलिमा

---

१. जयशंकर 'प्रसाद' : 'कंकाल' (पृष्ठ १०७)

से विवाह करने के लिए बाध्य करती है और माँ हरमोहिनी से कहती है, 'वास्तविक अपराध को छिपाकर दुनिया के सामने साधु बनना एक पाप है माँ।'[1]

इस युग के उपन्यासकार नारी की सामाजिक स्थिति के सुधार में लगे थे; इसलिए अधिकतर उपन्यासों में नारी-चरित्र पुरुषों से अधिक नैतिक दिखाये गए हैं। नारी सब ओर से लाचार होकर ही कोई अनैतिक कार्य करती है। 'ग़बन' में जब रमानाथ रुपये के लोभ के कारण झूठी गवाही देता है, तो जालपा को असीम दुःख होता है। वह हर तरह से अपने पति को समझाती है। अन्त में वह विह्वल और विवश होकर कहती है : 'मैं औरत हूँ। अगर कोई धमकाकर मुझसे पाप कराना चाहे, तो चाहे उसे मार न सकूँ, अपनी गर्दन पर छुरी चला दूँगी। क्या औरत के बराबर भी हिम्मत नहीं है।'[2]

विश्वंभरनाथ शर्मा 'कौशिक' लिखित 'भिखारिणी' की जस्सो रमानाथ को प्रेम करती थी और रमानाथ जस्सो को। किन्तु जाति-भेद के कारण उनका विवाह नहीं हो पाता। रमानाथ तो अन्य लड़की से विवाह करके सुख-चैन से रहने लगता है किन्तु जस्सो रमानाथ के प्रेम के सहारे ही जीवन-नैया खेती है। रमानाथ को छोड़कर दूसरे पुरुष को प्रेम करना वह अनैतिक मानती है। इसी प्रकार उषादेवी मित्रा के 'जीवन की मुस्कान' की सविता भी कमलेश के प्रेम का सम्बल लेकर संन्यासिनी हो जाती है।

प्रेमचन्द के 'निर्मला' में सुधा का तथा भगवतीप्रसाद वाजपेयी और प्रफुल्लचन्द्र ओझा 'मुक्त' लिखित 'लालिमा' में संध्या का नैतिक स्तर बहुत ऊँचा है। वे दोनों ही पति को प्रेम करती थी किन्तु जब उन्हें मालूम पड़ता है कि उनके पति अन्य लड़की से प्रेम करते हैं, तो वे आत्मसम्मान खोकर अपने पति के साथ रहना नहीं चाहतीं। निर्मला के प्रति किये गए असभ्य व्यवहार की ग्लानि के कारण जब सुधा के पति जहर खाकर मृत्यु को प्राप्त होते है, तब भी सुधा को दुःख नहीं होता। वह चरित्रहीन पति के साथ रहने से वैधव्य को अच्छा मानती है। वह बड़े आत्म-विश्वास के साथ कहती है : 'ऐसे सौभाग्य से मैं वैधव्य को बुरा नहीं समझती। दरिद्र प्राणी उस धनी से कहीं सुखी है, जिसे उसका धन साँप बनकर काटने दौड़े। उपवास कर लेना आसान है, विषैला भोजन करना उससे कहीं मुश्किल।'[3] इसी प्रकार 'लालिमा' में संध्या को जैसे ही विदित होता है कि उसके पति ने उसकी सखी के साथ उचित व्यवहार नहीं किया है, वह बिना कहे ही पति को छोड़कर चली जाती है और देश-सेवा का कार्य करने लगती है। नैतिकता की दृष्टि से पर-स्त्री से प्रेम करने को वह अक्षम्य अपराध समझती है। और जब पति अपनी पत्नी को प्रेम न करके दूसरी स्त्री को प्रेम करता हो तो वह ऐसे पति की छत्रछाया में रहने को नैतिक दृष्टि से उचित नहीं मानती।

---

१. उषादेवी मित्रा : 'पिया' (पृष्ठ १६२)
२. प्रेमचन्द : 'ग़बन' (पृष्ठ २८०)
३. प्रेमचन्द : 'निर्मला' (पृष्ठ १७२)

सियारामशरण गुप्त लिखित 'नारी' में भी नैतिक समस्या उठी है। जमना पति और पुत्र दोनों को ही असीम प्रेम करती है। अचानक एक दिन उसका पति कहीं चला जाता है, और कोई सूचना तक नहीं देता। फिर भी जमना के मन में उसके लौटने की आशा लगी रहती है। इसी बीच में उसका पुत्र हल्ली खो जाता है। पति को खोने के बाद पुत्र ही उसका एक मात्र सहारा है। उसको अत्यन्त दुःख होता है, पर वह अकेली है, कहाँ-कहाँ हल्ली को ढूंढ़ने जाये। ऐसे संकट में अजीत उसका सहायक बनकर हल्ली को ढूंढ़ने के लिए दिन-रात एक कर देता है। हल्ली के लिए वह अपने प्राणों की भी परवाह नहीं करता। जमना अजीत के प्रति कृतज्ञ-भावना में डूब जाती है। अजीत उसके लिए इतना कर रहा है, उस निर्धन वंचिता नारी के पास क्या है जिससे वह उसके उपकार का बदला चुकाये। इस विशिष्ट परिस्थिति में वह अजीत की इच्छा-पूर्ति के लिए उसका घर बसाने को प्रस्तुत हो जाती है। पर उसके इस समर्पण के पीछे न कोई काम-वासना है, न स्वार्थ-भावना। सच्चे सहायक के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करने का उसे यही एक मार्ग सूझता है। बिना प्रतिदान दिये पुरुष की सहायता स्वीकार करना उसको सहन नहीं होती।[1]

इस प्रकार इस युग के लेखक ने नारी-चरित्र को नैतिकता और अनैतिकता का निर्णय परम्परागत प्रचलित मान्यताओं के आधार पर न कर उसके कर्म की मूल प्रेरणा के आधार पर किया है। यदि उसकी भावना सच्ची और पवित्र है, तो प्रत्यक्ष रूप से अनैतिक होते हुए भी उसको दोषी नहीं ठहराया जा सकता। नारी का ऐसा चित्रण युगानुरूप साहस का परिचय तो देता ही है, वह नारी-समाज की प्रगति में भी सहायक है।

नारी-जागरण की समस्या

नारी में राष्ट्रीय चेतना

भारतीय जनता पर महात्मा गांधी के सिद्धान्तों और आन्दोलनों का प्रभाव सन् १९२० के बाद से ही पड़ने लगा था। घर से बाहर निकलकर नारी ने सन् १९२० और १९३० के राष्ट्रीय आन्दोलनों में सक्रिय रूप से भाग लिया था, आजीवन खद्दर पहनने की शपथ ली थी, पिकेटिंग और जुलूसों में साहसपूर्वक भाग लेकर वह जेल भी गई थी। इस क्षेत्र में भी जो काम पुरुष नहीं कर सका था, उस काम को नारी ने त्याग, सहृदयता, लगन, दृढ़ता और सचाई द्वारा बड़ी सफलतापूर्वक किया। नारी की इस छिपी शक्ति को देखकर उस समय की प्रबुद्ध जनता भी चकित हो रही थी। प्रेमचन्द-युग के लगभग सभी लेखकों ने नारी की इस जागृति की झलक प्रस्तुत की है। उन्होंने गांधीजी के आदर्शों

१. 'कहने में मुझे लज्जा नहीं है। फिर घर बसा लेने के लिए कहा था। तुम्हें मंजूर हो तो फिर कहीं मेरे लिए जाओ, मैं न रोकूंगी।'—सियारामशरण गुप्त : 'नारी' (पृष्ठ १०४)

से प्रेरणा पाकर ही एक ओर नारी के नए आदर्शों की स्थापना की, और दूसरी ओर नारी की राजनैतिक चेतना का भी चित्रण किया। गांधीजी की ही भाँति इस युग के उपन्यासकारों के सामने नारी-जागरण एक मुख्य समस्या थी। वे नारी की निहित शक्ति को उपन्यासों के माध्यम से प्रत्यक्ष करना चाहते थे। वे चाहते थे कि भारतीय नारी पुरुष के समान ही देश-भक्त बने, उसकी सामाजिक और राजनैतिक चेतना एवं उसमें अपने अधिकारों के लिए संघर्ष की भावना विकसित हो। अपने ऊपर किए गये अत्याचारों को वह मूक हो करके सहन न करती जाये प्रत्युत उनके विरुद्ध सक्रिय रूप से युद्ध करे। उनके मत में नारी के मन, बुद्धि और व्यक्तित्व के विकास का यही सर्वोत्तम मार्ग था। इसीलिए इस युग के अनेक उपन्यासों में विभिन्न प्रकार से नारी-जागरण का चित्रण किया गया है। यदि शहर की नारी गांधीजी के आन्दोलनों से प्रभावित होकर राजनैतिक कार्य करती है, रचनात्मक कार्य करती है, जुलूसों में भाग लेती है, खद्दर पहनती है, पिकेटिंग करती है और सभाओं में भाषण देती है तो गाँव की नारी में वर्ग-संघर्ष की भावना तीव्रतर है। नारी के ये दो रूप नारी-जागरण के ही दो पहलू हैं। नारी जागृत होकर स्वयं भी वीरता दिखा सकती है और अपनी संतान को भी वीर बना सकती है।

इस युग के उपन्यासकारों में प्रेमचन्द ने नारी-जागरण की समस्या पर सबसे अधिक गम्भीरता से विचार किया है। गाँधीजी के सत्याग्रह-आन्दोलन से प्रेरणा पाकर उन्होंने 'कर्मभूमि' की रचना की और उसमें सुखदा जैसी साहसी, कर्मठ, राजनैतिक नारी का चित्रण किया। सुखदा का चित्रण इतना सजीव हुआ है कि इस युग की राजनैतिक नारी अपने समूचे व्यक्तिव के साथ सुखदा के चरित्र में प्रकट होती है। विदेशी शासन के शोषण और अत्याचारों के कारण मध्यवर्गीय नारी किस प्रकार स्वयं ही राष्ट्रीय आन्दोलन की ओर झुक गई थी इसका चित्रण सुखदा के चरित्र में यथार्थ रूप में हुआ है।

सुखदा तेजस्विनी प्रकृति की नारी है। अत्याचार, अन्याय और अनधिकार चेष्टा के प्रति विरोध की भावना उसमें प्रारम्भ से ही है। जब वह शोषक वर्ग द्वारा दिन-प्रति-दिन किये जाने वाले अत्याचार (जिसमें मुन्नी पर किया गया बलात्कार भी सम्मिलित है) और निरीह जनता के कष्ट देखती है तो उसकी तेजस्विता उत्सर्ग के रूप में फूट पड़ती है। वह उन्माद की दशा में घर से निकली और पुलिसवालों के सामने खड़ी होकर ललकारती हुई बोली: 'भाइयो! क्यों भाग रहे हो? यह भागने का समय नहीं, छाती खोलकर सामने खड़े होने का समय है। दिखा दो कि तुम धर्म के नाम पर किस तरह प्राणों को होम करते हो। धर्मवीर ही ईश्वर को पाते हैं। भागनेवालों की कभी विजय नहीं होती',[१] सुखदा के उत्सर्ग की प्रखर भावना को देखकर पुलिस भी झुक जाती है, संगीनें उतार देती है और बाद में जन-समूह की विजय होती है।

---

१. प्रेमचन्द : 'कर्मभूमि' (पृष्ठ २०९)

इस प्रकार सुखदा किसी के कहने या उपदेश से राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग नहीं लेती उसकी चेतना स्वयं ही उस ओर खिचती है। अपने इसी चारित्रिक और नैतिक बल के कारण कुछ ही दिनों में वह सारे शहर की नेत्री बन जाती है। वह शोषितों और पीड़ितों की भावना को समझती है, उनकी आशा को ही अपने स्वर में भरकर कहती है : 'एक दिन आयेगा, जब आज के देवता कल कंकड़-पत्थर की तरह उठा-उठाकर गलियों में फेंक दिये जायेंगे और पैरों से ठुकराये जायेंगे।'[1] एक-न-एक दिन शोषण, अन्याय और दमन का अन्त होगा ही और शोषकों की विजय। प्रेमचन्द ने सुखदा के शब्दों में जो भविष्यवाणी की थी, वह आज सत्य हो चुकी है।

इस आन्दोलन में भाग लेने के साथ-साथ सुखदा यह भी चेष्टा करती है कि ग़रीबों के निवास के लिए म्यूनिस्पैलिटी मुफ्त जमीन दे दे। वह इस लड़ाई के लिए कमर कसकर आगे आती है। वह मजदूर मतई से कहती है: 'मैं खुद घर-घर घूमूँगी; द्वार-द्वार जाऊँगी, एक-एक के पैर पड़ूँगी और हड़ताल कराके छोड़ूँगी; और हड़ताल न हुई, तो मुँह में कालिख लगाकर डूब मरूँगी।'[2]

यह है नारी का आत्म-विश्वास और संकल्प। सुखदा सहर्ष जेल जाती है। नारी पर किये गए विदेशियों के अत्याचार तथा अपमान को भारतीय जनता सहन नहीं कर सकती। इसीलिए वह दुखी श्वसुर को समझाती हुई कहती है कि उसके जेल जाने के कारण यह आन्दोलन टक्कर खाई हुई गेंद की भाँति और अधिक आगे को बढ़ेगा। वह वीर नारी की भाँति अपने लिए जमानत भी नहीं देने देती। क्योंकि उसका मत है कि जमानत देना ब्रिटिश सरकार के प्रति आत्मसमर्पण करने के समान है। जमानत के प्रस्ताव पर वह अपनी त्योरियाँ बदलकर ससुर से कहती है: 'नहीं, कदापि नहीं। मैं क्यों जमानत दूँ? क्या इसलिए कि अब मैं कभी जबान न खोलूँगी, अपनी आँखों पर पट्टी बाँध लूँगी, अपने मुँह पर जाली लगा लूँगी। इससे तो कहीं अच्छा है कि अपनी आँख फोड़ लूँ, जबान कटवा दूँ।'[3]

'कर्मभूमि' की ग्रामीण नारी मुन्नी में भी प्रारम्भ से ही आत्मसम्मान, नैतिक साहस और आत्माभिव्यक्ति की भावना थी। वह अत्याचार सहन नहीं कर सकती थी। इन्हीं गुणों के कारण वह दो आततायी अंग्रेजों की हत्या कर डालती है। बाद में मृत गाय के पास बैठकर वह जो सत्याग्रह करती है, उस पर गांधीजी के सत्याग्रह का पूरा प्रभाव लक्षित होता है। वह ललकारती हुई कहती है: 'अब जिसे गड़ाँसा चलाना हो चलाये, बैठी हूँ।'[4] यही नहीं, वह वंचकों के अत्याचार के सामने झुकना नहीं जानती। अमरकान्त की गिरफ्तारी

---

१. प्रेमचन्द : 'कर्मभूमि' (पृष्ठ २६६)
२. वही : (पृष्ठ २७१)
३. वही : (पृष्ठ २७७)
४. वही : (पृष्ठ १७०)

के अवसर पर संघर्ष की क्रान्तिकारी भावना से भरकर वह सहसा उत्तेजित होकर कहती है: 'इतने जने खड़े ताकते क्या हो। उतार लो मोटर से।'[१]

इनके अतिरिक्त प्रेमचन्द ने इस उपन्यास की एक अन्य पात्री सलोनी के चित्रण में ग्रामीण जनता की विद्रोही भावना को बड़े सफल रूप में व्यक्त किया है। सलोनी के चरित्र पर विचार करते समय मैक्सिम गोर्की लिखित 'माँ' का स्मरण हो आता है। अपढ़, वृद्धा नारियाँ भी किस प्रकार विषम परिस्थिति, अन्याय और अत्याचार के कारण विप्लव के मार्ग पर अग्रसर होती हैं यह सलोनी और गोर्की की 'माँ' के चरित्र से जाना जा सकता है। नौकरशाही के प्रति सलोनी के मन में इतना क्षोभ भरा हुआ था कि उसके अत्याचारों से पीड़ित होकर प्रतिशोध की भावना से वह हाकिम के मुँह पर थूक देती हैं और गोलियों के सामने सीना तानकर खड़ी हो जाती है। वह हन्टर की मार से भी नहीं डरती वरन् हन्टर की हर चोट उसकी प्रतिशोध और ग्लानि की भावना को तीव्रतर करती है। 'हरेक हन्टर पर गाली देती थी। जब वेदम होकर गिर पड़ी, तब जाकर उसका मुँह बन्द हुआ।'[२] गोर्की के उपन्यास 'माँ' में भी शोषक वर्ग के जुल्म और अत्याचार के विरोध में माँ चिल्ला-चिल्लाकर अपनी वेदना प्रकट करती है।[३]

अर्थाभाव, वार्धक्य और अत्याचार से उसकी कमर अवश्य झुक गई है, किन्तु उसका मन कभी नहीं झुका। मार्क्स ने एक बार कहा था: 'शोषित वर्ग के पास खोने को है ही क्या? यदि वे कुछ गँवायेंगे तो दासता की जंजीरें ही गँवायेंगे।' इसी बात को प्रेमचन्द ने मानो सलोनी के चरित्र में चरितार्थ किया है। उसके पास खोने को क्या है जिसके लिए वह घर के अन्दर द्वार बन्द किये बैठी रहे। कोई भी हिंसक शक्ति जन-जीवन को नष्ट नहीं कर सकती। सलोनी पग-पग पर कुछ-न-कुछ सीखती हो चलती है। यही कारण है कि सलोनी का जीवन इस बुढ़ापे में भी सरस हो उठा है। व्यक्तिगत सुख-दुख समाज का सुख-दुख हो गया है। वह इस फटेहाल में भी, हन्टर की मार से सूजी हुई देह को लेकर भी अमरकान्त के पिता समरकान्त से हँसी करती है: 'कहाँ हो देवर जी! सावन में आते तो तुम्हारे साथ झूला झूलती, चले हो कातिक में।'[४]

उपर्युक्त नारियों के अतिरिक्त उषादेवी मित्रा लिखित 'पिया' की पिया तथा उनके

---

१. प्रेमचन्द : 'कर्मभूमि' : (पृष्ठ ३१८)

२. वही : (पृष्ठ ३३२)

३. 'सत्य को तुम रक्त के महासागर में भी नहीं डुबा सकते'...पुलिस वालों ने उसके हाथ से चौखट छुटाने के लिए माँ के हाथ पर वार किया।

'हाय रे! व्यर्थ में ही तुम लोगों की घृणा के पात्र बन रहे हो। अरे नासमझो! यह खून एक दिन तुम्हारे सिर पर चढ़ कर बोलेगा।'—मैक्सिम गोर्की : 'माँ' अनुवादक : चंद्रभाल जौहरी (पृष्ठ ४०८)

४. प्रेमचन्द : 'कर्मभूमि' (पृष्ठ ३३२)

दूसरे उपन्यास 'वचन का मोल' की कजरी, 'गोदान' की मालती, 'रंगभूमि' की सोफीया और इन्दु, रामकिशोर मालवीय लिखित 'शैलकुमारी' की कात्यायिनी, त्रिमूर्ति लिखित 'मीठी चुटकी' की सौदामिनी, चतुरसेन शास्त्री लिखित 'आत्मदाह' की सुधा, प्रतापनारायण श्रीवास्तव लिखित 'विदा' की चपला, निराला लिखित 'अलका' की अलका, 'कर्मभूमि' की रेणुका, सेठ गोविन्ददास लिखित 'इन्दुमती' की इन्दुमती आदि अनेक नारियाँ गांधीजी के आदर्शों से प्रभावित होकर राजनैतिक जागरण में भाग लेती दिखाई देती हैं। कुछ नारियाँ आन्दोलन करती हैं तो कुछ नारियाँ रचनात्मक कार्य करके समाज-सेवा करती हैं। पिया, सुधा, सोफ़ी और इन्दुमती राजनैतिक सभाओं में सक्रिय रूप से भाग लेती हैं। इन्दुमती, पिया और सुधा पिकेटिंग करती हैं। सुधा तो जेल भी जाती है और बीमारी की अवस्था में वहीं उसकी मृत्यु होती है। कात्यायिनी, कजरी, इन्दुमती और सुधा खद्दर पहनती हैं। कात्यायिनी सार्वजनिक कार्य करती है, बाद में 'नवयुग' नामक पत्र का संपादन भी करती है। कात्यायिनी, कजरी और सुधा नारी-उद्धार के लिए आश्रम खोलती हैं। अलका मज़दूरों की स्त्रियों को प्रति-दिन दो घंटे पढ़ाने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेती है। रेणुका 'सेवाश्रम' के लिए अपनी समस्त जायदाद दे देती है। चपला समाज-सुधार की भावना लेकर स्त्री-समाज की उन्नति करने का बीड़ा उठाती है।[१] मालती गाँव-गाँव जाकर ग़रीब बच्चों को तथा रोगियों को देखकर मुफ्त दवाई देती है तथा वहाँ की स्त्रियों को सफ़ाई के महत्व और बच्चों के लालन-पालन के सम्बन्ध में शिक्षा देती है।[२]

इन सब महिलाओं पर गांधीजी का प्रभाव है। किन्तु इनके चरित्र में उस स्वाभाविक राष्ट्रीय चेतना का समावेश न हो सका जो हमें सुखदा के चरित्र में मिलता है। ऐसा लगता है मानो लेखकों ने उनको खद्दर, समाज-सेवा और अहिंसा का बाना नारी-जागरण के उद्देश्य से पहना दिया है। यही कारण है कि राष्ट्रीय चेतना न तो इन महिलाओं के जीवन को झकझोरती है और न कोई गहरा प्रभाव पैदा करती है।

नारी में वर्ग-संघर्ष की भावना

इन नारी पात्रों के अतिरिक्त कुछ ऐसी ग्रामीण नारियों का भी चित्रण हुआ है जिनमें

---

१. चपला अपने जीवन का कार्यक्रम निश्चित करते हुए कहती है :

'जब तक स्त्रियाँ स्वयं अपने-आपको न बचायेंगी, कोई दूसरा उनकी रक्षा के लिए आगे नहीं बढ़ेगा। मैं हर एक स्त्री के पास संदेश पहुँचाऊँगी—हर एक स्त्री को उत्तेजित करूँगी—हर एक को अपनी लाज, अपनी संभ्रान्ति, अपना गौरव और धर्म बचाने के लिए उत्साह दूंगी—बस यही संसार में मेरा काम होगा।'

प्रतापनारायण श्रीवास्तव : 'विदा' (पृष्ठ १८२)

२. प्रेमचन्द : 'गोदान' (पृष्ठ ३८९)

वर्ग-संघर्ष की भावना तीव्र रूप में निहित है। 'प्रेमाश्रम' की विलासी, 'कर्मभूमि' की सलोनी, 'गोदान' की धनिया और 'तितली' की तितली ऐसी ही ग्रामीण नारियाँ हैं। वे किसान वर्ग की नारियाँ हैं जिनका सीधा सम्बन्ध ज़मींदार और महाजन वर्ग से होता है। उन्हीं के अत्याचार और शोषण की चक्की में यह वर्ग पिसा जाता है। गांधीजी के प्रभाव के कारण इस वर्ग की नारियों में भी अपनी वास्तविकता का ज्ञान हो चला था। इसलिए इन नारियों के मन में ज़मींदार-वर्ग के प्रति विद्रोह की भावना लक्षित होती है, जो दिन-प्रतिदिन के अनुभवों से तीव्रतर होती जाती है।

'प्रसाद' के 'तितली' उपन्यास में तितली का ज़मींदार-वर्ग से मेल है, प्रतिदिन का आना-जाना है, वहाँ उसका सम्मान भी होता है, फिर भी तितली में वर्ग-संघर्ष की भावना आ ही जाती है। मेल-मुलाक़ात होने के कारण उसकी विद्रोह-भावना क्षोभ और ग्लानि में परिणत हो जाती है। जब वह समझती है कि उसके जान-पहिचान के लोग ही उसका शोषण कर रहे हैं, तो उसके मन में शोषक वर्ग के प्रति क्षोभ की भावना घर कर लेती है। शोषित होने पर भी ग्रामीण जनता आत्म-सम्मान बनाये रखना चाहती है। यही कारण है कि जीवन की दुःखपूर्ण घड़ियों में भी तितली ज़मींदार के पुत्र इन्द्रदेव से किसी प्रकार की सहायता नहीं लेती और इन्द्रदेव और शैला को बताये बिना ही वह काशी से चली आती है। अपनी पाठशाला को चलाने के लिए भी किसी के आगे हाथ नहीं पसारती। जब अधिकारी वर्ग के लोग स्वयं ही मदद करने की चर्चा करते हैं तब उसका क्षोभ हुंकार कर ही उठता है : 'ज़मींदार ने मेरी पुरखों की डीह ले ली। मुझे माफ़ी पर भी लगान देना पड़ रहा है, और मुझे विपत्ति में डालनेवाले हैं यहाँ के ज़मींदार और तहसीलदार साहब। तब भी आप लोग कहते हैं कि मैं उन्हीं से सहायता लूँ'।[1]

'कर्मभूमि' की सलोनी के चित्रण में भी वर्ग-संघर्ष की भावना निहित है। अपने दैन्य और संचित अनुभवों से उसे विश्वास हो गया है कि न्याय कहीं नहीं है। खेत में उपज हो या न हो, घर में खाने को अनाज का एक दाना भी न हो किन्तु ज़मींदार को लगान देना ही पड़ता है। सलोनी के खेत में थोड़ा-सा तेलहन पैदा हुआ था जिसका उसको एक रुपया मिला था। किन्तु ज़मींदार का प्यादा उस रुपये को भी ले जाता है। भूख, ग़रीबी और अत्याचार से पीड़ित होकर उसे विश्वास हो गया है कि इन लोगों से फरियाद करने से कुछ नहीं होगा, अपना अधिकार तो स्वयं लड़कर हस्तगत करने से ही लिया जा सकता है। इसी ठोस अनुभव के कारण सलोनी का चरित्र बड़ा शक्तिशाली बन गया है।

इसी प्रकार 'प्रेमाश्रम' की विलासी भी प्रारम्भ में शोषक वर्ग के अत्याचारों से परिचित होने पर भी उन्हें प्रसन्न रखने की चेष्टा करके अपने धैर्य और विवेक का परिचय देती है। किन्तु जब अत्याचारों की अति हो जाती है और नारी पर भी हाथ उठाये जाते

१. जयशंकर 'प्रसाद' : 'तितली' (पृष्ठ २५५)

हैं तो उसके सहनशील मन में भी स्थानीय तानाशाही के विरुद्ध विद्रोह की चिन्गारी फट ही पड़ती है। स्त्री पर हाथ चलाने की बात से ही उसके रोम-रोम से अग्नि की ज्वाला निकलने लगती है।[1] इस अपमान का बदला लेने की चेष्टा में जब उसका पति मनोहर स्वयं आत्महत्या कर लेता है तब भी विलासी अपने सम्मान की रक्षा के लिए गर्व से अपना मस्तक ऊँचा किये रहती है।[2]

प्रेमचन्द ने 'गोदान' में धनिया के व्यंग्यपूर्ण कथोपकथन के माध्यम से वर्ग-संघर्ष की तीक्ष्ण भावना व्यक्त की है। जीवन के समस्त अधिकारों और साधनों से वंचित होकर भी होरी भारतीय किसान की परम्परागत मान्यताओं को अक्षुण्य बनाये रखना चाहता है, किन्तु विषम परिस्थितियों के कारण उसके मन में एक विकलता है, एक विद्रोह की भावना है जिसको वह प्रकट करना नहीं चाहता। धनिया मानों उस विद्रोह की साकार मूर्ति है। वह प्रत्येक अत्याचार के प्रति सजग ही नहीं है, उनके आधारभूत सिद्धान्तों पर प्रश्न भी करती पाई जाती है; और कुछ का तो वह प्रगतिशील ढंग से समाधान भी कर लेती है। इसके लिए उसको तीखे व्यंग्यों का सहारा लेना पड़ता है। उसकी असाधारण वाक्-शक्ति से होरी ही नहीं, सारा गाँव थर्राता रहता है।

लोक-लाज की रक्षा के लिए होरी अपने मन की बात धनिया से कहकर भी मुकर सकता है, अपने पुत्र गोबर की झूठी सौगन्ध खा सकता है, और धनिया को चार लोगों के सामने मार भी सकता है, किन्तु धनिया इस झूठी मान-मर्यादा के परे है। भाई के घर की तलाशी न होने देने के कारण होरी झींगुरी से तीस रुपये उधार ले कर दरोगा को घूस देना चाहता है किन्तु धनिया यह अन्याय नहीं सह पाती। वह अदम्य साहस के साथ रुपयों की गठरी छीन लेती है और नागिन की तरह फुंकार कर होरी से कहती है : 'ये रुपये कहाँ लिये जा रहा है, बता। भला चाहता है तो सब रुपये लौटा दे, नहीं कहे देती हूँ। घर के परानी रात-दिन मरें और दाने-दाने को तरसें, लत्ता भी पहनने को मयस्सर न हो और अँजुली भर रुपये लेकर चला है इज्जत बचाने।'[3]

यही नहीं, वह समाज के नेता बननेवाले महाजन, पटवारी और हाकिमों की चील-झपट्टा वाली नीति पर भी गहरा व्यंग्य-प्रहार करती है। वह ललकार कर कहती है : 'मैं दमड़ी भी न दूँगी, चाहे मुझे हाक़िम के इजलास तक ही चलना पड़े। हम बाक़ी चुकाने को पचीस रुपये माँगते थे, किसी ने न दिया। आज अँजुली भर रुपये ठनाठन निकाल कर दिये। मैं सब जानती हूँ। यहाँ तो बाँट-बँटवारा होनेवाला था, सभी के मुँह मीठे होते। ये

---

१. प्रेमचन्द : 'प्रेमाश्रम' (पृष्ठ ३०१)
२. 'मैं विधवा हो गई तो क्या, घर सत्यानाश हुआ तो क्या, किसी के आगे आँखें नीची तो नहीं हुईं, अपनी लाज तो रखखी।' प्रेमचन्द : 'प्रेमाश्रम' (पृष्ठ ३७३)
३. प्रेमचन्द : 'गोदान' (पृष्ठ १४२)

हत्यारे गाँव के मुखिया हैं; ग़रीबों का खून चूसनेवाले। सूद-ब्याज, डेढ़ी-सवाई नज़र-नजराना, घूस-घास जैसे भी हो, गरीबों को लूटो। उस पर सुराज चाहिए। जेहल जाने से सुराज न मिलेगा। सुराज मिलेगा धरम से, न्याय से।'[1]

किन्तु जीवन के कटु अनुभव उसे सिखा देते है कि न्याय कही नहीं है। सारा परिवार खून-पसीना एक करता है फिर भी न तो उन्हें दो जून भर पेट रोटी मिलती है और न कर्ज ही चुका पाते है। होरी दातादीन के यहाँ मजदूर वन कर काम करता है। किसान को मजदूर बनने में अत्यधिक मानसिक क्लेश होता है; किन्तु जीवन की परवशता सभी कुछ करने को बाध्य कर देती है। उस पर दातादीन यम की भाँति पास खड़ा रहकर उसे क्षण भर भी दम नहीं लेने देता, प्रत्युत और अधिक शीघ्रता से काम करने के लिए बराबर टोकता रहता है। दातादीन के इस अमानुषिक व्यवहार पर होरी तो विप का घूंट पीकर चुप रह जाता है, पर उसकी चेतना स्वरूपा धनिया आहत होकर साहसपूर्वक कराह ही उठती है: 'क्या जरा दम भी न लेने दोगे महाराज। हम भी तो आदमी है। तुम्हारी मजूरी करने से वैल नहीं हो गये। ज़रा मूंड़ पर एक गट्ठा लादकर लाओ, तो हाल़ मालूम हो।'[2]

आधुनिक समाज-व्यवस्था में वर्ग-संघर्ष की भावना अनिवार्य रूप से लक्षित होती है। शोषित वर्ग की मूक व्यथा को धनिया ने वाणी दी है। धनिया, विलासी, सलोनी और तितली शोषित वर्ग की प्रतीक वन कर साहसी, संकल्पमती और विद्रोहिणी नारी के रूप में सामने आती है।

---

१. प्रमचन्द : 'गोदान' : (पृष्ठ १४३)
२. वही : (पृष्ठ २५७)

अध्याय ५

नारी-जीवन की समस्याएँ और उनका समाधान : प्रेमचन्दोत्तर-काल

नारी-जीवन की समस्याओं की दृष्टि से प्रेमचन्द-युग के और प्रेमचन्दोत्तर-काल के उपन्यासों में मूलभूत अंतर है। प्रेमचन्द-युग में मुख्यतः नारी की सामाजिक समस्याओं का ही चित्रण हुआ है, जब कि फ़ायड, युंग, एडलर आदि मनोविश्लेषणवादियों के प्रभाव के कारण प्रेमचन्दोत्तर-काल में नारी-मन की मनोवैज्ञानिक गुत्थियाँ मुख्य समस्या बन गईं। यद्यपि अब भी समाज में बाल-विवाह, नारी-शिक्षा, विधवा-विवाह, दहेज, वेश्या-वृत्ति आदि समस्याएँ बनी हुई थी किन्तु अब उनको दूर करने की आवश्यकता स्वीकार की जा चुकी थी। इसीलिए साहित्यकार का ध्यान उन्ही तक सीमित नही था। इस काल में लेखक ने नारी-मन की उथल-पुथल, स्त्री-पुरुष के आकर्षण-विकर्षण अर्थात् काम-भाव की समस्या को गहराई से देखना-समझना प्रारम्भ किया। इसके अतिरिक्त नारी की वैयक्तिक और आर्थिक स्वतन्त्रता को जितना सबल समर्थन इस युग के उपन्यासों में मिला है, उतना पूर्ववर्ती उपन्यासों में नही मिलता।

प्रेमचन्दोत्तर-काल के उपन्यासों में नारी के विवाहोत्तर जीवन की समस्याओं का चित्रण भी मुख्य रूप से हुआ है। यद्यपि इस काल में जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में स्त्री-पुरुष की समानता की भावना समाज में फैल चुकी थी, फिर भी उपन्यासकार ने अनुभव किया कि भारतीय पत्नी पढ़-लिख कर भी एवं अपनी स्वतन्त्रता तथा मानवीय अधिकारों के लिए विकल होने पर भी पति से वे अधिकार नहीं पाती जो वह स्वयं ले लेता है। इसलिए इस युग के अनेक उपन्यासों में पुरुष द्वारा नारी के शोषण की समस्या का चित्रण हुआ है। अपने विकसित व्यक्तित्व के कारण नारी अब पुरुष के शोषण को सहज रूप में स्वीकर नहीं कर पाती थी। अतः विकसित अहं-युगल की टकराहट से दाम्पत्य जीवन में विसंगतियाँ उत्पन्न होने लग गई जिनका उपन्यासों में चित्रण होना अनिवार्य था। दूसरी ओर नारी के इसी व्यक्तित्व-विकास के कारण उसकी रुचि और भावना का महत्व बढ़ गया और समाज एवं साहित्य में घर-बाहर अथवा पर-पुरुष के प्रति प्रेम की समस्या उठ खड़ी हुई। प्रेमचन्द-युग में नारी का व्यक्तित्व अपेक्षाकृत कम विकसित होने के कारण नारी का प्रेम भी प्रायः परम्परागत मार्ग पर ही प्रवाहित होता था। इसी काल में आकर पहली बार उसे अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व का बोध हुआ और स्वतन्त्रता के पहले अतिरेक में उसका मन समाज और परिवार की सीमाओं को तोड़ कर बहने लगा। यह सामाजिक स्थिति

मनोविश्लेपणवादियों के लिए बहुत अनुकूल सिद्ध हुई, और उन्होंने अपनी कृतियों में उसका पूरा-पूरा लाभ उठाया। जिन उपन्यासों में आतंकवाद और साम्यवाद से प्रभावित नारियों का चित्रण है, उनमें भी इस प्रवृत्ति का आभास मिलता है।

इस युग के उपन्यासकारों में दूसरा वर्ग उनका था जो सुधारवाद की प्रवृत्ति को व्यर्थ और निष्फल मानते थे। मार्क्स एवं अन्य समाजवादी विचारकों के सिद्धान्तों से प्रभावित होकर उनका मत था कि समाज में आवश्यक सुधार तभी हो सकेगा जब क्रान्ति द्वारा व्यक्ति के सामाजिक सम्बन्धों में आमूल परिवर्तन हो जाये। वे सामाजिक प्रगति को, और इसीलिए नारी की प्रगति को भी, वर्ग-संघर्ष के रूप में देखते थे और भारतीय समाजवादी आन्दोलनों में रुचि रखते थे। इन उपन्यासकारों ने क्रान्तिकारी दलों में काम करनेवाली नारियों को स्थान दिया है और अपने चरित्र-चित्रण द्वारा वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त का पोषण करने का प्रयत्न किया है, यद्यपि वह प्रयत्न कहीं-कहीं पर अत्यन्त अस्वाभाविक और एकांगी हो गया है।

सामाजिक समस्याएँ

नारी-शिक्षा

नारी-शिक्षा का काफ़ी प्रचार हो जाने के फलस्वरूप प्रेमचन्दोत्तर-काल में नारी को शिक्षित करने की समस्या हिन्दी उपन्यासकारों के सम्मुख न थी। इस युग में हिन्दी उपन्यासों की लगभग सभी नारियाँ शिक्षित दिखाई देती हैं। प्रेमचन्द-युग के अधिकाँश उपन्यासों में भी शिक्षित नारी के दर्शन होते हैं, किन्तु उस युग के लेखक ने साधारण शिक्षित नारी को जो सहानुभूति दी है वह उच्च शिक्षित नारी को नहीं। अधिकाँशतः उच्च शिक्षित नारी का चित्रण पाश्चात्य रंग में रँगी नारी के रूप में किया गया है। जैसे प्रेमचन्द के 'गोदान' की मालती, राधिकारमणप्रसाद सिंह के 'रामरहीम' की बिजली और भगवतीचरण वर्मा के 'तीन वर्ष' की प्रभा। किन्तु प्रेमचन्दोत्तर-काल के उपन्यासकारों के दृष्टिकोण में स्पष्ट अन्तर लक्षित होता है। उन्होंने शिक्षित और उच्च शिक्षित दोनों ही प्रकार की नारियों को सहानुभूति दी है और उनकी समस्याओं को सहानुभूति-पूर्वक समझने और सुलझाने का प्रयत्न किया है। उच्च शिक्षित नारी आज की विकास-शील, व्यक्तित्व प्रधान नई नारी के रूप में चित्रित हुई है। हिन्दी उपन्यासों में स्थल-स्थल पर शिक्षित नारी अपने कुसंस्कारों से मुक्ति पाने और अपने अधिकारों के लिए सामाजिक अन्याय के विरुद्ध सिर उठाने में सचेष्ट दिखाई देती है।

यशपाल ने अपने कई उपन्यासों में ऐसी ही उच्च शिक्षा-प्राप्त नारी का चित्रण किया है। 'दादा कामरेड' की शैल एम० ए० में पढ़ती है, 'पार्टी कामरेड' की गीता, रिसर्च स्कालर है और 'मनुष्य के रूप' की मनोरमा एम० ए० में अध्ययन करती है। ये सभी नारियाँ नई नारी के रूप में चित्रित हुई हैं। इनके अतिरिक्त 'दादा कामरेड' की यशोदा, 'मनुष्य के रूप' की सोमा और 'देशद्रोही' की चन्दा और राज भी शिक्षित दिखाई

देती हैं। रांगेय राघव के 'घरौंदे' में लवंग, लीला, इन्दरा और रानी कालेज में अध्ययन करती हैं। इलाचन्द्र जोशी के 'निर्वासित' की रमा, नीलिमा और प्रतिमा, 'मुक्तिपथ' की प्रमीला उच्च शिक्षा प्राप्त हैं। 'पर्दे की रानी' की शीला जटिल मनोविश्लेषण-शास्त्र की पुस्तकें पढ़ने की भी क्षमता रखती है, निरंजना भी कालेज में शिक्षा प्राप्त कर चुकी है। 'संन्यासी' की शान्ति अध्यापन-कार्य करती है तथा 'प्रेत और छाया' की मंजरी पढ़-लिख कर अस्पताल की सबसे बड़ी डाक्टरनी बन जाती है। 'अज्ञेय' के 'शेखर : एक जीवनी' की शशि उच्च शिक्षिता है तथा जैनेन्द्र के 'कल्याणी' की कल्याणी इंग्लैण्ड से डाक्टरी की उपाधि लेकर आई है। 'सुनीता' की सुनीता और 'त्यागपत्र' की मृणाल भी साधारणतः शिक्षित हैं। 'पहाड़ी' के 'सराय' की रेखा, नरोत्तमप्रसाद नागर के 'दिन के तारे' की चंद्रमणि, 'अंचल' के 'चढ़ती धूप' की तारा, 'नई इमारत' की आरती और धर्मवीर भारती के 'गुनाहों का देवता' की सुधा भी उच्च शिक्षा-प्राप्त है। इस प्रकार इस युग के लगभग सभी उपन्यासों में शिक्षित और उच्च शिक्षित नारी का चित्रण हुआ है।

आज के समाज में नारी-शिक्षा को प्रोत्साहन दो उद्देश्यों से मिलता है (१) शिक्षित नारी को अच्छा, सुयोग्य घर और वर मिलने की अधिक संभावना रहती है (२) वह अवसर पड़ने पर अपनी शिक्षा के सहारे स्वावलम्बिनी भी बन सकती है। आज का पति अपनी पत्नी को सुशिक्षित, सभ्य और सुसंस्कृत देखना चाहता है। इसलिए प्रेमचन्दोत्तर-कालीन हिन्दी उपन्यासों में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते है जब पुरुष नारी के इन गुणों पर मोहित होकर उससे प्रेम करने लगता है। कुछ उपन्यासकारों ने इस ओर भी दृष्टिपात किया है कि नारी की शिक्षा उसको आत्मनिर्भर बनाने के लिए भी आवश्यक है।

यशपाल के 'देशद्रोही' में यमुना आत्मनिर्भर बनने के लिए पढ़ती है। डिग्री के साथ-साथ कन्या पाठशाला में उसके वेतन में भी वृद्धि होती जाती है और जब वह एम० एं० पास करती है, तब उसको उसी स्कूल से सवा सौ रुपये वेतन मिलने लगता है।[1] इसी प्रकार 'निर्वासित' में रमा एम० ए० पास करने के बाद नौकरी पाने के उद्देश्य से एल० टी० करती है। यह डिग्री प्राप्त कर वह शहर के एक महिला विद्यालय में नौकरी करने लगती है।[2]

'अंचल' ने भी अपने दोनों उपन्यासों में नारी-शिक्षा के इस पहलू पर ध्यान दिया है। 'चढ़ती धूप' में ममता घर में मोहन से पढ़कर इन्टर तक का ज्ञान प्राप्त कर लेती है, परन्तु वह कोई परीक्षा नहीं दे पाती। एक बार मोहन की माँ उसको दिलासा देती हुई कहती है : 'परीक्षा पास करने में क्या रक्खा है? मूल बात है योग्यता और ज्ञान। वह अगर

---

१. यशपाल : 'देशद्रोही' (पृष्ठ १९९)
२. इलाचन्द्र जोशी : 'निर्वासित' (पृष्ठ १२)

पास है तो परीक्षा की सनद हो चाहे न हो। तुम्हें नौकरी करनी नहीं। परीक्षा पास करने की सनद नौकरी की तलाश में काम देती है।'[1]

किन्तु आज के युग की ममता समझती है कि जीवन में कोरी योग्यता और ज्ञान से ही भाग्य का निबटारा नहीं हो जाता। आज की नारी को जीवन की टेढी-मेढ़ी पगडंडियों से भी गुजरना पड़ सकता है। योग्यता का प्रमाण-पत्र होने से नारी इस कठिन पथ पर ज्यादा आसानी से चल सकती है। वह कहती है : 'नौकरी करने की नौबत आ सकती है माँ! मानव के जीवन की गति कितनी अप्रतिरोध है क्या तुमसे छिपा है। जीवन के चारों ओर विशेषकर स्त्री के जीवन के चारों ओर ऐसा सघन वन है कि कभी-कभी किसी ओर मार्ग नहीं सूझता। वह यहाँ जाती है, वहाँ जाती है पर असल में एक ही जगह जुए में बँधे कोल्हू के बैल की तरह चक्कर मारती रहती है। ऐसी स्थिति में कौन जाने कब क्या न करना पड़ जाय।'[2]

'अंचल' के दूसरे उपन्यास 'नई इमारत' में आरती अपनी शिक्षा के बल पर आत्म-निर्भर अनुभव करती है। जब उसके पिता उसकी इच्छा के विरुद्ध उसका विवाह आई० पी० से करना चाहते हैं तो उसको इतना बुरा लगता है कि वह घर छोड़कर जाने को तत्पर हो जाती है और कहती है : 'आपके आशीर्वाद से इतना पढ़-लिख गई हूँ कि सौ-पचास रुपये की नौकरी मिल जायेगी।'[3]

विद्यार्थी-जीवन एक ऐसा समय होता है जब व्यक्ति समाज की विषमताओं और उसके संघर्ष से दूर अपने सपनों की दुनिया में खोया-सा रहता है। इस काल के चरित्र-चित्रण से व्यक्ति की स्वाभाविक प्रवृत्ति और उसके मनोविज्ञान पर अच्छा प्रकाश पड़ जाता है। यही कारण है कि कुछ उपन्यासकारों ने नारी की स्वाभाविक प्रवृत्ति और उसके मानसिक विकास का चित्रण करने के लिए उसके शिक्षा-काल का चित्रण किया है। जैनेन्द्र के 'त्यागपत्र' की मृणाल और धर्मवीर भारती के 'गुनाहों का देवता' की सुधा बचपन में कितनी नटखट, साहसी, चंचल और सरल प्रकृति की थीं, यह प्रदर्शित करने के लिए इन दोनों लेखकों ने उनके विद्यार्थी-जीवन का बड़ा सजीव चित्रण किया है।

मृणाल अपने स्कूल में की गई शरारत का वर्णन करती हुई प्रमोद से कहती है : 'आज मास्टरजी को ऐसा छकाया, ऐसा छकाया, कि प्रमोद, तुझे क्या बताऊँ...और प्रमोद, वह हैं नहीं गणित के मास्टर। शीला ने उनकी कुर्सी की गद्दी में पिन चुभोकर रख दी, शीला बड़ी नटखट है।...मास्टर ने बेंत फटकार कर कहा...'मैं तुम्हें एक-एक को पीटूँगा।' सचमुच उनको गुस्सा बहुत था। उनका गुस्सा देखकर सब लड़कियाँ एक-दूसरे की तरफ़ देखने लगीं। यह मुझको बुरा लगा। मैंने खड़े होकर कहा : 'यह मेरा

---

१. 'अंचल' : 'चढ़ती धूप' (पृष्ठ ४२)
२. वही : (पृष्ठ ४२)
३. 'अंचल' : 'नई इमारत' (पृष्ठ ७९)

कसूर है, मास्टर जी।' मास्टर जी पहले तो मुझको देखते रहे। फिर कहा : 'यहाँ आओ।' मैं चली गई। कहा : 'हाथ फैलाओ।' मैंने हाथ फैला दिया। उस फैली हथेली पर उन्होंने तीन-चार बेंत मारे। मैने समझा था और मारेंगे। पर जब बेंत उन्होंने अपने हाथ से अलग कर दिया तो मैंने भी अपना हाथ खींच लिया। सच कहूँ, प्रमोद, मुझे कुछ भी चोट नहीं लगी। मैं उनकी उस आँख की तरफ़ देख रही थी...फिर मास्टर जी ने चिल्लाकर कहा : 'अब तो नहीं करेगी? मैं चुपचाप खड़ी रही और सोचती रही कि एक बार तो मैं भी सचमुच का क़सूर करके देखूंगी।"[1]

इसी प्रकार 'गुनाहों का देवता' में मिस उमालकर जब गृह-विज्ञान के घण्टे में आलू खाने की हानियाँ बतलाती हैं तब सहसा बीच में गेसू का यह पूछना : 'गुरुजी, गांधीजी आलू खाते हैं या नहीं?' और इस बात पर सारी क्लास का खिलखिला कर हँसना; तथा मिस उमालकर द्वारा हरी तरकारियों के लाभ वर्णन करते समय एक लड़की का गेसू से यह कहना : 'ले फिर क्या है, निकाल चने का हरा साग, खा-खा कर मोटे हों, मिस उमालकर के घंटे में' और उसी घंटे में कामिनी, गेसू, सुधा और प्रभा का छिप-छिप कर चने का साग खाना, मिस उमालकर के देख लेने पर और बाहर निकल जाने के हुक्म पर गेसू और सुधा का मुस्कराते हुए बाहर निकलना, गुस्से से नीली पड़कर मिस उमालकर का क्लास से बाहर जाना और उनके जाने के बाद गेसू का यह कहना : 'बड़े बे-आबरू होकर तेरे कूचे से हम निकले', पुनः सब लड़कियों का खिलखिला कर हँसना और कुछ ही देर बाद सुधा और गेसू का छतनार पाकड़ के पेड़ के नीचे लेटकर गपशप करना--आदि घटनाओं से विदित होता है कि शिक्षा के कारण नारी की बुद्धि प्रखर होती है और उसके स्वभाव में हास-परिहास की क्षमता आती है।

इसके अतिरिक्त शिक्षा के माध्यम से नारी अपने मनोनुकूल मित्र पा सकी, जिनसे वह अपने मन की बात कर सकी, उसका मन अधिक खुला और उसके जीवन में कुछ अधिक सरसता का आविर्भाव हो सका। 'त्यागपत्र' में सहपाठिनी शीला से मृणाल की गहरी मित्रता थी। इलाचन्द्र जोशी के 'पर्दे की रानी' में निरंजना और शीला साथ-साथ होस्टल में रहती थीं। वे आपस में घनिष्ट मित्र थीं। 'गुनाहों का देवता' में गेसू और सुधा की मित्रता का जैसा चित्रण किया गया है उससे कालेज की लड़कियों का सजीव चित्र उभर आता है। वे दोनों घंटों एकान्त में बैठी हुई अपने सुख-दुख की ढेरों बातें करते नहीं अघातीं।

लेकिन कालेज-जीवन की यह स्फूर्ति और स्वतन्त्रता परवर्ती जीवन की समस्याओं से जूझने में कोई सहायता नहीं देती। मृणाल और सुधा दोनों शिक्षित होते हुए भी संस्कार-ग्रस्त साधारण नारी की भाँति व्यवहार करती हैं। इसका एक कारण तो लेखकों की स्वप्नशीलता है ही, एक और कारण यह भी है कि हमारी शिक्षा-प्रणाली का हमारे

---

१. जैनेन्द्र : 'त्याग-पत्र' (पृष्ठ ३)

दैनिक जीवन से वह गहरा सम्बन्ध नहीं हो सका है जो दोनों में मुक्त आदान-प्रदान संभव बना सके। विद्यार्थी-जीवन एक प्रकार की कृत्रिमता और अलगाव के वातावरण में एक पलायन-लोक-सा प्रतीत होता है।

विधवा-जीवन की समस्या

प्रेमचन्द-युग में विधवा-समस्या जितनी महत्वपूर्ण बनकर सामने आई थी उतनी प्रेमचन्दोत्तर-काल में नहीं। इस युग तक आते-आते उसका बहुत कुछ समाधान हो चुका था। यह बात सामाजिक मान्यता प्राप्त कर चुकी थी कि यदि विधवा चाहे तो उसके पुनर्विवाह में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये। विधवा को अनावश्यक निषेधों और प्रतिबन्धों में बंदी कर उसके दुर्भाग्य को बरबस प्रलम्बित करने में कोई संगति नहीं है, यह बात अब स्वीकार कर ली गई थी, और नारी भी शिक्षा एवं जागृति के बल पर अपनी स्थिति को अपने हाथ में लेने योग्य होती जा रही थी। मृत पति के प्रति तर्कहीन निष्ठा के कारण अपने दीर्घ लौकिक जीवन को नष्ट करना सही नहीं है, यह उसकी समझ में आता जा रहा था।

फलस्वरूप इस युग के उपन्यासों में ऐसी विधवा का चित्रण बहुत कम हुआ है जो निरीह भाव से परिवार और समाज का अत्याचार सहती हुई अपने जीवन को नष्ट कर देती है। नव-शिक्षा और नव-जाग ण के प्रभाव के कारण वह पुनर्विवाह करने को बुरा नहीं मानती और उपयुक्त पात्र पाकर पुनर्विवाह कर भी लेती है। यशपाल के 'देशद्रोही' की राज, 'मनुष्य के रूप' की सोमा, इलाचन्द्र जोशी के 'मुक्ति पथ' की सुनन्दा, रांगेय राघव के 'घरौंदे' की लवंग आदि अनेक उदाहरणों से इस बात की पुष्टि होती है। अधिकांश उपन्यासों में विधवा के पुनर्विवाह को ही उचित माना गया है। 'विधवा कह-कर उसे जीवन भर के लिए निष्प्रयोजन, अनुर्वर और बाँझ न बना दिया जाये। अपनी दुर्दमनीय सृजन-शक्ति को वासना के अंगारों पर सेंक-सेंक कर झुलसाते रहने के लिए उसे बाध्य न किया जाये।"[1]

विधवा पर समाज के अत्याचार

किन्तु देश के जिन भागों में नारी-जागरण की लहर नहीं पहुँच सकी हैं, वहाँ यह समस्या इस काल में भी मिलती है। उपन्यासकारों ने दिखाया है कि गाँवों में, पिछड़ी जातियों में तथा कुछ मध्यवर्गीय समाज में विधवा के मन में प्राचीन संस्कार अब भी इतने प्रबल हैं कि वह पुनर्विवाह की बात सोचती तक नहीं और हताश जीवन व्यतीत करती जाती है। 'अंचल' के 'नई इमारत' की शमीम बाल-विधवा होने पर भी अपने पुनर्विवाह की बात सोचती तक नहीं; अपना समस्त जीवन भाई-बहिन की सेवा में अर्पित कर देती है। 'मुक्तिपथ' की सुनन्दा अपने भाई की गृहस्थी

१. 'अंचल' : 'चढ़ती धूप' (पृष्ठ १५७)

का सारा काम-काज अपने कंधों पर झेलकर किसी तरह अपने दिन बिताती है। नागार्जुन के 'रतिनाथ की चाची' में विधवा चाची भी अपने दिन दुःख और अभाव में काटती है। यशपाल के 'मनुष्य के रूप' की विधवा सोमा को असहनीय दुःख सहना पड़ता है। इस 'समाज में स्त्री का पुरुष यदि नहीं रहता तो समाज समझता है कि स्त्री में से मान-प्रतिष्ठा अनुभव करने की शक्ति निकल गई। स्त्री स्वयं कुछ नहीं है, पति के मर जाने पर एक सेठानी भी उसी प्रकार नारी मात्र रह जाती है जैसे एक कंगालिन।'[1] नव-चेतना से दूर रहने के कारण ये नारियाँ समाज के अत्याचार मौन रूप से सहती जाती हैं।

'रतिनाथ की चाची' में नागार्जुन ने गरीब, ग्रामीण, विधवा ब्राह्मणी के करुणा-विगलित जीवन का मार्मिक चित्र उपस्थित किया है। इस उपन्यास में समाज की विषमता, विधवा पर पुरुष के अत्याचार, उसकी स्वार्थपरता, समाज की मिथ्या लाँछना और उसके बीच नारी का उत्पीड़न, उसके स्नेह और शील का बड़ा सजीव चित्रण किया गया है।

विधवा होने के कारण यशपाल के 'मनुष्य के रूप' की सोमा घर भर का अत्याचार सहती है तिस पर भी उसे चैन नहीं। उसे दिन-रात डाँट और मार सहनी पड़ती है। बाहर निकलती है तो मनचले लड़के उसे चैन नहीं लेने देते। और घर में ये अत्याचार। उसके दुःखों का यहीं अन्त नहीं हो जाता। जब उसे मालूम पड़ता है कि मन्नूसाह उसको ढाई-तीन सौ रुपये में एक पंजाबी के यहाँ बेच देना चाहते हैं तो उसकी रूह काँप जाती है। वह इन दुःखों से ऊब कर अपने प्रति सहानुभूति प्रकट करने वाले धनसिंह ड्राइवर के साथ निकल भागती है।

इसी प्रकार 'देशद्रोही' में मध्यवर्गीय विधवा राज का चित्रण किया गया है। एक दिन पश्चिमोत्तर सीमान्त के केन्द्रीय सैनिक दफ्तर से डॉ० भगवानदास खन्ना की मृत्यु का तार आता है। पति की मृत्यु का दुखद समाचार सुनकर राज को इतना दुःख होता है कि वह जहर खा लेती है। लोकापवाद के कारण परिवार वाले उसे मृत्यु के मुँह से तो बचा लेते हैं किन्तु विधवा होने के कारण उसके प्रति उनके व्यवहार में इतना अन्तर आ जाता है कि वह बोझ स्वरूप बन जाती है।[2] अपनी स्थिति में आ गये परिवर्तन को राज समझती है किन्तु अपने को बेबस जानकर चुप रहती है।

'मुक्तिपथ' की सुनन्दा भी बाल-विधवा है। वह अपने दूर के रिश्ते के भाई उमा-प्रसाद और कृष्णा भाभी के पास रहने लगती है। विधवा होने के कारण वहाँ उसकी स्थिति एक दासी से भी हीन हो जाती है। 'सुनन्दा दिन भर गिरस्ती के कामों में इस कदर उलझी रहती है कि एक क्षण के लिए भी विश्राम का अवकाश नहीं पाती और रात में भी बारह-एक बजे तक उसे ड्यूटी बजानी पड़ती। दाल-चावल बीनने, महाराज को रसोई का सामान सहेजने, बच्चों को खिलाने-पिलाने और सुलाने

---

१. रामचन्द्र तिवारी : 'कमला' (पृष्ठ १६६)
२. यशपाल : 'देशद्रोही' (पृष्ठ ४७)

भवानी और उसकी जीजी प्रमीला को समय-असमय चाय पिलाने से लेकर रात में भैया की प्रतीक्षा में बारह-एक बजे तक बैठे रहने तक के सब कामों का उत्तरदायित्व वह अपने ऊपर लिये हुए है।'[१]

इस दुख भरे जीवन में इन पीड़ित नारियों को जब किसी की सहानुभूति मिलती है तो स्वाभाविक रूप से इनका मन उधर ही झुक जाता है। 'देशद्रोही' की राज को बद्री-बाबू की सहानुभूति मिलती है। वह उनके कहने से सार्वजनिक कार्य करती हैं। और कुछ ही दिनों में वे उसके अपने बन जाते हैं। उनसे अलग अपने जीवन की कल्पना कर सकना भी राज के लिए सम्भव नहीं बचता। और एक दिन अखबार में समाचार छपता है: 'राजनैतिक विवाह। दिल्ली के सुप्रसिद्ध नेता बद्री बाबू का श्रीमती राजदुलारी से अदालती विवाह।'[२] राज बद्री बाबू से विवाह करके सुख-संतोष का अनुभव करती है।

विधवा की समस्या और समाज-सुधार

इसी प्रकार 'मुक्तिपथ' की सुनन्दा को अपने नीरस और एकाकी जीवन में राजीव से सहानुभूति और नवचेतना मिलती है। राजीव उसके तेजस्वी व्यक्तित्व, शील और कर्तव्यनिष्ठा का बखान करता हुआ कहता है: 'इसलिए एक बात मैं तुमसे कहे देता हूँ। घर-गिरस्ती की यह चहारदीवारी चाहे कैसे ही मजबूत इस्पात की बनी क्यों न हो, वह तुम्हारे समान तेजस्विनी नारी को अपने घेरे में सदा के लिए नहीं बाँध सकती। या तो वह तुम्हारे तेज में गल कर ढह जायेगी या तुम्हें जल्दी ही एक दिन स्वयं अपने ही तेज में अपनी ही आहुति दे देनी होगी। . . .'[३]

अपनी छिपी शक्ति का ज्ञान पाकर सुनन्दा के मन और प्राणों में एक निराली ही वेदना का संचार होता है। उस वेदना में अवसाद की जड़ता नहीं वरन् प्रलाप के-से विक्षोभ की एक प्रचंड गतिशीलता है। 'इस प्रलयंकर, विकराल वेदना के सागर की उमड़ती हुई, क्षुब्ध गर्जन करती हुई लहरें समस्त विधि-विधान और सामाजिकता के प्रति विद्रोही होकर लौकिकता के जहाज को सागर के अतल गर्त में विलीन करने के लिए व्याकुल हो उठी हैं। आज तक वह शान्त रूप से, अपने अन्तर्मन के अपरिस्फुट असंतोष को दबाती हुई, संसार, समाज और परिवार के सारे कर्मचक्र को बिना किसी शिकायत के निभाती चली आ रही थी। पर आज अचानक यह कैसी सर्व-ध्वंसी झंझा उसके भीतर हाहाकार मचाने लगी।'[४]

इस चित्रण से लेखक यह प्रतिपादित करना चाहता है कि विधवा नारी के मन में अपनी सामाजिक स्थिति के प्रति गहरा असंतोष समाया रहता है, उसके अवचेतन मन में

---

१. इलाचन्द्र जोशी : 'मुक्तिपथ' (पृष्ठ ५३-५४) :
२. यशपाल : 'देशद्रोही' : (पृष्ठ १७७–१७८)
३. इलाचन्द्रजोशी : 'मुक्तिपथ' : (पृष्ठ ७८)
४. वही : (पृष्ठ ८०)

इस स्थिति से मुक्ति पाने की लालसा भी होती है, परन्तु उससे उबरने के लिए उसे सहारे की आवश्यकता है। राजीव सुनन्दा के लिए यही सहारा बन जाता है। किन्तु आस-पड़ोस तथा परिवार के लोगों को विधवा सुनन्दा का पर-पुरुष से इस प्रकार हेल-मेल बढ़ाना उचित नहीं लगता। सुनंदा के चरित्र के सम्बन्ध में कानाफूसी प्रारम्भ हो जाती है, जिसको सुनकर सुनंदा अत्यन्त दुःखी हो उठती है। उसके इस दुःख को नयी चेतना के प्रतीक राजीव और प्रमीला समझते हैं। प्रमीला राजीव के प्रति सुनंदा के आकर्षण को भी समझती है, वह उसको बुरा भी नहीं मानती। प्रत्युत सुनंदा के हिचकिचाने पर साहस बँधा कर कहती है : 'इसमें लाज की क्या बात है? विधवा के क्या मन नहीं होता? उसके हृदय के स्थान पर क्या सृष्टिकर्ता केवल पत्थर या लोहे का कोई यंत्र बना कर रख देता है?'[1]

प्रमीला की यह बात सुनंदा के मन को छू लेती है किन्तु फिर भी सुनंदा के संस्कार एकाएक नहीं मिटते। प्रमीला के यह पूछने पर कि 'तुम क्या राजीव बाबू को सचमुच चाहती हो?'[2] वह विह्वल होकर कहती है : 'पर इस तरह का प्रश्न तुम्हें मुझसे करना नहीं चाहिये था रानी! मैंने आज तक स्वयं अपने मन से भी यह बात छिपा रखी थी। मैं बहुत दुःखी हूँ, हजारों बंधनों में जकड़ी हुई हूँ, अकेली हूँ, असहाय हूँ। मुझे क्या इस तरह के विचार मन में लाने चाहिए'।[3] किन्तु प्रमीला का मत है कि आज का समाज विकसित हो रहा है, उसकी सामाजिक मान्यताएं बदल रही हैं इसलिए यदि विधवा साहस करके प्राचीन बंधनों को तोड़कर बाहर निकल आये तो समस्त विश्व में कोई भी उसका रास्ता नहीं रोक सकता। वह सुनंदा से कहती है : 'बुआ, तुम फिर आत्म-करुणा की उसी तुच्छ भावुकता में डूब चलीं। तुम न अकेली हो और न असहाय। एक बहुत बड़ा समाज तुम्हारे साथ है, तुम्हारे लिए एक भी बंधन नहीं है। जिन हज़ारों बंधनों की बात तुम कह रही हो, वे सब तुम्हारे मन के द्वारा रचे गए मकड़ी के जाले हैं, जो अँधेरे में हौवे की तरह लग रहे हैं। एक बार दृढ़ निश्चय करके, पूर्ण विश्वास के साथ खड़ी हो जाओ। देखोगी, तुम्हारा पथ रोकनेवाला समस्त विश्व में एक भी नहीं है। उठो बुआ, हिम्मत बाँधो।'[4]

प्रमीला और राजीव की प्रेरणा से ही एक दिन सुनन्दा अपने बंधन तोड़कर राजीव के साथ समाज-निर्माण के कार्य में जुट जाती है। उसके मन के बंधन यहाँ तक टूट जाते हैं कि वह स्वयं अपने मुँह से राजीव से विवाह का प्रस्ताव करती है यद्यपि मिथ्या भावुकता के फेर में पड़कर राजीव उसके प्रस्ताव को ठुकरा देता है।

---

१. इलाचन्द्र जोशी : 'मुक्तिपथ' : (पृष्ठ २३०)
२. वही : (पृष्ठ २२९)
३. वही : (पृष्ठ २३०)
४. वही : (पृष्ठ २३०–२३१)

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस युग के उपन्यासकार ने विधवा-विवाह का मुक्त कंठ से समर्थन किया है और उस पर आचरण करने वाले पात्रों के साहस और त्याग की सराहना की है।

जैनेन्द्र भी बाल-विधवा की आत्म-व्यथा को समझते थे। इसलिए उन्होंने बड़े स्वाभाविक ढंग से 'परख' में बाल-विधवा कट्टो के मन की उथल-पुथल का चित्रण किया है और उसके माध्यम से विधवा-विवाह का समर्थन किया है। जब कट्टो पाँच वर्ष की थी तभी वह विधवा हो जाती है।[१] बाल साथी सत्यधन के प्रति उसका प्रेम स्वाभाविक रूप से विकसित होता है और वह मन-ही-मन उसको अपना मन समर्पित कर देती है। एक बार कट्टो सत्यवन के चरणों को अश्रु-जल से सिंचित करती है।[२] वह विधवा इस क्षण को अपना सौभाग्य समझती है।[३] इसी उछाह की मनोदशा में वह अपने वैधव्य को भूल-कर वाजार से सोहाग के अलंकार खरीद लाती है। ये चीज़ें खरीद-कर 'वह चौके में नहीं गई, अपने कमरे में आई। वहाँ एक तेल से चिकने हो रहे आले में अभी-अभी ताजी-ताजी बिसाती से खरीदी एक टिकुली की डिबिया, एक छोटा-सा दर्पन, एक राधा-किसन की तस्वीर—ऐसी ऊटपटाँग चीजें सजा कर रख दी है। वहाँ आकर उस छोटे-से दर्पण को लेकर, दोनों भौंहों के बीचोबीच, जरा ऊपर को, सींक से उस डिबिया में से, बड़ी नन्हीं-सी एक टिकुली लगा ली। देखती रही,—कैसे यह लाल-लाल बिन्दी काली पड़ती जा रही है।'[४] इन पंक्तियों में लेखक ने अपनी कुशल लेखनी से विधवा के मन की ललक का कितना सजीव और मार्मिक चित्र उपस्थित किया है। कट्टो जानती है कि विधवा के लिए ये सोहाग की चीजें वर्जित हैं। इसलिए वह न तो किसी से इन चीज़ों को मँगाती है और न इस विषय में अपनी माँ से ही चर्चा करती है।

यद्यपि सत्यवन माँ की प्रसन्नता के लिए और मर्यादा के विचार से कट्टो से विवाह नहीं करता, फिर भी यदि सत्यधन उसके सामने ऐसा प्रस्ताव रखता तो सम्भवतः कट्टो को विवाह करने में आपत्ति न होती। किन्तु सत्यधन के अतिरिक्त वह अन्य किसी व्यक्ति से विवाह नहीं करना चाहती। सत्यधन की इच्छा पूरी करने के लिए विहारी के

---

१. 'चौथे वर्ष में उसका विवाह हो गया और पाँच वर्ष की होते-न-होते वह विधवा हो गई।'
जैनेन्द्र : 'परख' : (पृष्ठ ५)

२. 'पैरों को पाकर कट्टो ने अश्रु-जल से उनका ख़ूब ही अभिसिंचन किया।'
वही : (पृष्ठ ३४)

३. 'इधर कट्टो सौभाग्य के पहाड़ के नीचे दबकर अचेतन-सी हो गई। जिसके पास तक स्वप्न में भी पहुँचने की हिम्मत नहीं हुई थी, वही सौभाग्य जब एकदम इस तरह सिर पर बरस पड़ा तो कट्टो विह्वल हुई और फिर बेसुध हो गई।'
वही : (पृष्ठ ३५)

४. वही : (पृष्ठ ४२)

मन का झुकाव समझकर वह विहारी से केवल आध्यात्मिक सम्बन्ध स्वीकार करती है।[1] विवाह की बात छिड़ते ही प्राचीन परिपाटी का सहारा ले लेती है : 'जीजी' कुछ नहीं। भला व्याह कैसा ? जीजी, जानती नहीं तुम, मैं तो विधवा हूँ। विधवाओं का भी व्याह होता है ? छिः।'[2]

इस तरह जैनेन्द्र ने कथा-चक्र को अप्रत्याशित मोड़ देकर बड़ी कुशलता से काम लिया है। मूलतः आदर्शवादी होने के कारण वे एक ओर व्यावहारिक क्षेत्र में विधवा-विवाह को बचा जाते हैं, दूसरी ओर यह कहकर कि 'कट्टो को विधवा कहना 'विधवा' शब्द की विडम्बना है। विधवा हो भी तो भी क्या ? उसका अवश्य विवाह होगा',[3] विधवा-विवाह को सहानुभूति भी दे देते हैं। उपन्यास के अन्त में पाठक के मन पर यही प्रभाव पड़ता है कि वास्तव में कट्टो वैधव्य के कारण नहीं, सत्यधन के प्रति अपने प्रेम के कारण ही विहारी से पुनर्विवाह नहीं करती।

विधवा-जीवन का आदर्श

इस प्रकार इस युग तक आते-आते विधवा-विवाह की समस्या का समाधान हो जाता है! फिर भी, उपन्यासकारों ने विधवा-विवाह का समर्थन करने पर भी विधवा-मन की दमित कामनाओं की उच्छृंखल अभिव्यक्ति को क्षमा नहीं किया है। रांगेय राघव के 'घरौंदे' में विधवा लवंग का चित्रण इसका प्रमाण है। विधवा होने के दो महीने बाद ही लवंग अतृप्ति का अनुभव करती है।[4] उसका मन समर की ओर आकर्षित होता है। वह अपनी वासना को तृप्त करने के लिए समर के साथ पार्क में अकेले जाती है, समर की ओर से निराश होकर वह प्रोफेसर मिसरा के साथ अवैध सम्बन्ध स्थापित करती है जिसके कारण वह सभी ओर से धिक्कारी जाती है। इस लाँछन से बचने के लिए वह ससुराल लौट जाती है। लवंग के इस आचरण के प्रति लेखक ने कोई भी सहानुभूति नहीं दी है। यद्यपि वह विधवा पर लगाये जानेवाले अस्वाभाविक प्रतिबंधों का पक्षपाती नहीं है, फिर भी उसे सदाचार और संयम की मर्यादाओं को लाँघने देना नहीं चाहता।

इसी के साथ-साथ इस युग के उपन्यासकारों ने ऐसी विधवा के पुनर्विवाह को भी उचित नहीं माना है जिसको मातृत्व प्राप्त हो चुका हो। उनका मत है कि मातृत्व प्राप्त करके नारी अपने सभी दुःखों को भूल सकती है। इसलिए ऐसी विधवाओं की कोई

---

१. दोनों प्रतिज्ञा करते हैं : 'हम दोनों वैधव्य-यज्ञ की प्रतिज्ञा में एक-दूसरे का हाथ लेकर आजन्म बँधते हैं। हम एक होंगे—एक प्राण दो तन। कोई हमें जुदा नहीं कर सकेगा।'
जैनेद्र : 'परख' (पृष्ठ ७५)

२. वही : (पृष्ठ ८५)

३. वही : (पृष्ठ २१)

४. रांगेय राघव : 'घरौंदे' : (पृष्ठ ३२८)

समस्या उपन्यासकारों ने नहीं उठाई है। पति की मृत्यु के बाद उनका मुख्य कर्तव्य अपने दाम्पत्य जीवन के प्रेम-प्रतीक उन बच्चों का उचित ढंग से लालन-पालन करना ही बताया गया है। इलाचन्द जोशी के 'निर्वासित' में विधवा मिसेज खन्ना ऐसा ही करती हैं। विधवा होने के बाद उनकी एक ही इच्छा है कि उनकी पुत्रियाँ अच्छी शिक्षा प्राप्त करके अच्छे घर ब्याही जायें। जोशीजी के दूसरे उपन्यास 'लज्जा' में विधवा माधवी का बड़ा मनोवैज्ञानिक चित्रण हुआ है। अपने पति की मृत्यु पर माधवी दुःख से व्याकुल हो जाती है किन्तु बच्चों के दुःख का ध्यान आते ही वह अपने आँसुओं को रोकती है और माँ से भी वैसा ही रहने को कहती हे। "माधवी दीदी की आँखें आँसुओं से भींग रही थीं, पर वह शान्तिपूर्वक अपनी अम्मा का हाथ पकड़कर उन्हें दिलासा दे रही थी। करुण कंठ से कहती थी : 'अब रोने से क्या होगा अम्मा? मेरा सर्वनाश होना था सो हो गया। अब धीरज धरो। दीनू और रामू तुम्हें देखकर बहुत घबड़ा उठे हैं।'[1] किन्तु अम्मा माधवी की बात को अनसुनी करके अपनी छाती पीट कर बोली : 'माधवी, तू अभी तक जीती क्यों है? क्या तूने भीतर कहीं ज़हर नहीं रक्खा है? खा क्यों नहीं लेती, मर जा बेटी, मर जा! अब जीना महापाप है।'[2] पर इन मर्मभेदी शब्दों को भी धैर्य के साथ सहकर माधवी कहती है : 'मरने से क्या होगा अम्मा! अपने कर्मों का भोग तो मुझे हर हालत में भोगना होगा। मैं मर जाऊँ तो दीनू, रामू और छोटे बच्चे का क्या हाल होगा।'[3] यही नहीं, वह अपने हृदय पर पत्थर रखकर बच्चों को भी दिलासा देती हुई कहती है : 'रोओ मत मेरे लाल! किसी को कुछ नहीं हुआ।'[4] उसके मन की अकथनीय व्याकुलता और दिवंगत पति के प्रति उसकी असीम श्रद्धा तभी प्रकट होती है जब वह अन्तिम बार अपने पति के पैर छूना चाहती है।

वेश्यावृत्ति की समस्या

प्रेमचन्दोत्तर-काल में वेश्यावृत्ति की समस्या के सम्बन्ध में भी हम उपन्यासकारों के दृष्टिकोण में स्पष्ट अन्तर और विकास पाते हैं। प्रेमचन्द ने 'सेवासदन' में वेश्यावृत्ति के कारण, परिणाम और निनाद पर विस्तार से विचार किया था, और अपने युग के अनुरूप उसके समाधान का भी प्रयत्न किया था। 'सेवासदन' इस दृष्टि से हिन्दी का बेजोड़ उपन्यास है। पर 'सेवासदन' का उपन्यासकार समाज-सुधारक है और उस समस्या-विशेष से ही जूझता जान पड़ता है। प्रेमचन्दोत्तर-काल का उपन्यासकार सुधारक नहीं है, उसके युग की चेतना यथार्थवादी चेतना है और कला एवं साहित्य में यथार्थ के

---

१. इलाचन्द्र जोशी : 'लज्जा' : (पृष्ठ ११४)
२. वही : (पृष्ठ ११५)
३. वही : (पृष्ठ ११५)
४. वही : (पृष्ठ ११८)

ने अर्थलाभ की दृष्टि से उससे विवाह किया है तो उसका मन भुजौरिया के प्रति भी विद्रोह कर उठता है और वह पारसनाथ को सहृदय जानकर और उससे आश्वासन पाकर[1] उसके साथ चली जाती है।

इसी प्रकार नंदिनी की बहिन वेश्या हीरा को पारसनाथ से स्नेह मिलता है। जब उसको लगता है कि पारसनाथ उस पर विश्वास करता है और उसके सहयोग से अपने जीवन को सुधार सकता है[2] तो उसका सोया नारीत्व जाग उठता है। 'उसकी सारी आत्मा उससे भर गई थी। उसके जन्म से कुचला और ठुकराया हुआ नारी-हृदय इतने दिनों तक जड़ और चेतनाहीन-सा बना हुआ था।...पर आज पारसनाथ की इस बात से उसके अंतर के अतल में जैसे एक अग्निमयी क्रान्ति मच उठी, जिसके फलस्वरूप उसके हृदय का रुद्ध-मुख ज्वालामुखी के एक प्रचंड विस्फोट से खुल गया, और उसका सारा व्यक्तित्व एक भीषण भूकंप के आन्दोलन से डाँवाडोल हो उठा।'[3] वह समर्पिता नारी की भाँति बोली : 'मैं तो नाचीज़ हूँ, पारस बाबू, एक तुच्छ और हीन प्राणी हूँ। अगर मैं जीवन में आपकी किसी भी सेवा में आ सकी अपने को कृतार्थ समझूंगी। भला मैं आपको उबारने की क्या सामर्थ रखती हूँ? फिर भी विश्वास रखिये कि मैं तन-मन से आपके साथ हूँ।'[4] इसी समर्पण का फल है कि एक दिन पारसनाथ की आवश्यकता समझकर वह उसी क्षण पंद्रह हज़ार रुपयों का प्रबन्ध कर देती है। 'मैं यह सब कुछ नहीं जानती, मैं केवल यह जानती हूँ कि उन्हें इस समय पंद्रह हज़ार रुपयों की आवश्यकता है। इतना जानना मेरे लिए काफ़ी है। यह लो, मैं अभी दिये देती हूँ।'[5] और अन्त में जब पारसनाथ से उसका विवाह तय हो जाता है तब उसके मन में कुलवधू के सभी संस्कार जागृत हो जाते हैं और वह साधारण गृहिणी की भाँति अपने श्वसुर की सेवा करती है[6] तथा गृहस्थी को सुखमय बनाने की चेष्टा करती है।

---

१. 'मेरा विश्वास करो नन्दिनी। मैंने चाहे तमाम संसार के साथ विश्वासघात किया हो, या सारे संसार ने मेरे साथ विश्वासघात किया हो, पर तुम्हारे साथ मैं कभी इस जन्म में विश्वासघात नहीं करूंगा।'
   इलाचन्द्र जोशी : 'प्रेत और छाया' : (पृष्ठ २९३)
२. 'आपका परिचय मेरे पिछले जीवन की सब भूलों को धोकर मुझे फिर से कुत्ते से मनुष्य बना सकता है, बशर्ते आपकी कुछ भी कृपा मुझ पर हो।'
   वही : (पृष्ठ ३६५)
३. वही : (पृष्ठ ३६६)
४. वही : (पृष्ठ ३६६)
५. वही : (पृष्ठ ३७६)
६. 'हीरा अपनी सच्ची सेवाओं से उनकी प्रसन्नता को और अधिक बढ़ाती चली गई। भावी ससुर की सेवा में जो एक विशेष प्रकार का स्निग्ध सुख हीरा को मिल रहा था,

जोशीजी ने इसी उपन्यास में मंजरी के चरित्र से भी यही सिद्ध किया है कि यद्यपि मंजरी 'परिस्थितियों की विवशता के कारण होटल में ठहरने वाले यात्रियों को अपने रूप की झलक दिखाकर उनसे पैसा स्वीकार करने को बाध्य हुई थी,'[१] तथापि उसके मन में नारी-सुलभ सभी गुण पर्याप्त मात्रा में विद्यमान थे। वह बीमार माँ की सेवा-सुश्रूषा के लिए ही वेश्यावृत्ति जैसा घृणित काम स्वीकार करती है। पारसनाथ का स्नेह पाकर वह उस पर विश्वास करके उसके साथ चली जाती है और विवाहिता नारी की ही भाँति गृहस्थी सँभालती है। उसकी आन्तरिक इच्छा है कि पारसनाथ उससे विवाह करके उसे सामाजिक रूप में ग्रहण करे।

वेश्या की मातृत्वभावना का एक सुन्दर उदाहरण विश्वनाथ वैशम्पायन के 'मातृत्व का अभिशाप' में मिलता है। जब वेश्या राधा के सामने मदन की पुत्री के जीवन-मरण का प्रश्न आता है तो वह मदन को लाखों रुपये के कर्ज से मुक्त कर देती है।

वेश्या में पत्नीत्व की भूख कितनी प्रबल होती है इसका दिग्दर्शन कराने के लिए मन्मथनाथ गुप्त ने 'अवसान' (१९५०) में मुनिया का चित्रण किया है। परिस्थितिवश विवाहिता मुनिया को वेश्या बनना पड़ता है किन्तु जब उसका पति बलखंडी उसके पास जाता है और एक साथ रहने की बात कहता है तो उसे अपार हर्ष होता है। वह फिर से एक छत के नीचे कुलवधू की भाँति रहना चाहती है। उसके मन में पति के सामीप्य की चाह इतनी प्रबल है कि जब वह दूसरी स्त्री के पास जाता है, और उसका अर्जित धन जुए और शराब में फूंकता है तब भी वह यह सोचकर सुखी रहती है कि उसे पति का सामीप्य तो प्राप्त है। बलखंडी उसके सारे गहने चुराकर, उसका धन खर्च कर, उसको गर्भवती बना कर चला जाता है। फिर भी उसे पति पर क्रोध नहीं आता, उल्टे जब वह पुनः उसके पास आता है तो वह सहर्ष उसे स्वीकार कर लेती है और उस पर विश्वास करके अपने चार वर्ष के पुत्र को पढ़ने के लिए गोकुल पहुँचा आने का आग्रह करती है। उस पुत्र को बलखण्डी ईसाइयों के यहाँ बेच देता है और मुनिया के बाकी गहने लेने के चक्कर में उसकी और उसकी नौकरानी की भी हत्या कर देता है। किन्तु मुनिया मरते दम तक अपनी कोमल भावनाओं का त्याग नहीं करती। मरने के पहले वह कह जाती है कि बलखण्डी ने उसकी हत्या नहीं की है। लेखक ने यद्यपि बलखण्डी को इतना अधिक अत्याचारी और मुनिया को इतना अधिक उदार बनाकर अतिवाद से काम लिया है तथापि इससे वेश्या के मन में पत्नी बनने की प्रबल कामना पर अच्छा प्रकाश पड़ जाता है।

उसका अनुभव तो दर-किनार, उसकी कल्पना भी उसने इसके पहले कभी नहीं की थी। उसके हृदय के अतल में युगों से दबे हुए भारतीय कुलवधू के संस्कार जैसे किसी माया-मंत्र से जाग पड़े थे।'

इलाचंद्र जोशी : 'प्रेत और छाया' : (पृष्ठ ४०१)

१. वही : (पृष्ठ ३२४)

वेश्या में हीन-भावना

वेश्यावृत्ति नीच, पतित और जघन्य कार्य है इस बात को जैसे सभ्य और कुलीन समाज समझता है वैसे ही वेश्या भी समझती है। इसी कारण उसके मन में हीन-भावना घर कर लेती है। उसकी यह हीन-भावना कभी आत्मग्लानि के रूप में, कभी समाज के प्रति विद्रोह के रूप में और कभी अपने-आपको निर्दोष प्रमाणित करने के रूप में दिखाई देती है। इलाचन्द्र जोशी मनोविश्लेषणवादी उपन्यासकार हैं। उनका मत है कि वेश्या में ही नहीं, वेश्या-पुत्री में भी परोक्ष रूप से हीन-भावना निहित रहती है। जोशी जी ने अपने उपन्यास 'पर्दे की रानी' की निरंजना के चरित्र में मनोविश्लेषणात्मक पद्धति से यही चित्रित किया है कि वेश्या-पुत्री होने के कारण ही निरंजना किस प्रकार जीवन भर हीन-भावना से मुक्ति नहीं पा सकी। अपनी इस हीन-भावना से मुक्ति पाने के लिए वह अहं का सहारा लेती है और इन्हीं दोनों तत्वों के कारण उसको जीवन में कभी भी सामंजस्य और मानसिक शान्ति के दर्शन नहीं होते। यदि कभी वह अत्यधिक दयनीय दिखाई देती है तो कभी उच्छृंखल। अहं के कारण वह एक ओर दूसरों को चिढ़ाने और जलाने में अपार सुख का अनुभव करती है तो दूसरी ओर अपनी हीन-भावना के कारण आन्तरिक वेदना से भी विकल होती रहती है। अपने मन के इस विरोधाभास से वह स्वयं भी परिचित है।[1]

इसी हीन-भावना के कारण निरंजना के मन में उस पुरुष समाज के प्रति प्रतिहिंसा उत्पन्न हो जाती है जो वेश्यावृत्ति को घृणित मानकर भी स्वयं उसके प्रचलन में सहायक होता है, और फिर भी समाज में नैतिकता और उच्चता का दावा करता है।[2] हीन-

---

१. 'मेरे भीतर कई विरोधाभास वर्तमान हैं, मुझे ऐसा लगता है। कभी-कभी मुझे यह अनुभव होने लगता है कि मेरे मन के मूल केन्द्र के ऊपर बहुत से विचित्र-विचित्र संस्कारों के स्तर एक के ऊपर एक इस सिलसिले में जमे हुए हैं, और उनमें से प्रत्येक स्तर के तत्व किसी दूसरे स्तर के तत्वों से मेल नहीं खाते। उन सब स्तरों के नीचे मेरा मूल स्वभाव भयंकर भार से दबा पड़ा है. . . मेरी यह मूल प्रवृत्ति कभी भीषण ज्वालामुखी के समान आग के फव्वारे छोड़ती है, और कभी स्निग्ध-शीतल जलधारा बरसाती है। पर मैं न पहले का कारण जानती हूं न दूसरे का। मैं अपने भीतर के विचित्र संस्कारों की क्रिया-प्रतिक्रिया की एक कठपुतली मात्र हूँ।
इलाचन्द्र जोशी : 'पर्दे की रानी' (पृष्ठ ९७)

२. 'इसका कारण क्या स्पष्ट ही यह नहीं है कि वह एक पुरुष की हैसियत से किसी भी नारी के साथ रस-रंग की बातें करना अपना जन्म-सिद्ध अधिकार समझता है, और यह भी जानता है कि जिस लड़की के यहाँ आने-जाने से उसकी बहनों की सामाजिक सत्ता घट सकती है, उसके यहाँ स्वयं डट कर जलपान करने, चाय पीने और पहली ही मुलाकात में बेतकल्लुफ प्रेम-चर्चा चलाने से समाज में उसका सम्मान घटने के बजाय बढ़ सकता है?' वही : (पृष्ठ ५४)

भावना और प्रतिहिंसा की इस द्विवा में यदि एक ओर निरंजना इन्द्रमोहन के प्रति प्रवल वेग से आकर्पित होती है तो दूसरी ओर उसको अपने रूप-प्रदर्शन से तड़पाते रहने में उसे एक विशेप प्रकार का सुख मिलता है। जव इन्दमोहन उससे नुमाइश चलने का प्रस्ताव करता है तो वह सहर्प स्वीकार कर लेती है और खूव साज-शृंगार करके जाती है।[1] नुमाइश में अपने रूप के प्रति इन्द्रमोहन की तीव्र आसक्ति देखकर और भीड़ की आकर्पण-केन्द्र वनने पर वह गर्व और उल्लास का अनुभव करती है। उसके इस निर्द्वन्द्व स्वीकार का ही यह फल होता हे कि इन्द्रमोहन उसे खाना खाने के वहाने होटल ले जाता हैं और वहाँ आसक्ति के चरम क्षणों में उससे अनुचित व्यवहार करता है। परन्तु निरंजना का नारीत्व इसे स्वीकार नहीं करता और वह भाग निकलती हे। उसके इस विरोधी व्यवहार के मूल मे कौन-से संस्कार काम कर रहे थे इसका विश्लेपण करती हुई वह कहती है : 'मेरे भीतर वेश्या के संस्कार पूर्ण मात्रा में वर्तमान हैं। यदि ऐसा न होता तो मै इन्द्रमोहनजी को अपनी भाव-भंगिमा से उस तरह रिझाने की चेष्टा न करती और उन्हें इच्छानुसार नचाकर अकारण परेशान करने पर उतारू न होती, नुमाइश में उनके साथ अकेले जाने के लिए तैयार न होती, और होटलवाली घटना और उसके वाद की दुर्घटना का कारण न वनती। निश्चय ही मैं एक वेश्या की अवम लड़की हूँ।'[2] उसके मन की दूसरी प्रवृत्ति का विश्लेपग करते हुए उसके गुरुजी कहते हैं : 'जो व्यक्ति तुम्हारा रक्षक वनकर भी भक्षक वनने पर उतारू था, तुम्हें एक वेश्या की वेटी समझकर अत्यन्त हीन दृष्टि से देखता था (अपनी लड़कियों तक को उसने कभी तुम्हारे पास नहीं आने दिया) और साथ ही तुम्हारे सौन्दर्य के प्रति आकर्पित होकर छल, वल और कौशल से तुम्हारा कौमार्य नष्ट करने को प्रवल इच्छा रखता था, उसके लड़के के भीतर लालसा की आग भड़काकर उसे जीवन भर अशान्ति की आँच में तड़पाते रहने की प्रवृत्ति जान में या अनजान में तुम्हारे भीतर घर कर गई थी'।[3]

इन दो प्रवृत्तियों के घात-प्रतिघात के कारण ही वह वाद में इन्द्रमोहन की पत्नी और अपनी सहेली शीला को अकेली छोड़कर इन्द्रमोहन के साथ सहर्प पैलेडियम में नाच देखने जाती है। कैम्प्टी फॉल्स की सैर करने जाती है, 'सेवाय' होटल में नृत्य-गीत में भाग लेती है और स्वयं उन्मादिनी वनकर इन्द्रमोहन के साथ नृत्य करती है।[4]

---

१. 'वढ़िया-से-वढ़िया लोशन, क्रीम, पाउडर, लिपस्टिक आदि शृंगार-सामग्री, जो मेरे पास पड़ी हुई थी, और जिसका उपयोग मैं इतना कम करती थी कि वह नहीं के वरावर था, निकालकर मैंने वड़े यत्न के साथ शृंगार किया। 'इलाचन्द्र जोशी : 'पर्दे की रानी' (पृष्ठ७९)

२. वही : (पृष्ठ १२८)

३. वही : (पृष्ठ २१५)

४. 'मैं जैसे जानबूझ कर उन्मादिनी बनी हुई थी, और उस क्षणिक रंग में अपने को पूर्णतया रँगाकर इन्द्रमोहन जी की मस्ती को सुलगा रही थी।' वही : (पृष्ठ १८३)

अपने जन्मजात संस्कारों के कारण उसे होटल का सारा वातावरण अपने अनुकूल ही लगता है।"[1]

निरंजना के चरित्र में जोशी जी ने एक और मनोविश्लेषणात्मक तत्व का समावेश किया है। वेश्या की पुत्री होने के कारण उसे समाज में जो अपमान मिलता है उसके कारण उसके अवचेतन मन में अपनी माँ के प्रति विरोध की भावना समा जाती है। उसका अवचेतन मन स्नेहमयी शीला को माँ के प्रतीक रूप में ग्रहण करता है। इसीलिए उसके मन में शीला के प्रति एक ओर प्रगाढ़ स्नेह-भावना और ममत्व है तो दूसरी ओर उससे प्रतिशोध लेने की भावना भी निहित है। जब वह इन्द्रमोहन से कहती है कि 'जबतक शीला जीवित है तबतक आप मुझसे हर्गिज इस तरह की आशा न करें।'[2] तब उसके मूल में प्रतिहिंसा की यही भावना प्रमुख होती है। इसी भावना का मनोविश्लेषण करते हुए गुरुजी कहते है: 'चूंकि तुम्हारी माता समान ही स्नेहशील शीला को तुम्हारे अन्तर्मन ने माता के प्रतीक रूप में ग्रहण किया होगा, इसलिए उसके विरुद्ध तुम्हारा वह विद्रोह और हिंसक भाव पूर्ण रूप से कारगर, हुआ।"[3]

इस प्रकार इलाचन्द्र जोशी के उपन्यास 'पर्दे की रानी' में हमें वेश्यावृत्ति की समस्या के मनोवैज्ञानिक पक्ष का चित्रण मिलता है। निरंजना स्वयं वेश्या नहीं है, परन्तु वेश्या-पुत्री होने के कारण उसके चेतन-अवतचेन मन के घात-प्रतिघात उसके जीवन को निष्फल और दुखी बना देते हैं।

वेश्यावृत्ति और समाज का दायित्व

जहाँ तक वेश्या-वृत्ति के लिए समाज के दायित्व का प्रश्न है इस युग के अधिकांश उपन्यासों में भी सुधार की ही भावना पाई जाती है। कहीं वेश्या की विवशता और छटपटाहट का चित्रण है तो कहीं पुरुष समाज के प्रति उसके मन की घृणा तीखे व्यंग्य के रूप में व्यक्त हुई है। किन्तु इस युग के उपन्यासों में प्रेमचन्द-युग के उपन्यासों जैसा आदर्शवादी समाधान नहीं मिलता।

आधुनिक युग की वेश्या अपनी पतितावस्था के प्रति सजग होती जाती है। उसकी स्थिति क्यों ऐसी है, उसके मूल में क्या कारण है, वह इसको भी समझने लगी है। रांगेय राघव के 'घरौंदे' की नादानी अपनी स्थिति का परिचय देती हुई कहती है: 'बरसात में गन्दी गलियों में बहते पानी को एक गड्ढे में जमा करना जरूरी हो जाता है, वैसे ही तुमने

---

१. 'चूंकि नृत्यशाला का सारा वातावरण मेरी सामाजिक स्थिति के बिल्कुल अनुकूल था, इसलिए मैं वहाँ अपने को जैसे पानी में एक बहुत बड़ी जात की मछली की तरह मालूम कर रही थी।'
इलाचन्द्र जोशी: 'पर्दे की रानी': (पृष्ठ १८२)

२. वही: (पृष्ठ १८८)

३. वही: (पृष्ठ २१५)

मुझे बना रखा है, तुमने मच्छरों की भन-भन सुनकर पैर दूर-ही-दूर रखा।'[1] जिस पुरुष की काम वृत्ति को तृप्त करने के लिए उसे यह नीच कर्म करना पड़ता है वह तो समाज में नीच नहीं माना जाता किन्तु उसको तृप्त करने वाली नारी नीच मानी जाती है। पुरुष के इस अन्याय पर व्यथित होकर नादानी न्याय की माँग करती है : 'तुम नदी में नहाते हो, मगर तुम तो गंदे नहीं होते, उल्टे बहने वाली नदी गंदी हो जाती है? क्या न्याय है तुम्हारा? और पाप को दूसरों पर मँढ़ने के लिए शहर भर के गंदे नालों को नदी में लाकर छोड़ने का प्रयत्न करते हो।'[2] पुरुष की इस स्वार्थ-परता और आत्म-दमन के प्रति व्यंग्य करती हुई नादानी और भी करुण हो कर कहती है : 'तुम स्त्री को दासी बनाना चाहते ? हमारी चीख में तुम्हारा समाधान है, हमारी हँसती सिसक में तुम्हारी विजय। हम राध सहती हैं, स्वयं रो लेती हैं, इसलिए कि पाप से घृणा करती हुई भी आगे आती हैं। पराध स्वीकार करा देने पर भी किन्तु होती हैं हम ही अधिक अपराधिनी। पुरुष की ल की भाँति नारी की भूल क्षणिक नहीं होती'।[3]

यह भूल साधारण पुरुष ही करते हों, ऐसी बात नहीं है। जो व्यक्ति समाज के नेता जिनके हाथ में समाज की बागडोर है, वे भी अपनी वासना की तृप्ति के लिए वेश्या के हाँ जाने में नहीं हिचकते। मन्मथनाथ गुप्त के 'अवसान' की वेश्या मुनिया कहती : 'उसके पास आता कौन नहीं था? कांग्रेसी, लीगी, वकील, मौलवी, मास्टर, समाज सभी तरह के लोग।'[4]

पुरुष के आचरण की बिडम्बना का यहीं अन्त नहीं हो जाता। वेश्या के यहाँ पहुँचकर अनैतिक कार्य करते हुए भी वे उसे अपने जाल में अधिकाधिक फाँसने के लिए सकी सहृदयता और सभ्यता का गुण-गान करने लगते हैं। पुरुष की दुरंगी चाल को भाँप र नरोत्तम नागर के 'दिन के तारे' की वेश्या शान्ति का मन घृणा से भर उठता है। वह कहती है : 'हाँ, पतित भाइयों का उद्धार मैं अवश्य करना चाहती हूँ——उन भाइयों का जो अपनी पत्नी की शराफ़त को छोड़कर मेरी शराफ़त पर मुग्ध होने के लिए यहाँ आते हैं।'[5]

'त्यागपत्र' में जैनेन्द्र ने आनुषंगिक रूप से वेश्यावृत्ति की समस्या की ओर संकेत किया है। पति के द्वारा निकाल दिये जाने पर मृणाल कोयलेवाले के संग रहने लगती है। मृणाल का यह कार्य वेश्यावृत्ति की ही श्रेणी में आता है। कोयलेवाला मृणाल के रूप और यौवन पर मोहित होकर उसकी असहाय स्थिति से लाभ उठाता है और मृणाल निराश्रित होने के कारण उसकी इच्छा की शिकार बन जाती है। जब मृणाल का सम्पन्न भतीजा

---

१. रांगेय राघव : 'घरौंदे' (पृष्ठ २९३)
२. वही : (पृष्ठ २९४)
३. वही : (पृष्ठ २९५)
४. मन्मथनाथ गुप्त : 'अवसान' (पृष्ठ १७९)
५. नरोत्तम नागर : 'दिन के तारे' (पृष्ठ ३२६)

प्रमोद उसको इस स्थिति से उवारना चाहता है तब मृणाल उसके प्रस्ताव को स्वीकार नहीं करती। वह पक्की आदर्शवादिनी की भाँति आत्मोद्धार नहीं, सबका उद्धार चाहती है। कहती है : 'इस कोठरी में मैं न रहूंगी, कोई और रहेगा, ये कोठरियाँ तो आबाद ही रहेंगी।'[1] मृणाल के इस उत्तर से प्रेमचन्द और जैनेन्द्र के विचारों का अन्तर स्पष्ट हो जाता है। 'सेवासदन' की सुमन अपनी मुक्ति के लिए छटपटाती है और सहारा मिलते ही उस दुनिया को छोड़ कर 'सेवासदन' की स्थापना करती है। किन्तु मृणाल को अपनी चिन्ता नहीं है। वह अपनी यंत्रणा को मौन स्वीकार देकर सामाजिक 'अन्तःकरण' को जगाना चाहती है। प्रेमचन्द और जैनेन्द्र के दृष्टिकोणों का यह अन्तर दो युगों का अन्तर है। प्रेमचन्द ने व्यावहारिक आदर्शवाद से काम लिया है, जब कि जैनेन्द्र सैद्धान्तिक आदर्शवाद के आगे व्यक्ति के वलिदान को श्रेयस्कर समझते है।

इलाचन्द्र जोशी ने 'प्रेत और छाया' में नंदिनी के चित्रण के माध्यम से पुरुष-समाज पर तीखा व्यंग्य करते हुए यह दिखाया है कि यदि वेश्या अपने निकृष्ट जीवन से छुटकारा पाना चाहे तो भी पुरुष-समाज उसका सहायक होने के बदले उल्टे उसकी स्थिति से नाजायज़ लाभ उठाना चाहता है और उसको उसी स्थिति में बने रहने देना चाहता है।

नंदिनी अपने वेश्या-जीवन से मुक्ति पाने की लालसा के कारण भुजौरिया से विवाह करती है। किन्तु कुछ ही दिनों बाद उसे अनुभव होता है कि भुजौरिया ने उससे विवाह समाज-सुधार के लिए नहीं वरन् अर्थ-लाभ के उद्देश्य से किया है। वह भुजौरिया के प्रति तीव्र घृणा व्यक्त करती हुई कहती है : 'भुजौरिया से विवाह किया, पर उस ब्रह्मराक्षस ने भरसक यह चेष्टा की कि मैं उस विवाहित स्थिति में भी गुप्त रूप से उसके परिचित राजा-रईसों के साथ व्यभिचार का सम्बन्ध स्थापित किये रहूँ, और उस उपाय से उसके कभी न भरे जा सकनेवाले पाप के घड़े को सोने की मोहरों से भरती रहूँ। मेरे मन का और मेरी आत्मा का सब स्निग्ध रस सोखकर, मेरा सारा पार्थिव वैभव—मेरी माँ का दिया हुआ और अपना जोड़ा हुआ रुपया भी उसने हड़प लिया।'[2]

भुजौरिया के वास्तविक मन्तव्य को जानकर नन्दिनी उससे भी छुटकारा पाना चाहती है। तभी वह पारसनाथ के सम्पर्क में आती है। वह उसे सच्चा सहृदय व्यक्ति प्रतीत होता है। पारसनाथ भी भाँति-भाँति के आश्वासन देकर उसको विश्वास दिलाता है।[3] फलस्वरूप नंदिनी उसके साथ भाग निकलती है। किन्तु ज्योंही पारसनाथ को

---

१. जैनेन्द्र : 'त्यागपत्र' (पृष्ठ ५२)

२. इलाचन्द्र जोशी : 'प्रेत और छाया' ! (पृष्ठ ३०४)

३. 'मेरा विश्वास करो, नंदिनी। मैंने चाहे तमाम संसार के साथ विश्वासघात किया हो, या सारे संसार ने मेरे साथ विश्वासघात किया हो, पर तुम्हारे साथ मैं कभी इस जन्म में विश्वासघात नहीं करूंगा।'
वही : (पृष्ठ २९३)

मालूम होता है कि नंदिनी पहले वेश्या-वृत्ति करती थी; उसका मन घृणा से भर जाता है। पारसनाथ के इस मनोविश्लेषण के मूल में लेखक का उद्देश्य यही है कि पुरुष का मन पतित नारी को उबारना नहीं चाहता, अपितु उसको पतन की ओर ले जाता है। नंदिनी अपने अपमानित नारी-हृदय के प्रचंड विद्रोह को व्यक्त करती हुई कहती है : 'तो क्या अभी तक तुम यह समझे बैठे थे कि समाज और पति के बंधन में बँधी हुई एक भले घर की बहू को फुसलाकर भगाये लिये जा रहे हो? ठीक है, यही बात है। एक कुलीन घराने की विवाहिता स्त्री को भगा कर उसका धर्म नष्ट करने में तुम जैसे अधम पुरुषों को जो सुख मिलता है वह किसी वेश्या-समाज की लड़की को (फिर चाहे वह विवाहिता ही क्यों न हो) भगाने में कहाँ मिल सकता है।'[1]

इस प्रकार अपने अनुभवों से नंदिनी इसी निष्कर्ष पर पहुँचती है कि वह पतित जीवन से मुक्ति पाने के लिए चाहे कितना भी क्यों न छटपटाये, पुरुष-समाज उसे उबरने नहीं देगा। अपनी विवशता का ध्यान कर पुरुष-समाज पर व्यंग्य करती हुई वह पुनः कहती है : 'तुम सब लोग मिल कर जैसे यह षड्यंत्र रचे बैठे हो कि मैं वेश्या-जीवन से मुक्ति पाने के लिए चाहे कितना ही छटपटाऊँ, लाख प्रयत्न करूँ, पर किसी भी हालत में मैं उस प्रयास में सफल न होने पाऊँ, और अन्त में वेश्या की वेश्या ही बनी रहूँ।'[2] और नन्दिनी को सचमुच पुनः वेश्यावृत्ति स्वीकार करनी पड़ती है।

वेश्यावृत्ति की समस्या और उसका समाधान

अब प्रश्न यह उठता है कि इस समस्या का हल क्या है। अंचल, इलाचन्द्र जोशी, श्रीकृष्णदास आदि उपन्यासकारों ने इस ओर संकेत किया है। 'प्रेत और छाया' में इलाचन्द्र जोशी और 'अग्नि-पथ' में श्रीकृष्णदास के चित्रण से लगता है कि वे इस समस्या का हल दो उपायों से सोचते हैं। या तो वेश्या किसी योग्य और त्यागी पुरुष से विवाह कर समाज में सम्मान पाये, या फिर वह देश-सेवा का सात्विक जीवन व्यतीत करे। नन्दिनी और उसकी बहिन हीरा की परिणति से जोशी जी तथा 'अग्निपथ' में वेश्या रेखा की परिणति से श्रीकृष्णदास इसी ओर इंगित करते जान पड़ते हैं।

इसके विपरीत 'अंचल' की दृष्टि में वेश्यावृत्ति का प्रश्न नारी की आर्थिक स्वाधीनता से इतने घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ है कि जबतक नारी आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर न हो, तबतक उनके मत में, वेश्यावृत्ति की समस्या का समाधान नहीं हो सकता। 'चढ़ती धूप' में वे स्पष्ट कहते हैं : 'रह गई आर्थिक स्वाधीनता की बात। उसके लिए साम्यवादी व्यवस्था के अतिरिक्त दूसरा चारा नहीं। अन्य कोई व्यवस्था नारी की आर्थिक दीनता को कायम रक्खेगी। तुमको यह मालूम होगा कि रूस में साम्यवाद की स्थापना के बाद से वेश्या-प्रथा

---

१. इलाचंद्र जोशी : 'प्रेत और छाया' : (पृष्ठ ३०३)
२. वही : (पृष्ठ ३०३)

का उन्मूलन हो गया है। मैं समझता हूँ, यदि साम्यवाद और कुछ न कर केवल मानवता का इतना बड़ा कलंक धो देता है तो उसका सारा अस्तित्व—उसके लिए सारी कुरबानी और सारा संघर्ष सार्थक है।'[1]

इसमें संदेह नहीं कि 'अंचल' के कथन में काफ़ी सत्य है। पर एक तो वेश्यावृत्ति का सम्बन्ध आर्थिक स्थिति के अतिरिक्त अन्य विषमताओं से भी है, दूसरे साम्यवाद की स्थापना की दुहाई देकर तात्कालिक प्रयत्नों से मुँह मोड़ लेना भी उचित नहीं प्रतीत होता। सच तो यह है कि यह समस्या बड़ी ही जटिल और बहुमुखी समस्या है, और उसका समाधान पाने के लिए अनेक स्तरों और अनेक क्षेत्रों में एक साथ प्रयत्न करना आवश्यक है।

शिक्षा-प्रसार के कारण जहाँ वेश्यावृत्ति की समस्या कम हो गई है, वहीं एक और नई समस्या का जन्म भी हुआ है। इसे हम शिक्षित वेश्या की समस्या कह सकते हैं। इस समस्या की ओर इलाचन्द्र जोशी और 'अज्ञेय' ने

शिक्षित वेश्या

ध्यान दिया है। 'प्रेत और छाया' में मंजरी बी० एस-सी० परीक्षा की तैयारी कर रही थी कि माँ की बीमारी और अर्थाभाव के कारण वह होटल में अपने रूप के प्रदर्शन और आगंतुकों के मनोरंजन द्वारा अर्थोपार्जन करने के लिए बाध्य हो जाती है।—'उस लड़की के प्रवेश करते ही सब लोग अत्यन्त उत्सुक दृष्टि से उसकी ओर देखने लगे।'[2] इंश्योरेंस कम्पनी के एजेन्ट मंजरी के कंधे पर हाथ रख कर बोले : "'आप तो कुछ बोलती ही नहीं? हम लोगों से आप इस कदर नाराज क्यों है?' लड़की ने उसका हाथ धीरे से हटाते हुए कहा : 'नहीं, नही, ऐसा न कीजिए।' उसकी घबराहट इस हद तक पहुँच चुकी थी कि उसके चेहरे से मालूम होता था जैसे वह रो देगी। पर उसके मुख के इस भाव से उपस्थित मंडली के दो रसिकजनों का उत्साह भंग होने के बजाय और अधिक भड़क उठा।...पर दोनों मित्रों का उत्साह तनिक भी ठंडा नहीं पड़ रहा था और वह ठौर-कुठौर हाथ फेरते हुए उसे परेशान करने में एक विचित्र सुख का अनुभव कर रहे थे'।"[3]

इस प्रकार मंजरी का चरित्र समाज में उठने वाली एक नई समस्या के प्रति हमारा ध्यान आकर्षित करता है। फिर भी जोशी जी ने मंजरी का जो चित्रण किया है, उसमें अर्थाभाव को कारण-रूप में स्वीकार कर समस्या को फिर भी उसी स्तर पर रहने दिया है जिस स्तर पर वह पहले से ही थी। परन्तु 'अज्ञेय' ने अपने उपन्यास 'शेखर : एक जीवनी' में इस नई समस्या को स्पष्टता और प्रखरता दी है। मणिका न तो अर्थाभाव से ग्रस्त है, न उसके जीवन में ऐसी कोई सामाजिक विवशता है जो उसे वेश्यावृत्ति के लिए बाध्य करे। फिर भी वह अनैतिक यौन-सम्बन्धों में एक प्रकार का रस लेती है, और युवकों को

---

१. अंचल : 'चढ़ती धूप' (पृष्ठ १५८)
२. इलाचन्द्र जोशी : 'प्रेत और छाया' (पृष्ठ ९)
३. वही : (पृष्ठ १०)

अपने चारों ओर मँडराते देख कर अपना जीवन सार्थक मानती है। ऐसी पुंश्चली (Flirt) नारी के चित्रण द्वारा 'अज्ञेय' वेश्यावृत्ति के नैतिक पक्ष पर जोर देते जान पड़ते हैं।

मणिका यद्यपि एक आनुषंगिक चरित्र है, और लेखक ने उसका समावेश केवल शेखर के विकास की दृष्टि से ही किया है, फिर भी वह एक हद तक प्रतिनिधि चरित्र है। वह उस उच्छृंखल और अनैतिक मनोवृत्ति का प्रतिनिधि है, जो पाश्चात्य जीवन के वैभव-विलास की चकाचौंध में अपना विवेक खो बैठी है, और जो पार्थिव भोग को अनावश्यक महत्व देने में एक प्रकार के मिथ्या गर्व का अनुभव करती है। संभवतः लेखक को स्वयं इस बात की चेतना नहीं है कि वह मणिका के द्वारा, भारत या किसी एक ही देश में नहीं, वरन् सभी स्थानों में प्रचलित एक ऐसी प्रवृत्ति का चित्रण कर रहा है जो आधुनिक सभ्यता की एक विषम समस्या है और जिसका सम्बन्ध वेश्यावृत्ति से भी अधिक नैतिक संयम से है। इस अनैतिकता में मणिका को एक प्रकार का वैशिष्ट्य दीखता है। तभी तो वह शेखर से कहती है : "I collect men (मैं तो पुरुषों का संग्रह करती हूँ!) कैसे-कैसे अजीब नमूने होते हैं—'लेकिन' एकाएक उसका स्वर अब और थकान से भर गया था—'चमड़ी के नीचे सब एक से! असमय, असंस्कृत-लोलुप पशु' यह सुन कर शेखर के मन ने जोड़ा—'चमड़ी के नीचे सब एक-से—सब पुरुष, सब स्त्रियाँ—पुरुष और स्त्री, स्त्री और पुरुष'.."[२]

स्वच्छन्द प्रेम और अन्तर्जातीय विवाह की समस्या

प्रेमचन्दोत्तर-काल में अविवाहित नारी के प्रेम की समस्या उतनी गंभीर और विवादग्रस्त नहीं बची थी। नारी को प्रेम का अधिकार स्वीकृत हो चुका था। यहीं नहीं, पुरुष के मन में उस प्रेम को प्राप्त करने की कामना का भी उदय हो चुका था। मनोवैज्ञानिक प्रभाव के कारण अब स्त्री-पुरुष के आकर्षण को स्वाभाविक, नैसर्गिक और वांछनीय माना जाने लगा।[३] उस प्रेम की सीमाएँ और मर्यादाएं क्या हों, इस पर अवश्य भिन्न-भिन्न उपन्यासकारों का अपना-अपना मत है।

---

१. अज्ञेय : 'शेखर : एक जीवनी' (पृष्ठ १९)

२. वही : (पृष्ठ १९)

३. (अ) 'दो हृदयों के प्रकृतिगत आकर्षण का निवारण करने की शक्ति इस विश्व में कहीं भी है, इस बात पर मैं कदापि विश्वास नहीं कर सकती। वह आकर्षण सदाचार और दुराचार से परे है। इसका अनुभव मैं अपने मर्म के अणु-परमाणु में कर रही हूँ।'
इलाचन्द्र जोशी : 'संन्यासी' (पृष्ठ १४४)

(आ) 'शेखर, मैंने सदा तुम्हें प्यार किया है। पाप मैंने कभी नहीं किया।'
'अज्ञेय' : 'शेखर : एक जीवनी', दूसरा भाग : (पृष्ठ २४२)

प्रेमचन्द-काल में नारी के प्रेम को आदर्शवाद के कवच से ढँक दिया गया था। त्याग, समर्पण, सेवा आदि के विशेषणों से विभूषित कर नारी के स्वाभाविक प्रेम को यथार्थ स्वातन्त्र्य से दूर रखने की चेष्टा की गई थी। पर आलोच्य काल में नारी के प्रेम पर ऐसा कोई आरोप नहीं मिलता। अब यह माना जाने लगा कि पुरुष और स्त्री की वृत्तियाँ समान हैं। दोनों ही अपनी मूल प्रेरणा से एक-दूसरे के प्रति आकर्षित होते हैं। यही कारण है कि इस युग में प्रेम-तत्व के चित्रण के संदर्भ में नारी की मानसिक कुंठाओं का चित्रण हुआ। प्रेम अथवा काम-भाव से उत्पन्न मानसिक कुंठाएँ समस्या के रूप में चित्रित हुई। नारी भी अपनी काम-भावनाओं से प्रेरित होकर उसी प्रकार आकर्षित होती है जिस प्रकार पुरुष। इलाचन्द्र जोशी लिखित 'पर्दे की रानी' (१९४१) की निरंजना, 'संन्यासी' (१९४१) की शान्ति और 'प्रेत और छाया' की मंजरी, 'मुक्ति पथ' (१९५०) की सुनन्दा; 'अज्ञेय' लिखित 'शेखर : एक जीवनी' (१९४४) की शशि; भगवतीप्रसाद वाजपेयी लिखित 'दो बहिनें' की लता; 'पहाड़ी' लिखित 'सराय' की रेखा; रांगेय राघव लिखित 'घरौंदे' (१९४६) की लीला; यशपाल लिखित 'दादा कामरेड' की शैल, 'देशद्रोही' की चन्दा; नरोत्तम नागर लिखित 'दिन के तारे' की मद्रासिन आदि अनेक नारियाँ इस बात की पुष्टि करती हैं। इलाचन्द्र जोशी ने 'पर्दे की रानी' में निरंजना के चरित्र में इस समस्या एवं उससे उत्पन्न मानसिक कुंठाओं का चित्रण मनोविश्लेषणात्मक पद्धति पर किया है। निरंजना प्रारम्भ से ही इन्द्रमोहन की ओर आकर्षित है किन्तु अपराधी पिता और वेश्या माँ की पुत्री होने के कारण उसके मन में एक हीन-भावना घर कर जाती है। इस हीन-भावना की प्रतिक्रिया से उसके मन में अहं का जन्म होता है। इस अहंभाव के कारण उसका मन इन्द्रमोहन की ओर

(इ) 'यह तो जीवन का स्वाभाविक मार्ग है।'
यशपाल : 'दादा कामरेड' : (पृष्ठ १११)

(ई) 'नर और नारी का चिरन्तन संबंध है। सदैव से स्त्री पुरुष को प्यार करती है और पुरुष स्त्री को देखकर रीझता है।'
अंचल : 'चढ़ती धूप' (पृष्ठ १६०)

(उ) 'प्रेम स्नेह जैसे रागात्मक सम्बन्ध वस्तुतः प्राणी मात्र के सहज स्वाभाविक गुण हैं। इनका उद्रेक अकल्याणकर नहीं हो सकता। इनके बिना हमारा जीवन मरुस्थल है, जहाँ हमारे रागी प्राणों को प्यासों दम तोड़ना पड़ेगा। मुहिम पर चलते हुए भी प्यास लगती ही है, और पानी पिया ही जाता है।'
श्रीकृष्णदास : 'क्रान्तिदूत' निवेदन से उद्धृत।

(ऊ) 'क्या विवाह करके ही हम मिल सकते हैं? विवाह ही प्रेम की सार्थकता है? विवाह का मूल्य तो शरीर है। आत्मा का बंधन प्रेम है।'
सर्वदानंद वर्मा : 'प्रश्न' (पृष्ठ २४)

आकर्षित होने पर भी समर्पित नहीं हो पाता और वह जीवन भर मानसिक कुंठाओं से ग्रसित रहती है।

इस काल के कुछ उपन्यासों में एकांगी प्रेम का भी वर्णन मिलता है। यह परोक्ष रूप से नारी के व्यक्तित्व की नई उपलब्धि है। शिक्षित, विकसित नारी अब पुरुष से प्रेम-दान पाना चाहती है, कभी-कभी उसकी माँग भी करती है। जैसे, इलाचन्द्र जोशी लिखित 'मुक्ति पथ' की सुनन्दा, रांगेय राघव लिखित 'घरौंदे' की लीला, 'पहाड़ी' लिखित 'सराय' की रेखा, भगवतीप्रसाद वाजपेयी लिखित 'दो बहनें' की लता। समाज-सेवा करने से सुनंदा को कर्तव्य-पालन का संतोष भले ही मिलता है, किन्तु उसकी दमित वासनाएँ फिर भी अपनी तृप्ति के लिए उसके अन्तस् में बैठी उथल-पुथल मचाती रहती हैं। वह सोचती है कि यदि राजीव उसे स्नेह-दान दे तो वह बड़े-से-बड़ा कार्य करने की शक्ति जुटा सकती है। पर उसे निराश ही होना पड़ता है। 'घरौंदे' की लीला ऐसी शिक्षित युवती है जो भगवती की उपेक्षा और अवहेलना पा कर भी उसके प्रेम को प्यासी रहती है। 'सराय' की रेखा के जीवन की केवल एक चाह है कि वह दिनेश से विवाह कर के गृहस्थी जमा कर सुख-चैन से जीवन व्यतीत करे। किन्तु दिनेश स्पष्ट रूप से इन्कार कर देता है। अतृप्त जीवन के कारण रेखा के चरित्र में विकृतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। 'दो बहनें' की लता ज्ञानप्रकाश को प्रेम करती है, पर ज्ञानप्रकाश से उसे प्रतिदान नहीं मिल पाता जिसके कारण उसका जीवन असंतुष्ट रहता है।

नारी के मन में प्रेम की इस भूख का कुछ उपन्यासों में ऐसा चित्रण हुआ है जो यथार्थ और स्वाभाविकता से परे भी लगता है, और जो नैतिकता की सीमाओं का भी अतिक्रमण कर जाता है। इन उपन्यासकारों में यशपाल प्रमुख हैं, जिन्होंने वर्ग-संघर्ष के आर्थिक, राजनैतिक सिद्धान्तों को बिना सोचे-विचारे मनोवैज्ञानिक क्षेत्र में भी घटाने का प्रयत्न किया है। यशपाल के 'दादा कामरेड' की शैल अनेक पुरुषों से प्रेम करने में ही तृप्ति का अनुभव करती है। वह सोचती है कि ऐसा करने से वह अपने व्यक्तित्व का विकास कर रही है। वह रति-स्वातंत्र्य की पूर्ण समर्थक है। उसका विचार है कि किसी एक पुरुष के प्रेम में बँध जाना ऐसा कार्य है जिससे पुरुष की स्वामित्व भावना को ही प्रश्रय मिलता है। नारी की ओर से ऐसे एकनिष्ठ प्रेम को वह पुरुष की सम्पत्ति बन जाने के बराबर समझती है। वह कहती है : 'प्रेम द्वारा मैं अपने जीवन का विस्तार करना चाहती थी और वह मुझ पर बंधन लगा कर मेरे जीवन को अपने लिए संकुचित कर देना चाहता था। देखो, चौदह-पंद्रह बरस का लड़का भी मुझे अपनी सम्पत्ति समझना चाहता था।'[1]

प्रेम की एकनिष्ठ भावना को सम्पत्ति-अधिकार की भावना समझना वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त का भ्रमपूर्ण विस्तार है। यशपाल द्वारा नारी के प्रेम को इस दृष्टिकोण से देखने

१. यशपाल : 'दादा कामरेड' (पृष्ठ ४५)

के कारण एक आलोचक ने उनकी नारी की तुलना रूमाल से की है[1] जो सुनने में हास्यास्पद लगने पर भी उचित लगती है। उनके दूसरे उपन्यास 'देशद्रोही' की राज पहले तो अपने प्रति डा० खन्ना को इतना प्यार करती है कि उनकी मृत्यु की सूचना से ही दुःखी हो कर आत्महत्या करना चाहती है। दुःख कम हो जाने पर वह बद्रीप्रसाद से विवाह कर लेती है। किन्तु डा० खन्ना की मृत्यु की सूचना ग़लत सिद्ध होती है और बहुत दिन बाद जब वह विक्षिप्तावस्था में राज़ के पास पहुँचता है तो वह उसे अपने घर में स्थान भी नहीं देती। उनके अन्य उपन्यास 'मनुष्य के रूप' की सोमा का चित्रण भी ऐसा ही है। वह पहाड़िन अपने जीवन में क्रमशः धनसिंह, मनोरमा के भाई, बरकत, बनवारी और सुतलीवाला इन सभी पुरुषों से प्रेम करती है। यह ठीक है कि उसने कभी भी किसी भी पुरुष को धोखा देने के भाव से प्रेम नहीं किया। आर्थिक परिस्थितियों के कारण ही वह ऐसा करती है, पर नारी के प्रेम का ऐसा चित्रण कर लेखक ने निपट स्वार्थ से प्रेरित ही सिद्ध किया है। उसके मत में वर्तमान समाज में प्रेम केवल जीवन का सहायक साधन है।[2] वह एक सौदा-मात्र है। नारी पुरुष का आश्रय पाने के लिए ही प्रेम करती है। देह-विक्रय से ही यह आश्रय उसे सुलभ होता है।

अन्त में सोमा सफल अभिनेत्री बन जाती है और फिल्म प्रोड्यूसर सुतलीवाला से प्रेम करके जीवन भर उसी के साथ रहने की आकांक्षा करती है। सुरक्षा, विलास और आधुनिकता के इस वातावरण में वह अपने अतीत को स्वीकारने से इन्कार करती है। जेल से रिहा हो कर लौटे धनसिंह को वह न पहचान सकने का स्वाँग भरती है। 'सफलता का नशा उस पर छा गया है। अपना गत जीवन भी उसे ख़ूब याद था। उसकी तुलना में अपनी क्षमता और सफलता का अनुभव कर उसे वर्तमान से असंतोष न था।'[3] जब धनसिंह लौट कर उससे मिलता है तो पल भर को उसका मन उसकी ओर आकर्षित होता है किन्तु अपनी आर्थिक सफलता का ध्यान तत्काल ही उसे विव्रत कर देता है। धनसिंह से मिलने पर वह अपनी पथराई हुई आँखों से उत्तर देती है : "'आप लोग क्यों मेरे पीछे पड़े हैं ? . . . मैं सोमा नहीं हूँ . . . मैं नहीं हूँ सोमा।' उसकी आँखें लाल हो गईं और दो बूंद आँसू गालों पर बह गए।"[4]

इस प्रकार सोमा पहले तो आर्थिक कठिनाइयों से मुक्ति पाने के लिए, और बाद में वैभव-विलास के मोह में पड़ कर प्रेम-दान को अपनी स्वार्थ-सिद्धि का साधन बनाती है।

---

१. 'यशपाल की दृष्टि में तो नारी वह रूमाल है जिससे जितने आदमी अपना मुंह पोंछ सकें, पोंछ सकते हैं। उससे कालिख छूटेगा ही, लगेगा नहीं।'
त्रिभुवनसिंह : 'हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद' : (पृष्ठ ११३)

२. यशपाल : 'मनुष्य के रूप' (पृष्ठ २८३)

३. वही : (पृष्ठ १८३)

४. वही : (पृष्ठ ३४०)

प्रेम जैसी उदात्त भावना का ऐसा चित्रण मानवीय विवेक के प्रति अविश्वास प्रकट करता है, यद्यपि लेखक उसे बदलती परिस्थितियों में बदलते व्यवहार की अनिवार्यता के रूप में ग्रहण करता है।

इसी प्रकार भगवतीचरण वर्मा लिखित 'आखिरी दाँव' (१९५०) की चमेली अपने प्रेम का सौदा करती हुई अनेक पुरुषों के आश्रय में रहती है। सोमा की भाँति चमेली को भी रूप और यौवन के विनिमय में पुरुष का आश्रय और आजीविका मिलती है। फिर भी चमेली और सोमा में यह अन्तर है कि चमेली के लिए आर्थिक सफलता जीवन का एक-मात्र उद्देश्य नहीं है। वह रामेश्वर को सच्चे मन से प्रेम करती है और उसी के प्रेम का कवच धारण कर वह फिल्मी दुनिया में जाती है। वहाँ ऐसे अनेक अवसर आते हैं जो उसे सत्पथ से विचलित करते हैं किन्तु अपने प्रेम में दृढ़ विश्वास के कारण वह गिरती नहीं और अन्त तक अपने प्रेम के प्रति सच्ची बनी रहती है। रामेश्वर के सम्पर्क में आने से पहले जो पुरुष उसके जीवन में आये, उनसे उसे सच्चे प्रेम का प्रतिदान नहीं मिला, इसीलिए उसे विभिन्न पुरुषों का आश्रय ग्रहण करना पड़ता है। पर सच्चे प्रेम का प्रतिदान पाकर उसके जीवन की समस्या का समाधान हो जाता है। किन्तु सोमा के जीवन में ऐसा समाधान नहीं मिलता। धनसिंह सोमा को सच्चे मन से प्रेम करता है, उसी के कारण वह जेल जाता है, और लम्बी सजा भोगने के बाद जब वह लौट कर आता है तो सर्व प्रथम सोमा से ही मिलने की आकांक्षा करता है। किन्तु सोमा अपनी बदली हुई परिस्थितियों के कारण उसके साथ रहना नहीं चाहती और इसीलिए न पहिचानने का अभिनय करती है।

'अश्क' लिखित 'सितारों के खेल' की लता के जीवन में भी अनेक पुरुष आते हैं। वह बारी-बारी से उनसे प्रेम करती है। किन्तु वह प्रेम को न तो सौदा समझती है और न उसे जीवन का साधन मानती है। उसके प्रेम में निष्काम अपनत्व और समर्पण की भावना है। किसी से भी उसको प्रेम का प्रतिदान नहीं मिल पाता, और वह अंत में मानसिक विकृतियों की शिकार होकर आत्म-हत्या कर लेती है।

इस प्रकार इस काल के उपन्यासों में नारी-प्रेम के के विभिन्न पहलुओं का चित्रण मिलता है, जिसमें कहीं-कहीं अतिरंजना अथवा अस्वाभाविकता होने पर भी, अधिकांश में यथार्थ विश्लेषण पर बल दिया गया है। पर यह प्रेमचन्द-कालीन प्रेम की भाँति सीधा और सरल नहीं है। आर्थिक-सामाजिक जीवन की विसंगतियों के कारण उसमें जटिलता और उलझन आ गई है, उसकी प्रेरणाओं में स्वार्थ और परिस्थितियों ने भी स्थान ले लिया है, और इसी कारण कभी-कभी प्रेमियों के मिलन द्वारा भी उसका समाधान संभव नहीं होता। जैसे इलाचन्द्र जोशी लिखित 'संन्यासी' की जयन्ती तथा 'निर्वासित' की नीलिमा, यशपाल के 'मनुष्य के रूप' की मनोरमा आदि अनेक नारियों का प्रेम-विवाह अशान्ति और असंतोष ही लाता है।

तो फिर नारी के प्रेम का लक्ष्य क्या है, और प्रेम में निराशा से उत्पन्न मानसिक विकृतियों का क्या हल है? इस प्रश्न का कोई स्पष्ट उत्तर इन लेखकों के पास नहीं है।

इनमें से कुछ का मत है कि नारी को प्रेम और विवाह की स्वतन्त्रता मिलने से समस्या का समाधान हो सकता है। इस काल के उपन्यासों में विवाह-पूर्व आकर्षण से न उबर सकने के कारण नारी की कुण्ठा का जो चित्रण किया गया है उससे भी लेखकों के इसी मत की पुष्टि होती है। किन्तु कुछ का यह मत भी परिलक्षित होता है, और इन लेखकों में यशपाल प्रमुख हैं, कि नारी-प्रेम की यह समस्या सामाजिक जीवन में परिवर्तन की बड़ी समस्या का ही एक अंग है, जो तबतक नहीं सुलझ सकती जबतक क्रान्ति द्वारा व्यक्ति का मन नये धरातल पर न पहुँच जाये।

प्रेमतत्व पर अत्यधिक महत्व देने के कारण इस युग के हिन्दी उपन्यासों में अन्तर्जातीय विवाह की समस्या के समाधान का भी प्रयत्न किया गया है, यद्यपि विवाह में जाति-धर्म के विचार के प्रति इस युग का लेखक बहुत आस्था नहीं रखता, और इसीलिए अन्तर्जातीय विवाह प्रेम की समस्या के रूप में ही आया है, सामाजिक समस्या के रूप में नहीं। यह स्थिति प्रेमचन्द-युग की अपेक्षा अधिक विकसित और प्रगतिशील है। उदाहरण के लिए, 'मनुष्य के रूप' की मनोरमा घर में अपने विवाह की चर्चा सुनते ही अपने प्रेमी-सुतलीवाला को बुलाकर उससे विवाह कर लेती है। उनका यह विवाह जाति-नियम-सम्मत है अथवा नहीं, इसका भी पता नहीं चलता। इलाचन्द्र जोशी के 'निर्वासित' में मिसेज खन्ना अपनी पुत्री नीलिमा का विवाह ठाकुर लक्ष्मीनारायण सिंह से करते हैं।

अन्तर्जातीय विवाह

'अंचल' के दूसरे उपन्यास 'नई इमारत' (१९४५) में अन्तर्जातीय विवाह की समस्या के एक जटिल रूप का चित्रण है। राजपूत कन्या आरती मुसलमान युवक महमूद से विवाह करना चाहती है। पुरानी पीढ़ी के प्रतीक उसके पिता इस विवाह से सहमत नहीं हैं किन्तु आरती की भाभी और भैया के रूप में हमें बदली हुई नई पीढ़ी के दर्शन होते हैं।[१] वे इस विवाह को अनुचित नहीं मानते। आरती की भाभी अपने श्वसुर को समझाती हुई कहती है, 'बीबी महमूद को दिलोजान से प्यार करती हैं। महमूद उन्हें उतनी ही सच्चाई से चाहता है। शादी-ब्याह का उद्देश्य भी यही है। शादी हो गई और दिल न मिला तो जीवन भार हो जायेगा।'[२] नई विचार धारा के अनुसार 'अंचल' भी विवाह से अधिक प्रेम को महत्व देते हैं।[३] नई शिक्षा और महमूद के प्रति प्रेम के कारण आरती के

---

१. 'शादी मेरी होगी। मैं सबसे पूछती फिरूँगी, ऐसा मैंने न सोचा था। आपको क्यों एतराज है? भैया और भाभी को तो नहीं है। वे भी इसी पवित्र उज्ज्वल वंश के हैं।'
अंचल : 'नई इमारत' (पृष्ठ ९६)

२. वही : (पृष्ठ ९८)

३. 'प्रेम की पूर्ति विवाह से न हुई तो विवाह व्यर्थ है। प्रेम विवाह से बढ़ कर है। जीवन की समस्त योजना से बढ़ कर है।' वही : (पृष्ठ १३२)

चरित्र में दृढ़ता और स्पष्टवादिता आती है। पिता यदि महमूद से अन्तर्जातीय विवाह करने की अनुमति न दें तो आरती घर छोड़कर जाने तक को प्रस्तुत हो जाती है।[1] पुरानी पीढ़ी और नई पीढ़ी का यह संघर्ष स्पष्ट हो जाता है। नई मान्यताओं के सम्मुख पुरानी जर्जरित रूढ़ियों को परास्त होना पड़ता है। आरती का विवाह महमूद से ही होता है। इसी प्रकार श्रीकृष्णदास लिखित 'क्रान्ति दूत' की मुसलमान युवती नसीम हिन्दू युवक विनय से प्रेम करती है तथा 'अग्नि पथ' की ईसाई युवती लुई प्रेम नामक हिन्दू युवक से प्रेम करती है। इन दोनों के ही प्रेम-सम्बन्धों को लेखक ने उज्ज्वल रूप में चित्रित किया है तथा अन्तर्जातीय विवाह का समर्थन किया है।

वैवाहिक जीवन की विसंगतियाँ

जैसा कि कहा जा चुका है कि आधुनिक काल के वैवाहिक जीवन में अनेक विसंगतियाँ उत्पन्न हो गई हैं। ये विसंगतियाँ दाम्पत्य-जीवन में इतनी विषमता एवं कटुता का समावेश कर देती हैं कि आज के समाज में, विशेषकर बुद्धिजीवी समाज में यह समस्या अत्यन्त विकट रूप धारण कर चुकी है। वैवाहिक जीवन की इन असंगतियों के मूल में विवाह-पूर्व आकर्षण की ग्रंथि, विवाहेतर आकर्षण, दाम्पत्य-जीवन की आर्थिक और मनोवैज्ञानिक विषमतायें, पुरुष द्वारा नारी का शोषण करने की प्रवृत्ति, पारस्परिक संदेह और विकसित व्यक्तियों की टकराहट प्रमुख कारण हैं। इस युग के उपन्यासकारों ने इन सभी कारणों पर विचार किया है, पर इनमें से कुछ पर विशेष बल दिया है।

पूर्वाकर्षण की ग्रंथि

प्रेम-विवाह न होने पर भी साधारणतः पति-पत्नी के साथ-साथ रहने-सहने से दोनों में प्रेम-भावना का विकास हो सकता है, और उनका जीवन सुखी भी बन सकता है। पर यदि विवाह के बाद भी उन दोनों में से किसी के मन में कोई पूर्व आकर्षण की ग्रन्थि बच रहे तो फिर हृदय का आदान-प्रदान अत्यन्त कठिन हो जाता है, और ऐसी परिस्थिति में उन दोनों का वैवाहिक जीवन विषमय बन जाता है। पूर्वाकर्षण की ग्रन्थि से उत्पन्न वैवाहिक जीवन की इस असफलता और विषमता का चित्रण इस काल के कई उपन्यासों में विस्तार से मिलता है। इस समस्या को इतना विस्तार देने में लेखकों का अभिप्राय सम्भवतः यही था कि प्रेम-विवाह को सामाजिक समर्थन प्राप्त हो।

जैनेन्द्र लिखित 'त्यागपत्र' (१९३७) की मृणाल, सर्वदानंद वर्मा लिखित 'प्रश्न'

---

१. 'लेकिन शादी में आई० पी० क्या गवर्नर से भी नहीं करूँगी। शादी के मामले में किसी को दखल देने का अधिकार नहीं है। आपको मुझे मकान पर रखना स्वीकार नहीं तो कह दीजिए। मैं जुलाई में चली जाऊँगी। आपके आशीर्वाद से इतना पढ़-लिख गई हूँ कि सौ-पचास रुपये की नौकरी मिल जायेगी।'
वही : (पृष्ठ ९६)

(१९३८) की मालती, अज्ञेय लिखित 'शेखर: एक जीवनी' (१९४०-४३) की शशि, सर्वदानन्द वर्मा लिखित 'संस्मरण' (१९४०) की चित्रा, यज्ञदत्त लिखित 'प्रेम समाधि' (१९४०) की मिस क्लैबर्ट, इलाचन्द्र जोशी लिखित 'संन्यासी' (१९४१) की जयन्ती, वृन्दावनलाल वर्मा लिखित 'अचल मेरा कोई' (१९४१) की कुन्ती, रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' लिखित 'चढ़ती धूप' (१९४५) की ममता, भैरवप्रसाद गुप्त लिखित 'शोले' (१९४७) की शोभी, धर्मवीर भारती लिखित 'गुनाहों का देवता' (१९४९) की सुधा, शिवचन्द्र शर्मा लिखित 'नया आदमी' (१९४९) की रेवा, कंचनलता सब्बरवाल लिखित 'त्रिवेणी' (१९५०) की सुरभि आदि अनेक नारियों के चरित्रों में पूर्वाकर्षण की स्मृति से उत्पन्न वैवाहिक विषमता का चित्रण किया गया है। इन सभी नारियों का मन विवाह के पूर्व ही प्रेम में बँध चुका है, किन्तु उनका विवाह अपने प्रेमी से न होकर अन्यत्र होता है जिसके कारण उनका दाम्पत्य-जीवन असफल हो जाता है। कुन्ती और जयन्ती तो अपने विवाह के बाद कुछ दिनों तक अपने पूर्व-प्रेम को भूल भी जाती है किन्तु मृणाल, शशि, चित्रा, मिस क्लैबर्ट, ममता, सुधा, शोभी, रेवा और सुरभि विवाह हो जाने पर एक क्षण को भी अपने प्रेमियों को नहीं भूल पातीं। सामाजिक बंधनों और नियमों का उल्लंघन करने की शक्ति अथवा साहस न होने के कारण यद्यपि वे अपने विवाह का विरोध नहीं कर पातीं तथापि उनका मन सदैव अपने प्रेमी के चरणों पर न्यौछावर होता रहता है।

पूर्वाकर्षण की इस समस्या की एक सुन्दर झलक हमें जैनेन्द्र के 'त्यागपत्र' (१९३७) में मिलती है। वास्तव में मृणाल के जीवन की मूल समस्या यही है। किशोरावस्था में ही वह अपनी सहेली शीला के भाई के प्रति आकर्षित हो जाती है और मन-ही-मन अनेक रंगीन सपने देखती रहती है। लेखक ने उसकी इस अवस्था का चित्रण अत्यन्त कुशल कलाकार की भाँति किया है। हल्के रंगों से केवल संकेत भर किये हैं जिनसे हमें मृणाल की मनोदशा का पूरा-पूरा ज्ञान हो जाता है। वह शीला के भाई से मिलने-जुलने के लिए पिटती भी है, छिपाकर पत्र भी भेजती है, और अबोध प्रमोद से बहकी-बहकी बातें करती रहती है। उसका विवाह इस आकर्षण में एक अप्रत्याशित बाधा की भाँति आता है। इसीलिए विवाह का बंधन उसके मन को किसी भी प्रकार स्वीकार नहीं होता। उसके कोमल किशोर मन को जो भारी धक्का लगता है, वही एक प्रकार से उसके शेष सारे जीवन को नियमों की लीक से हटा देता है। जिस दिन मृणाल का यह अनचाहा विवाह होता है, उसी दिन ऐसा लगता है, मानो उसका मन मर चुका हो, केवल ढाँचा रह गया हो। अपनी विदा-वेला में वह प्रमोद से कहती है ! 'प्रमोद' तेरी बुआ तो मर गई। तू अब उसे कभी याद मत करियो।''[1] और सच पूछा जाय तो उसी दिन से हँसमुख, चंचल मृणाल मर जाती है, उसके स्थान पर गम्भीर और निस्तेज मृणाल दिखाई देती है। इसके बाद वह जो कुछ करती है, जिस प्रकार परिस्थितियों को स्वीकार करती है उसमें जैसे उसके

१. जैनेन्द्र : 'त्यागपत्र' (पृष्ठ १०)

मन में सहयोग का कोई प्रश्न नहीं है। वह निर्विरोध भाव से यंत्रवत् सब कुछ सहती चली जाती है।

विवाह के चार दिन बाद ही निष्प्राण-सी होकर जब मृणाल पति-गृह से लौटती है तब भी उसका ध्यान शीला के भाई की ओर ही लगा हुआ है। वह उसके पास पत्र भेजती है, और जब उसका उत्तर उसे मिलता है तो उसे पढ़ते समय वह अपने आप में खो जाती है। किन्तु आदर्शवादी जैनेन्द्र मृणाल को समाज के प्रति प्रत्यक्ष विरोध का प्रतीक नहीं बनाना चाहते, इसलिए वे मृणाल से यह पत्र फड़वा डालते हैं। 'खत बड़ा नहीं था। लेकिन कई मिनिट तक वह उसे पढ़ती रही। यह भी भूल गई कि प्रमोद भी उनका कोई है और इस वक्त वह पास ही खड़ा है। काफ़ी देर के बाद उन्होंने वहाँ से आँख हटाई, खत को धीमे-धीमे तह किया और मुझको देखा—मानो उस वक्त मुझे वह पहचान नहीं रहीं थीं। मानो सब भूल गई कि क्या था, क्या है, क्या होगा। फिर उसी बेबूझ भाव से मुझे देखते रहकर मानो यंत्र की भाँति उस खत को फाड़कर नन्हें-नन्हें टुकड़ों में कर दिया। मानो वह कुछ नहीं कर रही, जाने कौन करा रहा है। हल्के-हल्के चैतन्य उन्हें लौटा। मानो उन्होंने अब कुछ-कुछ जगत को पहचाना। थोड़ी देर बाद बोलीं : 'प्रमोद, अब वहाँ कभी मत जाना। तुझसे जवाब लाने को किसने कहा था? कभी किसी का कोई खत लाने की जरूरत नहीं है। समझा।'[1]

इस प्रकार समाज की रीति-नीति का ध्यान आते ही वह अपने मन को समेट लेती है और अन्तर में घुमड़ते विद्रोह को दबाकर प्रमोद से सरोष कहती है : 'देख प्रमोद, शीला के भाई का कोई पैगाम आया कि मैं छत से गिर कर मर जाऊँगी। मुझे उन्होंने समझा क्या है?'[2]

'शेखर : एक जीवनी' की शशि बचपन से ही अपने मौसेरे भाई शेखर के प्रति अनुरक्त है। शेखर को अपने मन में स्थान देने के कारण वह अन्यत्र विवाह भी नहीं करना चाहती। जब शशि की विधवा माँ विद्यावती सामाजिक रीति के अनुसार उसका विवाह-सम्बन्ध स्थिर कर देती है तो उसे अत्यन्त पीड़ा होती है। इस समय शेखर, जिसको वह एक मात्र अपना समझती है,[3] जेल में बन्द है। तो भी शशि इस विकट स्थिति में उसका क्या कर्त्तव्य है यह जानने के लिए जेल के सीखचों के अन्दर ही शेखर के पास पत्र भेजती है। शेखर विवाह करने या न करने का दायित्व शशि पर ही छोड़ता है, किन्तु दोनों विकल्पों में अपने पूर्ण सहयोग का आश्वासन देता है। शेखर शशि का भाई है इसलिए शेखर से विवाह करने का प्रश्न उसके सामने नहीं है। अब शशि के सामने दो ही विकल्प हैं : या तो विवाह करे या आजीवन अविवाहित रहे। विधवा माँ को समाज की आलो-

---

१. जैनेन्द्र : 'त्याग पत्र' : (पृष्ठ १५)
२. वही : (पृष्ठ १६)
३. 'अगर शेखर बाहर होता तो वह उसकी सहायता माँगती बातचीत को स्थगित

चना से बचाने के लिए शेखर का यह आश्वासन पाकर वह अपने अनिच्छुक अप्रस्तुत मन को कर्त्तव्य की वेदी पर चढ़ा देती है। इसलिए इस विवाह से उसे कोई प्रत्याशा नहीं है। वह शेखर से ही कहती है: 'मैंने ब्याह किया नहीं था, मेरा तो ब्याह हुआ था। ब्याह करके कुछ पाने का प्रश्न मेरे आगे नहीं था, पाना तो—'[1] अतः शेखर के प्रति पूर्वार्पण में बँधी शशि वैवाहिक-जीवन में केवल अपने कर्तव्य की पूर्ति करती है। उसमें उसके मन का सहयोग नहीं है। वह तो शेखर को समर्पित है।[2] इसी कारण अपने दाम्पत्य-जीवन में वह खोई-खोई सी, अन्यमनस्क-सो रहती है जिसे उसका पति रामेश्वर पसन्द नहीं करता।[3]

जब शेखर जेल में था—तब बहुधा शशि अपने पति रामेश्वर से शेखर की चर्चा करती थी। ऐसा लगता है, यह चर्चा भी रामेश्वर को अप्रिय लगती थी। इसी चर्चा के कारण शशि के चरित्र के प्रति उसके मन में अनजाने ही एक शंका घर कर लेती है। शेखर के सामने वह शशि के सम्बन्ध में जिस प्रकार व्यंग्यपूर्वक बातें करता है, उससे उसके मन की इस ग्रंथि का पता चलता है। वह शेखर से कहता है, 'यहीं रहिए; मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी, और शशि को तो होगी ही। वह तो अक्सर आपकी बात करती रहती है।'[4] रामेश्वर बार-बार 'आपकी बहिन' की चर्चा में 'आप' पर बल देकर व्यंग्य करता पाया जाता है।[5] रामेश्वर के मन का यह संदेह तब और भी स्पष्ट हो जाता है जब शेखर डाक से शशि को कविता और कहानी भेजता है। यह घटना शशि शेखर को इस प्रकार सुनाती है: "तुम्हारे पीछे उन्होंने पूछा, 'चिट्ठी किसकी है।' मैंने बता दिया, तो अचम्भे में बोले, 'अभी तो आये थे, चिट्ठी क्यों।' मैंने बताया कि कहानी और कविता भेजी है। बोले, 'अच्छा, तब तो हम भी पढ़ें—' मैंने उन्हें सब कुछ दे दिया, पर उनके वे पन्ने उलटने-पुलटने से मैंने जाना कि उनकी रुचि कविता-कहानी में नहीं है। फिर उन्होंने कहा, 'भई, हम कविता-अविता क्या जानें, यह तो कलाकार लोग ही समझें—' और कागज़ मुझे लौटा

कराने में, पर वह जेल में है, ओर, और कोई इस इतनी बड़ी दुनिया में है नहीं जो उसका पक्ष ले।'
'अज्ञेय' : शेखर : एक जीवनी' (पृष्ठ ६९)

१. वही : (पृष्ठ १५५)
२. 'पर तुममें मेरा वह जीवन है, जो मैं हूँ, जो मेरा मैं है।' वही : (पृष्ठ १६६)
३. 'शशि तो पढ़ती रहती। अक्सर पढ़ती ही रहती है। हँसना-बोलना तो इन्हें अच्छा नहीं लगता। हम तो कई काम करते-कर थक जाते हैं, तफ़रीह जरूरी मालूम होती है।' (वही : (पृष्ठ ११६)
४. वही : (पृष्ठ १०८)
५. (अ) 'आपकी बहन का स्वभाव विचित्र है।' वही : (पृष्ठ १०८)
(आ) 'आपकी बहन तो बड़े परिष्कृत टेस्ट की हैं।' (पृष्ठ ११९)

दिये। बहुत देर बाद फिर बोले, 'तो ऐसे सकपकाकर भागने की क्या जरूरत थी'"[1] बाद में जब शेखर 'हमारा समाज' नामक पुस्तक की पाण्डुलिपि शशि को दिखाता है तब फिर रामेश्वर व्यंग्य करता है : 'नहीं तो इसे भी डाक से भेज देते'[2] और ठहाका मारकर हँस पड़ता है।

शेखर के स्वास्थ्य और कुशल-क्षेम के प्रति शशि की यह चिन्ता और यत्न इसीलिए अस्वाभाविक बन जाते हैं कि उनके पीछे एक ऐसा एकान्त समर्पित मन है जो अपने गार्हस्थ्य-जीवन में घुटन और अतृप्ति के कारण खुल नहीं पाता। इसी कारण ऐसी नन्हीं-नन्हीं घटनायें रामेश्वर को संदेह करने पर विवश करती हैं। फिर भी उसका संदेह मूर्त रूप तभी लेता है जब शशि एक दिन रात भर शेखर के कमरे में रहकर दूसरे दिन सवेरे अपने घर जाती है। भाई के साथ बहिन का रह जाना साधारणतः शंका की दृष्टि से नहीं देखा जा सकता पर अब तक उन दोनों की स्थिति का असाधारणत्व शशि के पति और सास पर प्रकट हो चुका है, और वे इतनी प्रकट क्रूरता से शशि को मारकर घर से निकाल देते हैं जैसे उसके चरित्रहीन होने में अब उन्हें कोई संदेह ही न रह गया हो।

पति का यह पदाघात ही शशि की मृत्यु का कारण बनता है।

इसी प्रकार 'चढ़ती धूप' में ममता का मोहन के प्रति आकर्षण है। बचपन में वे दोनों सहज भाव से एक दूसरे के साथ खेलते थे। ममता मोहन को भैया कहकर पुकारती थी, मोहन ममता को पढ़ाता था। ममता के सम्पूर्ण व्यक्तित्व को बनाने का श्रेय मोहन को ही था। किशोरावस्था आने पर यह सख्य-भाव प्रणय में परिणत हो जाता है।

ममता अपने सम्पूर्ण मन से मोहन को चाहती है। उसके मन की एक ही साध है कि अपना जीवन मोहन के चरणों में व्यतीत कर दे। जब विवाह का प्रश्न उठता है, तो मोहन और ममता दोनों के माँ-बाप उनके विवाह के लिए सहमत और उत्सुक प्रतीत होते हैं, पर मोहन ममता के इतने गहरे प्रेम के बावजूद यह सम्बन्ध स्वीकार नहीं करता। उसकी धारणा है कि अपनी निर्धनता के कारण वह ममता को सुखी न रख सकेगा, और उनका विवाह उसके सार्वजनिक कार्य में बाधा-बंधन बन जायेगा। मोहन की ओर से निराश होकर ममता के माँ-बाप उसका विवाह अन्यत्र निश्चित करते हैं। इस अनचाहे विवाह सम्बन्ध से मुक्ति पाने के लिए ममता पत्र लिखकर मोहन को बुलाती है। मोहन के आने पर वह स्पष्ट रूप से अपने प्रेम की अनन्यता व्यक्त करती हुई कहती है : 'मुझे तुम न त्यागो। मैं हड्डी-हड्डी, त्वचा-त्वचा, मज्जा-मज्जा तक तुम्हारी हूँ।'[3] पर मोहन अपने निश्चय पर अटल है। 'मेरा कल्याण और सुख इसी में है कि मेरा विवाह तुम्हारे

---

१. अज्ञेय : 'शेखर : एक जीवनी' (पृष्ठ १२१)

२. वही : (पृष्ठ १२२)

३. अंचल : 'चढ़ती धूप' (पृष्ठ १३९)

साथ न हो।'[1] अन्त में मोहन की आज्ञा को टालने में असमर्थ होने के कारण और मोहन के कल्याण की भावना को सबसे अधिक महत्व देने के कारण ममता अनचाहे विवाह की वेदी पर अपना बलिदान कर देती है। फिर भी उसके प्राण मोहन को ही पुकारते रहते हैं और उससे बिछुड़कर वह अपने आपको विधवा मानती है। इसी कारण वह न तो अपने विवाह में कोई उल्लास दिखाती है और न नववधू की भाँति शृंगार ही करती है। यहाँ तक कि वह सोहागरात में पति से ठीक से बोलती भी नहीं। पूर्वाकर्षण की इस अटूट ग्रन्थि के कारण उसका वैवाहिक-जीवन यातना बन जाता है। जब मोहन को ममता की इस अवस्था का पता चलता है, वह उसे बहुत समझाता-बुझाता है। और सौगंध दिला जाता है कि वह पति के प्रति उचित व्यवहार करेगी।[2] फलस्वरूप ममता अपने पति को तन तो समर्पित कर देती है किन्तु उसका मन समर्पित नहीं हो पाता। वह मोहन से कहती है: 'मैं सदैव तुम्हारी थी मेरे पूरे अस्तित्व पर—मेरी सम्पूर्ण सत्ता पर तुम्हारा अधिकार है। तुम जो कहोगे वह होगा। आज से मैं सारा शरीर उनके आगे फेंक दूँगी। पर मन! मन के विषय में कोई 'अन्डरटेकिंग' देने की सामर्थ मुझमें नहीं भैया। यहीं मैं विवश हूँ।'[3]

इस अनचाहे समर्पण के कारण उसका पति अत्यधिक असंतुष्ट है और वह स्वयं ममता से अलग-अलग-सा रहता है। और जब उसे मोहन के प्रति ममता के पूर्वाकर्षण का ज्ञान होता है तो उसकी सारी निराशा क्रोध का रूप ले लेती है। वह फूटकर कहता है: 'मैं सब जान गया हूँ। तुम्हारा रात-रात भर उसके साथ घर से गायब रहना, गाँव में आजादी से यहाँ जाना—वहाँ घूमना, जमना किनारे की सैर और विहार, प्रेम और निर्लज्जता की सारी किलोलें मुझे मालूम हैं। तब तुम कुँआरी थी—उस जीवन की जिम्मेदारी तुम्हारे पिता पर थी। अब तुम विवाहित हो—मैं तुम्हारा पति हूँ। तुम मेरे अधिकार में हो। मैं तुम्हें साफ़-साफ़ बता देना चाहता हूँ—उसका यहाँ आना—तुम्हारा इस तरह से आजादी से मिलना-जुलना। मेरी ग़ैरहाजिरी में घण्टों बैठना और चलते समय तुम्हें नोट पकड़ा देना मुझे क़तई पसन्द नहीं।'[4] 'तुम्हारी धृष्टता और निर्लज्जता की सीमा नहीं। भैया-भैया-भैया सुनते-सुनते मैं जब ऊब गया और पाखंड सहन न हुआ तभी मैंने सब कहा, वरना न कहता।....मुझे पर-पुरुष के साथ अपनी पत्नी का मिलना-जुलना पसन्द

---

१. अंचल: 'चढ़ती धूप': (पृष्ठ १४२)

२. 'तुम तन और मन दोनों से पति की निष्ठापूर्वक सेवा करोगी सोच लो और कहो हाँ—नहीं तो मैं कानपुर क्या दुनिया छोड़ दूँगा। तुम जानती हो जब मैं तुम्हें छोड़ सकता हूँ। तो दुनिया भी छोड़ सकता हूँ। पति के प्रति तुम्हारी सारी घृणा का आज से अन्त हो जाना चाहिए।' वही: (पृष्ठ १८२)

३. वही (पृष्ठ १८३)

४. वही: (पृष्ठ २२१)

नहीं। वह यहाँ आये शौक से, पर मेरे सामने आये। मेरी अनुपस्थिति में उसे आने की जरूरत नहीं।'[1]

यह सुनकर ममता का सर्वांग घृणा से सिहर उठता है। मोहन को वह अपनी आत्मा का सबसे बड़ा सौंदर्य समझती है, उसके प्रति अपने अनन्य प्रेम को वह पाप नहीं मानती, इसीलिए वह अपनी भावना को साधारण पत्नी की भाँति छिपाती नहीं प्रत्युत बड़े साहस-पूर्वक पति के सामने स्पष्ट करती हुई कहती है : 'आप मुझे धमकियाँ देते हैं! आपकी दो रोटियों के लिए मैं अपनी आत्मा के सबसे बड़े सौंदर्य-जीवन के सबसे बड़े सत्य—छाती के सबसे बड़े अंग को काटकर फेंक दूंगी? जानते नहीं—औरत का यह सबसे बड़ा धन होता है जो आसानी से नहीं छूटता। जिस महान आत्मा के पैरों की धूलि भी आप नहीं हैं...न हो सकते हैं—उस पर कलंक लगाने चले हैं। उस व्यक्ति पर आप आक्षेप करते हैं—मेरे सामने—मुझे सुना-सुनाकर—जो चाहे तो मुझे कोठे पर बैठाकर वेश्या का पेशा करा सकता है। जिसके इंगित पर मैं पशु को भी अपना तन दे सकती हूँ। जो मेरे जीवन के एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक का स्वामी है।'[2]

इस प्रकार हम देखते है कि ममता का पूर्वाकर्षण अत्यन्त असाधारण घटना है जो विवाहित-जीवन के साधारण नियमों की तुला पर नहीं तोली जा सकती। वास्तव मे वह अपने आपको विवाहित नहीं मानती। विवाह भी उसने अपने प्रेमी की आज्ञा से स्वीकार किया है, उसका समर्पण पति के प्रति नहीं, प्रेमी के ही प्रति है। इसी अनन्यता के कारण वह अपने वैवाहिक-जीवन में नितान्त कर्त्तव्य-च्युत सिद्ध होती है। अपने संदेहशील पति की इच्छा और आज्ञा की उपेक्षा कर वह मोहन की बीमारी का समाचार पाकर उसकी सेवा-सुश्रूषा के लिए उसके पास जाती है और रात भर वहीं रहती है। मोहन के पूछने पर कहती है : 'रानी रूठेंगी अपना सोहाग लेंगी। साल में पेट भर रोटी, चार धोती की गुनहगार हूँ। घर से निकाल देंगे—तो कहीं मेहनत मजदूरी कर लूँगी....'[3] और अन्त में मोहन की मृत्यु हो जाने पर वह मानो विधवा हो जाती है। 'शोक से उन्मत्त ममता ने मस्तक का सिन्दूर पोंछ डाला, हाथ की चूड़ियाँ एक-एक कर तोड़ने लगी'...[4] 'मैं विधवा हो गई...यह सब अब न पहनूँगी...पहनूँगी तो पागल हो जाऊँगी...'[5] और विक्षिप्त-सी होकर अर्थी के पीछे सती होने के लिए दौड़ती है। सार्वजनिक कार्यकर्त्ता उसे रोक लेते हैं। वे उसके दाम्पत्य-जीवन की विसंगति को समझ जाते हैं। श्रीमती मेहरा ममता का हाथ पकड़कर कहती हैं : 'चलो बहन! तुम मेरे साथ चलो....तुम्हें अपने पुराने

---

१. अंचल : 'चढ़ती धूप' : (पृष्ठ २२२)
२. वही : (पृष्ठ २२४)
३. वही : (पृष्ठ २५९)
४. वही : (पृष्ठ ३२१)
५. वही : (पृष्ठ ३२१)

घर जाने की जरूरत नहीं ....'[१] इस प्रकार ममता के पूर्वाकर्षण की ग्रन्थि के कारण उसका दाम्पत्य-जीवन नष्ट हो जाता है।

जहाँ तक पूर्वाकर्षण की इस समस्या का सम्बन्ध है, 'चढ़ती धूप' की ममता और 'गुनाहों का देवता' की सुधा का चरित्र एक ही साँचे में ढला है। ममता की भाँति सुधा भी विवाह के पूर्व से ही चन्दर के प्रति अत्यधिक अनुरक्त है। चन्दर किसी कारणवश अपना घर छोड़कर प्रयाग चला आता है जहाँ उसकी देखरेख सुधा के पिता डा० शुक्ला करते हैं। डा० शुक्ला चन्दर को पुत्र के समान मानते हैं। और चन्दर डा० शुक्ला के परिवार को अपना मानता है। इन सम्बन्धों की पृष्ठभूमि में चन्दर और सुधा के बीच सहज ही स्नेह अंकुरित हो जाता है। जब सुधा के विवाह का प्रश्न उठता है तब ममता की भाँति सुधा भी विवाह से बचना चाहती है। विवाह के प्रस्ताव पर वह कहती है; 'मैं व्याह नहीं करूँगी, कभी नहीं करूँगी, किसी से नहीं करूँगी। तुम सभी लोगों ने अगर मिलकर मुझे मार डालने की ठानी है तो मैं अभी सिर पटककर मर जाऊँगी'[२] और मारे तैश के सचमुच सुधा अपना सिर दीवार पर पटक देती है। किन्तु चन्दर मोहन की ही भाँति आदर्श की झोंक में उसे समझा-बुझा कर विवाह कर लेने के लिए राजी कर लेता है।[३]

पिता के दुःख का विचारकर और चन्दर की आज्ञा का पालन करने के लिए सुधा विवाह तो स्वीकार कर लेती है किन्तु उसके प्राण फिर भी चन्दर के लिए छटपटाते रहते हैं। विवाह संस्कार सम्पन्न हो जाने पर आँचल से आँसू पोंछती हुई सुधा चन्दर के पास आती है और अपने गले से बेले का हार उतारकर तोड़ डालती है। यह देखकर चन्दर कहता है: 'अरे यह क्या कर रही हो सुधा ?'[४] तो बहुत मुश्किल से रुँधे गले से सुधा कहती है; "जो मेरे मन में आयेगा। मुझे किसी का डर नहीं। तुम जो कुछ दंड दे चुके हो, उससे बड़ा दण्ड तो अब भगवान भी नहीं दे सकेंगे।' सुधा ने चन्दर के पाँवों पर फूल रखकर उन्हें चूम लिया और अपनी कलाई में बँधी हुई एक पुड़िया खोलकर उसमें से थोड़ा-सा सिन्दूर उन फूलों पर छिड़ककर चन्दर के पाँवों पर सर रखकर चुपचाप रोती रही।'[५] पतिगृह में वह एक क्षण भी चन्दर को नहीं भूल पाती। वह निरन्तर सोचती है कि विवाह करके उसने अच्छा नहीं किया। वह चन्दर को पत्र में लिखती है: 'आज शादी के छै महीने बाद भी मैं यही कहूँगी चन्दर, तुमने अच्छा नहीं किया। मेरी आत्मा सिर्फ तुम्हारे लिए बनी थी, उसके रेशे में वह तत्व है जो तुम्हारी ही पूजा के लिये थे। तुमने मुझे दूर फेंक दिया, लेकिन इस दूरी के अँधेरे में भी जन्म-जन्मान्तर तक में भटकती हुई

---

१. अंचल · 'चढ़ती धूप' : (पृष्ठ ३२३)
२. धर्मवीर भारती : 'गुनाहों का देवता' : (पृष्ठ १२८)
३. वही : (पृष्ठ १३१)
४. वही : (पृष्ठ १७२)
५. धर्मवीर भारती : 'गुनाहों का देवता' : (पृष्ठ १७२)

सिर्फ तुम्हीं को ढूँढूँगी, इतना याद रखना। और इस बार यदि तुम मिल गये तो जिन्दगी की कोई ताकत, कोई आदर्श, कोई सिद्धान्त, कोई प्रवञ्चना मुझे तुमसे अलग नहीं कर सकेगी।"[1]

विवाह-पूर्व बँधी इस प्रणय-ग्रन्थि के कारण सुधा अपने पति को तन तो अर्पित करती है; किन्तु मन नहीं दे पाती। सुधा के इस अधूरे समर्पण के कारण उसका पति कैलाश भी उससे संतुष्ट नहीं रह पाता। वह चन्दर से कहता : 'वैसे मेरी शारीरिक प्यास को इन्होंने चाहे समर्पण किया, वह भी एक बेमनी से, उससे तन की प्यास भले बुझ जाती हो कपूर, लेकिन मन तो प्यासा ही रहता है. . . . भरसक मैं इन्हें दुखी नहीं होने देता, हाँ अक्सर यह दुखी हो जाती हैं, लेकिन मैं क्या करूँ यह मेरी मजबूरी है, वैसे मैं इन्हें भरसक सुखी रखने का प्रयास करता हूँ—और ये भी मेरी जायज-नाजायज हर इच्छा के सामने झुक जाती हैं, लेकिन इनके दिल में मेरे लिए जगह नहीं है वह जो एक पत्नी के मन में होती है। लेकिन खैर, जिन्दगी चलती जा रही है। अब तो जैसे हो निभाना ही है।'[2]

इस प्रकार इस अधूरे समर्पण के कारण एक ओर सुधा का पति असंतुष्ट रहता है, दूसरी ओर स्वयं सुधा को अत्यधिक मार्मिक वेदना होती है। दाम्पत्य-जीवन की इस विसंगति के कारण वह तिल-तिलकर घुलती जाती है। उसे अपने पति को तन देकर भी मन न दे पाने का बहुत क्षोभ है, परन्तु पति को मन देना उसके सामर्थ्य के बाहर है। इसीलिए मन-ही-मन वह अपने आपको धिक्कारती है, दोषी मानती है। यही कारण है कि मृत्यु-शैया पर लेटी सुधा अपने पति से क्षमा माँगने की इच्छा प्रकट करती है। 'उन्हें इसलिए देखना चाहती हूँ कि मरने के पहले उन्हें क्षमा कर दूँ, उनसे क्षमा माँग लूँ। . . . चन्दर तुम तकलीफ का अन्दाजा नहीं कर सकते।' और अन्त समय वह चन्दर के ही पैरों की धूलि माथे से लगाकर प्राण त्याग देती है।

पूर्वाकर्षण की समस्या के प्रति इस युग के उपन्यासकारों में हमें आदर्शवादी स्वप्नशील दृष्टिकोण के और भी कई पहलू मिलते हैं। 'नया आदमी' में गजानन अपनी पत्नी रेवा की अन्यमनस्कता से बड़ा कष्ट अनुभव करता है। उसके मत में प्रेम के अस्तित्व के बिना विवाह-सम्बन्ध निस्सार है। इसीलिए, वह नाना प्रकार से पत्नी को प्रसन्न करने की और उसके मन को अपनी ओर ढालने की चेष्टा करता है, पर उसे सफलता नहीं मिलती। रेवा सदा खोई-खोई सी, दुखी और उदास रहती है। तभी सहसा गजानन को पत्नी के इस असाधारण-व्यवहार का रहस्य मिल जाता है। जब उसे ज्ञात होता है कि रेवा विवाह के पूर्व ही से नरेन्द्र को प्रेम करती है, और आज भी उन दोनों की आसक्ति में कोई अन्तर नहीं आया है, तो वह समाज के सारे नियम-बंधनों की अवहेलना करके अपनी पत्नी को नरेन्द्र के हाथ सौंपकर संन्यासी हो जाता है। इस आदर्शवादी पलायन के द्वारा लेखक

---

१. धर्मवीर भारती : 'गुनाहों का देवता' : (पृष्ठ २२३-२२४)
२. वही : (पृष्ठ २८५)

ने इस अत्यन्त विकट समस्या का यथार्थ पक्ष निर्बल कर दिया है। नारी में अविश्वास के माध्यम से निवृत्ति का मार्ग ग्रहण करना मध्ययुगीन आदर्श है जिसका आधुनिक वास्तविकता से कोई मेल नहीं बैठाया जा सकता।

आदर्शवादी पलायन का एक और रूप 'त्रिवेणी' में है। सुरभि सुधीर के प्रति अनुरक्त है, पर सुधीर का ध्यान धन-वैभव पर टिका है। फलतः वह सुरभि के प्रेम को कोई महत्व नहीं दे पाता। पर सुरभि का मन सुधीर को नहीं भुला पाता। अपने इस एकांगी प्रेम के प्रति अटल रहने के कारण वह अपने वृद्ध पति के साथ निरपेक्ष और नीरस जीवन व्यतीत करती है, और अन्त में सुधीर की रक्षा में अपने प्राणों का बलिदान कर देती है। इस प्रकार उपन्यासकार फिर समस्या का सीधा सामना करने से कतरा जाता है।

इलाचन्द्र जोशी के 'संन्यासी' की जयन्ती भी इस समस्या का सीधा सामना नहीं कर पाती और कोई समाधान न पाकर आत्महत्या कर लेती है। तेरह वर्ष की उम्र से ही उसकी आसक्ति कैलाश की ओर थी। यदि कैलाश अपनी परिस्थितियों तथा अपने स्वभाव की दुर्बलता के कारण कतरा न जाता तो जयती उससे विवाह करके अपने को धन्य भी मानती, किन्तु उसका विवाह कैलाश के यहाँ न होकर नंदकिशोर से होता है। फिर भी वह साधारण भारतीय नारी की भाँति पति की सच्ची संगिनी बनने का निश्चय कर लेती है। इसीलिए वह अपने गार्हस्थ-जीवन के कर्तव्यों को निभाने के प्रति पूर्ण सचेष्ट है। परन्तु उसके पति नंदकिशोर का स्वभाव इतना अधिक शंकालु है कि विवाह से पूर्व ही जब उसे मालूम पड़ता है कि कैलाश और जयन्ती आपस में परिचित हैं तभी से उसे जयन्ती के चरित्र पर सन्देह होने लगता है। वह सोचता है जयन्ती के जिस गाने को मैंने चोरों की तरह अपने कमरे में छिपकर सुना उसे वह अवश्य ही कैलाश के सामने निस्संकोच भाव से गा चुकी है। तभी तो कैलाश ने कहा था कि वह गाती भी बहुत अच्छा है।'[1] परिस्थितिवश नंदकिशोर के मन का यह सन्देह धीरे-धीरे कम हो जाता है और वह जयन्ती से विवाह कर लेता है।

किन्तु विवाहोपरान्त जब एक दिन अचानक कैलाश उनके घर आकर कुछ दिन के लिए ठहरता है तो नंदकिशोर जयन्ती के सहज-मधुर व्यवहार को भी शंकालु दृष्टि से देखता है। वह सोचता है: 'आज अचानक खास तौर से मेवे ही क्यों निकाले गए?'[2] जयन्ती कैलाश की ओर देखती है तो वह अर्थ निकालता है: 'उसमें संकोच था, भय था, कौतूहल था, पर घृणा नहीं।'[3] जब उसको कैलाश के ही मुँह से यह मालूम पड़ता है कि वह जयंती को बचपन से जानता है और उसने जयंती को अंग्रेजी पढ़ाई है, गाना सिखाया है, तब

---

१. इलाचन्द्र जोशी : 'संन्यासी' : (पृष्ठ ३१२)
२. वही : (पृष्ठ ३९४)
३. वही : (पृष्ठ ३९२)

तो उसके मन का संदेह बल पकड़ लेता है। जयंती के मुँह से सुने हुए गानों को कैलाश के मुँह से सुनने पर तथा कैलाश के गाते समय जयंती के भाव-परिवर्तन को देखकर वह अन्दर ही अन्दर भभक उठता है। इसी सन्देह के बीच वह एक दिन एकान्त में कैलाश और जयन्ती को एक दूसरे के अत्यन्त निकट खड़े होकर कानाफूसी करते देखता है[1] तब उसके भीतर का दबा तूफ़ान अकस्मात् फूट पड़ता है और वह कैलाश को धक्का देकर बाहर निकाल देता है।

यह सच है कि जयंती कैलाश को प्रेम करती थी किन्तु विवाहोपरान्त वह सदैव कर्तव्यनिष्ठ रहने की चेष्टा करती है। वह कहती भी है : 'आपसे विवाह होने पर मैंने अपने को आपके जीवन की सच्ची संगिनी बनाने का निश्चय कर लिया था। इस निश्चय को चरितार्थ करने में मैं कोई बात उठा न रखती और आपके सुख दु:ख की साक्षी बनकर अपने कर्तव्य का पालन सच्चाई से करती।'[2] किन्तु नंदकिशोर की शंकालु प्रवृत्ति के कारण उसे पलभर भी चैन नहीं मिलता। जोशी जी मनोविश्लेषणवादी उपन्यासकार हैं। अत: नन्दकिशोर के इस अहं के मूल में वे उसके ही चरित्र की वर्जनाओं, स्वार्थ प्रवृत्ति और अहंभाव को स्थापित पाते हैं। जयन्ती से विवाह होने के पूर्व स्वयं नंदकिशोर भी शान्ति से प्रेम करता था, उसके साथ रह भी चुका था। इसलिए वह जयन्ती के आचरण में भी अपने मन को छिपी भावनाओं का ही प्रतिबिम्ब देखता है। नन्हीं-नन्हीं-सी नगण्य बातें उसके मन में संदेह को जन्म देती हैं। उसका अहं और पत्नी पर एकाधिपत्य की तीव्र-भावना उसके दाम्पत्य-जीवन में कटुता का समावेश कर देती है। जयन्ती के जीवन में घुटन तीव्र से तीव्रतर होती जाती है। इसी घुटन के बीच जब नंदकिशोर संदेह के कारण कैलाश को अपमानित करके घर से निकाल देता है तो एक ओर जयन्ती के आत्मसम्मान को चोट पहुँचती है तो दूसरी ओर उसे मर्मान्तिक पीड़ा होती है। वह सब ओर से निरुपाय होकर आत्महत्या कर लेती है।

कुछ और उपन्यासकारों ने इस समस्या के चित्रण में आदर्श और यथार्थ के मिश्रण से काम लिया है। प्रभाव की दृष्टि से ये उपन्यास उतने सफल नहीं हैं पर पाठक के मन में समस्या का महत्व अवश्य बैठ जाता है। 'संस्मरण' की चित्रा रंजन की पत्नी होने पर भी अपने पूर्व-सखा केशव के प्रति अनुरक्त है। पुरुष-सुलभ प्रकृति के कारण रंजन चित्रा के चरित्र पर संदेह करता है। प्रेम और संदेह के इस दुहरे ताप में चित्रा तिल-तिल कर मिट जाती है। यही दशा 'प्रेम समाधि' की मिस क्लैबर्ट की होती है जो रौबर्ट से विवाह के बाद भी अपने प्रेमी महेन्द्र को नहीं भूल पाती। 'शोले' में शोभी और बरन के प्रेम के बीच जब विवाह की अभेद्य दीवार खड़ी हो जाती है तो दोनों का ही जीवन त्रास और अतृप्ति की कहानी बन जाता है। शोभी विक्षिप्तावस्था को प्राप्त होती है और बरन केन्द्र-च्युत होकर अपने जीवन को बिखेरकर नष्ट कर देता है।

---

१. इलाचन्द्र जोशी 'संन्यासी' : (पृष्ठ ४०४)
२. वही : (पृष्ठ ४१३)

इस प्रकार हम देखते हैं कि उपन्यासकारों ने यद्यपि नारी के पूर्वाकर्षण की समस्या को जानने-पहचानने का प्रयत्न किया है, पर उसे मनमाने ढंग से प्रस्तुत कर समस्या का सामना करने से और उसका समाधान खोजने से बचना चाहा है। इन उपन्यासों में शशि के अतिरिक्त और एक भी ऐसी नारी चित्रित नहीं की गई है जो अपने प्रेम के प्रति सच्ची होने के कारण समाज की लांछना-प्रताड़ना सहने को तत्पर हो। शिक्षित एवं प्रकट रूप से समर्थ नारी का भी सामाजिक रूढ़ियों के प्रति यह साहसहीन समर्पण मन में करुणा का संचार करता है, पर समस्या का कोई समाधान नहीं देता। हमें इस प्रकार के चित्रण से इस स्वाभाविक प्रश्न का कोई संतोषजनक उत्तर नहीं मिलता कि प्रेमानुरक्त नारी अन्यत्र विवाह के प्रति विद्रोह क्यों नहीं करती।

इस प्रकार विवाह से पूर्व किशोरावस्था में बँधी प्रेम-ग्रंथि के कारण नारी को आगे चलकर जो कष्ट भोगना पड़ता है, वह प्रेम-विवाह को मान्यता प्रदान करने के लिए सबसे बड़ा तर्क है। प्रेम के सहज आकर्षण और विवाह-बंधन के नियमों में जब-जब टकराहट होती है, नारी का मन और जीवन दोनों चकनाचूर हो जाते है।

प्रेमचन्दोत्तर काल के उपन्यासकारों ने पत्नी के पूर्वाकर्षण की भाँति पति के पूर्वाकर्षण की समस्या का चित्रण नहीं किया है। समाज में पति के पूर्वाकर्षण की समस्या उतनी प्रबल थी भी नहीं। इसके कई कारण हैं। एक तो पुरुष सदा से ही नारी की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्र रहा है, इसलिए वह मनोनुकूल नारी से विवाह करने की क्षमता रखता है। दूसरे, यदि किसी कारण यह संभव न भी हो, तो वह अविवाहित रहकर जीवन व्यतीत कर सकता है। विवाह की अनिवार्यता उसके लिए लागू नहीं होती। इसके अतिरिक्त यह प्रकृतिगत सत्य है कि पुरुष के प्रेम में नारी के प्रेम जैसी अनन्यता नहीं होती। जीवन और साहित्य दोनों में यह देखा जाता है कि पूर्वाकर्षण में बँधी नारी तो अपने ऊपर आरोपित विवाह के उपरान्त उत्साहहीन और निराश दिन काटकर मृत्यु की घड़ियाँ गिनती रहती है, पर पुरुष अन्यत्र विवाह करके भी सुख से जीवन बिता लेता है, और उसका पूर्व-प्रेम धीरे-धीरे बुझ जाता है। इसलिए पुरुष के पूर्वाकर्षण की समस्या तभी उत्पन्न होती है जब किसी कारण से दम्पति के सुखी जीवन में पति की पूर्व-प्रेयसी का पुनः प्रवेश होता है। इस असाधारण स्थिति में पति का ध्यान दाम्पत्य-जीवन के कर्तव्यों से हटकर प्रेयसी की ओर उन्मुख हो जाता है और वह धीरे-धीरे अपनी पत्नी की उपेक्षा करने लगता है। यह उपेक्षा किस प्रकार प्रारम्भ होती है, कैसे पत्नी के मन में पति के चरित्र के प्रति संदेह उत्पन्न होता है तथा कैसे उनका दाम्पत्य-जीवन नीरस और कटु होता जाता है इसका मार्मिक और मनोवैज्ञानिक चित्रण हमें केवल एक उपन्यास इलाचन्द्र जोशी के 'पर्दे की रानी' में मिलता है जहाँ इन्द्रमोहन निरंजना के प्रति अपने पूर्वाकर्षण के कारण अपने दाम्पत्य-जीवन को कटु से कटुतर बनाता हुआ अपनी पत्नी शीला की हत्या तक कर डालता है।

पति का पूर्वाकर्षण

किन्तु मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के सिद्धान्तों का अनुसरण करने की झोंक में लेखक ने शीला के चरित्र को जो स्वरूप दिया है वह साधारण भारतीय नारी जीवन की यथार्थता से पूरी तरह मेल नहीं खाता। शीला निरंजना के प्रति अपने पति का प्रेमाग्रह देखकर भी निरंजना से कोई द्वेष या ईर्ष्या का अनुभव नहीं करती[1] उल्टे उसकी प्रसन्नता के लिए बड़े से बड़ा त्याग करने को तैयार हो जाती है[2] यहाँ तक कि पति द्वारा दिया गया विष भी वह सहर्ष स्वीकार कर लेती है।

नारी का विवाहेतर आकर्षण

विवाहेतर आकर्षण की समस्या भी पूर्वाकर्षण की भाँति ही विषम है। प्रेमचन्द-युग के उपन्यासों में अधिकतर पुरुष के ही विवाहेतर आकर्षण का चित्रण मिलता है। किन्तु प्रेमचन्दोत्तर काल में नारी के व्यक्तित्व के विकास के फलस्वरूप इस युग के उपन्यासकारों ने पति-पत्नी दोनों के मन को भटकते हुए बताया है। विवाहोपरान्त पति-पत्नी के इस भटकाव से दाम्पत्य-जीवन में अशान्ति और कटुता का समावेश हो जाता है। नारी के विवाहेतर आकर्षण की समस्या का संकेत सर्वप्रथम जैनेन्द्र ने 'सुनीता' (१९३६) में किया था। किन्तु आदर्शवादी होने के कारण जैनेन्द्र ने इसको घर-बाहर की समस्या के रूप में रखा और नारी के पर-पुरुष-आकर्षण को पति-परायणता का कवच पहनाकर यथार्थ के आघात से बचा लिया। इसीलिए हरिप्रसन्न के प्रति सुनीता का आकर्षण दाम्पत्य-जीवन में व्याघात नहीं बनता। 'सुनीता' के अतिरिक्त भगवतीप्रसाद वाजपेयी के 'पिपासा' (१९३७), सर्वदानंद वर्मा के 'प्रश्न' (१९३८) और 'नरमेध' (१९४१) और यशपाल के 'देशद्रोही' (१९४३) में भी नारी के विवाहेतर आकर्षण की समस्या उठाई गई है।

'सुनीता' का सम्बन्ध रवीन्द्रनाथ टैगोर लिखित 'घरे वाहिरे' से जोड़ा गया है। दोनों की समस्या एक है जिसको स्वयं जैनेन्द्र ने भी स्वीकार किया है।[3] फिर भी दोनों के स्वरूप

---

१. 'पर मैं प्रकृति के किस विचित्र नियम से प्रेरित होकर निरंजना के प्रति एक मार्मिक मोह का अनुभव करती थी, मैं नहीं जानती।'
इलाचन्द्र जोशी : 'पर्दे की रानी' (पृष्ठ १५८)

२. 'कभी कभी मुझे ऐसा लगता था कि निरंजना की केवल एक अदनी-सी इच्छा पर म आन्तरिक मन से अपना सब कुछ न्यौछावर कर सकती हूँ—अपना सारा वैभव, अपनी सम्पूर्ण सामाजिक सत्ता, अपना धर्म, यहाँ तक कि स्वयं अपने पति को उसके अर्पण कर सकती हूँ।'
वही : (पृष्ठ १५९)

३. 'बेशक जो 'घर बाहर' में है वही सुनीता में भी है. . .वही समस्या है। अनजाने ऐसा नहीं हो गया है, जान बूझकर ऐसा हुआ है। घर-बाहर की समस्या रवि बाबू की

मे वहुत अन्तर है जिसकी ओर जैनेन्द्र ने सकेत भी किया है। सुनीता की पति-परायणता ही उसे हरिप्रसन्न के प्रति और भी स्नेहशील होने का वल देती है। वह प्रारम्भ से ही अपने कर्तव्य के प्रति जागरूक है और कही भी गृहिणी धर्म से च्युत नही होती। ऐसा चित्रण रवीन्द्र के 'घरे वाहिरे' में नही हुआ है।

सुनीता के पति श्रीकान्त के मित्र हरिप्रसन्न के घर मे आने के मुख्यत: दो कारण है। पहला यह कि श्रीकान्त और सुनीता का दाम्पत्य-जीवन एक-सा होकर नीरस हो चला था। वहाँ एक अवसाद आ वैठा था और वे दोनों ही यह सोचते थे कि यदि इस घर को वाहर की दुनिया का सम्पर्क मिले तो सम्भवत: नए रस की सृष्टि हो सके। दूसरा कारण यह था कि हरिप्रसन्न श्रीकान्त का घनिष्ठ मित्र होने के कारण श्रीकान्त चाहता था—कि वह अपने मिथ्या अहं भाव को तोड़कर आत्म-दमन का मार्ग त्यागकर स्वाभाविक जीवन विताने की ओर प्रवृत्त हो। पहला उद्देश्य तो हरिप्रसन्न के घर में आने से ही सिद्ध हो जाता है किन्तु दूसरे उद्देश्य साधन के लिए श्रीकान्त अपनी पत्नी सुनीता को निमित्त वनाता है।

हरिप्रसन्न के जीवन को उपयोगी वनाने की ओर प्रवृत्त होने में सुनीता को तीन दिशाओं मे प्रेरणा मिलती है। (१) नर-नारी का सहज आकर्षण (२) आतिथ्य-धर्म, (३) पति-परायणता। इन तीन तत्वो के समावेश से सुनीता का चरित्र गूढ़, जटिल और रहस्यात्मक वन गया है और प्राचीन सस्कार और नवीन वैयक्तिक प्रवृत्ति के मिश्रण ने चरित्रों में अस्पष्टता ला दी है।

हरिप्रसन्न का व्यक्तित्व अहंभाव से ग्रस्त है। वह नारी जाति से दूर रहने में विश्वास करता है। ऐसे असाधारण, अव्यावहारिक पुरुष के अहं को खडित करने मे सलग्न होना नारी का अव्यक्त आकर्षण ही कहा जायेगा। किन्तु पति-परायणा और एकान्त समर्पिता सुनीता का व्यवहार इतना संयत है कि उसके अचेतन मन का यह भाव प्रकट नही होता। सम्भवत: स्वयं सुनीता को अपने मन की इस गाँठ का पता नहीं है। उसके मन का द्वन्द्व इस प्रवृत्ति की कही-कही झलक मात्र देता है। वह मीरा के पति-विमुख जीवन की संगति पर विचार करती हुई अपने मन से प्रश्न करती है: "अरे क्यों? अरे क्यों? पति ही तो परम श्रेय है। उन्हें छोड़, उनसे विमुख और किसी ओर ही उन्मुख होने पर मीरा लांछिता क्यों नही है?' वह अपने से झगड़कर चाहती है;—मीरा को खंडिता और लांछिता

समस्या किन्तु तभी तो बनी, जब कि वह जगत की समस्या है। उसे उस रूप में रवि वावू से पहले भी लिया गया, उन्होंने भी लिया और पीछे भी लोग लेंगे। जग की केन्द्रीय समस्या को व्यक्ति हृदय की परिभाषा में रखकर जव भी देखा और सुलझाया जायेगा, तव उसका वही रूप रहेगा।'

जैनेन्द्रकुमार : 'आलोचक के प्रति' : 'हंस' (वर्ष ६, अंक ११, अगस्त १९३६, पृष्ठ ९२)

ठहरा दे।"[१] पति-परायणा सुनीता मीरा की विवाहेतर रति को किसी प्रकार उचित नहीं ठहरा पाती, चाहे उसका आधार प्रभु-भक्ति ही क्यों न हो!

सुनीता में गृहिणी-धर्म निवाहने की स्वाभाविक क्षमता है। जब हरिप्रसन्न उसे बार-बार 'भाभी' कहकर संबोधन करता है तो वह उस संबोधन को सहज रूप में स्वीकार करती है। इस सम्बन्ध के माध्यम से वह अपने को हरिप्रसन्न से बड़ा मानकर उस पर अपना अधिकार और उसके भविष्य के प्रति अपना उत्तरदायित्व समझती है। श्रीकान्त की भाँति वह भी यह मानती है कि हरिप्रसन्न को सही रास्ते पर लाना, उसके जीवन को स्वाभाविक बनाना उसका कर्तव्य है। इसीलिए वह उससे अपनी छोटी बहिन सत्या को पढ़ाने का बार-बार हठ करती है। सत्या के साथ हरिप्रसन्न का विवाह कर देने की भी कामना उसकी है। हरिप्रसन्न जब उससे सौ रुपये की माँग करता है तो वह कारण जाने बिना देने से इन्कार करती है। पर इस इन्कार में औपचारिकता नहीं, आत्मीयता है। वह कहती हैं: 'हाँ भाभी हूँ, इसी से इन्कार करती हूँ। भिखारी को नहीं तो कब मुझसे इन्कार किया जा सका है![२] उसके दृढ़ चरित्र को देखकर स्वयं हरिप्रसन्न भी चकित है।

यही नहीं, सुनीता नारी के शाश्वत् कर्तव्य की व्याख्या करती हुई हरिप्रसन्न से कहती है: 'जब तक वह (पुरुष) सामने भागता है, हम पीछे-पीछे हैं। जब वह पीठ की ओर भागना चाहे, तब हम सामने हो आती हैं। हमसे पार होकर वह नहीं जा सकेगा। स्त्री यह न सहेगी कि पुरुष उसके आगे मार्ग स्पष्ट न करता जाय। पुरुष इस दायित्व से भागना चाहेगा तो पीछे स्त्री में गिरफ्तार होकर फिर उसे आगे-आगे चलना होगा। पुरुषों के इस अधिकार के आगे स्त्री कृतज्ञ है, किन्तु स्त्री का भी यही अधिकार है कि पुरुष को पदच्युत न होने दे।'[३]

इन दोनों से भी बड़ी सुनीता के चरित्र की विशेषता यह है कि वह पति-परायण है। अपने मित्र हरिप्रसन्न की खोज में श्रीकान्त की विकलता से सुनीता उनकी मैत्री की घनिष्ठता का अनुमान कर लेती है। यही कारण है कि जब हरिप्रसन्न अचानक घर में आ जाता है तो सुनीता भी उसे इस प्रकार ग्रहण करती है मानों हरिप्रसन्न वर्षों का परिचित हो। पति के अखण्ड विश्वास और सतत् प्रेरणा के कारण हरिप्रसन्न के साथ उसका व्यवहार सयत होते हुए भी उन्मुक्त और निर्भय है। किन्तु जब श्रीकान्त सुनीता और हरिप्रसन्न को घर में अकेला छोड़कर लाहौर जाने लगता है और सुनीता के ऊपर हरिप्रसन्न को

---

१. जैनेन्द्र : 'सुनीता' : (पृष्ठ ५८)
   वही : (पृष्ठ १०२)
२. 'यह नारी अपनी बात कहती हुई और औरों की बात अनसुनी करती हुई चली जायगी, ऐसी यह कौन है? सच कौन है?'
   वही : (पृष्ठ १०४)
३. जैनेन्द्र : 'सुनीता' (पृष्ठ ५८)

घर में ठीक प्रकार रोक रखने का उत्तरदायित्व छोड़ता है[१] तो सुनीता विचित्र धर्म-संकट में पड़ जाती है। पर पुरुष के साथ घर में अकेले रहने की कल्पना से ही जैसे उसका जी काँप उठता है। पति उस पर इतना बड़ा उत्तरदायित्व सौंप रहे हैं, यह देखकर उसका मन भर उठता है, वह पति के प्रेम में अपने आपको डुबो देना चाहती है। अकेले रहने पर कठिन स्थिति की कल्पना करके वह अपने दाम्पत्य प्रेम की गाँठ को और अधिक दृढ़ कर लेना चाहती है, जिससे उसके पैर लड़खड़ाने न लगे। वह दाम्पत्य प्रेम को इन पार्थिव सामीप्य से ऊँचा मानती है। अपने दोनों हाथ पसारकर अपने सम्पूर्ण मन से वह पति से भिक्षा माँगती है कि उसे चाहे जैसी भयंकर परिस्थिति से गुजरना पड़े, वे उस पर विश्वास सदैव रखें, उसे न टूटने दें। श्रीकान्त के यह कहने पर भी कि 'मैं तो तुम्हारा हूँ।' वह संतुष्ट नहीं होती, वह यह सुनना चाहती है कि पति कहे कि 'तुम मेरी हो।'[२] जब श्रीकान्त ये शब्द कह देता है तो उसे लगता है जैसे उसके पति-धर्म की शृंखला अटूट हो गई है, वह संतुष्ट हो जाती है।

इस अनन्य पति-प्रेम के बल पर, पति का विश्वास पाकर ही वह हरिप्रसन्न के साथ अकेली रहना स्वीकार करती है। श्रीकान्त के चले जाने के बाद जब हरिप्रसन्न जाना चाहता है तो वह उसे हर प्रकार से रोकने की चेष्टा करती है। वह उससे तर्क करती है, अपनत्व देती है, किन्तु ऐसा लगता है कि इन सब कार्यों के मूल में पति की आज्ञा ही उसे यंत्रवत् घुमा रही है। श्रीकान्त की आज्ञा का ध्यान उसे बराबर रहता है। श्रीकान्त हरिप्रसन्न को सुमार्ग पर लाने के लिए इतना व्यग्र है कि वह उसके लिए स्वयं भी टूटने को प्रस्तुत है। वह एक ओर हरिप्रसन्न से कहता है: 'हरि घबड़ाना नहीं, हम टूटें तो टूटें पर तुम मत झुकना, निर्मम रहना, बढ़ते रहना, तथा मेरे पीछे अपनी भाभी को जरा भी कम अपनी न समझना'[३] तो दूसरी ओर वह लाहौर से सुनीता को पत्र में लिखता है: 'तुमसे कहता हूँ कि उसकी किसी बात पर बिगड़ना मत। सुनीता, तुम मुझे जानती हो कि मैं तुम्हें ग़लत नहीं समझ सकता। तब तुमसे मैं चाहता हूँ इन कुछ दिनों के लिए मेरे ख्याल को अपने से तुम बिलकुल दूर कर देना। सच पूछो तो इसी के लिए मैं यह अतिरिक्त दिन बिता रहा हूँ।'[४]

श्रीकान्त के इस पत्र में स्पष्ट संकेत है कि वह हरिप्रसन्न को हर प्रकार से संतुष्ट करे, अपनी इच्छा को हरिप्रसन्न की इच्छा के भरोसे छोड़ दे। श्रीकान्त बार-बार यह भी आदेश देता रहा है कि हरिप्रसन्न की वैराग्य वृत्ति को यदि सुनीता किसी भी प्रकार कम

---

१. 'अब यह तुम्हारे ऊपर रहा कि हरिप्रसन्न यहीं रहे और ठीक रहे।'
जैनेन्द्र : 'सुनीता' : (पृष्ठ १२१)
२. वही : (पृष्ठ १२२-१२३)
३. वही : (पृष्ठ १२९)
४. वही : (पृष्ठ १३५)

कर सकें तो अत्यन्त शुभ होगा। अतः श्रीकान्त के इस संकेत से सुनीता की नैतिक मान्यताओं को धक्का लगता है, उसके मन में द्वन्द्व होने लगता है। उसे बुरा भी लगता है कि पति ही अपनी पत्नी को कैसी बातें लिख रहे हैं : 'मुझे दूर ही मानो, मुझे भूल जाओ। पति के प्रतिनिधि इस पत्र को क्या सुनीता स्वीकार करके उससे दूर ही चली जाय ? उसे भूल ही जाय ?'[1]

इसीलिए जब एक दिन हरिप्रसन्न सुनीता से क्रांतिकारी सदस्यों से मिलने के लिए रात में साथ चलने के लिए कहता है तो सुनीता के मन में द्विधा होने लगती है। वह घर की चहारदीवारी में, पति की छत्रछाया के नीचे रहने की अभ्यस्त थी। गृहिणी-सुलभ मर्यादा और परम्परागत संस्कारों के प्रभाव के कारण हरिप्रसन्न के साथ जाने के लिए उसका मन गवाही नहीं देता। किन्तु पति का प्रबल आदेश उसे असमंजस में डाल देता है। इस विषम स्थिति में वह मन-ही-मन पति से प्रश्न करती है; 'मुझे बताओ, इस तुम्हारी चिट्ठी का क्या यही आशय मैं पाऊँ कि मुझे स्वयं कुछ नहीं कहना है, नियति के बहाव में बहते ही चलना है, धर्म-अधर्म बिसार देना है।'[2] सम्भवतः सुनीता अपने जीवन में इतनी किंकर्तव्यविमूढ़ कभी नहीं हुई थी। वह इन क्षणों में अपने पति का बारबार स्मरण करती है। वह अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व को पति के चरणों में अर्पित कर[3] अपने प्रेम और विश्वास द्वारा उस ऊँचाई तक पहुँचना चाहती है जहाँ वह अपने पति से अभिन्नता का अनुभव कर सके। इस अटूट प्रेम और विश्वास के कारण लोक-दृष्टि में अनैतिक लगनेवाले उसके कार्य भी नैतिकता की सीमा में आ जाते हैं। फिर भी परम्परागत मान्यताओं के विरुद्ध चलने में भारतीय नारी का मन सहज ही प्रस्तुत नहीं होता। सुनीता का मन पग-पग पर परिस्थिति से निकल भागना चाहता है। वह कहती है : 'सोच देखिए, हरि बाबू। कहेंगे, तो चलूंगी। क्यों न चलूंगी ? आपका कहा टालूंगी नहीं। लेकिन, क्या यह जरूरी है ?'[4] सुनीता इसी मानसिक द्वन्द्व के कारण पहले तो जाने से इन्कार कर देती है किन्तु जब हरिप्रसन्न घर से चले जाने का भाव दिखाता है तो वह विवश हो जाती है। पति की आज्ञा का स्मरण कर वह उससे पति के लौट आने तक रुकने की विनती करती है। फिर वह यंत्रवत्-सी कहती है : 'आप क्यों जाते हैं ? आप मत जावें। मैं चलूंगी साथ।'[5] यह कहने के बाद ही जैसे घर की दीवारें उसे हाथ पसारकर बाँध लेना चाहती हैं। वह करुण-भाव

---

१. जैनेन्द्र : 'सुनीता' : (पृष्ठ १४४)
२. वही : (पृष्ठ १४४)
३. 'मानो इस समय श्रीकान्त के प्रति वह अपने को सर्वशः बहा देना चाहती है कि बहती-बहती उनके चरणों को पखारने वह उनमें पहुँच जाय।'
वही : (पृष्ठ १४४)
४. जैनेन्द्र : 'सुनीता' : (पृष्ठ १५२)
५. वही : (पृष्ठ १५५)

से दया की भीख माँगती-सी कहती है: लेकिन सवेरे मुझे वापिस आ जाना चाहिए।[१]

हरिप्रसन्न को वचन देने के पश्चात् वह पति के पैरों से लिपट कर रो लेना चाहती है। किन्तु पति वहाँ उपस्थित नहीं हैं। अतः वह पति के चित्र से ही पुनः अटूट विश्वास की भिक्षा माँगती है।

सुनीता का मन रात में पर-पुरुष के साथ बाहर जाने के लिए अनुमति नहीं देता इसी कारण वह करुण हो उठती है और उसकी यह अवस्था अन्त तक बनी रहती है। अपने आचरण से जैसे उसने अपना मन बरबस खींचकर अलग कर लिया है। वह हरिप्रसन्न की कामना और पति के आदेश का पालन करने के लिए निष्प्राण व्यक्ति की भाँति जाती है। अपने प्रति हरिप्रसन्न की चरम आसक्ति के क्षणों में तो वह और भी करुण बनकर सामने आती है। आसक्ति के प्रति उसका समर्पण निरपेक्ष अहिंसक समर्पण है। जैनेन्द्र ने इस स्थल पर कलाकार के कौशल का अदभुत परिचय दिया है।

हरिप्रसन्न के क्षणिक आवेग के प्रबल वेग के आगे सुनीता का अकुण्ठित समर्पण जितना अनिवार्य है, उतना उदात्त भी है। वह हरिप्रसन्न को गिरने से रोक देता है, और उसे जैसे हठात् नैतिकता के एक नए स्तर पर ले आता है। सुनीता में हमें पहली बार नारी के व्यक्तित्व का ऐसा तेजोमय रूप मिलता है जो तन से विवश होने पर भी तनिक भी डिगता नहीं; वरन् अपनी शक्ति से हरिप्रसन्न को वासना-विमुख करने में सफल होता है। सुनीता का समर्पण इसीलिए सत्याग्रह और अहिंसक प्रतिकार का रूप ले उठता है जिसके आगे हरिप्रसन्न किंकर्तव्यविमूढ़ होकर भाग खड़ा होता है।

'सुनीता' उपन्यास की यह परिणति अपने काल में अनंत चर्चा का विषय रही है, पर इसमें सदेह नहीं कि इस आदर्शवादी चरित्र के माध्यम से जैनेन्द्र ने नारी के नैतिक बल और आस्थामय व्यक्तित्व का जो चित्र उपस्थित किया है वह अद्‌भुत है। पति के सुख के लिए सर्वस्व त्यागने की शक्ति रखने वाली सुनीता हरिप्रसन्न के चले जाने पर चिन्तित होती है, यह सोचकर कि उसका जाना श्रीकान्त को प्रिय नहीं लगेगा, और इसी-लिए वह श्रीकान्त को आते ही अपनी सफाई देने की चेष्टा करती है[२] पर श्रीकान्त आदर्श प्रेमी और पति की भाँति एक वाक्य से उसकी सारी चिन्ता दूर कर देता है: 'वट अबर क्वीन कैन डू नो राँग।'[३]

इस प्रकार हरिप्रसन्न का प्रवेश और उनके प्रति सुनीता का यह उन्मुक्त व्यवहार श्रीकान्त और सुनीता के दाम्पत्य-जीवन में कटुता या अशान्ति का समावेश नहीं, अपितु

---

१. जैनेन्द्र : सुनीता (पृष्ठ १५५)

२. 'मैं तुमसे सच कहती हूँ कि मैंने उनसे यही कहा कि वे जावें नहीं, रुकें। सच कहती हूँ मैंने अपने को नहीं बचाया। जाने वह कहाँ गये हैं। मुझे डर लगता है..'
जैनेन्द्र 'सुनीता' (पृष्ठ १८७)

३. वही : (पृष्ठ १८७)

नव-रस का संचार करता है। अन्य उपन्यासों में श्रीकान्त की भाँति ऐसा कोई आदर्शवादी पति नहीं मिलता—जो बाहरी पुरुष के कुंठित व्यक्तित्व को सही मार्ग पर लाने के लिए अपनी पत्नी को माध्यम बनाता हो और उसको उसके प्रति उन्मुक्त और निर्भय आचरण करने का आदेश देता हो। वास्तव में श्रीकान्त के रुख के कारण 'सुनीता' की मुख्य समस्या का रूप अत्यंत विशिष्ट और असाधारण हो गया है। अन्य उपन्यासकारों ने दाम्पत्य-जीवन में नारी के पर-पुरुष के प्रति आकर्षण की समस्या को सीधे और यथार्थ ढंग पर ही चित्रित किया है जो पति के रोष, विरोध और असंतोष का कारण बनता है, और वैवाहिक जीवन को बिखेर देता है। भगवतीप्रसाद वाजपेयी ने 'पिपासा' में, सर्वदानंद वर्मा ने 'नरमेध' में, यशपाल ने 'दादा कामरेड' और 'देश द्रोही' में किसी-न-किसी प्रसंगवश ऐसे पति का चित्रण किया है जो परपुरुष के प्रति पत्नी के आकर्षण को सहन नहीं कर पाता और अन्त में उसका दाम्पत्य-जीवन छिन्न-भिन्न हो जाता है या उसमें कटुता का समावेश हो जाता है।

'पिपासा' में लेखक ने शुरू में शकुन्तला को अपने दाम्पत्य-जीवन से सुखी और संतुष्ट दिखाया है। किन्तु जब उसके पति नरेन्द्र के मित्र कवि कमलनयन का उसके घर में आगमन होता है तो कमलनयन के अत्यधिक संवेदनशील मन और अभावमय जीवन को देखकर शकुन्तला के मन में दया का संचार होता है। धीरे-धीरे यही दया की भावना प्रेम में परिणत हो जाती है। अपने सहज संस्कारों के कारण प्रारम्भ में शकुन्तला भी नारी के विवाहेतर आकर्षण को पाप समझती है इसलिए वह अपने इस भाव के प्रति सतर्क रहने की चेष्टा करती है। परन्तु एक दिन पति की अनुपस्थिति में क्षणिक आवेग के कारण वह कमलनयन के प्रति समर्पण कर बैठती है। तभी अचानक नरेन्द्र घर आता है और उनको इस प्रकार आलिंगनबद्ध देखकर चुपचाप लौट जाता है। शकुन्तला को यह ज्ञात नहीं है कि उसके पति को इस घटना का पता है इसलिए वह आवेश का क्षण बीत जाने पर फिर प्रकृतिस्थ हो जाती है और कमलनयन के स्पर्श की बात को भूल जाने का प्रयत्न करती है। इस प्रकार पति-पत्नी के बीच में दुराव और अविश्वास की दीवार खड़ी हो जाती है। यहाँ तक कि नरेन्द्र एक दिन शकुन्तला से स्पष्ट शब्दों में पूछता है, 'उसके हृदय में कमल के लिए अधिक आदर है या मेरे लिए।' शकुन्तला पति के इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं दे पाती, उल्टे पति के प्रकट संदेह एवं अविश्वास से उसे मार्मिक पीड़ा होती है। अन्त में इसी असह्य वेदना से बीमार होकर वह मृत्यु की शरण लेती है।

इस प्रकार शकुन्तला जैसी सदाशया पत्नी के जीवन की विडम्बना का चित्रण कर लेखक हमारे समक्ष एक अत्यंत गंभीर प्रश्न खड़ा कर देता है। क्या विवाहिता नारी का अन्य पुरुष के प्रति प्रेम पाप है ? क्या पत्नी का यही धर्म है कि वह तन-मन से सदैव पति पर ही न्यौछावर होती रहे ? उसके मन में किसी अन्य पुरुष के प्रति क्षण भर का भी कोई कोमल भाव न आये ?

आगे चलकर अपने पात्रों के मनोभावों द्वारा वाजपेयी ने इस प्रश्न पर जो प्रकाश

डाला है उससे वे इसी निष्कर्ष पर पहुँचते दीखते हैं कि विवाह भी नर-नारी के मन पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगा सकता। यही कारण है कि कमलनयन एक ओर शकुन्तला की मृत्यु के लिए विवाह-प्रथा को दोषी ठहराता है जो नारी को पति की जड़ सम्पत्ति का रूप देना चाहता है और दूसरी ओर पुरुष की उस स्वार्थ भावना की निंदा करता है जो नारी के व्यक्तित्व पर सदा एकाधिपत्य चाहती है। स्वयं शकुन्तला भी अपने क्षणिक आवेग को अपना पतन नहीं मानती। वह कहती है; 'लेकिन क्या मैं तुमसे कहूँ कि उसे पतन नहीं मानती, कभी मान ही नहीं सकती? वह तो नारी के तृषित मन का एक क्षणिक आमोद था। उसके बाद मैं फिर ज्यों-की-त्यों हो गई थी और तब से आज तक पूर्ववत् हूँ।'[1] मरने के पहले शकुन्तला कमलनयन के नाम जो पत्र लिखकर छोड़ जाती है, उससे भी यही विदित होता है कि मरते दम तक वह नारी अपने क्षणिक आवेग को पाप नहीं मानती, वह पुरुष के ही समान नारी के भी स्वतन्त्र व्यक्तित्व की माँग करती है। वह लिखती है: 'मैं जीवन के मृदुल झकोरों में यदि कभी किसी कवि की अन्तरात्मा के साथ खेलती हूँ तो तुम उसमें कलुष खोजने बैठते हो। नारी की स्वतन्त्र सत्ता के साथ तुम्हारा यह कैसा न्याय है? क्या संसार में कोई ऐसा भी पुरुष हो सकता है जिसने किसी एक स्त्री को छोड़कर दूसरी स्त्री की ओर कभी आँख उठाकर न देखा हो।'

इस प्रकार यद्यपि वाजपेयी जी ने विवाह के बाद भी प्रेम-स्वातन्त्र्य का समर्थन किया है तथापि यह प्रश्न बच रहता है कि पति या पत्नी किसी का भी विवाहेतर आकर्षण समाज में किस प्रकार मान्य हो सकता है? ऐसे आकर्षण के फलस्वरूप दाम्पत्य-जीवन में कटुता का समावेश तो अनिवार्य ही है। हाँ, यदि पति-पत्नी सच्चे मन से एक दूसरे के प्रति समर्पित हों, तो क्षणिक आवेश में की गई भूल को कदाचित् वे क्षमा कर सकें। फिर भी उसका समर्थन तो किसी भी नैतिक सिद्धान्त पर नहीं किया जा सकता।

सर्वदानन्द वर्मा के 'नरमेध' में जब देवेन्द्र की पत्नी उर्मिला अनूप को प्रेम करती है तो दाम्पत्य-जीवन में इसी विश्वास और प्रेम की कमी के कारण उनका सम्बन्ध टूट जाता है। देवेन्द्र उर्मिला को स्वयं स्वतन्त्र कर देता है। वह मानता है कि पत्नी तभी तक पति की निजी सम्पत्ति की भाँति है जब तक वह आर्थिक रूप से उस पर अवलम्बित है। स्वावलम्बिनी नारी कभी पति का अनुशासन स्वीकार नहीं करेगी। इस दृष्टिकोण के कारण देवेन्द्र यही चाहता है कि उसकी पत्नी उससे अलग रहकर स्वतन्त्र रूप से जीवन यापन करे।

यशपाल के उपन्यासों में भी इस समस्या के कई पहलू मिलते हैं। उनके 'दादा कामरेड' (१९४१) में एक दिन रात में अचानक क्रांतिकारी हरीश पुलिस से अपने प्राणों की रक्षा के लिए यशोदा के घर में प्रवेश करता है, और उससे शरण माँगता है। यशोदा पति को जगाकर उनकी अनुमति लेना चाहती है, पर हरीश मना कर देता है। यशोदा नारी-

---

१. भगवतीप्रसाद वाजपेयी : 'पिपासा' (पृष्ठ १९४)

सुलभ सहानुभति के कारण उसे रात भर के लिए टिक जाने देती है। बाद में जब उसके पति अमरनाथ को पता चलता है कि उसकी पत्नी हरीश से पूर्व परिचिता होने पर भी उससे इस बात को छिपाती रही है, तो वह उसके चरित्र पर संदेह करने लगता है। यदि यशोदा पहले ही हरीश के सम्बन्ध में सब बातें अपने पति को बता देती तो बहुत सम्भव था कि अमरनाथ के मन में उसके चरित्र के प्रति कोई संदेह न होता। किन्तु हरीश के क्रान्तिकारी होने और उसके पकड़े जाने के भय के कारण यशोदा पति से यह सत्य छिपा लेती है। इसी गोपनीयता के कारण पति का संदेह उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। वह मन की अशान्ति से उद्विग्न रहने लगता है और दोनों के सम्बन्धों में स्पष्ट अन्तर आ जाता है। अपने चरित्र पर पति के संदेह के कारण यदि यशोदा चुप और उदास रहती है, तो पति सोचते हैं, आठ बरस तक मैंने उसका विश्वास किया। आखिर हरीश से क्या उसका एक ही दिन का परिचय है? तब फिर वह उसकी याद में इतनी उदास क्यों रहती है। मैं आठ वर्ष में कुछ न हुआ और वह एक ही दिन में इतना हो गया? अपनी ही आँखों के सामने वे अपने-आपको अपमानित और निकृष्ट जीव अनुभव करते। जिस मनुष्य को स्त्री उसे निकम्मा समझे उस मनुष्य का जीवन भी क्या? कभी यशोदा को दण्ड देने की भावना उनके मन में आती। उसे उसके मायके भेज दें और कभी न बुलायें। या घर से निकाल दें? दूसरे आदमियों से दोस्ती करने का मजा उसे मिल जाय।....वे सोचते..स्त्री स्वभाव से ही चंचल होती है। यशोदा तो कभी चंचल दिखाई नहीं दी परन्तु स्त्री का क्या विश्वास? स्त्री पतन और अनाचार का मूल है, उसका कभी विश्वास नहीं करना चाहिये।[1]

पत्नी के तनिक से असाधारण आचरण से पति का अविश्वास कैसा विकट रूप धारण कर लेता है, अमरनाथ इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। किन्तु आज की शिक्षिता पत्नी पति के चरणों पर गिरकर गिड़गिड़ाकर क्षमा नहीं माँगती प्रत्युत कभी-कभी उसमें पति के प्रति चुनौती की भावना भी जाग्रत हो जाती है। जब वह पति के कार्यों में दखल नहीं देती, कहीं भी जाने पर उसके चरित्र पर संदेह नही करती तो फिर पति ही उसके चरित्र पर क्यों अविश्वास करता है? वह सोचती है : 'संदेह आखिर क्यों? मैंने क्या किया है? किस बात पर सन्देह? घंटों छत की ओर देख-देख वह सोचती—यह मेरा अपमान क्यों कर रहे हैं—मुझ पर ज्यादती क्यों कर रहे हैं? आखिर मैंने किया क्या है? यही न कि एक आदमी से मेरे परिचय का इन्हें पता लगा?...मैंने इन्हें यह नहीं बताया कि मैंने कांग्रेस में काम करने की बातचीत की है?....यह आठ बरस से कांग्रेस का काम कर रहे हैं? मैंने तो कभी इनसे नहीं पूछा कि वे क्या और क्यों कर रहे हैं?....इतनी-सी बात पर सन्देह? केवल इसलिए न कि मैं स्त्री हूँ। मानों स्त्री 'संदेह' के काम के सिवा और कुछ कर ही नहीं सकती।'[2]

---

१. यशपाल : 'दादा कामरेड' (पृष्ठ १४६)
२. यशपाल : 'दादा कामरेड' (पृष्ठ १४४)

यशोदा अपने मन का यही भाव अपने पति के सम्मुख भी प्रकट करती है: 'स्त्रियों पर पुरुषों को सदा ही अविश्वास रहता है।....यदि आप समझते हैं। स्त्रियाँ इस विश्वास के योग्य नहीं कि वे घर के बाहर निकल सकें तो घर में ही उनका क्या विश्वास है:...यदि आपको मुझ पर विश्वास नहीं तो कहिए...।'[1] यशोदा की सच्ची बात अमरनाथ की आधिपत्य भावना, अहं और सम्मान पर प्रहार करती है। उसकी बात का उसके पास कोई उत्तर नहीं है। वह अपनी अधिकार भावना का उपयोग कर केवल यही कर सकता है कि यशोदा का बाहर निकलना बन्द कर दे। और यही करता भी है।

यशपाल के दूसरे उपन्यास 'देशद्रोही' (१९४३) में पति-पत्नी के व्यक्तित्वों में सामंजस्य न होने के कारण यह समस्या पनपती है। चन्दा का दाम्पत्य-जीवन असंतोषमय था। यही कारण है कि जब उसे डा० खन्ना से स्नेह और आदर मिलता है तो वह सहज ही उसकी ओर झुकती है। उसे डा० खन्ना के साथ चाय पीने में माधुर्य की अनुभूति होती है।[2] थोड़े ही दिनों में वह उसके इतने निकट आ जाती है कि उसे अपने लिए डा० खन्ना का 'आप' सम्बोधन भी प्रिय नहीं लगता,[3] और डा० खन्ना के यह कहने पर कि 'पुरुष से तुम कहलाने की इच्छा का अर्थ है, वह समीप आये।'[4] उसके मन में किसी प्रकार की विरति उत्पन्न नहीं होती, उल्टे वह स्वयं भी 'तुम' सम्बोधन' करने की चेष्टा करने लगती है। उसके प्रति चन्दा की आत्मीयता और सामीप्य की इच्छा इतनी प्रबल है कि डा० खन्ना उसकी गोद में सिर रखकर सोने की इच्छा बड़ी आसानी से व्यक्त कर देता है। विवाहित नारी के सम्मुख किसी पर-पुरुष की यह इच्छा अनुचित और अनैतिक है पर चन्दा को डा० खन्ना की इस इच्छा-पूर्ति करने में कोई अनौचित्य दिखाई नहीं देता, क्योंकि उसका भ्रम है कि वह डा० खन्ना को उसी प्रकार प्रेम करती है जैसे माँ बच्चे को करती है।

डा० खन्ना के प्रति चन्दा का यह आकर्षण उसके पति राजाराम की दृष्टि से छिपा नहीं रहता। अपनी अनुपस्थिति में डा० खन्ना का चन्दा से मिलना उसे अच्छा नहीं लगता। राजनैतिक तर्क-वितर्कों में भी जब चन्दा डा० खन्ना की बात का समर्थन करती है अथवा उससे हँसकर बोलती है तो उसका सन्देह और भी प्रबल हो उठता है। वह सोचता है: 'प्रत्येक बात में खन्ना का ही पक्ष-समर्थन करने का अर्थ क्या है? खन्ना मेरे बाहर रहने पर आकर यहाँ घंटों जाने क्या-क्या बातें किया करता है? और वह भी चाहती है, खन्ना

---

१. यशपाल: 'दादा कामरेड' (पृष्ठ १५६)
२. 'खन्ना के साथ बैठकर पिया जाने वाला चाय का प्रत्येक घूँट कितना मधुर था। इस माधुर्य की अनुभूति जिह्वा से नहीं मस्तिष्क और हृदय में हो रही थी।'
यशपाल: 'देशद्रोही' (पृष्ठ २२८)
३. 'आप मुझे 'आप-आप' क्यों पुकारते हैं? अच्छा नहीं लगता।'
वही: (पृष्ठ २४८)
४. यशपाल: 'देशद्रोही' (पृष्ठ २५०)

ही से हर समय बात करना।'[1] राजाराम के मन में प्रतिहिंसा की भावना यहाँ तक बढ़ जाती है कि वह स्पष्ट कह उठता है : "खन्ना जी चले गये तो फिर खाने की क्या फ़िक्र थी ! फ़िक्र तो उनकी ही करनी चाहिए ! वे बड़े आदमी हैं, कप्तान साहब थे, अब लीडर हैं, बड़े विद्वान् हैं। हम तो बेवकूफ़ हैं ? मरें या जियें ? हमारा क्या है ? वे बग़ैर खाना खाये चले गये, इस बात का बड़ा दु:ख है। खैर दोपहर में तो बैठकर साथ-साथ खाया ही था। उसी समय बुला लिया करो। उन्हें ही कर लो। हम तो बेवकूफ़ हैं, छोटे आदमी हैं, कुछ समझते ही नहीं। हमसे क्या लेना है ? हम अपने कहीं और जा रहेंगे।'

चन्दा गम्भीर हो गई : 'क्या कह रहे हो तुम ?'

'उल्टे हमें ही धमकाती हो ? हम ऐसे बच्चे नहीं कि तिरिया-चरित्तर न समझते हों। जो तुम्हारी राज ने किया, तुम्हारी यमुना ने किया तुम भला उनसे किस बात में कम हो ? तुम्हें खन्ना पसन्द है, उसका बहुत खयाल है। उसी के जा रहो। ऐसे छिपे-छिपे कबतक चलेगा ?[2]

चन्दा पति की यह प्रतारणा सहन न कर सकी। उसने स्थिर दृष्टि से पति की ओर देखकर पूछा : 'तुम्हें मुझ पर संदेह है ? तुम मुझे विश्वासघातिनी समझते हो ? इतने वर्ष में तुमने यही देखा ?"[3] पति इसका कोई संतोषजनक उत्तर नहीं दे पाता। घोर अपमान और लांछना से पीड़ित होकर वह आत्महत्या करने के लिए कमरे की खिड़की से कूद पड़ती है किंतु राजाराम और डा० खन्ना के उपचार के कारण बच जाती है। इतना होने पर भी चन्दा डा० खन्ना से अपने-आपको दूर नहीं रखना चाहती। इसका मुख्य आधार यही है कि खन्ना के प्रति अपने व्यवहार को वह अनुचित नहीं मानती। वह स्वास्थ्य लाभ करने पर डा० खन्ना से कहती है 'पर तुम्हें मेरे सिर की कसम है। अगर मुझे जीते देखना चाहते हो तो हमारे यहाँ आते रहना। न आने का अर्थ होगा, पापी न होते हुए भी पापी बन जाना।'[4] और डा० खन्ना के प्रति उसका सम्बन्ध वैसा ही बना रहता है जिसके कारण उसका दाम्पत्य-जीवन अधिकाधिक कटु होता जाता है। राजाराम की अनुपस्थिति में क्षत-विक्षत डा० खन्ना को गिरफ्तारी से बचाने के लिए वह अपने खर्च से उसे रानीखेत और रानीखेत से रंगोड़ा ले जाती है। राजाराम के आत्माभिमान को पत्नी की इस स्वच्छन्दता से भारी ठेस पहुँचती है। वह उल्टे पाँव चन्दा को ढूँढ़ने निकल पड़ता है और जब चन्दा रंगोड़े के रास्ते में मिलती है तब उग्र स्वर में पूछता है, "किससे पूछ के आईं तुम ?' आवेश में उनका हाथ चल गया। गाल पर जोर से पड़े थप्पड़ से चन्दा पत्थरों पर गिर पड़ी।....खूब जोर से दो लातें उन्होंने भूमि पर गिर पड़ी चन्दा के

---

१. यशपाल : 'देशद्रोही' : (पृष्ठ २७१)
२. वही : (पृष्ठ २८४)
३. वही : (पृष्ठ २८५)
४. वही : (पृष्ठ २९५)

मारी। चन्दा अवाक् और निश्चल थी। 'किससे पूछ के आई तू ?' —उन्होंने दो दफ़े दोहराया—'और चोरी करो। खूब आजादी लो, चार दिन की ग़ैरहाज़िरी में ही समझ लिया, हम मर गये।"[1] राजाराम घायल खन्ना को वहीं छोड़कर चन्दा को घर ले आता है। इस प्रकार यह प्रसंग समाप्त होता है।

चन्दा के चरित्र द्वारा लेखक ने नारी स्वतन्त्रता का समर्थन किया है। एक बार खन्ना चन्दा से कहता है: 'तो ऐसे घर से ही क्या जिसमें तुम्हारा अपना व्यक्तित्व कुछ भी नहीं ? जिस घर में तुम्हारी इच्छा का मूल्य नहीं, वह घर तुम्हारा तो न हुआ ? तुम घर की एक वस्तु मात्र हो।'[2] इसी प्रकार की बात स्वयं चन्दा भी सोचती है। इस प्रश्न को लेकर वह कई बार पति से झगड़ भी चुकी है, परन्तु फिर भी इस समस्या का कोई समाधान नहीं मिलता कि वैवाहिक जीवन में पति-पत्नी को निजी आचरण में कितनी स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए। विवाह के पश्चात् पति-पत्नी दोनों का यह कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व हो जाता है कि वे आपस में प्रेम-व्यवहार करते हुए सम्मिलित रूप से अपने दाम्पत्य-जीवन को सुखी बनायें। ऐसा न करके यदि उनमें से एक भी अपनी स्वतन्त्र इच्छा का पालन करना चाहता है तो उनके दाम्पत्य-जीवन का विघटन अवश्यंभावी है।

पुरुष का विवाहेतर आकर्षण

पुरुष के विवाहेतर आकर्षण के भी अनेक उदाहरण हमें आधुनिक उपन्यासों में मिलते हैं। 'अश्क' के 'गिरती दीवारें' में चन्दा का पति चेतन नीला के प्रति, यशपाल के 'मनुष्य के रूप' में बैरिस्टर जगदीशसहाय सोमा के प्रति, भगवतीप्रसाद वाजपेयी के 'निमंत्रण' में रेणु का पति गिरधारी मालती के प्रति, कंचनलता सब्बरवाल के 'त्रिवेणी' में चन्दर का पति सुधीर एक अन्य धनी लड़की के प्रति, सर्वदानंद वर्मा के 'संस्मरण' में प्रतिभा का पति सजनी एक अन्य युवती के प्रति और 'नरमेध' में सावित्री का पति अनूप अपने मित्र देवेन्द्र की पत्नी उर्मिला के प्रति आकर्षित दिखाये गये हैं। श्रीनाथसिंह के 'उलझन' में भी तीन बेमेल दम्पतियों का चित्रण है: जगतनारायण और मानवती, भ्रमर और चम्पा, सेठ धर्मदास और शीला। सभी अपने विवाह से ऊबकर पराई पत्तल का भात अच्छा समझते हैं।

यद्यपि यह स्वभावगत सत्य है कि पुरुष का प्रेम नारी की अपेक्षा कम एकाग्र होता है, फिर भी वह अपनी पत्नी की उपेक्षा करके अन्य नारी की ओर अधिकतर तभी आकर्षित होता है, जब उसे पत्नी से तीव्र असंतोष हो। इस असंतोष का कारण पत्नी की शारीरिक कुरूपता भी हो सकती है, और मानसिक असमानता भी।

'गिरती दीवारें' में चेतन अपनी पत्नी चन्दा को प्यार नहीं कर पाता, इसके दो ही कारण हैं। एक तो चन्दा सुन्दर नहीं है और दूसरे चेतन जिस प्रकार की आधुनिक नारी

---

१. यशपाल: 'देशद्रोही' (पृष्ठ ३७७)
२. वही: (पृष्ठ ३१६)

को पत्नी के रूप में चाहता था, चन्दा वैसी न होकर सरल प्रकृति की अबोध नारी है। इसी कारण चेतन विवाह के क्षण से ही अपनी साली नीला की ओर आकर्षित होता है, जो चन्दा से अधिक सुन्दर भी है और सुसंस्कृत भी।

'मनुष्य के रूप' में मनोरमा का भाई बैरिस्टर जगदीशसहाय अपनी पत्नी मिसेज सरोला को प्रेम नहीं कर सका। इसका भी यही कारण था कि उनकी पत्नी इतनी स्थूल-काया थी कि उसको अपने साथ ले जाने में जगदीशसहाय लज्जा का अनुभव करते थे। दूसरे वे स्वयं तो इंग्लैण्ड से शिक्षा प्राप्त करके लौटे थे और पाश्चात्य ढंग पर शान-शौकत से रहना चाहते थे परन्तु उनकी पत्नी को यह सब पसन्द न था। वह पुरानी स्त्रियों की ही भाँति रहना चाहती थी। यहाँ तक कि मिसेज सरोला को चाय की जगह दूध पीने की और कुर्सी पर ऊँचे पैर करके बैठने की आदत होने के कारण वह पति के साथ चाय पीना भी पसन्द नहीं करती थी।[1] दाम्पत्य जीवन से इस असामंजस्य के कारण जगदीशसहाय का ध्यान सोमा की ओर आकर्षित होता है, जो उनकी पत्नी से अधिक सुन्दर भी है और सुसंस्कृत भी। वे अपनी पत्नी की तुलना सोमा के साथ करते हुए सोचते हैं, 'किस मुसीबत के साथ मेरी शादी कर दी। उसे साथ लेकर कभी भली सोसायटी में भी नहीं जा सकता। स्त्री है या मांसपिण्ड। सोमा होती तो वह अच्छी-से-अच्छी महफिल में रानी जान पड़ती।'[2] इसी प्रकार 'निमंत्रण' में गिरधारी अपनी पत्नी रेणु को इसीलिए एकान्त प्रेम नहीं कर पाता कि उसे अपनी पत्नी में व्यक्तित्व का वह विकास नहीं मिलता जो मालती में दीखता है।

पति के इस पर-नारी-आकर्षण से पत्नी का समस्त जीवन दुखी और त्रस्त हो जाता है। इस युग के अधिकांश उपन्यासकारों ने पुरुष के विवाहेतर प्रेमाकर्षण के कारण पत्नी के उत्साहहीन और दुखी जीवन का चित्रण किया है। 'निमंत्रण' की रेणु, 'त्रिवेणी' की चन्दर और 'नरमेध' की सावित्री ऐसा ही दुखी जीवन व्यतीत करती हैं। किन्तु पति से ऐसी घोर उपेक्षा और यंत्रणा पाकर भी वे अपने परम्परागत संस्कारों के कारण उससे विमुख नहीं होतीं। 'निमंत्रण' की रेणु तो पति की प्रसन्नता के लिए बंकिमचन्द्र चटर्जी के 'विष वृक्ष' की सूर्यमुखी की भाँति पति की प्रेयसी मालती से ही अनुरोध करती है कि वह उसके पति के साथ विवाह कर ले। 'मैं हार मानती हूँ। वे कभी स्वीकार नहीं

---

१. मिसेज सरोला के लिए साहब के साथ चाय पर बैठना न रुचिकर था, न सुविधाजनक। उन्हें चाय का कसैला स्वाद ही न सुहाता था। कभी जुकाम हो जाने पर दवाई के तौर पर ही वे दूध में चाय डाल पीती थीं। अपने फैलते जाते शरीर में से खुश्की और कमजोरी का उपाय करने के लिए उन्हें चाय की अपेक्षा दूध और लस्सी ही अधिक पसन्द थी। इसके अतिरिक्त, कुर्सी पर सिमिटकर, लटककर बैठने में उन्हें असुविधा भी होती।'

यशपाल : 'मनुष्य के रूप' (पृष्ठ १५८)

२. यशपाल : 'मनुष्य के रूप' (पृष्ठ १८४)

करेंगे किन्तु तुम्हें कितना चाहते हैं। तुम उनकी दशा देख रही हो, कितने दुर्बल हो गये हैं. . .वे तुमसे हँसें, बोलें, घूमें! तुम्हारे साथ चाहे जिस तरह रहें मुझे कभी कोई आपत्ति न होगी।'[1]

इसी प्रकार चन्दर, और प्रतिभा इतनी पति-परायणा चित्रित हुई हैं कि वे पति के पर-स्त्री-प्रेम को देखकर भी कुछ नहीं कहतीं। समानता और स्वतन्त्रता के इस युग में नारी का ऐसा चित्रण कुछ अस्वाभाविक लगता है, तथापि उससे साधारण भारतीय नारी की भावनाओं का परिचय अवश्य मिलता है। केवल 'संस्मरण' की प्रतिभा के चरित्र में ही लेखक ने आधुनिक नारी के विरोध और विद्रोह का चित्र उपस्थित किया है। पति-गृह में अपनी शैया पर अन्य युवती को देखकर वह उसी क्षण अपने माथे का सिन्दूर अपने कामुक पति के पैरों से जवरदस्ती पोंछ देती है।

इस प्रकार प्रेमचन्दोत्तर-काल के उपन्यासों में पुरुष के विवाहेतर प्रेमाकर्षण के कारण पत्नी की दो प्रतिक्रियायें दिखाई गई हैं। वह या तो दुखी और हताश होकर भी पति के प्रति समर्पित रहती है या साहसपूर्वक स्वयं पति के रास्ते से हटकर अपने आत्म-सम्मान का परिचय देती है। दोनों ही अवस्थाओं में दाम्पत्य-जीवन का सुख नष्ट हो जाता है।

वास्तव में पुरुष के विवाहेतर आकर्षण की समस्या का एक-मात्र हल यही है कि पत्नी चेष्टापूर्वक पति के समान अपने व्यक्तित्व का विकास करे और पति उसके इस विकास में सहायता करे। दो विकसित व्यक्तित्वों का प्रेम ही स्थायी और सुखद होता है। किन्तु समस्या के इस पहलू पर इस युग के किसी लेखक का ध्यान नहीं गया है। केवल 'अश्क' ने अपने उपन्यास 'गिरती दीवारें' में इसकी एक झलक दी है। चेतन अपनी पत्नी चन्दा के अशिक्षित, अविकसित व्यक्तित्व से असंतुष्ट है इसलिए वह सहज ही नीला के प्रति आकर्षित होता है। किन्तु वह यह भी समझता है कि पत्नी के अविकसित व्यक्तित्व से असंतुष्ट होकर पर-नारी के प्रति झुकने से समस्या का हल नहीं होगा। वरन् उसका सही हल यही है कि पत्नी को विकास करने में सहायता दी जाय। इसीलिए वह चन्दा को पढ़ाना शुरू करता है।

आधुनिक समाज में शिक्षित और समर्थ नारी भी पुरुष द्वारा किस प्रकार शोषित होती है, तथा उसके फलस्वरूप उसकी मानसिक स्थिति कैसी हो जाती है इस काल के उपन्यासों में इसका भी यथेष्ट चित्रण हुआ है। इस शोषण का मुख्य कारण यही है कि पुरुष अब भी अहंकार और प्रभुत्व की अपनी परम्परागत प्रवृत्ति से मुक्त नहीं हो पाया है। साथ ही नारी नवीन विचारों की दीक्षा लेकर भी अपने प्राचीन संस्कारों से मुक्त नहीं हो पाई है।

पुरुष द्वारा नारी का शोषण

१. भगवतीप्रसाद वाजपेयी : 'निमंत्रण' (पृष्ठ २०५)

सर्वप्रथम जैनेन्द्र ने 'कल्याणी' (१९४०) में इस समस्या का चित्रण किया है। कल्याणी का पति डा० असरानी अपने मन को आधुनिक बनाये बिना अपनी पत्नी कल्याणी को आधुनिक बनाना चाहता है। वह इस बात का तो इच्छुक है कि उसकी पत्नी शिक्षिता हो, धनोपार्जन करे, फ़ैशन से रहे किन्तु वह उसके व्यक्तित्व पर, उसके शील-विवेक पर विश्वास नहीं कर पाता। यही आज के पुरुष-समाज की समस्या है। आज का पुरुष प्रत्यक्ष में आधुनिक है, पर नारी के प्रति उसकी भावना में परम्परागत संस्कार वर्तमान हैं।

पुरुष द्वारा नारी के शोषण के मूल में नारी के संस्कारों का भी हाथ है। उसके संस्कार उसे प्राचीन आदर्शों की ओर ले जाते हैं और वह बहुत-कुछ मौन रूप से स्वीकार भी कर लेती है, यद्यपि नवीन चेतना उसे स्वतन्त्रता की ओर प्रेरित करती रहती है। नर और नारी के इस द्वन्द्व के कारण आज के जीवन में घोर असामंजस्य दिखाई देता है। यही असामंजस्य कल्याणी के जीवन में है जिसके कारण वह तिल-तिल कर घुल-घुलकर मरती है। कल्याणी की समस्या आधुनिक युग की जटिलता का मार्मिक चित्र है।

कल्याणी के सम्मुख एक ओर विलायती ठाट-बाट, पाश्चात्य शिक्षा-संस्कृति, नारी स्वातन्त्र्य एवं उसकी आर्थिक समस्याएँ हैं तो दूसरी ओर भारतीय गार्हस्थ्य के प्राचीन आदर्श। इन दोनों में से वह किसी एक को अपनाना चाहती है। किन्तु उसके जीवन में यह सम्भव नहीं हो पाता जिसके कारण उसका जीवन अशान्तिपूर्ण बन जाता है। वह विलायत से डाक्टरी का अध्ययन करके लौटी है किन्तु उसे अनुभव होता है कि उसके पति संतुष्ट नहीं हैं। इसलिए वह अपने पति डा० असरानी से कहती है : 'मैं आपके मन की गृहलक्ष्मी बनकर स्वयं भी रहना चाहती हूँ। पर वह तभी रह सकती हूँ जब डाक्टरनी न रहूँ। डाक्टर होकर अन्तःपुर की शोभा मुझसे बहुत न बढ़ेगी। उस हालत में हर किसी के सामने मुँह उघाड़े मिलना और बोलना होता है. . .दोनों में से कोई एक मुझे चुनकर दे दो। पातिव्रत्य या डाक्टरी। मैं सेवा में परायण हो जाऊँ, या डाक्टर की कमाई कर के दूँ। दोनों साथ होना कठिन है। पैर दो नावों पर रहेंगे तो हालत डगमग रहेगी और जो मेरे ही चुनने की बात हो तो मैं गृहिणी हो रहूँगी, डाक्टर नहीं बनना चाहती।''[1]

इस प्रकार कल्याणी स्वयं गृह-कार्य को ही चुनती है। पर कुछ दिनों बाद वह अनुभव करती है कि उनके दवाखाने की स्थिति बहुत गिर गई है। पति भी उसके गृहदेवी बनने से प्रसन्न नहीं हैं। वे चाहते हैं कि वह डाक्टरी का कार्य पुनः आरम्भ कर दे। अतः वह फिर डाक्टरी में जुट जाती है और धनोपार्जन करती है। किन्तु इस स्थिति में भी डा० असरानी संतुष्ट नहीं हो पाते। वे अपनी पद-प्रतिष्ठा और अर्थ-लाभ के लिए अपनी पत्नी के सहयोग की अपेक्षा तो करते है किन्तु उसे तनिक भी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता नहीं देना चाहते। आर्थिक रूप से स्वतन्त्र होने पर भी पत्नी को पति की इच्छाओं का दास बनना

---

१. जैनेन्द्र : 'कल्याणी' (पृष्ठ ४७-४८)

पड़ता है। जो नारी शिक्षित है, आर्थिक रूप से स्वतन्त्र है, उसकी आत्मा पुरुष की इस प्रभुत्व-कामना को स्वीकार नहीं कर पाती, चाहे वह संस्कारवश उसके विरोध में कुछ कह न सके। कल्याणी की यही मूल समस्या है।

कल्याणी पति की इच्छानुसार सारे कार्य करती है। वह डाक्टरी करती है, पति की प्रसन्नता के लिए अपनी इच्छा के विरुद्ध प्रीमियर के स्वागत की तैयारी करती है, पति से पिटने पर भी पति की अवहेलना नहीं करती, उल्टे 'पति उसे बहुत चाहते हैं' कहकर उनकी प्रशंसा ही करती रहती है। किन्तु स्वार्थ में अन्धे डा० असरानी के मन में अपनी पत्नी के प्रति बराबर संदेह बना रहता है। पति की इच्छा का विरोध करना कल्याणी की प्रवृत्ति नहीं है और न कदाचित् उसमें इसकी शक्ति ही है। वह समर्पण को ही नारी-जीवन की सिद्धि मानती है। फिर भी उसके त्रस्त मन की छिपी वेदना कहीं-न-कहीं झलक ही जाती है। बहुधा दाम्पत्य-जीवन की विसंगति के लिए समाज पत्नी को ही दोषी ठहराता है। इस प्रकार का अपवाद सुनकर कल्याणी का मन व्यंग्य कर ही उठता है, 'स्त्री निर्दोष हो सकती है? पहला दोष तो यही है कि वह स्त्री है।'[1]

ऐसी स्थिति में कल्याणी का अतृप्त जीवन पुरुष के प्रति घृणा और प्रेम दोनों भावों का सृजन करता है। वह राय साहब, भटनागर, प्रीमियर, देवलालीकर, वकील सभी के प्रति आकर्षित होती जान पड़ती है किन्तु किसी से भी उसे वह मुक्त प्रतिदान नहीं मिलता जिसको पाकर वह उबर सकती। और क्योंकि उसमें इतनी क्षमता है कि वह अपने पति की स्वार्थ-भावना और प्रेम-प्रदर्शन के मिथ्या आडम्बर की वास्तविकता को पहचान सके, अतः उनको भी वह अपना मन नहीं दे पाती। पुरुष-वर्ग की इस स्वार्थ-लोलुपता के कारण उसके मन में पुरुष जाति के प्रति एक घृणा का भाव भर जाता है।[2] यद्यपि घृणा का यह भाव अन्तर्धारा की भाँति उसके मन में सदा वर्तमान है, फिर भी उसमें पुरुष के प्रति स्वाभाविक आकर्षण भी है ही। बुद्धिवती होने के कारण वह इसे स्वीकारने में भी नहीं हिचकती।[3] घृणा और आकर्षण की ये दो विरोधी धाराएँ उसके जीवन को झंझालोड़ित कर देती हैं।

कल्याणी और डा० असरानी के दाम्पत्य-जीवन में सामंजस्य नहीं है इसका एक कारण दोनों में अहं भाव की प्रबलता भी है। डा० असरानी सोचते हैं कि उन्होंने कल्याणी

---

१. जनेन्द्र : 'कल्याणी' (पृष्ठ २३-२४)

२. 'एक वह हैं जो बड़ी हिम्मत दिखाकर मुझे छोड़कर चले गये हैं। एक ये हैं जिन्हें मैं पक्का जानती हूँ कि इन्होंने स्त्री की हत्या की है। एक आप हैं जो किसी को कुछ सहारा नहीं देते।' वही : (पृष्ठ १४१)

३. अपने सम्बन्ध में अफ़वाहों को सुनकर कल्याणी कहती है :

'सुन पड़ते हैं न? . . . मैं ही नहीं, तब कौन कह सकता है कि वे सब ग़लत हैं। फावड़ा बनाने के लिए भी सुई तो चाहिए ही। बेबात भला कोई बात चलती है।' वही : (पृष्ठ २०)

से विवाह करके उसका उद्धार किया है, इसलिए अपने स्वार्थ-साधन के निमित्त वे कल्याणी से चाहे जो कुछ करवा सकते हैं। पर कल्याणी का मन इसे स्वीकार नहीं कर पाता। अहं के कारण दोनों में से कोई भी अपना मन समर्पित नहीं कर पाता। व्यावहारिक जीवन में कल्याणी अपने पति की प्रसन्नता के लिए सब कुछ करती है। वह कहती है : "मेरा ध्यान उनसे दूर नहीं।"[1] यदि उसके करने में कुछ कमी है तो वह उसको भी जानना चाहती है: 'कोई मुझे बताये कि मैं अपने को कहाँ बचाती हूँ।'[2] पति चाहें तो वह डाक्टरी करके उनके पास पैसों का स्तूप खड़ा कर दे, या चाहें तो परम्परानुकूल गृहिणी की भाँति अन्तःपुर की शोभा बढ़ाये। पर यह सब वह केवल कर्तव्य-भावना से ही करती है। उसमें उसे सच्चा आनन्द नहीं मिलता। इसी लिए वह जैसे लाचारी की स्थिति में यंत्रवत् सारे कार्य करती है। आन्तरिक ऐक्य के अभाव में डा० असरानी की इच्छाएँ कल्याणी की इच्छाएँ नहीं बन पातीं। कल्याणी के मन का कुछ भाग अवश्य असंतुष्ट रह जाता है।[3] दोनों के बीच में जो मिथ्या अहंकार आ गया है उसी के कारण उनके जीवन में इतना द्वन्द्व है, बेचैनी है। उनका अन्तःकरण एक दूसरे की सचाई पर विश्वास नहीं कर पाता। इसीसे उनमें प्रेम का अभाव रहता है। 'प्रेम का दूसरा नाम है विश्वास।'[4] कल्याणी किसी से भी एकान्त निश्छल प्रेम न पाकर अकेलेपन का अनुभव करती है। अकेला प्राणी कैसे जिए ?

हारकर वह अपने अवचेतन की अतृप्त कामना को भगवद्भक्ति की ओर प्रवृत्त कर देती है। किन्तु डा० असरानी जब उसके इस कार्य की भी आलोचना करते हैं तो उसके संयम का बाँध टूट जाता है। 'तुम साफ़-साफ़ कह क्यों नहीं देते कि तुम क्या चाहते हो ? मुझे तिल-तिल कर बेचना चाहते हो, सो वह हो तो रहा है। आखिरी साँस तक मेरी बिक जायेगी, तब भी मैं इन्कार नहीं करूँगी।'[5] और अन्त में वह तिल-तिल करके ही मिट जाती है।

इस उपन्यास के सम्बन्ध में एक प्रश्न यह उठता है कि जब कल्याणी अपने दाम्पत्य-जीवन से इतनी त्रस्त है तो वह तलाक़ देकर अलग क्यों नहीं हो जाती ? शिक्षिता और आर्थिक रूप से समर्थ होने के कारण वह बड़ी आसानी से स्वतन्त्र जीवन-यापन कर सकती थी। किन्तु नारी के संस्कार उसे इस पथ पर नहीं जाने देते। संस्कार उसके मन को इतनी गहराई से पकड़े है कि वह पति के विरोध में सोचना भी नहीं चाहती। वह बार-बार यही कहती है कि मेरे पति मुझे बहुत चाहते हैं, मैं ही दोषी हूँ। वह सोचती है कि आधुनिक सभ्यता के ही कारण उसके जीवन में इतना असंतोष है। अंग्रेजी पढ़ी-लिखी होने

१. जैनेन्द्र : 'कल्याणी' (पृष्ठ १५४)
२. वही : (पृष्ठ १५४)
३. वही : (पृष्ठ १५४)
४. वही : (पृष्ठ १९०)
५. वही : (पृष्ठ ६३)

और डाक्टर होने के कारण उसे बाहर के व्यक्तियों से बात करनी पड़ती है, इसीको वह शास्त्रों में वर्जित शीलवन्ती नारियों की मर्यादा के विरुद्ध मानती है। वह अपनी अशान्ति का सारा दोष आधुनिक सभ्यता पर थोपकर प्राचीन भारतीय आदर्शों की सराहना करती है और 'भारती तपोवन' की स्थापना कर शान्ति पाने की चेष्टा करती है। किन्तु उसके मन की अशान्ति पूर्ववत् ही रहती है।

इस प्रकार लेखक ने 'कल्याणी' में पुरुष की मध्ययुगीन आधिपत्य की भावना, उसकी मिथ्या आधुनिकता और उसकी कामनाओं के जाल में वंदिनी शोपिता नारी की समस्या का बड़ा प्रभावपूर्ण चित्रण किया है। डा० असरानी और कल्याणी चरित्र-विशेष से भी अधिक प्रतीक बन जाते हैं, और उनके माध्यम से आधुनिक समाज के खोखलेपन का उद्घाटन होता है। परन्तु अपने गांधीवादी आदर्शों के प्रति आस्था रखने के कारण लेखक ने 'कल्याणी' का अन्त नारी के आत्म-पीड़न और बलिदान में किया है, विद्रोह में नहीं। यों, कल्याणी की करुणा और भी मर्मस्पर्शिनी एवं प्रभावोत्पादक बन जाती है।

ऐसा अहिंसक आत्म-पीड़न इलाचन्द्र जोशी के पात्रों में नहीं है। उनके उपन्यासों में पुरुष के अन्याय और अहंकार पर निर्मम एवं प्रकट प्रहार किया गया है। 'विवेचना' में उन्होंने स्पष्ट शब्दों में पुरुष को शोषक और नारी को शोषित बताया है।[1] साधारणतः पुरुष का अहं नारी के स्वतन्त्र व्यक्तित्व की एक झलक भी देखना पसन्द नहीं करता। किन्तु अब नारी अपनी स्थिति की वास्तविकता से अनजान नहीं है। वह व्यक्ति और समाज के अत्याचारों का सामना करने के योग्य शक्ति जुटाने में लगी है। जब वह समर्थ और सशक्त बन जायेगी तभी शोषण की इस समस्या का हल हो सकेगा।

'मुक्ति पथ' में इलाचन्द्र जोशी ने विजय के चरित्र के माध्यम से पति द्वारा पत्नी के शोपण पर दृष्टिपात किया है। विजय अपनी योजनानुसार ऐसी लड़की से विवाह करता है जो धनी पिता की एक-मात्र संतान है। उससे विवाह करने में उसका उद्देश्य यही था कि उसे दहेज के रूप में बहुत-सा धन मिल जाय, और बाद में एक दिन अपने श्वसुर की सम्पत्ति का स्वामी हो सके।

विवाह हो जाने पर वह इस स्वार्थ-पूर्ति के लिए अपनी पत्नी कान्ति को पीड़ित करने लगता है। वह पहले तो अपने व्यापार की आवश्यकता के बहाने झूठ बोलकर उसके सारे गहने हड़पना चाहता है। फिर उसे खर्च में बचत करने के बहाने यह पट्टी पढ़ाता है कि वे दोनों उसके पिता के ही यहाँ क्यों न रहें। किन्तु कान्ति इतनी अबोध नहीं है। पति की अर्थ-लोलुपता उसकी सहज नारी-दृष्टि से छिप नहीं पाती। जब विजय 'सेफ वाल्ट' में रखने का बहाना बनाकर उसके गहने लेना चाहता है तो वह दृढ़ स्वर में कहती है: 'मैं

---

१. दृष्टव्य: अध्याय चौथा (पृष्ठ ११९२)

गहने अपनी ही तिजोरी में सुरक्षित रखूँगी। जब जो गहना पसन्द आयेगा तब उसे पहनूँगी। बैंक में सुरक्षित रखने से वे मेरे किसी काम न आ सकेंगे।'[1]

इसी तरह पति के घर-जमाई बनने की बात भी उसे पसन्द नहीं आती। उसका मत है कि वह 'अपने पिता और विमाता के तत्वावधान में पति के साथ स्वच्छंद वातावरण का अनुभव नहीं कर सकती। उसे दिन भर के एकाकीपन की एकरसता का जीवन पसन्द है, पर मायके का बद्ध वातावरण वह किसी भी हालत में पसंद नहीं कर पाती।'[2]

इस प्रकार कान्ति की जागरूकता के कारण विजय की चालें तो व्यर्थ हो जाती हैं, पर उसकी इस मनोवृत्ति से उनका दाम्पत्य-जीवन अत्यंत कटु और निराशापूर्ण बन जाता है। अपनी योजना को विफल होते देखकर विजय के मन में 'अपनी पत्नी के प्रति प्रचंड हिंसात्मक विद्वेष-भावना घर कर जाती है।'[3] यहाँ तक कि अन्त में वह उसे विष देकर मार डालता है।

यशपाल के 'मनुष्य के रूप' (१९४९) में पुरुष द्वारा नारी के शोषण का एक अन्य रूप मिलता है। सुतलीवाला अपनी शारीरिक अक्षमता जानते हुए भी मनोरमा से विवाह करता है। वह पत्नी के सुख-संतोष की चिन्ता किये बिना केवल अपनी वासना की पूर्ति के लिए गृहस्थी जमाना चाहता है।[4] ऐसे पति को पाकर मनोरमा के मन की सारी उमंगें नष्ट हो जाती हैं। वह उदास और अलग-अलग सी रहने लगती है। परन्तु पति की शोषण-प्रवृत्ति को यह भी सह्य नहीं होता। वह मनोरमा की सहज इच्छा को पाशविकता समझता है और उसको दुर्वचनों का शिकार बनाता है। 'मस्तिष्क में पत्नी की घृणा से अपमान की अग्नि और शरीर में औषध की उत्तेजना उसे बेचैन करती रही,'[5] लेकिन बात यहीं पर समाप्त नहीं हो जाती। सुतलीवाला अपने अर्थ-लाभ के लिए अपनी पत्नी को व्यभिचार के मार्ग पर ले जाने से भी नहीं हिचकता। वह सेठ वदानियाँ और मनोरमा को होटल में अकेले छोड़कर किसी काम के बहाने बाहर चला जाता है। परन्तु मनोरमा को जैसे ही अपने पति के मंतव्य का भास होता है वह सदाचारिणी नारी की भाँति घर लौट आती है और अपनी मनोव्यथा प्रकट

---

१ इलाचन्द्र जोशी : 'मुक्तिपथ' (पृष्ठ १०९)

२. वही : (पृष्ठ ११२)

३. वही : (पृष्ठ ११०)

४. 'सुतलीवाला गृहस्थी बसाये बिना गृहस्थ भोगने की चेष्टा में शारीरिक रूप से शिथिल हो, केवल वासना और शौक के लिए बैठे थे। वे अब बुढ़ापे की बढ़ी चली आती संध्या के लिए एक घर बसाने की योजना में थे।'
यशपाल : 'मनुष्य के रूप' (पृष्ठ १९६)

५. वही : (पृष्ठ १९७)

करती हुई कहती है : 'मैं नहीं समझती थी, रुपये के लिए कोई आदमी इतना गिर सकता है।'[1]

इस प्रकार पति की शोषण-वृत्ति के कारण मनोरमा का दाम्पत्य-जीवन नरक-तुल्य हो जाता है। वह शिक्षिता है, साथ ही कम्युनिस्ट पार्टी में काम करने के कारण उसमें साहस की भी कमी नहीं है। इसलिए वह अन्य नारियों की भाँति अपने भाग्य को दोष देकर नहीं बैठ जाती, वरन् तलाक द्वारा इस यंत्रणा से मुक्ति प्राप्त करती है।

कभी-कभी वैवाहिक जीवन की विसंगति के मूल में आर्थिक और मनोवैज्ञानिक विषमता भी होती है। परिवार की साधन-हीनता के कारण छोटी-छोटी आवश्यकताओं की पूर्ति न होने पर भी कभी-कभी पति-पत्नी दोनों के ही मन में अपने जीवन के प्रति खीझ और असंतोष उत्पन्न हो जाता है। फिर भी आश्चर्य की बात है कि इस युग के उपन्यासकार का ध्यान वैवाहिक जीवन की विसंगति के अन्य कारणों पर तो गया है किन्तु इस अपेक्षाकृत अधिक यथार्थ पक्ष की उसने अनदेखी ही की है। सन् १९५० के बाद प्रकाशित उपन्यासों में (जैसे अमृतराय लिखित 'बीज' और डा० देवराज के 'पथ की खोज' में) तो इस पहलू का सम्यक् चित्रण है किन्तु आलोच्य अवधि के केवल दो-एक उपन्यासों में ही इस ओर संकेत मात्र किया गया है। नरोत्तमप्रसाद नागर के 'दिन के तारे' में शशि और अश्क के 'गिरती दीवारें' में चेतन के पिता पं० शादीराम के दाम्पत्य-जीवन में जो असंतोष है उसका मूल कारण आर्थिक अभाव है। इस अभाव के कारण जब उनके दाम्पत्य-जीवन में अशान्ति का समावेश होता है तो पति या तो गुमसुम रहने लगता है या फिर अपनी पत्नी पर अत्याचार करने लगता है। कभी-कभी अपनी आर्थिक विषमता को भूलने के लिए वह प्रेम के स्वप्न भी देखने लगता है। पहले प्रकार का उदाहरण 'दिन के तारे' में मिलता है जहाँ शशि अपने भावों और मनोविकारों में इतना डूबा रहता है कि घर में सदैव एक मनहूसियत-सी छाई रहती है। दूसरे प्रकार का उदाहरण हमें 'गिरती दीवारें' में मिलता है, जहाँ शादीराम अपने आर्थिक अभाव से उत्पन्न असंतोष के कारण अपनी पत्नी पर अत्याचार करता है। तीसरे प्रकार का कोई उल्लेखनीय उदाहरण नहीं मिलता। इस प्रकार इस काल के उपन्यासकार आर्थिक विषमता से उत्पन्न इस महत्वपूर्ण पहलू की उपेक्षा कर गये हैं।

आर्थिक और मनोवैज्ञानिक विषमता

यह स्वाभाविक बात है कि पति अथवा पत्नी किसी का भी स्वभाव विषम हो तो उसके प्रभाव से दूसरे का भी जीवन दुखी हो जाता है। 'गिरती दीवारें' के शादीराम स्वयं सच्चरित्र नहीं हैं इसीलिये वे अपनी पत्नी के चरित्र पर अकारण ही संदेह करने लगते

---

१. यशपाल : 'मनुष्य के रूप' : (पृष्ठ २२१)

हैं।[1] कहीं जाते तो 'बाहर से ताला लगा जाया करते थे।'[2] इसी प्रकार इलाचन्द्र जोशी के 'संन्यासी' में जयन्ती और नंदकिशोर के दाम्पत्य-जीवन की विसंगति के मुख्य कारणों में एक यह भी है कि नंदकिशोर अपनी विकृत भावनाओं का प्रतिविम्ब जयन्ती के आचरण में देखता है। शान्ति के साथ उसका अपना सम्बन्ध अनैतिक था, इसीलिए वह जयंती के चरित्र को भी संदेह की दृष्टि से देखता है।

मनोवैज्ञानिक विषमता के एक अन्य पहलू पर ध्यान आकर्षित करते हुए उससे उत्पन्न दाम्पत्य-जीवन की विसंगतियों का चित्रण इलाचन्द्र जोशी ने 'निर्वासित' में किया है। जिस प्रकार अत्यधिक निर्धनता दाम्पत्य-जीवन में एक प्रकार की कटुता और नीरसता का समावेश कर देती है, उसी प्रकार कभी-कभी अत्यधिक सम्पन्नता से भी दाम्पत्य-जीवन में विसंगतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। नीलिमा का विवाह एक संपन्न जमींदार से होता है। इस वर्ग में नारी के स्वतन्त्र व्यक्तित्व की अवहेलना कर उसको विलासिता की अन्य सामग्री के समान केवल भोग्या माना जाता है। परन्तु आज की शिक्षित नारी को यह स्वीकार नहीं। पति की सम्पन्नता और नवीनता के आकर्षण के कारण नीलिमा के विवाह के प्रारम्भिक दिन तो सुख-चैन से कटते प्रतीत होते हैं किन्तु कुछ ही दिनों बाद वह अनुभव करती है कि उसके पति ठाकुर लक्ष्मणसिंह के व्यवहार में घृणा और उपेक्षा ही प्रमुख है। दिन-पर-दिन उसका यह विचार दृढ़ होता चला जाता है।[3] और उनका दाम्पत्य जीवन विखरने लग जाता है। ठाकुर लक्ष्मणसिंह शराब पीते हैं। यह नीलिमा को कतई पसन्द नहीं। कुछ दिन तो वह जैसे-तैसे चुप रहती है, पर अन्त में उसका विरोध प्रकट हो जाता है। इस पर ठाकुर साहब नीलिमा को भी शराब पीने पर विवश करते हैं। वे शराब की बोतल और दो गिलास मँगवाकर नीलिमा से कहते हैं 'आज तुम्हें भी पीना होगा।'[4] नीलिमा यह सहन नहीं कर पाती। कहती है: 'कैसी मूर्खता की बात करते हो? बहुत पीकर आये हो, इसलिए होश में नहीं हो। हटाओ इस बोतल को, और चुपचाप सो जाओ।'[5] पति की आधिपत्य भावना और मानसिक विकृति पत्नी का यह विरोध सहन न कर सकी। वे क्रूर और कुटिल स्वर में कहते हैं: 'तुम पीने में आपत्ति

---

१. 'जो स्वयं उतने शुद्ध चरित्र नहीं होते, दूसरों के चरित्र के प्रति जो एक तरह का संदेह-सा होता है, वह पं० शादीराम के मन में भी था।'
उपेन्द्रनाथ 'अश्क' : 'गिरती दीवारें' (पृष्ठ १२२)

२. वही : (पृष्ठ १२३)

३. 'मेरे प्रति उनके व्यवहार में जो घृणा, उपेक्षा और तुच्छता का भाव मेरे अनजान में आ गया था और दिन-पर-दिन बढ़ता चला जाता था।'
इलाचन्द्र जोशी : 'निर्वासित' (पृष्ठ ३९९)

४. वही : (पृष्ठ ४००)

५. वही : (पृष्ठ ४००)

क्यों करती हो ? मैं जानता हूँ कि खत्रियों के यहाँ पीने की प्रथा है और उनके यहाँ की औरतें भी पीती हैं। केवल इतना ही नहीं, उनके यहाँ की औरतें . . .'[1] ठाकुर साहब का इतना कहना था कि नीलिमा पूरी ताकत से चीख उठती है: 'खबरदार! आगे एक शब्द भी इस सम्बन्ध में मुँह से निकालोगे तो परिणाम अच्छा नहीं होगा।'[2] इतने पर भी ठाकुर साहब अपनी बेहयाई से बाज नहीं आते। वे नीलिमा की बहिन प्रतिमा पर भी झूठा इल्जाम लगाते हुए कहते हैं: 'तुम क्या कर लोगी? मुझे सब बातें मालूम हैं। तुम्हारी बहनों को मैं अच्छी तरह जानता हूँ। प्रतिमा किस तरह के लोगों के बीच में रहकर वेश्याओं का-सा जीवन बिता रही है, इस बात का पता मुझे अच्छी तरह है। और तुम भी . . .'[3] उनकी इस तरह की बातों से नीलिमा की आँखों के आगे अँधेरा छा जाता है। वह जैसे बेहोशी की-सी हालत में 'ऐश-ट्रे' उठाकर उनकी ओर दे मारती है। और यहीं से दोनों ओर से खुल्लमखुल्ला संघर्ष आरम्भ हो जाता है।

इस दिन से ठाकुर साहब का स्वभाव दिन-पर-दिन उग्र होता जाता है और नीलिमा के प्रति उनके कटु विद्वेष की भावना दिन-पर-दिन बढ़ती जाती है; जिसके फलस्वरूप नीलिमा के मन में उसकी प्रतिक्रिया भी प्रबलता से होने लगती है। जब नीलिमा को मालूम होता है कि ठाकुरसाहब की कुचेष्टाओं के ही कारण रूपा आत्महत्या करती है और ठाकुर साहब ने 'अपने कुछ चुने हुए असामियों की लड़कियों के साथ अनुचित सम्बन्ध स्थापित करने की लालसा से गुंडों का एक ऐसा दल नियुक्त कर रखा है जो अनेक प्रकार के उपायों को काम में लाकर, तरह-तरह के छल, बल और कौशल से उन लड़कियों को भगा लाता है।'[4] तब उसका अन्तःकरण दुःख और असहाय क्रोध की अग्नि में जलने लगता है। तभी एक दिन ठाकुर साहब नीलिमा की अनिच्छा की उपेक्षा करके बल-प्रयोग करते हैं, और उसके विरोध करने पर लातों से प्रहार करने लगते हैं। पति के इस अमानुषिक व्यवहार पर नीलिमा जैसे जड़ बन जाती है और अवसर मिलते ही वह उनके बंधन तुड़ाकर भाग जाती है। इस प्रकार एक ऐसे विवाह-सम्बन्ध का अन्त विफलता में हो जाता है, जिसमें प्रकट रूप से कोई भी दोष नहीं दिखाई पड़ता।

आधुनिक शिक्षा के प्रचार-प्रसार के फलस्वरूप इस काल में नारी के व्यक्तित्व का यथेष्ट विकास हुआ है। इस शिक्षा से उसे नई दृष्टि मिली, उसका विवेक जागृत हुआ, अपनी स्थिति का ज्ञान मिला और उसका मन प्राचीन रूढ़ियों के बंधन से मुक्त होकर अपने विकास के स्वप्न देखने लगा। नारी के व्यक्तित्व के इस विकास के कारण भी इस काल में विवाहित जीवन में विसंगति उत्पन्न होती

दो विकसित व्यक्तित्वों की टकराहट

---

१. इलाचन्द्र जोशी : 'निर्वासित' (पृष्ठ ४००)
२. वही : (पृष्ठ ४००)
३. वही : (पृष्ठ ४००-४०१)
४. वही : (पृष्ठ ४०४)

दिखाई गई है। शिक्षित-संस्कृत नारी पुरुष की अंध-सत्ता का विरोध करने पर वाध्य हो जाती है। जब भी आधुनिक पुरुष आधुनिक नारी के इस व्यक्तित्व को अनदेखा करके उसे प्राचीन पद्धति के अनुसार हाँकने लगता है, तभी दोनों में टकराहट अनिवार्य हो जाती है।

इस काल के अनेक उपन्यासों में हमें इस टकराहट के दर्शन होते हैं। यद्यपि इसके मूल में अन्य अनेक सामाजिक-व्यक्तिगत कारण कार्य करते मिलते हैं, फिर भी उसका एक महत्वपूर्ण कारण यह है कि नारी अब वदल रही है, और पुरुष उसके इस परिवर्तन को स्वीकार करना नहीं चाहता। उदाहरण के लिए, जैनेन्द्र के उपन्यास 'कल्याणी' में डाक्टर असरानी और मिसेज़ असरानी शिक्षा-दीक्षा, सामर्थ्य, उपयोगिता और सांस्कृतिक स्तर—सभी दृष्टियों से समान हैं। पर डा० असरानी इस वात को जैसे महत्व न देकर कल्याणी को अपने व्यक्तिगत स्वार्थ का साधन मात्र मानता है। उधर कल्याणी हर प्रकार से पति की इच्छा-पूर्ति करने की सोचकर भी अपढ़-अपरिचित नारी का-सा व्यवहार नहीं कर पाती। 'कल्याणी' की ट्रैजेडी दो विकसित व्यक्तित्वों की इसी टकराहट का परिणाम है। अन्तर केवल इतना ही है कि कल्याणी अपने संस्कारों में बँधी होने के कारण खुलकर चुनौती नहीं देती, तिल-तिलकर गलती रहती है, और फलस्वरूप विवाह-ग्रंथि के स्थान पर उसकी जीवन-ग्रंथि ही टूट जाती है।

अपने इस नये व्यक्तित्व-विकास के ही कारण आधुनिक नारी पति से भी एक नये प्रकार का आचरण और विश्वास माँगती है। वह इस वात को सहन नहीं कर सकती कि पुरुष उसके छोटे-से-छोटे कार्य को भी सन्देह-दृष्टि से देखे, और उसे प्रति पल अपने इशारों पर नचाने की चेष्टा करे। पुरुष के इस व्यवहार में उसे अपना अपमान और दमन दिखाई देता है। चाहे वह प्रकट विद्रोह न भी कर पाये, फिर भी वह इसे स्वीकार नहीं करती। फलस्वरूप विवाहित जीवन में विसंगति उत्पन्न हो जाती है और कभी-कभी उसका अन्त अत्यन्त दुखदायी होता है। इलाचन्द्र जोशी के 'संन्यासी' की जयन्ती के आत्महत्या करने का मुख्य कारण यद्यपि उसके चरित्र पर पति की संदेहात्मक दृष्टि है तथापि उसकी इस प्रतिक्रिया के मूल में दो विकसित व्यक्तित्वों की टकराहट ही है।

जयन्ती के चरित्र में सौष्ठव, सौन्दर्य, संकोच, विनम्रता और तेजस्विता प्रारम्भ से ही है। ये सब गुण मिलकर उसके व्यक्तित्व को शक्तिशाली बना देते हैं। विवाह से पूर्व नंदकिशोर एक ओर जयन्ती के इस शक्तिशाली व्यक्तित्व के प्रति आकर्षित है तो दूसरी ओर उसके मन में उसको दासी बनाने की इच्छा[1] और इस शक्तिशाली व्यक्तित्व को चूर-चूर करने की प्रतिहिंसापूर्ण भावना भी जागृत हो जाती है। पुरुष के मन में नारी के गर्व को चूर करने की भावना उदित हो, यह वात नारी की नवोपलब्ध शक्ति की परिचायक है। नंदकिशोर अपने असाधारण मनोभावों की विकृति का इन शब्दों में चित्रण

---

१. इलाचन्द्र जोशी : 'संन्यासी' (पृष्ठ ३३३)

करता है: 'मेरे मनोभावों की विकृति की इस विचित्रता पर गौर कीजिए कि जयन्ती से मैं विवाह इसलिए नहीं करने जा रहा था कि मैं अपने एकांगी जीवन की अपूर्णता को पूर्ण करूँ बल्कि इसलिए कि मुझे इस तेजस्विनी नारी के स्वभाव में एक शान्त और संयत तथापि दुर्दमनीय गर्व का जो भाव दिखाई दिया था उसे अकारण ही चूर-चूर करने की एक प्रतिहिंसापूर्ण भावना मेरे मन में समा गई थी।'[1]

जयन्ती को नंदकिशोर को इस मनोवृत्ति का आभास विवाह के कुछ दिन बाद ही हो जाता है। इसलिए वह निडर होकर कहती है: 'आपके अन्तर में छिपी हुई भावनाओं का प्रतिबिम्ब मेरी अन्तरात्मा में प्रारम्भ से ही पड़ने लगा था। आपने वैवाहिक सुख और शान्ति के इरादे से मुझसे विवाह कभी नहीं किया, बल्कि अपने सामाजिक अधिकार के पूरे प्रयोग से मुझे कलुषित और दलित करके एक हिंसात्मक सुख प्राप्त करने का उद्देश्य आपका प्रारम्भ से ही रहा है। विवाह के पूर्व से ही आपके मन में, जान में या अनजान में, मेरे चरित्र के प्रति संदेह और साथ ही एक अस्वाभाविक ईर्ष्या का भाव घर किये हुए था।'[2]

जयन्ती जैसी तेजस्विनी नारी पति के इस अहम्मन्य व्यवहार को सहन नहीं कर पाती। वह निरीह समर्पिता नारी की भाँति अपने-आपको ऐसे अहंवादी पुरुष के चरणों में समर्पित करने में विश्वास नहीं करती। इसी अहं के कारण उनके दाम्पत्य-जीवन में इतना असामंजस्य है।[3] वह कहती है, 'आपमें अभिमान तो है ही, पर अहंभाव भी हद दर्जे तक है, यह मैं पहले ही कह चुकी हूँ। इस अहंभाव की तृप्ति के लिए आप चाहते हैं कि जिस स्त्री से आपका सम्बन्ध हो वह पूर्णरूप से आपकी होकर रहे, उसका कुछ भी स्वतन्त्र रूप से अपना कहने को न रहे, उसका शरीर, उसका मन, उसकी प्रत्येक वासना, प्रत्येक कामना, आपकी इच्छा की बलि हो जाय; उसके भीतर छिपी हुई कोई गुप्त-से-गुप्त प्रवृत्ति उसकी अपनी होकर न रहे; वह सब-कुछ बिना किसी असमंजस के आपके पैरों तले समर्पित कर दे। सीता के युग में पौराणिक काल में, यह प्रकृति-विरुद्ध बात भले ही संभव रही हो, पर किसी भी वास्तविक युग में यह सम्भव नहीं हो सकती।[4]

इस प्रकार नंदकिशोर और जयंती के विवाह का आधार ही इतना ग़लत था कि इसका सफल होना असंभव ही कहा जायेगा। यदि इन दोनों व्यक्तियों में समझौते की भावना होती तो शायद किसी व्यावहारिक स्तर पर उनमें कोई मेल स्थापित हो सकता, पर उनके उद्देश्यों में और उनकी मनोवृत्ति में इतना गहन अन्तर है कि मेल का प्रश्न ही

---

१. इलाचन्द्र जोशी : 'संन्यासी' : (पृष्ठ ३५२)
२. वही : (पृष्ठ ४१३)
३. वही : (पृष्ठ ३८०)
४. वही : (पृष्ठ ३८०-३८१)

नहीं उठता। जयंती अपने इस दुर्भाग्य से जूझती-जूझती जब हार जाती है, तो और कोई उपाय न देखकर आत्महत्या कर लेती है।

दो विकसित व्यक्तित्वों की टकराहट का एक सुन्दर उदाहरण हमें इलाचन्द्र जोशी के 'मुक्तिपथ' में भी मिलता है, जहाँ अर्थलोलुप विजय और धन को तुच्छ समझने वाली उसकी पत्नी प्रमीला में तनिक भी मेल नहीं होता। विजय अर्थ-लाभ के सामने आत्म-सम्मान, शील-संस्कार और व्यक्तिगत सुखों का तिलांजलि दे देता है। प्रमीला 'हीनता की उस स्थिति को पहुँचने में अपने को असमर्थ पाती है।'[1] यदि कभी प्रमीला अतिथि-सत्कार करती तो विजय को वह खर्च इतना अखरता था कि उस दिन शाम को वह खाना ही नहीं खाता था। और 'अतिथि-सत्कार' के खर्च की थोड़ी-बहुत पूर्ति[2] इस प्रकार कर लेता था। स्वयं तो दूसरों के यहाँ खूब दावतें उड़ाता, चाय पीता किन्तु अपने यहाँ खिलाने-पिलाने का आयोजन उसे पसन्द नहीं आता था। पति की इस अर्थ-लोलुप प्रकृति से प्रमीला के आत्मसम्मान को चोट पहुँचती और इसी कारण बहुधा उनमें कहा-सुनी हो जाती।[3] धीरे-धीरे बात इतनी बढ़ जाती है कि उन दोनों का जीवन ही बिखर जाता है।

इसी उपन्यास में एक और उदाहरण मिलता है जहाँ असमान व्यक्तित्वों के कारण उमाप्रसाद और उनकी पत्नी कृष्णा जी का मेल नहीं खाता। उनके जीवन की विसंगति को लेखक इन शब्दों में व्यक्त करता है: "जिस दिन श्रीमती जी उनसे प्रसन्न रहतीं, उस दिन आसानी से उनसे मुक्ति मिलना कठिन हो जाता और उनका राजनैतिक विषयों और सरकारी नीति पर गपशप और ताश के पत्तों से सम्बन्धित कार्यक्रम चौपट हो जाता। और जब वह अप्रसन्न रहतीं तब उनके 'कांशेंस' को खरोंच लगती कि अपनी विवाहिता पत्नी—सहधर्मिणी—का साथ वह नहीं दे पाते; वह गार्हस्थिक बंधों में बँधी रहती है, जब कि वह मुक्त जीवन का उपभोग कर रहे हैं।"[4]

सर्वदानन्द वर्मा के 'प्रश्न' में भी असमान व्यक्तित्वों का चित्रण है जहाँ कृष्णशंकर जैसे विद्वान का विवाह भोग-विलास में पली युवती कुंदन से होता है और फलस्वरूप उनमें मेल नहीं होता। इसी प्रकार 'अश्क' के 'गिरती दीवारें' में उग्र और कर्कशा चम्पावती का अपने सीधे, सरल स्वभाव के पति रामानन्द से मेल नहीं बैठता।

उषादेवी मित्रा के 'जीवन की मुस्कान' (१९३९) में पति-पत्नी के व्यक्तित्वों की टकराहट का एक और सुन्दर उदाहरण मिलता है। रूपरेखा का पति कमलेश अपनी

१. इलाचन्द्र जोशी : 'मुक्तिपथ' (पृष्ठ ३८८)
२. वही : (पृष्ठ ३८८)
३. वही : (पृष्ठ ३८८-३८९)
४. वही : (पृष्ठ १८५)

सोहागरात के दिन ही प्रेम की सत्ता को अस्वीकार करता है[1], जिसके कारण उसी दिन रूपरेखा की उमंगें नष्ट हो जाती हैं और उनमें विरोध का वीज पड़ जाता है। रूपरेखा शिक्षिता और साहसी नारी है। उसका निश्चित मत है कि यदि पति प्रणय-दान नहीं देता तो वह भी समर्पिता पत्नी की भाँति प्रेम की भीख नहीं माँगेगी। वह सोचती है कि जो पति प्रेम के अस्तित्व को ही स्वीकार नहीं करता वह प्रेम क्या कर सकेगा। इसीलिए वह आत्म-सम्मान बनाये रखने के लिए कहती है: 'मैं आपसे किसी दिन प्रेम नहीं कर सकूँगी।'[2]

रूपरेखा अपने असंतुष्ट दाम्पत्य-जीवन का मूल कारण पति को ही मानती है। इसलिए कभी वह पति से खीझती है, कभी क्रोध करती है और कभी प्रलाप करके चुप रह जाती है। वह अपने अतृप्त और दुखी जीवन को विस्मृत करने के लिए नौकरी करना चाहती है। किन्तु पति को यह भी मान्य नहीं है। तव रूपरेखा का मन एकदम प्रचण्ड हो उठता है। उस शक्तिशाली नारी के व्यक्तित्व को पति का यह आधिपत्य स्वीकार नहीं होता। वह पति की इस प्रवृत्ति का विरोध करती हुई कहती है: 'उन्हें वधू की स्वाधीन जीविका पसन्द नहीं है? पर उसके नारीत्व को व्यर्थ कर देना पसन्द है? एक शक्तिशाली नारी से दासी-वृत्ति कराना, एक प्रेममयी नारी को प्रेम से वंचित कर देना और भावी माता को वन्ध्या वनाकर रखना उन्हें पसन्द है।'[3]

एक रात कमलेश रूपरेखा से संभोग की इच्छा प्रकट करता है। पति के इस प्रस्ताव को साधारण नारी सौभाग्य समझकर स्वीकार करती। किन्तु रूपरेखा का व्यक्तित्व अपमान की अग्नि में तपकर और भी प्रखर हो गया है। वह इस प्रस्ताव को ठुकरा देती है। और ठुकराकर, गर्व का अनुभव करती है: 'हाँ मैं वड़ी हूँ, सबसे वड़ी। तभी तो कल रात अनायास जो वस्तु पैर तले पहुँच गई थी, उसकी अवहेलना कर मैं विजय गर्व से लौट आई। वह पति की लालसा थी? क्षण भर का मोह था, जरा-सी उत्तेजना थी, . . . और वड़ी हूँ तभी न अवहेलना से त्याग भी सकी। यदि मैं छोटी होती, घर की संकीर्णता के भीतर आवद्ध रहने के लिए मेरा जन्म हुआ होता, तो कल रात को एक घड़ी में मेरा जीवन ही वदल जाता। और उसी हृदयहीन के पद तले लौटने लगती, जिसने मेरे जीवन के अनमोल पलों को नष्ट कर दिया है। उसी स्वार्थी, प्रेम को न मानने वाले व्यक्ति की मैं किंकरी वन गई होती।'[4]

'शेखर: एक जीवनी' में भी शेखर के माँ-वाप के सम्वन्धों में दो विकसित व्यक्तित्वों

---

१. 'वह है कोई कल्पना, भावुक की मूर्ख भावना।'
उषादेवी मित्रा: 'जीवन की मुस्कान' (पृष्ठ ६२)

२. वही: (पृष्ठ ६२)

३. वही: (पृष्ठ १३१)

४. उषादेवी मित्रा: 'जीवन की मुस्कान' (पृष्ठ १४६)

की टकराहट का सजीव चित्र उपस्थित किया गया है। उन दोनों में से कोई भी दूसरे का आधिपत्य स्वीकार नहीं करता। फलतः 'गर्जन-तर्जन, कुछ वर्षा, कभी कुछ दिन अनबोला और माँ की ओर से अनाहार—यह कोई बड़ी बात नहीं थी।'[1] किन्तु एक दिन बात इतनी बढ़ती है कि छोटी गोलमेज के एक ओर पिता खड़े थे, और उनके सामने दूसरी ओर मां थीं—उनका आंचल सिर पर नहीं था, और छाती खोलकर खड़ी वे कह रही थीं, 'लो मुझे मार डालो...'[2] और जब पिता दफ्तर चले जाते हैं तो वे भी दृढ़ नारी की भाँति[3] घर से निकलकर जंगल में चली जाती हैं।

इन दोनों प्रसंगों में यह बात उल्लेखनीय है कि इन लेखकों ने पत्नी के प्रबल व्यक्तित्व के आगे पति को झुकता हुआ दिखाया है। टकराहट के बाद विच्छेद नहीं होता, वरन् पति पत्नी के प्रति आग्रहशील और समर्पित हो जाता है। और इस प्रकार उनका दाम्पत्य-जीवन एक स्वस्थ समझौते पर आधारित हो जाता है।

किन्तु यशपाल में हमें समझौते की यह भावना नहीं मिलती। उनका निश्चित मत है कि यदि आज की शिक्षिता नारी की मनोवृत्ति पति की मनोवृत्ति से मेल नहीं खाती और वह समानता की अपेक्षा करती हुई स्वतन्त्र व्यक्तित्व का परिचय देती है तो एक ओर तो पति अपने संस्कारवश किसी भी अवसर पर झुकने को प्रस्तुत नहीं होता और दूसरी ओर पत्नी अपने विकसित व्यक्तित्व के कारण अपने मन को चाहने पर भी पति की इच्छा के अनुकूल नहीं ढाल पाती। फलस्वरूप दोनों में तनाव उत्पन्न हो जाता है। तब छोटी-छोटी सरल ढंग से कही गई बात भी उल्टी प्रतीत होने लगती है और दाम्पत्य-जीवन में कटुता एवं असंतोष का समावेश हो जाता है।

'देशद्रोही' में चन्दा की प्रवृत्तियाँ पति राजाराम से भिन्न थीं। 'स्वाभाविक वृत्ति के प्रकट होने पर उसका व्यवहार और पसन्द पति से भिन्न जान पड़ते। इस वृत्ति को कुचलकर पति की इच्छा के अनुकूल बनाना जीवन का क्रम था।'[4] किन्तु विकसित व्यक्तित्व के कारण चाहने पर भी चंदा अपनी प्रवृत्तियों को पति की प्रवृत्तियों से न मिला सकी। कभी राजनैतिक बहसों में मतभेद के कारण,[5] कभी बहिन राज को लेकर,[6] कभी

---

१. अज्ञेय : 'शेखर : एक जीवनी' (पृष्ठ १६०)
२. वही : (पृष्ठ १६०)
'खिड़की के सामने से होकर माँ निकली। शेखर ने देखा, उनकी चाल में एक दृढ़ता है जो सदा नहीं होती, और वे सीधी, तेजी से चली जा रही हैं।'
३. वही : (पृष्ठ १६०)
४. यशपाल : 'देशद्रोही' (पृष्ठ २८०)
५. वही : (पृष्ठ २७४)
६. वही : (पृष्ठ २३१)

समाज में पति की इच्छानुसार आचरण न कर पाने के कारण[1] और कभी डा० खन्ना को लेकर उनमें झगड़ा हो जाता है।[2] पति-पत्नी दोनों में से एक में भी समझौते की प्रवृत्ति नहीं है। पति अपना आधिपत्य जमाना चाहता है, तो चन्दा इसमें अपनी हीनता समझकर, बराबरी का सम्बन्ध मानकर समय-असमय तर्क-वितर्क करने लगती है जिसके कारण पति का रोष उग्र रूप धारण कर लेता है और वह बात-बात में चन्दा को झिड़क देता है। पति से अपमानित होने पर चन्दा को असह्य वेदना होती है और वह निरुपाय होकर रोने लग जाती है जिससे राजाराम और भी चिढ़ जाता है : 'जो बात, रोना-ही-रोना। ज़िन्दगी मुसीबत हो गई हमारी तो, दिन भर कोल्हू के बैल की तरह मरो। घर में भी चैन नहीं...'[3] उनके दाम्पत्य जीवन की ऐसी विषमता के बीच जब डा० खन्ना प्रवेश करता है तो चन्दा सहज ही उसकी ओर आकर्षित हो जाती है और उनके वैवाहिक जीवन में असंतोष और कटुता चरम सीमा पर पहुँच जाती है।

दाम्पत्य-जीवन की इन विसंगतियों के कारण इस युग के उपन्यासकार के मन में विवाह-व्यवस्था पर ही से विश्वास उठता-सा जान पड़ता है, किन्तु वास्तव में यह बात सच नहीं है। वैवाहिक जीवन की विसंगतियों का चित्रण करने में इन उपन्यासकारों का मूल उद्देश्य विवाह-व्यवस्था का उन्मूलन नहीं है। इलाचन्द्र जोशी के 'प्रेत और छाया' की मंजरी कहती है : 'दो हृदयों का सच्चा प्रेम किसी भी हालत में किसी भी परिस्थिति में अपने-आप में महत्वपूर्ण है, इस बात को कोई भी सहृदय और समझदार व्यक्ति अस्वीकार नहीं कर सकता। पर इस पर 'समाज की मुहर' लगने से उसकी महत्ता एक सुन्दर, शालीन और व्यवस्थित रूप धारण कर लेती है। मेरा तो यह विश्वास है कि मनुष्य ने सभ्यता और संस्कृति के विकास में जितने भी सामाजिक नियमों का आविष्कार किया है उन सबमें विवाह की संस्था श्रेष्ठ है। मैं यहाँ तक अनुमान करती हूँ कि भविष्य में भी मानव-समाज चाहे कितना हो अधिक उन्नत और प्रगतिशील क्यों न बन जाय, किसी भी हालत में वह विवाह-विधान को तोड़ने की बात नहीं सोच पायेगा। यह हो सकता है कि वह उसे और अधिक उन्नत और सुघड़ रूप देने की चेष्टा करे, पर उसे तोड़ेगा किसी भी हालत में नहीं—चाहने पर भी नहीं।''[4]

विवाह-व्यवस्था में विश्वास

इसी प्रकार भगवतीप्रसाद वाजपेयी के 'निमंत्रण' में गिरधारी कहता है : 'मैं यह नहीं कहता कि विवाह प्रेम की आदर्श कल्पना है। किन्तु समाज के निर्माण के लिए, अब तक, विवाह से उत्तम दूसरी कोई आदर्श कल्पना भी तो स्थिर नहीं हुई है।'[5]

---

१. यशपाल : 'देशद्रोही' (पृष्ठ ११४-११५)
२. वही : (पृष्ठ २८४) ३. वही : (पृष्ठ २१४)
४. इलाचन्द्र जोशी : 'प्रेत और छाया' (पृष्ठ १७१-१७२)
५. भगवतीप्रसाद वाजपेयी : 'निमंत्रण' (पृष्ठ ३०७-३०८)

इस प्रकार हम देखते हैं कि वैवाहिक जीवन की विसंगतियों का चित्रण करने के मूल में इन लेखकों का उद्देश्य यही था कि विवाह-नियम केवल एक रूढ़ि बनकर सामने न आये, वरन् वह सच्चे प्रेम-सम्बन्ध की परिणति बन सके और अपने वैवाहिक जीवन में पति-पत्नी पारस्परिक श्रद्धा, त्याग और विश्वास से काम लें।

तलाक़

इस युग के उपन्यासों में वैवाहिक जीवन की विसंगतियों को इतना अधिक महत्व देने का एक कारण यह भी है कि लेखक कहना चाहता है कि यदि किसी भी उपाय से दाम्पत्य-जीवन में शान्ति और प्रेम का समावेश नहीं होता, पति-पत्नी दोनों का ही जीवन असंतोष और कटुता के कारण नष्ट होता है तो तिल-तिल कर घुटते रहने की अपेक्षा सम्बन्ध-विच्छेद कर लेना ही उचित होगा।

'अंचल' के 'चढ़ती धूप' में तारा कहती है : 'एक पुरुष को लेकर वह जीवन बिताने के लिए बाध्य न की जाये। विशेष कारणों और विशेष स्थितियों में वह उससे सम्बन्ध-विच्छेद भी कर सके।'[1] किन्तु जहाँ व्यवहार की बात उठती है वहाँ पाश्चात्य रंग में रँगी एंग्लो-इण्डियन नारी के लिए तलाक़ करना भले ही सरल हो, नितान्त भारतीय नारी के लिए उतना सरल नहीं है। यही कारण है कि जहाँ धर्मवीर भारती के 'गुनाहों का देवता' की एंग्लो-इण्डियन लड़की पम्मी पति को तलाक़ देकर अपने भाई के साथ आनन्द से रहती है वहाँ इसी उपन्यास में सुधा दाम्पत्य-जीवन में विषमता होने पर भी घुल-घुल कर मरती है। इसी प्रकार 'संन्यासी' की जयन्ती, 'पर्दे की रानी' की शीला, 'त्रिवेणी' की सुरभि आत्म-हत्या करती हैं, तो 'पिपासा' की शकुन्तला, 'शोले' की शोभो, 'प्रेम समाधि' की मिसेज़ वर्लैवर्ट, 'संस्मरण' की चित्रा आदि अनेक नारियाँ अपने दाम्पत्य-जीवन की घुटन के कारण तिल-तिल कर मृत्यु की शरण लेती हैं।

यद्यपि अधिकतर उपन्यासों में हमें इस गहन समस्या का यही आदर्शवादी रूप मिलता है, तथापि कुछ उपन्यासकारों ने इसका यथार्थवादी समाधान देने का भी साहस किया है। 'शेखर: एक जीवनी' की शशि अपने पति रामेश्वर के अत्याचारों का प्रतिरोध करती है और जब वह क्रुद्ध होकर उसे घर से निकाल देता है तो वह साहसपूर्वक इस विच्छेद को स्वीकार कर लेती है। वह कहती है, 'अब वहाँ लौटना नहीं होगा... उन्होंने मुझे घर से निकाल दिया है।'[2] इस सम्बन्ध-विच्छेद का उसे दुख भी नहीं है क्योंकि वह समझती है कि असंतोष, निराश, अपमानजनक दाम्पत्य-जीवन बिताने से अकेले जीवन बिताना श्रेयस्कर है।

---

१. अंचल : 'चढ़ती धूप' (पृष्ठ १५७)
२. अज्ञेय : 'शेखर : एक जीवनी' (पृष्ठ १७४)

'नरमेध' में भी जब देवेन्द्र देखता है कि उसकी पत्नी उसको नहीं उसके मित्र अनूप को प्रेम करती है तो वह स्वयं ही उससे सम्बन्ध-विच्छेद कर उसे स्वतन्त्र कर देता है। इसी प्रकार 'नया आदमी' में गजानन और 'प्रश्न' में रमेश को जैसे ही अपनी पत्नी के पर-पुरुष-प्रेम का प्रमाण मिलता है, वे दोनों ही उसका विवाह उसके प्रेमी से करवा कर उससे सम्बन्ध-विच्छेद कर लेते हैं।

यशपाल के 'मनुष्य के रूप' में तलाक़ को बहुत महत्व दिया गया है। इसका एक कारण यह भी है कि मनोरमा का पति सुतलीवाला शारीरिक रूप से अयोग्य सिद्ध होता है। 'हिन्दू कोड बिल' स्वीकृत होने के पूर्व भारतीय संविधान में तलाक़ के लिए तीन में से एक कारण आवश्यक माना जाता था। 'या तो पति का दूसरी स्त्री से सम्बन्ध हो, या वह नपुंसक हो, या पत्नी से मारपीट करता हो।'[1] मनोरमा स्वीकार करती है कि 'आखिरी बात छोड़कर मेरे विचार में तो सभी कुछ है।'[2]

आज की जागृत नारी इस विकट अवस्था को सहते रहना अपराध समझती है। कामरेड नीता को जैसे ही मनोरमा की इस वैवाहिक विसंगति का पता चलता है वह दृढ़ स्वर में कहती है: 'है जुल्म, असह्य जुल्म! लड़की के साथ। मनोरमा हर हालत में तुम्हें इस झंझट और गन्दगी से पल्ला छुड़ाना है, एकदम जब सब तथ्य सामने है।'[3] परन्तु मनोरमा के मन के प्राचीन हीन-संस्कार अभी विद्यमान हैं। वह न्यायालय में जाकर सार्वजनिक रूप से इन तथ्यों का उद्घाटन करने में लज्जा और संकोच का अनुभव करती है। मनोरमा की इस बात से नीता का क्रोध और भी बढ़ जाता है। वह कहती है: 'तो तुम्हें मुसीबत से कौन बचा सकता है? जब स्वयं मुसीबत के गले चिपटी हो।'[4] नीता की दृष्टि में यह संकोच पूँजीवादी संस्कृति का पाखण्ड मात्र है। 'वह निरन्तर ज़ोर दिये जा रही थी कि मनोरमा इस गन्दगी से निकले।'[5] इन पंक्तियों से नवशिक्षिता नारी-मन और साधारण नारी-मन का अन्तर स्पष्ट हो जाता है।

सुतलीवाला एक फिल्म अभिनेत्री पहाड़न को घर में बसाना चाहता है इसलिए वह भी मनोरमा से मुक्ति पाना चाहता है। अतः दोनों की सम्मति से वकील से दरख्वास्त बनवाकर भेज दी जाती है। जब अदालत में एक मास बाद की तारीख पड़ती है—तो 'मनोरमा को अदालत जाना मौत मालूम होती थी, परन्तु मजबूरी थी। उसने यह भेद किसी पर प्रकट नहीं किया। वह लज्जा के मारे मरी जा रही थी।

१. यशपाल: 'मनुष्य के रूप' (पृष्ठ २२५)
२. वही: (पृष्ठ २२५)
३. वही: (पृष्ठ २२६)
४. वही: (पृष्ठ २२६)
५. वही: (पृष्ठ २२६)

अदालत के सामने उसे अपनी दरख्वास्त की बातें दोहरानी पड़ीं. . .तलाक़ मंजूर हो गया।'[1]

तलाक़ के पश्चात् पति के लिए आवश्यक होता है कि वह अपनी आमदनी के अनुसार पत्नी को गुजारे के लिए तब तक कुछ रुपया दे जब तक वह दुबारा विवाह नहीं कर लेती। मनोरमा अपने आत्म-सम्मान के कारण अपने गुजारे की दरख्वास्त नहीं देती किन्तु अदालत स्वयं ही उसे तीन सौ रुपया माहवार का गुजारा दिया जाने का फ़ैसला करती है।[2]

यद्यपि मनोरमा इस फ़ैसले से अपनी मुक्ति का ही अनुभव करती है, तथापि प्राचीन संस्कारों के कारण वह संकोच भी करती दिखाई देती है। परन्तु कॉमरेड नीता 'अदालत में फ़ैसला सुनते ही, अदालत के सामने ही मनोरमा को अत्याचार से मुक्ति पर बधाई देती है।'[3]

इस प्रकार 'मनुष्य के रूप' में तलाक़ की व्यवस्था को वैवाहिक जीवन की विसंगति से मुक्ति पाने का सही मार्ग माना गया है। तलाक़ का इतना जोरदार समर्थन और किसी हिन्दी उपन्यास में नहीं मिलता। यह सच है कि हिन्दी के अनेक उपन्यासों में पति-पत्नी के सम्बन्ध-विच्छेद की चर्चा की गई है। परन्तु उन सबमें दो बातों पर अधिक ध्यान दिया गया है। एक तो वैवाहिक जीवन में विषमता होने पर भी नारी के कर्त्तव्य-पालन और आत्म-बलिदान को जितना महत्व दिया है, उतना सम्बन्ध-विच्छेद को नहीं। दूसरे जिन कुछ उपन्यासों में सम्बन्ध-विच्छेद की चर्चा है, वहाँ भी अधिकांशतः पति ही पत्नी से सम्बन्ध-विच्छेद करता पाया जाता है। यहाँ तक कि 'मनुष्य के रूप' में भी पहले सुतलीवाला ही मनोरमा को तलाक़ के सम्बन्ध में पत्र लिखता है। इसका मुख्य कारण यही विदित होता है कि अभी तक भारतीय पत्नी अपने संस्कारों से मुक्त होकर इतने साहस का संग्रह नहीं कर पाई है कि वह स्वयं इस ओर क़दम बढ़ाये।

नारी-स्वातन्त्र्य की समस्या

प्रेमचन्दोत्तर काल के उपन्यासों में नारी को वैयक्तिक और आर्थिक स्वतन्त्रता को जितना सबल समर्थन मिला है उतना पूर्ववर्ती उपन्यासों में नहीं मिलता। नारी-स्वातन्त्र्य के अर्थ को स्पष्ट करते हुए 'चढ़ती धूप' की तारा कहती है :

वैयक्तिक स्वतन्त्रता

'नारी स्वतन्त्रता से मेरा मतलब है नारी के स्वतन्त्र अस्तित्व और व्यक्तित्व की मान्यता। उसकी सामाजिक और आर्थिक स्थिति की सुरक्षित मर्यादा। उसे आत्मनिर्णय का अधिकार। साथ ही उसके प्रति

---

१. यशपाल : 'मनुष्य के रूप' (पृष्ठ २९४)
२. वही : (पृष्ठ २९५)
३. वही : (पृष्ठ २९६)

एक उदार, आदरपूर्ण, शुचितामय, दृष्टिकोण जो अधिक स्वस्थ, संयत और मानवीय हो। उसे केवल विलास और सौन्दर्य की गुड़िया न समझकर एक संवेदनशील आत्मा का दरजा दिया जाये।'[१]

आज की शिक्षिता नारी अपनी पतितावस्था और परतन्त्रता के प्रति सजग हो चुकी है। वह समझती है कि सदियों से प्रचलित पितृ-सत्तात्मक व्यवस्था के कारण नारी की वैयक्तिक स्वतन्त्रता का विकास नहीं हो सका है। तारा कहती है : 'शुरू से ही समाज की व्यवस्था पुरुषों के हाथ में रही है। उन्होंने अपनी सुविधा, आधिपत्य, और निरंकुशता को जारी रखने वाला विधान बनाया है।'[२] धीरे-धीरे नारी उस असमान व्यवस्था की इतनी अधिक अभ्यस्त हो गई कि वह स्वयं ही नारी स्वातन्त्र्य की विरोधी बन बैठी।[३] किन्तु आज की शिक्षित-नारी जानती है कि नारी की यह स्थिति अधिक दिन तक न रह सकेगी। 'पूंजीवादी व्यवस्था के साथ उसका भी दम टूटेगा।'[४] जनतंत्र और समाजवाद के प्रसार के साथ-साथ समाज में नारी को भी उसका उपयुक्त स्थान देना ही होगा, *जिसमें वह अपने जीवन और व्यक्तित्व की सार्थकता के लिए समान अवसर पा* सके।

यही कारण है कि इस युग के उपन्यासों में ऐसी नारी का चित्रण विरल है जो पुरुष के कुशासन को निर्विरोध सहती चली गई हो और अपनी वैयक्तिकता का परिचय न देती हो। 'मुक्ति पथ' में जब सुनन्दा का विवाह एक बुड्ढे से कर दिया जाता है तो वह दूसरे दिन ही वहाँ से भागकर माँ के घर लौट आती है। माँ के लाख कहने पर, डाँट-डपट और कलह करने पर भी वह वापस नहीं लौटती।[५] इसी प्रकार 'नई इमारत' में जब आरती के पिता उसका विवाह उसकी इच्छा के विरुद्ध अन्यत्र करना चाहते हैं तो वह पितृगृह से निकलना पसन्द करती है किन्तु अपनी इच्छा की बलि देना नहीं। यही नहीं, 'मनुष्य के रूप' की शोभा और भगवतीचरण वर्मा के 'आखिरी दाँव' की चमेली अपढ़-गँवार होने पर भी पारिवारिक अत्याचार को सहन नहीं करतीं और उस स्थिति से भाग निकलकर अपनी वैयक्तिकता का परिचय देती हैं। जहाँ तक नारी सामाजिक या पारिवारिक दमन से मुक्ति पाने के लिए अपनी वैयक्तिक स्वतन्त्रता का परिचय देती

---

१. 'अंचल' : 'चढ़ती धूप' (पृष्ठ १५७)
२. वही : (पृष्ठ १२९)
३. 'अब स्त्री का दिल स्वयं इतना गुलाम है कि वह औरत को मुँह खोले नहीं देख सकती। कैनीबाल नर-मांस खाकर प्रसन्न होता है, उसके सामने इससे बढ़ कर सत्य ही नहीं। यही दशा स्त्री की है।'
रांगेय राघव : 'घरौंदे' (पृष्ठ १७६)
४. 'अंचल' : 'चढ़ती धूप' (पृष्ठ १२९)
५. इलाचन्द्र जोशी : 'मुक्तिपथ' (पृष्ठ ८५)

है, वहाँ तक तो इस युग के सभी उपन्यासकार एकमत हैं। परन्तु समस्या तब विवादास्पद हो जाती है जब यह प्रश्न उठता है कि नारी अपने व्यक्तित्व का ठीक विकास किस प्रकार कर सकती है और विवाहित एवं अविवाहित अवस्था में नारी को कहाँ तक वैयक्तिक स्वतन्त्रता का उपभोग करना चाहिए।

नारी के व्यक्तित्व-विकास को महत्व देने के कारण आधुनिक काल में विश्वविद्यालयों और महाविद्यालयों में सहशिक्षा का प्रचलन हो गया है। रांगेय राघव ने 'घरौंदे' में दिखाया है कि सहशिक्षा के कारण एक ओर नारी की वैयक्तिकता का विकास होता है दूसरी ओर उसे पुरुष को अधिक निकटता से समझने का अवसर मिलता है, दोनों के बीच की दूरी घट जाती है और उनमें शासक-शासित भाव के स्थान पर सख्यभाव का उदय होता है। इस युग के लगभग सभी उपन्यासों में ऐसी शिक्षिता नारियों का चित्रण हुआ है जो समान स्तर पर पुरुष से प्रेम करती है। उनके साथ उठने-बैठने, घूमने-फिरने, बातचीत करने में समान वैयक्तिक स्वतन्त्रता का अनुभव करती हैं। इस स्तर पर नारी की वैयक्तिक स्वतन्त्रता को इस युग के लगभग सभी उपन्यासकारों का समर्थन मिला है।

किन्तु कभी-कभी जब नारी सामाजिक मान्यताओं एवं आचरण की मर्यादाओं का उल्लंघन करके मनमाने ढंग से व्यवहार कर अपनी वैयक्तिक स्वतन्त्रता का परिचय देती है तब आज के समाज के सम्मुख एक प्रश्न उपस्थित हो जाता है। 'घरौंदे' की रानी और विधवा लवंग जिस प्रकार का उच्छृंखल व्यवहार करती हैं, तथा 'दादा कामरेड' की शैल विवाह को वैयक्तिक स्वतन्त्रता का विनाश मानकर[1] अविवाहित रहते हुए भी अनेक पुरुषों के संसर्ग को दोष नहीं मानती, तब उसके आचरण का समर्थन करना असंभव हो जाता है। यद्यपि यशपाल ने इस प्रकार का जिस ढंग से चित्रण किया है उससे लगता है कि वे इसमें कोई दोष नहीं मानते, या कम-से-कम वे इसे पूँजीवादी व्यवस्था की अनिवार्य परिणति मानते हैं। किन्तु ऐसा उच्छृंखल आचरण न तो सिद्धान्त की कसौटी पर खरा उतर सकता है, न उसे हम युग के आदर्शों के अनुरूप मान सकते हैं। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता आवश्यक होते हुए भी कुछ सामाजिक और नैतिक सीमाओं को मानने के लिए बाध्य है। इन सीमाओं का उल्लंघन करने पर वह स्वतन्त्रता अनैतिकता और अराजकता को ही जन्म दे सकती है।

हिन्दी के प्रमुख उपन्यासकारों में यशपाल ने विवाहित और अविवाहित दोनों हो अवस्थाओं में नारी की वैयक्तिक स्वतन्त्रता पर विशेष बल दिया है। 'देशद्रोही' की चन्दा अपने विवाहित जीवन में वैयक्तिक स्वतन्त्रता का पूर्ण उपभोग न कर सकने पर क्षोभ प्रकट करती हुई डा० खन्ना से कहती है: 'मैं क्या करूँ ? . . . तुम जैसे कहो मैं करने को तैयार हूँ ? पर इस घर में रहते क्या कर सकती हूँ ? . . . इनसे लड़कर मैं घर में कैसे

---

१. यशपाल : 'दादा कामरेड' (पृष्ठ ३७)

रह सकती हूँ ?' चन्दा की बेबसी से खीझकर खन्ना ने कहा: 'तो ऐसे घर से ही क्या जिसमें तुम्हारा अपना व्यक्तित्व कुछ भी नहीं ? जिस घर में तुम्हारी इच्छा का मूल्य नहीं, वह घर तुम्हारा तो न हुआ ? तुम घर की एक वस्तु-मात्र हो ?'[1]

इसी प्रकार 'दादा कामरेड' की शैल विवाहिता यशोदा को सीख देती हुई कहती है: 'पुरुषों के सन्देह और बेमतलब नाराज़गी को बहुत परवाह करने से या तो केवल उनके जेब के रुमाल की तरह रहो, स्वयं सोचना, अपने जीवन की बात करना छोड़ दो! या फिर उन्हें सोचने दो...अपने-आप समझ जायेंगे...मैंने अपने बाबत कम बातें नहीं सुनीं...तुम्हारी तरह चिन्ता करने लगती तो कभी की मर गई होती। परन्तु उसमें सचाई कितनी है, यह तो मैं ही जानती हूँ...अब तक स्त्रियाँ रही है मर्दों के व्यक्तिगत इस्तेमाल की चीज। यदि वे अपने व्यक्तित्व को ज़रा भी अलग से खड़ा करने की चेष्टा करेंगी तो उँगली तो जरूर उठेगी। लेकिन थोड़े दिन बाद नहीं।... ज़रा हिम्मत करो। पुरुषों को सहने का अभ्यास होना चाहिये कि स्त्रियाँ भी अपना व्यक्तित्व रखती हैं।'[2]

इस प्रकार की सीख सैद्धांतिक रूप से उचित प्रतीत होने पर भी व्यावहारिक जीवन में ठीक नहीं उतरती। सफल दाम्पत्य-जीवन संघर्ष पर नहीं समझौते पर अवलम्बित है। उसमें अपने अधिकारों से भी अधिक अपने उत्तरदायित्व की चेतना वांछनीय है। वैवाहिक जीवन में पति-पत्नी दोनों को समान रूप से वैयक्तिक स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए। किन्तु आज के समाज में देखा यह जाता है कि पुरुष जिस प्रकार की वैयक्तिक स्वतन्त्रता की छूट स्वयं ले लेता है वैसी छूट नारी को नहीं देना चाहता। इस असमान स्थिति के ही कारण यह समस्या और भी जटिल हो जाती है। यशपाल ने 'दादा कामरेड' में तीनों वर्गों की स्त्रियों को पुरुष का गुलाम बताया है। हरीश कहता है: 'एक, किसान-मज़दूर श्रेणी की औरतें। वे पति के बराबर ही काम करती है और पति की गुलामी करती है घाते में। दूसरी हैं, सफेदपोश लोगों की औरतें। ये लोग घर का वह काम करती है जिसे आठ-दस रुपये माहवार का नौकर बखूबी कर सकता है, हाँ सन्तान पैदा करने के काम को अलग रहने दीजिए।...तीसरी हैं अमीर श्रेणी की औरतें। पुरुष के मन-बहलाव और संतान-प्रसव करने के अतिरिक्त वे कुछ नहीं करतीं। अमीर लोग इन्हें बैठा-बैठा कर अपने शौक़ और शान के लिए खिलाया करते हैं, जैसे तोता-मैना या गोद के पालतू कुत्ते को खिलाया जाता है।...वह पुरुष की कृपा पर निर्भर रहती हैं, उसकी गुलामी करती हैं। इस समाज की स्त्रियाँ यदि छतरी और बटुआ हाथ में लेकर मनमानी साड़ियाँ और ज़ेवर खरीदने की स्वतन्त्रता पा जाती है तो अपने-आपको

---

१. यशपाल: 'देशद्रोही' (पृष्ठ ३१६)
२. यशपाल: 'दादा कामरेड' (पृष्ठ १५०)

स्वतन्त्र समझती हैं। परन्तु यदि वे स्वतन्त्रता से अपना घर बसाना चाहें, या स्वतन्त्रता से संतान पैदा करना चाहें तो क्या ये स्वतन्त्र हैं ?'[1]

नारी को इस गुलामी से मुक्ति दिलाने के लिए हरीश एक समाधान भी उपस्थित करता है : 'क्यों न स्त्री भी पुरुष के समान ही काम करे और ब्याह कर साथ ही रहना हो तो दोनों कमाई कर अपना निर्वाह चलायें।'[2] इस कथन का अर्थ यह हुआ कि नारी की वैयक्तिक स्वतन्त्रता उसकी आर्थिक स्वतन्त्रता पर ही निर्भर है। इन दोनों का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध मानकर इस युग के अनेक उपन्यासकारों ने कहा है कि नारी की आर्थिक परतन्त्रता ही उसकी वैयक्तिक स्वतन्त्रता के मार्ग में रोड़ा बनी हुई है। विशेषकर प्रगतिवादी समाजवादी उपन्यासकारों ने बुलन्द आवाज़ में कहा कि नारी की आर्थिक परतन्त्रता के कारण ही परिवार और समाज में उसकी स्थिति हीन है। जब तक वह आर्थिक रूप से स्वतन्त्र नहीं हो जाती, तब तक न तो परिवार और समाज में उसको सम्मान मिल सकता है और न उसके व्यक्तित्व का पूर्ण विकास हो सकता है। भैरवप्रसाद गुप्त ने 'शोले' (१९४७) में और रामचन्द्र तिवारी ने 'कमला' (१९४३) में यह दिखाने की चेष्टा की है कि 'किस प्रकार आर्थिक परतन्त्रता के कारण परिवार में नारी अनादर की पात्र बन जाती है' और जो थोड़ा-बहुत सम्मान उसे मिलता भी है वह उसके पति की आर्थिक अवस्था के अनुपात में घटता-बढ़ता रहता है। यदि किसी कारणवश उसका पति कहीं चला जाता है, अथवा उसकी मृत्यु हो जाती है तो नारी की स्थिति एक दासी अथवा भिखारिणी की-सी रह जाती है। 'शोले' में जब शोभी का पति घर छोड़कर चला जाता है तब वही सास और ननद जो उसके पति के सामने सद्भावनापूर्ण और कोमल बनी हुई थीं, अब निर्मम और कठोर होकर शोभी को भीषण यातना देती हैं।

आर्थिक स्वतन्त्रता

रांगेय राघव ने तो इसी आर्थिक परतन्त्रता को ध्यान में रखकर सामंतयुगीन नारी की तुलना वेश्या से की है और उसके सतीत्व को ढकोसला माना है 'सामंती राज्य की स्त्री एक वेश्या है। घर की बेजान चीज़ों की स्वामिनी, और जीवित मनुष्यों की दासी। आर्थिक परतन्त्रता से उसे बाँध दिया गया था। वह क्या जीवन है जब अपने पर नहीं, दूसरों पर गर्व किया जाये ? जिंदा रहना क्या कोई बात है ? कुत्ता जंजीर से बाँधकर भूखा रखा जाये तो वह कैसा भी माँस खा सकता है। और जब उसे मालूम हो जाये कि यह माँस उसको चौकीदारी किये बिना नहीं मिलेगा, तो वह भूँकने के लिए भी तैयार हो जायेगा। कहो वीरसिंह, सतीत्व पूंजीवाद को बनाये रखने का ढकोसला है, रूढ़ि भरे धर्म की एक दाई है।'[3]

---

१. यशपाल : 'दादा कामरेड' (पृष्ठ १२५-१२६)
२. वही : (पृष्ठ १२७)
३. रांगेय राघव : 'घरौंदे' (पृष्ठ १७७)

यही कारण है कि इस युग के उपन्यासकार ने कहा कि 'मन से किसी एक की रहते हुए भी रोटियों और केवल रोटियों के लिए उसे दूसरे का बनने पर मजबूर न किया जावे।'[1] 'जो समाज व्यवस्था मेरी इच्छा के प्रतिकूल मुझे एक खास पुरुष के साथ रहने के लिए और जीवन बिताने के लिए विवश करती है उस व्यवस्था का, उस नैतिकता का मेरे निकट क्या मूल्य है? यह मेरे व्यक्तित्व का दमन है, मेरी सत्ता का संहार है—मेरी आत्मा की अस्वीकृति है। मैं ऐसी व्यवस्था को नष्ट करने में अपना सारा बल लगाऊँगी।'[2]

इस प्रकार आलोच्यकाल के उपन्यासकारों ने, विशेषकर समाजवादी उपन्यासकारों ने प्रचलित समाज-व्यवस्था की कसकर आलोचना की है। मार्क्स के 'अर्थशास्त्र' से प्रभावित होकर भैरवप्रसाद गुप्त ने 'शोले' में लिखा है: 'इस प्रश्न की जड़ में युगों से चली आई नारी की संस्कारगत गुलामी है और उस गुलामी का ठोस कारण आर्थिक है. . .नारी को कोमलांगी, शक्तिहीन, विलास की वस्तु बना, उसे उत्पादन के क्षेत्र से अलग रखता आया है, निःशक्त बनाता आया है ताकि उसे गुलाम बनाने में आसानी हो।'[3]

नारी की इस असमान स्थिति से मुक्ति दिलाने के लिए समाजवादी उपन्यासकारों के पास समाधान के रूप में एक कार्यक्रम भी प्रस्तुत है: 'नारियों को आर्थिक रूप से सशक्त बनाना होगा और उस समाज और उसकी व्यवस्थाओं को तोड़कर एक ऐसा समाज बनाना होगा जिसमें पुरुष और नारी के बराबर अधिकार हों, जिसमें विवाह, नैतिकता, कलंक और व्यभिचार की मर्यादाएँ बदल जायें, जिसमें नारी, पुरुष और बच्चे का पारस्परिक सम्बन्ध वही हो जो प्राकृत है, जो स्वाभाविक है, जिसमें कंधे-से-कंधा मिलाकर नारी और पुरुष विकास की ओर अग्रसर हों, जिसमें पुरुष न नारी का शोषण कर सके, न नारी पुरुष का।. . .स्त्रियों को सामाजिक क्रान्ति द्वारा ही मुक्ति मिल सकती है, जब समाज के उत्पादनों के साधनों पर व्यक्तिगत सम्पत्ति, व्यक्तिगत अधिकारों और शोषकों के शासन का ही अन्त नहीं हो जायेगा, बल्कि स्त्रियों पर पुरुष का शासन भी सदा के लिए खत्म हो जायेगा।'[4]

नारी की आर्थिक स्वतन्त्रता पर इतना बल देने के कारण इस काल के अनेक उपन्यासों में ऐसी नारियों का चित्रण हुआ है जो आर्थिक रूप से स्वतन्त्र हैं। उनके अर्थोपार्जन पर न तो समाज बुरा मानता है और न उपन्यासकार। प्रत्युत इस युग के अधिकांश उपन्यासकारों का मत है कि सामाजिक मान्यताओं के परिवर्तन के साथ-साथ आज की शिक्षित नारी स्वयं ही उस ओर अग्रसर होती है। नारी का अर्थोपार्जन करना उसकी वैयक्तिक

१. 'अंचल' : 'चढ़ती धूप' (पृष्ठ १५७)
२. वही : (पृष्ठ १५८)
३. भैरवप्रसाद गुप्त : 'शोले' (पृष्ठ १२२)
४. वही : (पृष्ठ १२३)

स्वतन्त्रता एवं आत्म-निर्भरता का परिचायक है यद्यपि कभी-कभी नारी अर्थाभाव से मुक्ति पाने के लिए भी ऐसा करती है।

'पहाड़ी' लिखित 'सराय' की रेखा, इलाचन्द्र जोशी के 'संन्यासी' की शान्ति, यशपाल के 'देशद्रोही' की यमुना पढ़-लिखकर अध्यापन-कार्य करती हैं। जैनेन्द्र के 'कल्याणी' की कल्याणी, 'प्रेत और छाया' को मंजरी डाक्टर बन जाती हैं। 'मनुष्य के रूप' की सोमा और 'आखिरी दाँव ' की चमेली फिल्म जगत् में काम करने लगती हैं। लगभग ये सभी नारियाँ आर्थिक संकट से मुक्ति पाने के लिए अर्थोपार्जन करती हैं। इन उदाहरणों से सिद्ध होता है कि यद्यपि इस युग के उपन्यासकार ने नारी की आर्थिक स्वतन्त्रता को विशेष महत्व दिया है तथापि जीवन में अर्थ-संकट के समय ही उसको अर्थोपार्जन करते चित्रित किया है।

पारिवारिक समस्याएँ

सम्मिलित परिवार का विघटन

प्रेमचन्दोत्तर-काल तक आते-आते सम्मिलित परिवार प्रायः छिन्न-भिन्न हो जाता है। इसका मूल कारण मध्यवर्गीय आर्थिक जीवन में विषमता का समावेश है। आज के मध्यवर्गीय समाज के नौकरी पेशे-वाले अधिकांश व्यक्ति नौकरी के लिए अपने परिवार से दूर हो जाते हैं और अपनी पत्नी और बाल-बच्चों के साथ अलग घर बसाने को बाध्य हो जाते हैं। इस प्रकार सम्मिलित परिवार की जड़ें ही हिलने लग जाती हैं। इसके अतिरिक्त आज के समाज में नर-नारी के आकर्षण-विकर्षण की समस्या भी मुख्य हो गई है। इन दोनों कारणों से प्रेमचन्दोत्तर-काल के उपन्यासों में सम्मिलित परिवार की समस्या का स्थान गौण हो गया है। किन्तु तो भी कुछ उपन्यासों में इस समस्या का चित्रण और समाधान प्रेमचन्द-युग की ही भाँति दिया गया है। कुछ उपन्यासों में सम्मिलित परिवार की उन समस्याओं पर भी ध्यान दिया गया है जो आधुनिक काल में ही उत्पन्न हुई हैं। रामचन्द्र तिवारी ने 'कमला' (१९४३) में तथा कुछ सीमा तक भैरवप्रसाद गुप्त ने 'शोले' (१९४७) में सम्मिलित परिवार की समस्या का चित्रण और समाधान प्रेमचन्द की भाँति किया है तो उपेन्द्रनाथ 'अश्क' ने 'गिरती दीवारें' (१९४७) में सम्मिलित परिवार की उन समस्याओं का चित्रण किया है जो आज के युग में ही उत्पन्न हुई है।

'कमला' में सम्मिलित ग्रामीण परिवार का और 'शोले' में निम्न मध्यवर्गीय समाज का चित्रण है। इन दोनों ही वर्गों में पुरानी पीढ़ी आज भी प्रायः सम्मिलित परिवार को अत्यन्त मुग्ध भाव से देखती है। वह न तो अपनी संस्कारगत भावनाओं से मुक्त हो पाती है और न उन आधुनिक सम्बन्धों को समझ पाती है जिनके कारण सम्मिलित परिवार में विषमताएँ अवश्यम्भावी हैं। पुरानी पीढ़ी तो यही चाहती है कि नारी चाहे पिसती रहे, घुटती रहे पर फिर भी जीर्ण-शीर्ण सम्मिलित परिवार के घेरे में बनी रहे।

'कमला' में कमला का पति रामानुग्रह नौकरी के लिए शहर चला जाता है और कमला को अपनी माँ और भाभी के पास गाँव में ही छोड़ जाता है। यद्यपि रामानुग्रह अर्थोपार्जन करता है और घर को आर्थिक सहायता भी पहुँचाता है, परन्तु क्योंकि वह सदैव घर में नहीं रहता इसलिए उसकी अनुपस्थिति में उसकी माँ और भाभी कमला को दासी की भाँति समझती हैं और उसे नाना प्रकार से दुःख देती हैं और जब रामानुग्रह घर लौटता है तब उल्टे उससे कमला के बारे में झूठी-सच्ची बातें लगाती हैं। अन्त में इस कटुता से सबको मुक्त करने के लिए रामानुग्रह कमला को अपने साथ शहर ले जाना चाहता है। घर का कोई भी व्यक्ति इस प्रस्ताव के पक्ष में नहीं है, किन्तु कमला, जिसने इस सम्मिलित परिवार के खोखलेपन और उसके विषाक्त वातावरण से प्रतिपल संघर्ष किया है, पति के साथ जाने की हठ ठान लेती है और रामानुग्रह और कोई रास्ता न पाकर उसको साथ ले जाता है। इस प्रकार पुरानी पीढ़ी का सबसे प्यारा स्वप्न नष्ट हो जाता है। 'उनका सबसे प्यारा अन्तिम स्वप्न आज चकनाचूर हो गया था। वह दोनों भाइयों को बाँधकर एक स्थान पर न रख सकी थी।'[1]

सम्मिलित परिवार में आज एक नई समस्या भी उत्पन्न हो गई है जिसका चित्रण उपेन्द्रनाथ 'अश्क' ने 'गिरती दीवारें' में किया है। नई शिक्षा के प्रभाव के कारण युवक का हृदय प्रगति और सुख के जो स्वप्न देखने लगा है, साधारण मध्यवर्गीय नारी शिक्षा के अभाव में अथवा अल्पशिक्षित होने के कारण उनसे प्रायः अपरिचित रहती है। ऐसी स्थिति में विवाह होने पर पुरुष स्वभावतः नारी को अपने समकक्ष लाने की चेष्टा करता है। तब परिवार के बड़े-बूढ़ों की ओर से उसमें बाधाएँ खड़ी कर दी जाती हैं। नारी के लिए एक विचित्र धर्मसंकट खड़ा हो जाता है। वह सास-ससुर, जिठानी की आज्ञा मान कर पुरानी परिपाटी से रहे या पति की इच्छानुसार नई प्रणाली अपनाये। दो जीवन-प्रणालियों का संघर्ष उसके जीवन में उपस्थित हो जाता है। एक को प्रसन्न करने की चेष्टा में दूसरे के असंतुष्ट होने का भय उसे बराबर लगा रहता है। उदाहरणार्थ, चन्दा अपनी जिठानी के विचारों का आदर करने के कारण जेठ से पर्दा करती है तो चेतन को बुरा लगता है। बाद में जब वह चेतन की बात मानकर जेठ से हँसती-बोलती है तो जिठानी को बुरा लगता है। इस समस्या का समाधान तभी हो सकता है जब आज की नारी यह समझे कि जो मान्यताएँ एवं आदर्श जर्जरित होकर नष्टप्राय हो रहे हैं, जो उसके विकास में बाधा बन रहे हैं, उनको छोड़ देने में ही समाज का कल्याण है।

सम्मिलित परिवार के सफल संचालन के लिए यह आवश्यक है कि उसके प्रत्येक सदस्य की सुख-सुविधा का समान रूप से ध्यान रखा जाये। परिवार की सम्पन्नता और विपन्नता दोनों में सबको सम्मिलित भाग लेना आवश्यक है। प्राचीन काल में परिवार का ज्येष्ठ सदस्य ही घर का मालिक होता था। वही घर के सारे प्राणियों की

---

१. रामचन्द्र तिवारी : 'कमला' (पृष्ठ २३७)

आवश्यकताओं का ध्यान रखता था। 'गोदान' में गोवर जब होली के अवसर पर घर लौटता है तो वह माँ-बाप, बहिनों, पत्नी और पुत्र सभी के लिए उपहार लाता है। यही नहीं, वह उपहार लाने में सबकी भिन्न-भिन्न रुचियों का भी ध्यान रखता है। गोवर की इस दूरदर्शिता से कुछ क्षण उस परिवार में सुख के बीतते हैं यद्यपि अन्य अनिवार्य परिस्थितियाँ उस परिवार को भी भंग कर ही देती हैं। परन्तु आज के युग में एक तो आर्थिक कठिनाइयाँ और साथ-ही-साथ जीवन की आवश्यकताएँ दिन-प्रतिदिन बढ़ती जाती हैं, दूसरी ओर आर्थिक उपार्जन के साधन पृथक् हो जाने के कारण सम्मिलित परिवार में रहकर भी पति-पत्नी एक अलग इकाई बन गये हैं। आज का पति जितना अपनी पत्नी के बारे में सोचता है, उतना घर के अन्य प्राणियों के लिए नहीं। दूसरी ओर पत्नी भी पति की सुख-सुविधा का ही विशेष ध्यान रखती है। नव-दम्पति की यह सहज-स्वाभाविक और वांछनीय घनिष्ठता भी परिस्थितिवश सम्मिलित परिवार में अनेक कलहों का कारण बन जाती है।

'गिरती दीवारें' में चेतन, उसकी पत्नी चन्दा, चेतन के बड़े भाई और भाभी सब साथ-साथ लाहौर में रहते हैं। चेतन चालीस रुपये की नौकरी करता है और उसके भाई डाक्टर हैं। चेतन का विवाह अभी-अभी हुआ है। वह अपनी पत्नी को आधुनिक रंग में रँगना चाहता है। इसलिए वह उसके लिए आठ रुपये खर्चकर स्वैटर-कोट खरीदता है। पर इस कोट को देखकर चन्दा की जिठानी ईर्ष्या से जल उठती है। वह अपने पति को खरी-खोटी सुनाती हुई कहती है: 'चंदा को तो आठ रुपये के स्वैटर लेकर दिये जायें और मैं सर्दी में ठिठरूँ ?'[1] अपने पति की कमाई का थोड़ा-सा भी भाग परिवार के दूसरे सदस्यों पर खर्च हो तो नारी को बुरा लगता है।

इसीसे मिलती-जुलती एक समस्या और है। सम्मिलित परिवार में जितना भी काम होता है वह सब मिलकर करें तब तक तो ठीक है। पर यदि उसका एक भी सदस्य उनसे हाथ खींचना चाहे (चाहे ऐसा करने के लिए वह परिस्थितियों द्वारा बाध्य ही क्यों न हो, उनका ऐसा करने में उसका और सारे परिवार का हित ही क्यों न हो) तो मनमुटाव और कलह अवश्यंभावी है। चेतन की भाभी अपढ़ है, पर वह अपनी पत्नी को पढ़ाना-लिखाना चाहता है। फलस्वरूप घर का काम-काज भाभी के सिर पर आ जाता है, और चन्दा का काफ़ी समय पढ़ने-लिखने, गाना सीखने में लगता है। यह बात भाभी को फूटी आँख भी नहीं सुहाती। वह अपनी योग्यता और आवश्यकता का विचार न कर केवल ईर्ष्यावश स्वयं भी चन्दा की भाँति रहना चाहती है। 'वह यदि पढ़ती है, तो क्या मैं नहीं पढ़ती, वह तो पढ़ने के बहाने खाट पर टाँगें फैलाये लेटी रहे और मैं बाँदी बनी घर का सब काम करूँ।'[2]

---

१. उपेन्द्रनाथ 'अश्क' : 'गिरती दीवारें' (पृष्ठ ३६३)
२. वही : (पृष्ठ ३५९)

रोज़-रोज़ की इस कलह से मुक्ति पाने के लिए चेतन के बड़े भाई अपनी पत्नी को उसकी बुआ के यहाँ भेज देते हैं। इस प्रकार आधुनिक युग में सम्मिलित परिवार की समस्याओं का यही एक यथार्थवादी समाधान मिलता है कि सम्मिलित परिवार को ही भंग कर दिया जाय।

नैतिक मूल्यों में परिवर्तन की समस्या

नारी की नैतिकता के सम्वन्ध में नए सिरे से विचार करने की आवश्यकता प्रेमचन्द-युग में ही स्वीकार हो चुकी थी। यदि परिस्थितियों से विवश होकर नारी को अनैतिक आचरण करना पड़ता है, तो उसका दोष नारी पर न होकर उन परिस्थितियों पर है, यह बात प्रेमचन्दकालीन अनेक उपन्यासों में ध्वनित होती मिलती है। इसीसे सम्वद्ध यह भावना भी प्रचारित हो चुकी थी कि नैतिकता की कसौटी शारीरिक अथवा भौतिक कर्म की पवित्रता नहीं अपितु भावना और विचारों की पवित्रता है।

प्रेमचन्दोत्तर-काल में इस सिद्धान्त का विशेष रूप से विकास हुआ, और नारी की नैतिकता के प्रश्न पर नए पहलुओं से विचार किया गया। अपढ़ और ग्रामीण नारी की स्थिति में अब भी कोई विशेष अन्तर नहीं आया था, और वह अब भी पुरुष के हाथ की कठपुतली थी, पुरुष-समाज की स्वार्थपरता ही उसके जीवन को निर्धारित करती थी। अतः लेखक अब भी यह मानकर चलता है कि पुरुष के जाल में विवश होकर जब नारी अनैतिकता की राह पर जाती है, तो वह हमारी सहानुभूति की अधिकारिणी है। मन्मथ-नाथ गुप्त के उपन्यास 'दुश्चरित्र', 'अंधेर नगरी' और 'अवसान' तथा नागार्जुन का उपन्यास 'रतिनाथ की चाची' इसी उद्देश्य से लिखे गये हैं। इन उपन्यासों में नारी-पात्र पुरुष की कामान्धता के कारण अनैतिक आचरण करने पर विवश होते दिखाये गये हैं, और उनके करुण चित्रण द्वारा नारी-जीवन की नई प्रतिष्ठा की आवश्यकता बताई गई है। पर अपनी मूल आत्मा में ये उपन्यास प्रेमचन्द-युग से भिन्न नहीं हैं। और इसलिए उनका मन्तव्य भी उतना ही है जितना पूर्ववर्ती उपन्यासों में प्रकाश पा चुका है।

पुरुष-समाज द्वारा निरूपित नारी-नैतिकता की कसौटी कितनी भ्रामक और अपूर्ण है, इसका सबसे प्रबल प्रकाश हमें जैनेन्द्र के उपन्यासों में मिलता है। पुरुष नारी से जिस प्रकार के आचरण की अपेक्षा रखता है, वह अन्याय और अत्याचार की कोटि में आता है। यह नारी का दुर्भाग्य ही है कि शिक्षित और आधुनिक पुरुष भी बहुधा इस तथ्य से अनजान है। यद्यपि जैनेन्द्र ने अपने अहिंसावादी आदर्श के कारण ही नारी को इस अत्याचार को चुपचाप स्वीकार करते दिखाया है, पर उसके फलस्वरूप नारी को जो बलिदान करना पड़ता है, उससे नारी की पीड़ा पर तो प्रकाश पड़ता ही है, साथ ही नारी की सच्ची नैतिकता भी प्रतिष्ठित होती है। 'त्यागपत्र' की मृणाल और 'कल्याणी' की कल्याणी दोनों पतिव्रता हैं और भरसक अपने पति को संतुष्ट करने का प्रयत्न करती हैं। पर दोनों के ही जीवन का अन्त दुखद होता है।

'त्यागपत्र' में प्रेम की नैतिकता का प्रश्न उपस्थित किया गया है। मृणाल किशोरावस्था में ही शीला के भाई से प्रेम करती है, पर उसकी चिन्ता न करके उसका विवाह अन्यत्र कर दिया जाता है। मृणाल विरोध नहीं करती क्योंकि अभिभावकों के आदेश का पालन समाज में कर्तव्य माना गया है। उल्टे वह अपने पति को सम्पूर्ण मन से वरण करना चाहती है, उनसे कोई दुराव नहीं रखती।[1] फलतः अपने पूर्व-प्रेम की कथा वह निश्छल हृदय से पति को वता देती है। इस सत्याचरण का परिणाम एकदम विपरीत होता है। वह पति की घृणा की भाजन वन जाती है और पति को छोड़ देने पर विवश कर दी जाती है। पति की इस कठिन आज्ञा का पालन मृणाल पातिव्रत के आधार पर ही करती है। वह प्रमोद से स्पष्ट कहती है: "पति को मैंने नहीं छोड़ा। उन्होंने ही मुझे छोड़ा है। मैं स्त्री-धर्म को पति-व्रत धर्म ही मानती हूँ। उसका स्वतन्त्र धर्म मैं नहीं मानती। क्या पतिव्रता को यह चाहिए कि पति उसे नहीं चाहता तव भी वह अपना भार उस पर डाले रहे? वह मुझे नहीं देखना चाहते, यह जानकर मैंने उनकी आँखों के आगे से हट जाना स्वीकार कर लिया। उन्होंने कहा—'मैं तेरा पति नहीं हूँ।' तव मैं किस अधिकार से अपने को उन पर डाले रहती? पतिव्रता का यह धर्म नहीं है।"[2]

इस प्रकार अभिभावक का आदेश-पालन करने के कारण मृणाल अपने प्रथम प्रेम में निराश होती है, और पति के प्रति सत्याचरण करने के कारण पति-गृह से वंचित हो जाती है। प्रचलित मान्यताओं के अनुसार जो कर्म नैतिक हैं, वे ही उसके दुःख के निर्माता हैं। अप्रत्यक्ष रूप से जैनेन्द्र ने मृणाल के चित्रण द्वारा दो नए नैतिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है: (१) नारी का विवाह प्रेम की परिणति के रूप में ही हो। (२) पति-पत्नी के सम्वन्ध समानता पर आधारित हों।

मृणाल का परवर्ती जीवन आत्म-दान की प्रेरणा से उत्पन्न व्यवहार की विडम्वना है। वह कोयले वाले के साथ रहने लगती है क्योंकि उससे उसे संवेदना मिली है, और संवेदना का प्रतिदान देना वह अपना धर्म समझती है। पर अपने इस आचरण का परिणाम भी उसे स्पष्ट मालूम है। वह जानती है कि एक दिन कोयले वाला उससे उकता जायेगा, और यह भी कि अन्त में कोयले वाले को अपने परिवार के पास लौट जाना चाहिये। यह सव जानकर भी वह दुखी नहीं है, क्योंकि उसे लगता है कि यही उसका कर्तव्य है। और कोयले वाला जव उसे छोड़ जाता है, तो वह एक संभ्रान्त कुल में वालकों को पढ़ाने

---

१. 'ब्याह के बाद मैंने बहुत सोचा, बहुत सोचा। सोचकर अन्त में यह पाया कि में छल नहीं कर सकती। छल पाप है। हुआ जो हुआ। ब्याहता को पतिव्रता होना चाहिए। सच्ची बनकर ही समर्पित हुआ जा सकता है।'
जैनेन्द्र : 'त्यागपत्र' (पृष्ठ ५३)

२. वही : (पृष्ठ ५३)

का काम स्वीकार कर लेती है। पर वहाँ से भी उसे चला जाना पड़ता है, और अन्त में उसे वहाँ शरण लेनी पड़ती है, जहाँ समाज के परित्यक्त, घृणित जीव अपनी मृत्यु की घड़ियाँ गिनते रहते हैं।[१]

मृणाल के जीवन का यह अन्त प्रचलित समाज-व्यवस्था की नैतिक विफलता की घोषणा करता है। मृणाल तो त्याग और सत्यवृत्ति से अपना जीवन बिताना चाहती है, पर उसे घृणा और लांछना ही मिलती है। सारी प्रचलित नैतिकता आडम्बर और मिथ्या सिद्ध हो जाती है। 'त्यागपत्र' में लेखक का असली उद्देश्य नैतिकता की इस घोर समस्या की ओर ध्यान आकृष्ट करना ही है, इसका निश्चित प्रमाण है। सारी कथा प्रमोद के माध्यम से कही गई है। जो जज है—न्यायाधीश, और जो बुआ के जीवन पर विचार करता है और पाता है कि न्याय के नाम पर बुआ के साथ घोर अन्याय हुआ है। बुआ के मन की सत्यनिष्ठा, आत्म-त्याग और बलिदान की भावना प्रमोद पर प्रकट है। इसीलिए वह बुआ को पापिष्ठा कहने के स्थान पर पाप-पुण्य की कसौटी की ही परख में लग जाता है और अन्त में अपने पद से त्याग-पत्र दे देता है, क्योंकि जिस समाज में न्याय की कसौटी ही गलत हो, उसमें न्यायाधीश अन्यायाधीश ही बन जायेगा। 'त्यागपत्र' इस प्रकार नारी-चरित्र की नैतिकता के पुनर्मूल्यांकन की अत्यन्त प्रभावोत्पादक और मर्मभेदी पुकार है।

इलाचन्द्र जोशी ने नैतिकता के प्रश्न पर एक नये पहलू से प्रकाश डाला है। परिस्थितियों की विवशता के कारण जब व्यक्ति के सामने कोई विकल्प नहीं बचता तब उसके बुरे-से-बुरे आचरण को भी अनैतिक कहना उचित नहीं है, यह बात प्रेमचन्द और उनसे भी अधिक जैनेन्द्र कहते जान पड़ते हैं। पर ये परिस्थितियाँ केवल बाहरी ही नहीं होतीं, मानसिक परिस्थितियाँ भी उतनी ही प्रबल होती हैं, यह स्थापना मनोविश्लेषणवादी जोशी जी ने ही की है। इसीलिए वह मानसिक विकृति अथवा कुण्ठा से उत्पन्न आचरण को अनैतिक नहीं मानते, क्योंकि उसकी विवशता के कारण भी व्यक्ति के सामने कोई विकल्प नहीं होता। 'पर्दे की रानी' उपन्यास में निरंजना का चरित्र और व्यवहार ऐसी कोटि का है जो साधारणतः नैतिकता की परिधि में नहीं आता। इन्द्रमोहन को अपने रूप से आकर्षित करते रहना और उसके पास आने पर भी उसे दूर रखना, यह नारी-सुलभ आचरण नहीं है। इसी प्रकार अपनी सखी शीला के साथ इन्द्रमोहन का विवाह हो जाने पर भी वह इन्द्रमोहन के साथ ऐसा खुला और उच्छृंखल व्यवहार करती रहती है जो शीला को तो बुरा लगता ही है, समाज-सम्मत नैतिकता के भी विरुद्ध है। पर निरंजना के इस विचित्र और अनैतिक आचरण का मूल जोशी जी उसके संस्कारों और मान-

---

१. 'दर-दर भटकी हूँ और मैंने सीखा है कि इन दुर्जन लोगों की सद्भावना के सिवा मेरी कुछ और पूँजी नहीं हो सकती।'
जैनेन्द्र : 'त्यागपत्र' (पृष्ठ ७९)

सिक परिस्थितियों में देखते हैं। वेश्या-पुत्री होने के कारण पुरुष को लुभाना उसका संस्कार है, सामाजिक अवहेलना की पात्री होने के कारण प्रतिक्रिया-स्वरूप समाज में भद्र कहलाने वाले प्राणियों को कष्ट पहुँचाना और भटकाना उसकी मानसिक विकृति है, और अपने हीन-जन्म से उत्पन्न हीन-भावना की संतुष्टि के लिए समर्थ और सदाचारी व्यक्तियों को हीन सिद्ध कर देना उसके अवचेतन की कामना है। इस प्रकार जोशी जी निरंजना के माध्यम से नारी के मनोविश्लेषण की महत्ता सिद्ध करते हैं। अब तक के उपन्यासकार सामाजिक परिस्थितियों को बदलने की आवश्यकता की ओर संकेत करते रहे थ। जोशी जी पहली बार यह कहते मिलते हैं कि नारी के आचरण को सही तौर पर समझने के लिए उसके संस्कार और मानसिक ग्रन्थियों का अध्ययन अनिवार्य है।

परन्तु समाज में प्रचलित नैतिक-व्यवस्था पर सबसे प्रबल आघात यशपाल ने किया है। यशपाल मार्क्सवादी हैं और उन्होंने अपने उपन्यासों को मार्क्सवादी सिद्धान्तों के प्रतिपादन का साधन बनाया है। उनका निश्चित मत है कि नैतिकता का सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था से अटूट सम्बन्ध है, और इस संबन्ध में परिवर्तन होते ही नैतिकता के मूल्यों में परिवर्तन होना अनिवार्य है। अतः वे किसी भी नैतिक नियम को शाश्वत् नहीं मानते। उनकी इस मतवादिता के कारण यशपाल के नारी-पात्रों का चरित्र एक विशिष्ट प्रकार का हो गया है। वे प्रायः प्रत्येक क्षेत्र में पुरुषों से समानता का दावा करती हैं, पातिव्रत्य या अनन्य प्रेम को वर्गवादी स्वार्थ-भावना के रूप में देखती हैं,[1] और अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए अथवा आत्म-सुख के लिए स्वतन्त्र रूप से किये गए अपने आचरण को अनैतिक मानने से इन्कार करती हैं।[2] जो समाज इसे अनैतिक मानता है, वे उस समाज को ही बदल देने में विश्वास करती हैं, और भरसक अपने विश्वासों को व्यवहार में परिणत

---

१. 'यदि स्त्री को किसी-न-किसी की बनकर ही रहना है तो उसको स्वतन्त्रता का अर्थ ही क्या हुआ?

'जब स्त्री को एक आदमी से बंध जाना है और सामाजिक अवस्थाओं के अनुसार उसके अधीन रहना है, उस पर निर्भर करना है; उस सम्बन्ध को चाहे जो नाम दिया जाय, वह है स्त्री की गुलामी ही।'

यशपाल : 'दादा कामरेड' (पृष्ठ ३७)

२. शैल अपने पिता से कहती है : 'मैं अपने किसी भी काम के लिए अपनी विवेक-बुद्धि के सामने लज्जित नहीं हूँ'. . . मुझे पछतावा भी नहीं। यदि मैं अपने आपको कलंकिनी समझती तो अपना जीवित मुख संसार को कभी न दिखाती. . . एक ही दो दिन में मैं यहाँ से चली जाऊंगी। ऐसी किसी जगह, जहाँ से मेरे कार्यों के कारण आपको लज्जित न होना पड़े।'

वही : (पृष्ठ २२४)

करने का प्रयत्न करती हैं। ऐसे आचरण से नारी की आत्मनिर्भरता और आत्म-सम्मान की घोषणा तो हो जाती है, पर उसकी नैतिकता विवादास्पद ही रह जाती है।

यशपाल ने अपने उपन्यास 'दादा कामरेड' में पहला प्रहार पातिव्रत-धर्म पर किया है। मार्क्सवाद का सिद्धान्त है कि पूंजीवादी व्यवस्था में पति-पत्नी के सम्बन्ध भी स्वार्थ पर ही आश्रित होते हैं, सच्चे प्रेम सम्बन्ध तो केवल समाजवादी व्यवस्था में ही स्थापित हो सकते हैं। इसी को चित्रित करने के उद्देश्य से मानो 'दादा कामरेड' की शैल को बहु-पुरुष-गामिनी दिखाया गया है और उसकी तेजस्विता को अक्षुण्ण रखकर यह सिद्ध करने की चेष्टा की गई है कि जो आचरण नारी के व्यक्तित्व को शक्ति और तेज देता है वह अनैतिक नहीं हो सकता।[1] इसी प्रकार उनके परवर्ती उपन्यास 'मनुष्य के रूप' की सीमा अनेक पुरुषों के संसर्ग में आती-जाती सामाजिक उन्नति के शिखर पर पहुँचती है और यह सिद्ध कर देती है कि वर्तमान समाज की नैतिक व्यवस्था केवल एक आडम्बर है।

बहु-पुरुष-गमन के साथ अटूट रूप से जुड़ी हुई समस्या है अवैध संतान की। पुरुष और नारी को समानाधिकार देने के बाद भी नारी की यह एक विवशता है कि अवैध सम्बन्ध का कड़वा फल उसीको चखना पड़ता है। युगों से नारी इस विवशता के कारण लांछन और तिरस्कार की पात्री रही है। इसलिए यशपाल नारी को उसकी इस अक्षमता से मुक्ति दिलाने के लिए निःसंकोच गर्भ-निवारण की छूट देते हैं।[2] यही नहीं, अवांछित शिशु को संसार में लाकर दुःख का भागी बनाने की अपेक्षा वह गर्भ-निरोध को ही श्रेयस्कर समझते हैं।[3]

---

१. 'जिस व्यक्ति में इतना साहस हो, वह कभी नीच नहीं हो सकता। . . .यही तुम्हारी वीरता और आत्मसम्मान है, जहाँ इतना साहस किया है।'
यशपाल : 'दादा कामरेड' (पृष्ठ ४९)

२. 'किसी भी जीव को समाप्त कर देना निर्दयता ही है। यह सोचो, फ्लोरा की सन्तान उसकी गोद में खेलेगी तो उसे जीवन में कितना उत्साह, कितनी शान्ति मिलेगी? परन्तु यह भी सोचो, यदि यह सन्तान फ्लोरा के जीवन को केवल संकटमय बना दे; और स्वयं उसके जीवन के लिए समाज में कोई स्थान न हो; तो उसे केवल घृणा और धिक्कार का पात्र बनाने के लिए संसार में लाना कितना अन्याय है? सब कुछ समाज की अवस्था पर निर्भर करता है।'
वही : (पृष्ठ १६१-१६२)

३. 'मैं समझता हूं, मौजूदा समाज में गर्भ-निवारण (birth control) के बिना निर्वाह नहीं। . . .बहुत से लोग कहते हैं गर्भ-निवारण-प्रकृति विरुद्ध है। मैं पूछता हूं—जब प्रकृति तीव्र इच्छा उत्पन्न करती है तो उसे रोकना प्रकृति विरुद्ध है या नहीं? और जिन जीवों के लिए समाज में स्थान नहीं, उन्हें पैदा कर देना भी प्रकृति-विरुद्ध है या नहीं? . . .' वही : (पृष्ठ १६२-१६३)

अन्य मार्क्सवादियों की भाँति यशपाल भी यह मानते हैं कि पूंजीवादी व्यवस्था को समाप्त करके नई समाजवादी व्यवस्था के लिए कार्य करना इस युग के व्यक्ति का परम और एकमात्र धर्म है। व्यक्ति के सारे आचरण को वे इसी कसौटी पर कसते हैं और उसके कर्म की नैतिकता अथवा अनैतिकता का निर्णय भी इसी आधार पर करते हैं। यदि नारी के रूप से, यही नहीं, उसके प्रेम-प्रदर्शन से भी इस उद्देश्य की पूर्ति हो तो उसका सहारा लेने में उन्हें कोई आपत्ति दिखाई नहीं देती। क्योंकि जो कार्य हमें अपने उद्देश्य की पूर्ति करने में सहायक हो वह अनैतिक कैसे हो सकता है ? और जब इतनी सीधी-सी बात 'पार्टी कामरेड' गीता की समझ में नहीं आती तो उपस्थित कामरेड उसको नैतिकता के मार्क्सवादी विश्लेषण पर पूरा एक भाषण दे डालते हैं।[1] गीता यद्यपि फिर भी इतस्ततः करती रहती है, पर साथियों के ये तर्क अन्त में उसको भी संगत लगने लगते हैं।[2] और फिर गीता अपनी सुन्दरता पर लुब्ध भावरिया को दल के उद्देश्य का साधन बनाने में बिल्कुल नहीं हिचकिचाती।[3]

यशपाल द्वारा की गई नैतिकता की यह व्याख्या वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त पर आधारित है, पर इसकी अपूर्णता स्वयं सिद्ध है। इसी झोंक का यह परिणाम है कि यशपाल के नारी-चरित्र यथार्थ जीवन से लिये गए नहीं लगते। अपितु सिद्धान्त-विशेष के साँचे में ढाले गए लगते हैं। दूसरे, मानव-जीवन सम्पूर्णतः आर्थिक व्यवस्था पर टिका हुआ नहीं है, और उसका ऐसा सरलीकरण जीवन को सुलझाने की अपेक्षा नई गुत्थियों में उलझाता है। फिर, यह भी सत्य है कि कोई भी सामूहिक सिद्धान्त व्यक्ति पर एक सीमा तक ही लागू किया जा सकता है, उस सीमा का अतिक्रमण सम्पूर्ण समाज के लिए घातक सिद्ध हो सकता है।

आधुनिक उपन्यास के क्षेत्र में भी यही हुआ है। यशपाल तो अपनी सिद्धान्तशीलता के कारण प्रचलित नैतिकता की उपेक्षा करने पर भी अश्लीलता के आरोप से बच गए हैं पर अधकचरे सिद्धान्तवादियों के हाथ में नैतिकता की यह व्याख्या अनैतिकता के समर्थन की सीमा तक पहुँच गई है। पातिव्रत धर्म पूंजीवादी व्यवस्था का ही अंग है, यह मानकर सर्वदानंद वर्मा ने 'नरमेध' में ज्योति का जो चित्रण किया है, वह व्यभिचार ही कहलायेगा। वृद्ध पति से असंतोष होने पर तलाक का अधिकार माँगना तो न्याय-संगत है, पर वृद्ध पति की अक्षमता और सम्पत्ति के सहारे नित्य नए भोग-विलास में रत रहना शायद यशपाल का भी समर्थन न पा सके। विवाह-बंधन और उसकी पवित्रता को अमान्य करना अथवा अनावश्यक ठहराना प्रगति नहीं, प्रतिगामिता है। बर्बर जीवन से सभ्य जीवन की ओर

---

१. यशपाल : 'पार्टी कामरेड' (पृष्ठ २९-३१)
२. वही : (पृष्ठ ३३)
३. वही : (पृष्ठ ५३-५४)

मनुष्य की यात्रा जिस सिद्धान्त के सहारे संभव हुई है, उसको तिलांजलि देकर हम वर्वरता की ही ओर जा सकते हैं।

नारी के राजनैतिक जीवन की समस्याएँ

प्रेमचन्द-युग में ही नारी ने देश की स्वतन्त्रता के आन्दोलन में भाग लेना शुरू कर दिया था। आधुनिक काल में उसने धीरे-धीरे अपनी सामाजिक-राजनैतिक चेतना का यथेष्ट विकास किया और अव वह राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के प्रति पूर्णतः सचेष्ट हो गई।

यों तो बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही कुछ विशिष्ट महिलाओं ने मुक्ति-संघर्ष में भाग लेना प्रारम्भ कर दिया था, यहाँ तक कि आतंकवादी आन्दोलनकारियों में भी कुछ साहसी महिलाएँ सम्मिलित थीं, पर गांधी जी के नेतृत्व में जो राष्ट्रीय आन्दोलन प्रारम्भ हुआ उसने महिलाओं के जीवन पर व्यापक प्रभाव डाला। अखिल भारतीय राष्ट्रीय महासभा और अखिल भारतीय महिला संघ के आह्वान पर महिलाओं ने राजनैतिक कार्यों में सक्रिय योग दिया। अव राजनैतिक संघर्ष और भी तीव्र हो चला था, नारी शिक्षिता और विकसित होकर अधिकाधिक सक्रिय और समर्थ हो चली थी, साथ ही देश की मुक्ति की अनिवार्यता महिलाओं की स्थिति को भी अनुरूपित कर रही थी। इसीलिए सन् बयालीस के 'भारत छोड़ो' आन्दोलन में महिला-विद्यार्थियों और युवतियों ने अभूतपूर्व ढंग से भाग लिया। श्रीमती अरुणा आसफ़ अली और श्रीमती इन्दिरा गांधी इसी आन्दोलन के फलस्वरूप देश की प्रमुख नेत्रियाँ वन गईं। इसी समय में जब विदेशी साम्राज्यवाद की कूटनीति के कारण भारतीय साम्यवादी दल को वैध रूप से कार्य करने की छूट मिली, तव वर्ग-संघर्ष और सामाजिक क्रान्ति की पुकार पर अनेक महिलाएँ कम्युनिस्ट पार्टी में काम करने के लिए अग्रसर हुईं। उसके वाद साम्प्रदायिक मेल के प्रयत्नों में, देश की मुक्ति के उपःकाल में, देश-विभाजन से उत्पन्न शरणार्थी-समस्या को सुलझाने में और नये राष्ट्र की नयी यात्रा में महिलाओं ने प्रायः पुरुषों के समान ही भाग लिया।

आधुनिक हिन्दी-उपन्यासों में नारी के इस दिनोंदिन वढ़ते राजनैतिक योगदान को कई स्तर पर और कई पहलुओं से चित्रित किया गया है। शुरू के कुछ उपन्यासों में अभिजात-वर्गीय महिलाओं का योगदान चित्रित किया गया है, जो वर्गीय वैभव-विलास के वीच भी देश-सेवा की प्रेरणा से या दलितों को उठाने की प्रेरणा से राजनीति के क्षेत्र में प्रवेश करती हैं। यह चित्रण अधिकतर आदर्शवादी अथवा स्वप्नशील ढंग पर मिलता है। वाद के उपन्यासों में लेखक की दृष्टि अधिक यथार्थवादी होती जान पड़ती है, और मध्यवर्गीय महिलाओं के राजनैतिक संघर्ष का भी अंकन मिल जाता है। पर इस एक वात में ये उपन्यास मिलते हैं कि राजनैतिक क्षेत्र में महिलाओं के आने से उनके, उनके परिवार के, और अन्य सम्वन्धित व्यक्तियों के सामने जो प्रश्न आ खड़े होते हैं, उनकी किसी ने नहीं की है।

इस दृष्टि से एक तथ्य और महत्वपूर्ण है जिसका यहाँ उल्लेख करना समीचीन होगा। यद्यपि भारतीय आतंकवादी आन्दोलन राष्ट्रीय चेतना के साथ ही जोर पकड़ने लगा था, और बीच-बीच में उसके सदस्य अपने कारनामों से विदेशियों और देशवासियों को चौंकाते रहते थे, पर प्रेमचन्द-युग तक के उपन्यासों में न तो उस आन्दोलन का ही चित्रण मिलता है, न उसमें नारी के योग का ही। इसके कई कारण हैं। आतंकवादियों की गतिविधि को मुख्य कथानक के रूप में प्रस्तुत करना विदेशी शासन को ग्राह्य नहीं था, गांधी जी के नेतृत्व में अहिंसात्मक जन-आन्दोलन के विकास के कारण साधारणतः लेखकों का ध्यान उसी ओर था, और तीसर, उस आन्दोलन से जिन व्यक्तियों का घनिष्ठ परिचय था, और जो उसका चित्रण करने का साहस भी कर सकते थे और एक सीमा तक वैसा करना अपना कर्तव्य भी समझते थे, वे लगभग सन् १९३५ तक जेलों में बन्द थे और लिखने की स्थिति में नहीं थे। आतंकवादी अपना कार्य अत्यन्त गोपनीय और समुदायगत प्रणाली से करते थे, और उनके कार्यों की यह गोपनीयता एक ओर उन्हें कुछ आकर्षण प्रदान करती थी तो दूसरी ओर उनके सम्बन्ध में अनेक झूठी-सच्ची बातों को प्रश्रय देती थी। वैसे भी, आतंकवाद की मूल प्रेरणा वैज्ञानिक जन-सिद्धान्तों पर आश्रित न होकर भावावेशयुक्त प्रचण्ड व्यक्तिवाद पर आधारित थी। यह बात उसकी सफलता को असंभव बनाती थी और उसमें भाग लेने वाले व्यक्तियों के मन और क्रिया-कलाप को विचित्र और असाधारण। आतंकवादी युवक जहाँ आत्म-बलिदान में दृढ़-संकल्प और साहस का परिचय देता था, वहीं वह अपनी अनुभवहीन स्वप्नशील गति के कारण नाना प्रकार की चारित्रिक त्रुटियों का शिकार होता था। नारी से अपरिचय के कारण वह बहुधा उसको एक विचित्र ललक से देखता था, और यौन-आकर्षण के आगे उसका मन सहज ही घुटने टेक देता था।

इस पहलू का बड़ा बेजोड़ चित्रण जैनेन्द्र के 'सुनीता' में मिलता है। हरिप्रसन्न आतंकवादी क्रान्तिकारी है, और सुनीता के पति श्रीकान्त का मित्र है। वह कुछ दिन के लिए उनके घर आकर आश्रय लेता है। उसका विचित्र व्यक्तित्व सुनीता के लिए पहले सहज कौतूहल का और फिर नारी-सुलभ सहानुभूति का विषय बन जाता है। हरिप्रसन्न शायद इसके पूर्व कभी नारी के इतने निकट सम्पर्क में नहीं आया था। वह अचानक निश्चय करता है कि सुनीता ही वह देवी है जो उसके दल की नेत्री बने और उसके सदस्यों को प्रेरणा और स्फूर्ति दे।[1] सुनीता सच्चे अर्थों में गृहिणी है, वह पहले सकुचाती है,[2] पर हरिप्रसन्न अपने तर्कों से उसे हराकर अन्त में सहमत कर लेता है।[3] दोनों पक्षों की इन प्रतिक्रियाओं से जैनेन्द्र ने नारी की वस्तु-स्थिति और आतंकवादी आन्दोलन की कमजोरी पर प्रकाश डाला है। सुनीता अपने घर में पूर्णतः समर्पित होने के कारण हरिप्रसन्न के

---

१. जैनेन्द्र : 'सुनीता' (पृष्ठ १३१-१३२)
२. वही : (पृष्ठ १४४-१४५)
३. वही : (पृष्ठ १५३-१५४)

व्यवहार से तनिक भी कुण्ठित नहीं होती, पर हरिप्रसन्न भावावेश में उससे प्रणय-निवेदन कर अपने-आपको अविश्वसनीय और अनुभवहीन सिद्ध कर देता है।[1]

अपने दैनिक जीवन में नारी और गृहस्थी को बंधन मान कर चलने वाला आतंकवादी इसीलिए नारी के मोह को जीत नहीं पाता। जो महिलाएँ इस आन्दोलन की ओर आकृष्ट होती हैं वे समानता और स्वतन्त्रता के भ्रम में यौन-उच्छृंखलता का ही व्यवहार करती हैं। कम-से-कम साधारण जनता उनके चरित्र के सम्बन्ध में आश्वस्त नहीं रहती। यही नहीं, आतंकवाद क्योंकि समाजवादी सिद्धान्तों का नारा लगाता रहता है, इसलिए साधारण जनता आतंकवादी और साम्यवादी में कोई विभेद नहीं कर पाती। 'अज्ञेय' के 'शेखर: एक जीवनी' में स्पष्ट ही शेखर आतंकवादी दल से सम्पर्क रखता है, और इसी रूप में राजनैतिक जीवन में भाग लेता है। शशि, उसकी मौसेरी बहन, उसके प्रति बचपन से ही कोमल भाव रखती है। उसके स्नेह में न कोई कलुष है, न स्वार्थ। पर आतंकवादी शेखर का सम्पर्क शशि को दुश्चरित्रा सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है। जब शशि का पति उसके इस सम्पर्क को सहन नहीं कर पाता तो वह शशि को घर से निकाल देता है। शेखर के समझाने पर उसे जो प्रत्युत्तर सुनना पड़ता है वह आतंकवादियों के सम्बन्ध में साधारण जनता की भावना का प्रतिविम्ब है।[2]

---

१. 'मैं कुछ नहीं जानता। मैं कुछ नहीं जानना चाहता, सुनीता, दो तीन रोज मुझे और मिलेंगे। मैं कहाँ जाऊंगा, क्या करूंगा, नहीं जानता। सुनीता—

'तुम क्या चाहते हो हरि बाबू?'

'क्या चाहता हूं? तुम पूछोगी—क्या चाहता हूँ? तो सुनो, तुमको चाहता हूँ समूची तुमको चाहता हूँ। उसके बाद—'

'तो मैं तो हूँ। तुम्हारे सामने हूँ। ले क्यों नहीं लेते हो?'

हरिप्रसन्न का हाथ घूमता-घूमता सुनीता की बाहु पर रुक गया था; वहीं पर रुका रहा। बोल उठा, 'भाभी।'

'तुम्हें काहे की झिझक है, बोलो। मैंने कभी मना किया है? तुम मरो क्यों? मैं तो तुम्हारे सामने हूँ। इन्कार कब करती हूँ? लेकिन अपने को मारो मत। हरि बाबू, मरो मत, कर्म करो। मुझे चाहते हो, तो मुझे ले लो।'...

और उसने अपने चारों ओर से साड़ी हटाना शुरू कर दिया...हरिप्रसन्न ने दोनों हाथों से अपनी आँखें ढक लीं। उसके मुँह से शब्द नहीं फूट सका। सर्वथा पराभूत वह अपनी पराजय में गड़ जाने लगा। लज्जा ने उसे जमा दिया। 'भाभी-भाभी।' कहता हुआ हाथ से आँखें मींचे-मींचे उठा और मुंह फेरकर वहाँ से चल पड़ा। कहा, 'भाभी, बस। मुझे मारो मत, मारो मत।'

जैनेन्द्र: 'सुनीता': (पृष्ठ १८०-१८१)

२. 'यही असली पाजी है, कम्युनिस्ट बना फिरता है। अभी साल की जेल काटकर आया

पति-गृह से तिरस्कृत हो कर शशि शेखर के साथ रहने लगती है और धीरे-धीरे उसके राजनैतिक कार्यों में हाथ बँटाना शुरू करती है।[1] पर आतंकवादी जीवन एक तो यों ही अस्वाभाविक जीवन है तिस पर शेखर और शशि का सम्बन्ध उस जीवन को और भी अस्वाभाविक बनाता है। इसलिए शेखर के सारे यत्न और स्नेह के होते हुए भी शशि के मन का एक भाग उदास और अतृप्त रहता है। ऐसे समय में जनता में प्रचलित भ्रम के कारण शशि को एक सभा में उपहास और तिरस्कार का शिकार बनना पड़ता है। शशि का अल्प राजनैतिक जीवन यहीं समाप्त हो जाता है। और वह शेखर को अपने प्राणों का निश्छल प्रेम देती हुई भी विफलता की ही मृत्यु पाती है। इसका एक मुख्य कारण यह भी है कि शशि आतंकवादी जीवन में स्वेच्छया अथवा राजनैतिक विश्वास के माध्यम से नहीं आई। वास्तव में आतंकवादी सिद्धान्तों में उसकी कोई आस्था नहीं। इसलिए वह अपने तिरस्कार की चोट नहीं सह पाती और अपने प्राणों की आहुति देकर केवल अपने प्रेम को ही सिद्ध करती है।

'सुनीता' और 'शेखर : एक जीवनी' में आतंकवादी आन्दोलन में नारी की स्थिति का जो कुछ भी रूप मिलता है वह केवल प्रसंगवश ही है। इन उपन्यासों की मूलवस्तु वह नहीं है। इस दृष्टि से यशपाल का 'दादा कामरेड' बिल्कुल भिन्न है। इस उपन्यास में लेखक ने १९३० से १९३५ तक के भारतीय राजनैतिक जीवन को यथासम्भव संतुलित दृष्टिकोण से देखने का प्रयास किया है। यह वह काल है जब भारत की राजनीति में तीन विभिन्न स्वरों पर महत्वपूर्ण परिवर्तन हो रहे थे। एक तो आतंकवादी दल अपने प्रयासों की विफलता का अनुभव करने के कारण और मार्क्सवादी सिद्धांतों का परिचय पाने के कारण धीरे-धीरे साम्यवादी दल में मिलता जा रहा थी। दूसरी ओर राष्ट्रीय स्वतन्त्रता एक अस्पष्ट लक्ष्य न रहकर स्पष्ट उद्देश्य बन चुका था और उसके आर्थिक, सामाजिक पहलुओं पर ध्यान जाने लगा था, तीसरे कांग्रेस के जन-आन्दोलन के फलस्वरूप राष्ट्रीय

है, भले घर में कोई घुसने नहीं दे; कम्युनिस्ट तो औरत को साझा माल मानते हैं, नास्तिक ! इनका तो काम ही है लड़कियों को बरगलाना और सुधार के नाम पर रंडियाँ बनाना। टुच्चे तो होते हैं, पैसा पास नहीं होता, सस्ता तरीका यही है। पहले बहिन, फिर कामरेड, फिर रंडी। किसी का घर बिगड़े इन्हें क्या—इन्हें तो रंडी मिलती है—भले घर की, जवान, और मुफ़्त।'

'अज्ञेय' : 'शेखर : एक जीवनी' (पृष्ठ १७८)

१. 'वह देखता था कि शशि उसके काम में हाथ बंटा रही है और समाज-शास्त्र का जो अध्ययन उसने बीच में छोड़ दिया था उसे आगे बढ़ाती हुई निरन्तर पढ़ती और संकलन करती रहती है।...'

शशि भी थोड़ा-थोड़ा लिखने लगी, और मुद्रण के काम में भी सहायता देने लगी; दो-एक बार घूमकर छिपे-छिपे पर्चों का वितरण भी कर आई।'

वही : (पृष्ठ २०४-२०५)

चेतना जन-साधारण तक पहुँच चुकी थी और मध्यवर्ग के जीवन में वह एक ठोस सत्य बन-कर उतर आई थी। 'दादा कामरेड' में इन तीनों परिवर्तनों का यथार्थवादी चित्रण है और इसीलिए नारी के राजनैतिक जीवन की भी उसमें विस्तृत विवेचना मिलती है। एक ओर उच्चवर्गीय शैल है जो हरीश के माध्यन से आतंकवादियों से सहानुभति रखती है, दूसरी ओर मध्यवर्गीय यशोदा है जो शैल के माध्यम से राजनैतिक जीवन में प्रविष्ट होती है और तीसरी ओर नैनसी है जो हरीश के लुभावने व्यक्तित्व के प्रति आकृष्ट होकर उसके राजनैतिक कार्य में रुचि लेने लगती है।

मुख्य रूप से 'दादा कामरेड' में शैलवाला का ही चित्रण है। वह शिक्षित है, उसके पिता धनी हैं, इसलिए वह समर्थ है और आतंकवादियों से सहानुभूति होने के कारण वह उन्हें अपने यहाँ शरण देती रहती है। पुरुषों की दासता उसे स्वीकार नहीं, विवाह को वह बंधन मानती है और क्षणिक आवेग में तन अर्पित कर देने पर भी संकुचित नहीं होती। हरीश के प्रति उसका विशेष अनुराग है और इसलिए वह अन्य आतंकवादियों की ईर्ष्या और भर्त्सना की पात्री बन जाती है। हरीश को ही सबसे पहले अपने आन्दोलन की भूलें मालूम होती हैं और वह धीरे-धीरे जन-आन्दोलन के पक्ष में हो जाता है। उसके साथी उसे इसकी कायरता समझते हैं और उस पर नारी के मोह में पड़ जाने का आरोप लगाते हैं। इस आरोप का खण्डन करते हुए हरीश जो उत्तर देता है उसमें नारी के सही राज-नैतिक सहयोग की रूप-रेखा है।[1] पर उसके साथी अपनी मिथ्या धारणा में उस पर विश्वास नहीं करते। पार्टी के दादा शैलबाला से जो प्रश्नोत्तर करते है उससे यह स्पष्ट है कि वे पुरुष और नारी में एक ही प्रकार के सम्बन्ध की सम्भावना देखते है—यौन-सम्बन्ध।[2]

---

१. 'बाकी रहा प्रेमिका बनाने के लिए लड़की को दूसरों से न मिलने देना, यह बिल्कुल बकवास है। कोई किसी से न मिलना चाहे तो मैं जबरदस्ती किसी को गले नहीं बाँध सकता।. . .और यदि मैं समझता हूँ, कोई लड़की घर छोड़ने के बजाय हमारे काम को घर पर रहकर अधिक अच्छी तरह कर सकती है तो उसे वहीं रहने दिया जाये, न कि अपने शौक के लिए उसे साथ लिये फिरा जाये। जिस लड़की का जिक्र है मै जानता हूँ, वह अपनी जगह पर ही अधिक उपयोगी हो सकती है। यदि वह वहाँ से आकर अधिक उपयोगी हो सकती तो दूसरी बात थी।'
यशपाल : 'दादा कामरेड' (पृष्ठ ६०)

२. "दादा ने और अधिक तीव्र स्वर में पूछा : 'अच्छा हरीश से क्या सम्बन्ध है ?'
अधिक विस्मित हो शैलबाला ने उत्तर दिया : 'क्यों ? वे मेरे फ्रेण्ड (मित्र) हैं।'
दादा की आँखों के सुर्ख डोरे फैल गये। अपने-आपको रोकते हुए उन्होंने कहा, 'फ्रेण्ड. . .फ्रेण्ड के क्या माइने ? लड़कियों और लड़कों की फ्रेण्डशिप (मित्रता) के क्या माइने ?'''
वही : (पृष्ठ ९२)

यह वही स्थिति है जिसका आभास 'सुनीता' और 'शेखर : एक जीवनी' में भी मिलता है और जो अपने जीवन में नारी को अस्वाभाविक रूप से दूर रखने का ही परिणाम है। जिस प्रकार हरीश शैल को आवृत देखना चाहता है और देखकर तृप्ति अनुभव करता है, वह आतंकवादी राजनैतिक जीवन की अस्वाभाविकता ही सिद्ध करता है।[1]

नारी के राजनीति में प्रवेश करने से राजनैतिक जीवन में उनके सम्बन्धों को लेकर जो उचित-अनुचित चर्चा होने लग जाती है वह अत्यन्त जटिल समस्या बन जाती है और समाज में नारी की स्थिति विषयक एक और संकट खड़ा कर देती है। कभी-कभी तो यह स्थिति इतनी विषम हो जाती है कि नारी के सामने विकल्प का प्रश्न आ खड़ा होता है। या तो वह राजनीति से हाथ खींच ले या वह अपने परिवार से अलग रहे। यशोदा के पति स्वयं कांग्रेस के सक्रिय कार्यकर्ता हैं। पर यशोदा को कांग्रेस का कार्य करते नहीं देख सकते।[2] अपनी पत्नी का बाहर आना-जाना उन्हें पसन्द नहीं। एक बार हरीश ने जब उनके यहां पुलिस से अपनी जान बचाने के लिए शरण ली थी, तब उसकी मुलाकात केवल यशोदा से ही हुई थी, यशोदा के पति से नहीं। इस घटना को यशोदा वचनबद्ध होने के कारण पति को नहीं बताती, यद्यपि हरीश की वीरता से वह इतनी प्रभावित है कि वह अपने बालक के लिए बन्दूक का ही खिलौना खरीदती है। बाद में हरीश जब यशोदा से परिचित की भाँति आलाप करता है तो अमरनाथ का माथा ठनक जाता है और वह तुरन्त अपनी पत्नी के चरित्र पर सन्देह करने लगता है। और जब शैल की प्रेरणा से यशोदा पति के क्रोध की परवाह न करके राजनैतिक कार्यों में भाग लेती रहती है तो उसका दाम्पत्य-जीवन टूटने को हो जाता है।

'दादा कामरेड' में वर्ग-संघर्ष के उग्र होते हुए रूप का चित्रण मिल-मजदूरों की हड़ताल के माध्यम से किया गया है। इस हड़ताल में कम्यूनिस्ट और कांग्रेस दोनों दलों के सदस्य मजदूरों का नेतृत्व करते हैं परन्तु बाद में केवल साम्यवादी ही मैदान में रह जाते हैं। शैल के पिता उसको हड़ताल की हानि बताते हुए वर्ग-स्वार्थ का पाठ पढ़ाने की चेष्टा करते हैं

---

१. 'देखो शैल, मुझे ऐसा अनुभव होता है जैसे बहुत कुछ पा लिया। एक पूर्णता-सी . . . जैसे तुम मेरी हो और मैं तुम्हारा ! और इसी भरोसे में अपने बीहड़ मार्ग पर बढ़ता चला जाऊँगा। नहीं तो तुम्हारे सामने अपराधी होऊँगा।'
यशपाल : 'दादा कामरेड': (पृष्ठ १४०)

२. यशोदा सोचती है : 'यह मेरा अपमान क्यों कर रहे हैं, मुझ पर ज्यादती क्यों कर रहे हैं? . . . आखिर मैंने किया क्या है? यही न कि एक आदमी से मेरे परिचय का इन्हें पता लगा? . . . मैंने इन्हें यह नहीं बताया कि मैंने कांग्रेस में काम करने की बाबत बातचीत की है? . . . यह आठ बरस से कांग्रेस का काम कर रहे हैं। मैंने तो कभी इनसे नहीं पूछा कि वे क्या और क्यों कर रहे हैं?
वही : (पृष्ठ १४४)

और जब वह अपने पथ से विमुख नहीं होती तब उससे बोल-चाल ही बन्द कर देते है। इसी प्रकार जब साम्यवादी कार्यकर्ता मजदूरों के लिए सहायता की भीख माँगने निकलते हैं तो उन्हें कभी-कभी जो झिड़कियाँ सहनी पड़ती है उसमें नारी का अपमान और तिरस्कार प्रमुख है।[1] इस प्रकार हम देखते है कि राजनैतिक चेतना यदि एक ओर नारी को समर्थ और स्वतन्त्र बनाती है, तो दूसरी ओर वह उसके लिए नई समस्याएं भी उत्पन्न कर देती है।

नारी को राजनैतिक जीवन में भाग लेने से रोकने के कई कारण हमें इन उपन्यासों में मिलते हैं। एक कारण तो यह विचार है कि नारी का स्वाभाविक कार्यक्षेत्र घर है, बाहर नहीं। यद्यपि इसका आंशिक चित्रण 'सुनीता' में मिलता है, तथापि इसका विस्तृत और सम्यक् चित्रण 'देशद्रोही' की विधवा राज में मिलता है, जिसे कांग्रेस के कार्यो में भाग लेने के कारण सास, जिठानी और ससुर सभी के ताने सुनने पड़ते है। दूसरा कारण यह है कि राजनैतिक जीवन में भाग लेने वाली अधिकांश नारियाँ उच्छृंखल हो जाती हैं। समानता और स्वतन्त्रता के लिए लड़ने वाली नारी स्वभावतः अपने जीवन में भी उन सिद्धान्तों को ढालने का प्रयत्न करती है। तब पुरुष की लोलुप वृत्ति के कारण, अधकचरे ज्ञान और अनुभवहीनता के कारण, अथवा समानता और स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में भ्रमपूर्ण धारणाओं के कारण साधारण समाज में उसका आचरण निन्दा और आलोचना का विषय बन जाता है। यद्यपि इसमें संदेह नहीं कि इस आलोचना के मूल में जन-साधारण का पिछड़ापन और प्राचीन संस्कार भी काम करते रहते हैं, फिर भी बहुधा नारी का व्यवहार भी विशेषतः आतंकवाद और प्रारम्भिक साम्यवाद से प्रभावित नारी का व्यवहार स्वयं भी दोषी होता है। रात-बिरात घर से बाहर रहना (शशि, शैल), पुरुषों के साथ निस्संकोच सिगरेट-शराब पीना (शैल, नैनसी), यौन-सम्बन्धों को अमहत्वपूर्ण मानकर उनके विषय में लापरवाह रहना (शैल)—ये कुछ ऐसे कार्य है जो स्वतन्त्रता अथवा समानता का भ्रम उत्पन्न करते हैं, पर नारी को सचमुच भोग्या की स्थिति में ही रखते हैं। राजनीति में काम करते रहने पर भी और स्वतन्त्र व्यवहार करने पर भी नारी नैतिक-चारित्रिक दृष्टि से निर्दोष रह सकती है, यह राष्ट्रीय आन्दोलन में और परवर्ती साम्यवादी आन्दोलन में भाग लेने वाली नारियों ने सिद्ध किया है। उसका आचरण समाज की दृष्टि में पवित्र

---

१. 'दादा, कल मैं अनारकली बाजार से गुजर रहा था, उस समय इन हड़तालियों के वालण्टियर और वे लड़कियाँ शैलबाला वग़ैरा हड़तालियों के लिए झोली में चन्दा माँग रही थीं। कुछ बदमाश उन पर कंकड़ फेंक रहे थे। कुछ उन्हें जापानियों की 'एजेण्ट' कहकर तालियाँ बजा रहे थे, कोई रूसियों की एजेन्ट बताता था। एक बदमाश लड़के ने नाली से कपड़ा भिगोकर शैलबाला के सिर पर फेंक दिया। एक मजदूर गाली देकर उस लड़के की तरफ़ लपका। वह कम्यूनिस्ट रफ़ीक भी साथ था। मजदूर को उसने गर्दन से पकड़ लिया।'
यशपाल : 'दादा कामरेड' : (पृष्ठ २००)

रहे, यह राजनीति में भाग लेने वाली नारी के लिए अत्यन्त आवश्यक है। तीसरा कारण यह है कि देश में विभिन्न राजनैतिक मतों के प्रसार और विभिन्न राजनैतिक दलों की स्थापना के कारण परिवार के प्रमुख की सहानुभूति इस या उस दल के साथ होती है और वह परिवार के अन्य सदस्यों को भिन्न मत या भिन्न दल से सहानुभूति रखने नहीं देते। 'दादा कामरेड' में शैल के पिता, जो कांग्रेस दल के पक्ष में हैं, शैल को साम्यवादी दल का कार्य करने से मना करते हैं। तत्कालीन समाज में विचारों का यह संघर्ष अनेक परिवारों की अशान्ति का कारण बना है। इसका चित्रण 'दादा कामरेड' के अतिरिक्त नरोत्तम-प्रसाद नागर के 'दिन के तारे', 'अंचल' के 'नई इमारत' तथा यशपाल के 'देशद्रोही' में भी मिलता है।

सन् १९३७ में प्रान्तीय शासन भारतीयों के हाथ में आ गया और लगभग आठ प्रान्तों में कांग्रेस ने मंत्रिमंडल स्थापित किये। इस घटना से देश में कांग्रेस की शक्ति पहले से भी अधिक बढ़ गई। साथ ही देश की आर्थिक-सामाजिक समस्याओं को हल करने के लिए संघर्ष तीव्रतर हो गया। इसी अवधि में अवैध साम्यवादी दल ने जन-आन्दोलन का नेतृत्व ग्रहण करने के उद्देश्य से कांग्रेस के कार्यक्रम को स्वीकार कर अपनी जड़ें मजबूत करनी चाहीं। शैल यशोदा को क्रान्तिकारी कार्य के लिए नहीं, कांग्रेस के काम के लिए प्रेरणा देती है। शशि भी जिस सभा में भाषण करती है, वह राष्ट्रीय उद्देश्यों से आयोजित की गई थी, आतंकवादी उद्देश्य से नहीं। साम्यवादी दल का मन्तव्य था कि कांग्रेस का नेतृत्व पूँजीवादियों के हाथ में है, सच्चे जनवादियों के हाथ में नहीं। इसलिए कांग्रेस में सम्मिलित होकर पूँजीवादियों को ऐसी नीति अपनाने के लिए विवश करना चाहिए जो जनहित की हो। इस अवधि का चित्र जिन उपन्यासों में मिलता है उनमें हम साम्यवादी और राष्ट्रीय दोनों दलों के सदस्यों को बहुधा एक साथ मिल-मज़दूरों की हड़तालों का नेतृत्व करते हुए और अन्य प्रकार से पीड़ित-शोषितों की दयनीय दशा पर आवाज़ बुलन्द करते हुए पाते हैं। 'दादा कामरेड' में शैल, 'देशद्रोही' में राज, 'अंचल' के 'चढ़ती धूप' में तारा, 'दिन के तारे' की चन्द्रमणि मज़दूरों का नेतृत्व करती मिलती हैं। तारा तो स्पष्ट कहती है कि उनकी लड़ाई केवल विदेशी नौकरशाही से ही नहीं, स्वदेशी पूँजीवाद से भी है।[1] स्वतन्त्रता के इस आर्थिक आधार के कारण जिस वर्ग-संघर्ष का विस्तार हुआ उसने नारी के राजनैतिक जीवन की समस्या और भी कठिन कर दी। प्रेमचन्द की सुखदा को सारे समाज का समर्थन प्राप्त था, शैल अथवा तारा को केवल एक ही भाग का। खेद है कि हिन्दी-उपन्यासों में इस पक्ष का चित्रण विस्तार से नहीं किया गया।

कांग्रेस के नेतृत्व में राष्ट्रीय आन्दोलन और साम्यवादी दल के नेतृत्व में समाजवादी क्रान्ति का आन्दोलन सन् १९४२ तक समानान्तर पथ पर चलते हैं, आपस में टकराते नहीं। उनकी टकराहट पहली बार 'भारत छोड़ो' आन्दोलन के समय होती है जब अंग्रेजों

१. 'अंचल' : 'चढ़ती धूप' (पृष्ठ २६६)

के दमन के कारण जन साधारण में अभूतपूर्व विक्षोभ भर जाता है, और बचे-खुचे नेताओं के प्रकट-अप्रकट सहयोग से देश-व्यापी क्रान्ति मच जाती है। साम्यवादी दल फासिस्ट-विरोधी शक्तियों की सहायता करने के सिद्धान्त पर इस क्रान्ति में भाग नही लेता, उलटे जनता को भी उसमें भाग लेने से रोकने का प्रयत्न करता है। विदेशी सरकार उनकी नीति से प्रसन्न होकर उनके दल को वैध घोषित कर देती है, और तब नेताओं के गिरफ्तार हो जाने के कारण साम्यवादी दल के सदस्य जनता पर अपना नेतृत्व जमाने की जी तोड़ चेष्टा करते है और काफ़ी हद तक अपने इस उद्देश्य में सफल भी होते हैं। सन् १९४२ से सन् १९४५ तक की अवधि में देश की राजनैतिक चर्चा में साम्यवादियों की आवाज सबसे ऊपर सुनाई पड़ती है।

इन दो विरोधी दृष्टिकोणों का प्रतिविम्ब नारी जगत में भी मिलता है। एक ओर 'अंचल' के उपन्यास 'नई इमारत' में हमें अगस्त क्रान्ति में अदम्य साहस का परिचय देती हुई नारियाँ मिलती हैं जो जेल जाने, गोली खाने और सर्वस्व त्याग करने में भी नही हिचकतीं। दूसरी ओर श्रीकृष्णदास के उपन्यास 'क्रान्तिदूत' में नसीम आदि साम्यवादी नारियों का चित्रण भी मिलता है जो जनता को समझाती हैं कि अगस्त-क्रान्ति देश के हित में नहीं है। यद्यपि दोनों पक्षों का वर्णन अत्यन्त यथार्थवादी है, फिर भी 'अंचल' का चित्रण भावना-प्रधान है और श्रीकृष्णदास का चित्रण तर्क-प्रधान। अगस्त-क्रान्ति की संगति-असंगति एक ऐसा विषय रहा है, जिस पर आज तक सब दलों में एकमत नही हो सका है।

अगस्त-क्रान्ति की आग तो कुछ दिनों बाद ठण्डी हो जाती है, पर उसके बाद ही कई घटनाएँ तेजी से होती हैं। विदेशी दमन, बंगाल का अकाल, और लोकप्रिय नेताओं की मुक्ति की माँग—इस अवधि की प्रमुख राजनैतिक हलचल रही है। इन सबमें साम्य-वादी दल के नर-नारी अनुपम त्याग, सेवा और साहस का परिचय देते हैं। इसके फलस्वरूप दल की शक्ति अभूतपूर्व रूप से बढ़ जाती है, और उसमें उच्च, मध्य एवं निम्न —सभी वर्गो की नारियाँ अधिकाधिक सम्मिलित हो जाती है। दल का कार्य समाजवादी अनुशासन की प्रणाली पर चलाया जाता है और पहली बार कम्यून की स्थापना होती है, जिसमें साम्यवादी सदस्य—स्त्री और पुरुष—सम्मिलित राजनैतिक जीवन विताते हैं।

इस सम्मिलित जीवन का और उससे उत्पन्न समस्याओं का चित्रण यशपाल ने 'पार्टी कामरेड' और 'मनुष्य के रूप' में किया है। 'पार्टी कामरेड' की गीता किस प्रकार धीरे-धीरे अपना सारा समय दल के कार्य को देती है, किस प्रकार दल का छोटे-से-छोटा कार्य भी महत्वपूर्ण हो जाता है, और दल के कार्य के लिए अपने संस्कारों और पूर्वाग्रहों पर किस प्रकार उसे विजय पानी पड़ती है, इसका वर्णन कर लेखक ने हमारे सामने साम्यवादी नारी का यथार्थ व्यक्तित्व अंकित कर दिया है। पहली बार पाठक को नारी के राजनैतिक जीवन की दैनिक समस्याओं और कठिनाइयों का परिचय मिलता है, और वह जान पाता है कि साम्यवादी दल अपने सिद्धान्तों के अनुसार अपने व्यवहार को सही रखने पर कितना

छोड़ देता है। नगर के धनी गुण्डे भावरिया से वह पार्टी के लिए आर्थिक सहायता प्राप्त करती है। पर जब उनके साथ घूमते-फिरते रहने के कारण जनता में उनकी आलोचना होने लगती है तो गोष्ठी में दल के नेता अनेक प्रकार के सवाल करते हैं, यहाँ तक कि उनको कुछ दिनों के लिए 'सस्पेण्ड' भी कर दिया जाता है।

साम्यवादी दल अपने कार्य के लिए नारी का सहयोग बराबर पाना चाहता है, और जिस नारी से दल के लिए जो कार्य हो सकता है, उसे प्राप्त करने में नहीं सकुचाता। यदि नारियों के अखबार बेचने से बिक्री अधिक होती है, यदि उनके चन्दा इकट्ठा करने से चन्दा अधिक इकट्ठा होता है, तो वह इसका स्वागत करता है, यदि अपढ़ सोना और कुछ नहीं कर सकती तो कम्यून की रसोई तो सँभाल सकती है, यदि तारा और लुई की शिक्षा पार्टी के कार्य में बाधक होती है, तो शिक्षा छोड़ देने में कोई हानि नहीं। पर व्यक्तिगत आचार-व्यवहार में नारी को सामाजिक शील और नियमों का पालन करना अत्यन्त आवश्यक है। आतंकवाद की समर्थक शैल और साम्यवाद की सक्रिय सदस्या गीता में जमीन-आसमान का अन्तर है। शैल का दैनिक जीवन सुख-सुविधा का जीवन है, समाज लाख उँगली उठाये, उसे चिन्ता नहीं होती। इसके विपरीत गीता का जीवन कर्मठ और अनुशासित जीवन है, जिसमें भूल-चूक के लिए कोई क्षमा नहीं है। दल में पुरुष और नारी मुक्त और समान हैं।

पर यह मुक्ति और समानता कितने बड़े अनुशासन का परिणाम है, इसका परिचय तब मिलता है जब मनोरमा की एक छोटी-सी भूल पर गीता उसको रुला लेती है।

इस प्रकार यशपाल के उपन्यासों से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि साम्यवादी दल ने राजनैतिक जीवन में नारी को नयी प्रतिष्ठा दी है, और उसकी समस्याओं को सहानुभूति से सुलझाने का प्रयास किया है। परवर्ती राजनैतिक जीवन में साम्यवादी दल की इस व्यवस्था की स्पष्ट झलक मिलती है। शरणार्थियों की सेवा में सभी दल की नारियों ने जिस प्रकार जुटकर कार्य किया और जिस लगन एवं सेवा-भाव का परिचय दिया, वह इसीलिए सहज-सम्भव हो सका कि उस काल तक नारी राजनैतिक जीवन में समान प्रतिष्ठा पा चुकी थी, और उसके मार्ग की बाधाएं निरन्तर प्रयत्नों से दूर हो चुकी थीं। इलाचन्द्र जोशी के 'मुक्तिपथ' में नई जाग्रत नारी की कर्मठता और लगन का उत्कृष्ट उदाहरण मिलता है। सुनन्दा अपने उद्देश्य की चर्चा करती हुई कहती है : 'हम लोग प्रयत्न यह करती हैं कि समाज के विकास के किसी भी अंग से लड़कियाँ वंचित न रह जायें। हर तरह से स्वावलम्बी होना सीखें। जीवन-पथ पर अग्रसर होती हुई किसी पर आश्रित रहने को बाध्य न हों। हम लोग यहाँ संयमबद्ध जीवन बिताती हैं। पुरुष-संघ और नारी-संघ एक-दूसरे का साथ देते हुए सम्पूर्ण उपनिवेश के कामों को आपस में बाँट लेते हैं।'[1]

---

१. इलाचन्द्र जोशी : 'मुक्तिपथ' (पृष्ठ ३४२)

अध्याय ६

नारी के विविध पारिवारिक रूप : कर्त्तव्य और दायित्व

पति-पत्नी

परिवार-रूपी गाड़ी में पति-पत्नी का स्थान पहियों के समान है। जिस प्रकार समस्त गाड़ी का बोझ पहियों पर निर्भर रहता है, उनके दुर्बल होने से गाड़ी कठिनाई से आगे चल पाती है, वह जल्दी टूट जाती है, उसी प्रकार पति-पत्नी के सम्बन्ध अच्छे न होने से, उनके अपने-अपने कर्तव्य और दायित्व का पालन न करने से परिवार न तो प्रसन्न रह सकता है, न फल-फूल सकता है, वह एक दिन टूटकर ही रहता है। इसीलिए भारतीय समाज पति-पत्नी के कर्तव्य और दायित्व के प्रति विशेष रूप से सतर्क रहता आया है।

पुरुष अधिकांशतः बाहर रहता है, उसके आचरण और कार्यों का परिवार पर प्रभाव पड़ता अवश्य है किन्तु पत्नी की तुलना में कम। परिवार के लिए पत्नी तो रीढ़ की हड्डी के समान है। उसके बिना परिवार चार दिन भी नहीं चल सकता। इसीलिए हमारे यहाँ पत्नी की मर्यादा, कर्तव्य और दायित्व पर पति से भी अधिक ध्यान दिया गया है।

हिन्दी-उपन्यासों में पति को परमेश्वर मानने वाली अनेक ऐसी पत्नियों का चित्रण हुआ है जो पति के दुराचार, अत्याचार और कर्तव्यहीनता के सम्मुख भी मौन रहती हैं। पत्नी के इस प्रकार के चित्रण में उसके आदर्श रूप के दर्शन भले ही होते हों किन्तु विवेक द्वारा देखें तो कह सकते हैं कि पत्नी इस प्रकार मौन रहकर अपने कर्तव्य और दायित्व का उचित पालन नहीं करती। जिस प्रकार पत्नी का मर्यादित आचरण, परिवार के सब सदस्यों को प्रसन्न रखना, घर को सुचारु रूप से संचालित करना, बच्चों की उचित देख-रेख करना उसका कर्तव्य और दायित्व माना जाता है उसी प्रकार उसका यह भी कर्तव्य हो जाता है कि वह पति के उन गंभीर दोषों को अनदेखा न करे जिनसे परिवार में विषमता उत्पन्न हो जाती है। यदि पति ग़लत रास्ते पर जाता है, अमर्यादित आचरण करता है तो पत्नी का यह कर्तव्य है कि वह उसे सुमार्ग पर लाये। प्रेमचन्द-युग के उपन्यासों में पत्नी के इस दायित्व पर विशेष बल दिया गया है। 'पिया' में पत्नी के कर्तव्य निर्धारित करते हुए कहा गया है : 'उस पति के वचन टालने में तुम्हें द्विधा न करनी चाहिए, जो कापुरुष हो, समाज में अपना सुनाम, लज्जा ढाँकने के लिए सन्तान-वध करे, पिता होकर भी वंश-नाश के लिए विषाक्त खड्ग उठावे। ऐसे पति का वचन हम टाल सकते हैं। यदि पति स्वार्थी

है, भूल में है, पाप कर रहा है, तो स्त्री का कर्तव्य है उसे रोकना, अपनी मंगलमयी बाँह में उसे खींच लेना।'[1]

विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' लिखित 'माँ' की सुन्नी और प्रेमचन्द लिखित 'ग़बन' की जालपा भी अपने-अपने पति को सुमार्ग पर लाने की चेष्टा करती हैं। जालपा को जब यह विदित होता है कि उसका पति रमानाथ अपनी व्यक्तिगत सुख-सुविधा के लिए ऐसी झूठी गवाही देने को तत्पर है जिससे अनेक निर्दोष युवकों को प्राणों से हाथ धोना पड़ेगा तो वह पति को सुमार्ग पर लाना अपना धर्म समझती है। दाम्पत्य-जीवन सम्मिलित जीवन होता है जिसमें एक की प्रशंसा-लांछना, लाभ-हानि, मान-अपमान का दूसरे पर प्रभाव पड़ना अनिवार्य है। इसीलिए जालपा को अपने सम्मान से भी अधिक अपने पति के सम्मान की चिन्ता है। 'हमेशा के लिए वे सबकी आँखों से गिर जायेंगे, किसी को मुँह न दिखा सकेंगे।'[2] इसी भावना से प्रेरित होकर वह रमानाथ को इस निंदनीय कृत्य से रोकती है। इसके लिए उसे व्यंग्य का सहारा लेना पड़ता है और ऐसे वचनों का भी प्रयोग करना पड़ता है जो साधारणतः पत्नी अपने पति के लिए व्यवहार में नहीं लाती। इन व्यंग्य-भरे शब्दों के कारण पति 'उसे चाहे दुत्कार ही क्यों न दे, उसे ठुकरा ही क्यों न दे, वह उसे अपयश के अँधेरे खड्ड में न गिरने देगी।'[3] उसका पति अपने स्वार्थ के लिए झूठी गवाही दे, इसकी कल्पना भी उसे सहन नहीं है। अन्त में वह अपने उद्देश्य में सफल होती है। रमानाथ अपनी भूल स्वीकार करता है और अदालत में दिया अपना बयान बदल देता है।

यद्यपि पत्नी का यह दायित्व है कि वह ग़लत रास्ते पर जाने वाले पति को सही रास्ते पर लाये तथापि इसके लिए उसे प्रेम का, विनय और सद्‌भावना का ही सहारा लेना चाहिए, तानाशाही का व्यवहार नहीं करना चाहिए। मनुष्य का स्वभाव होता है कि वह अपनी ग़लतियों की खरी निन्दा या आलोचना पसन्द नहीं करता, पत्नी की ओर से तो और भी नहीं, क्योंकि स्वभाव और संस्कार से वह अपने-आपको पत्नी से उच्च मानता है। इसके अतिरिक्त यदि पति को पत्नी पर श्रद्धा और विश्वास हो तब तो वह उसकी दो-चार बातें सुन भी लेता है; जैसे 'गोदान' में होरी धनिया की अथवा 'ग़बन' में रमानाथ जालपा की। किन्तु जिस पति को प्रारम्भ से ही पत्नी का प्रेम न मिला हो, वह पत्नी की आलोचना अथवा उसका दंभपूर्ण व्यवहार नहीं सह सकता। पत्नी के ऐसे व्यवहार से लाभ की अपेक्षा हानि ही हो सकती है।

पति-पत्नी का सम्बन्ध इतना घनिष्ठ और अंतरंग होता है कि साधारणतः वे एक-दूसरे को दुखी नहीं देख सकते। पत्नी का दुख न देख सकने के कारण कभी-कभी पति

---

१. उषादेवी मित्रा : 'पिया' (पृष्ठ १५०)
२. प्रेमचन्द : 'ग़बन' (पृष्ठ २४२)
३. वही : (२४५)

गलत काम भी कर बैठता है। जालपा की असाधारण आभूषण-प्रियता को संतुष्ट करने की भावना से ही रमानाथ उससे झूठ बोलता है, अपनी तनख्वाह ग़लत बताता है और बाजार से उधार गहने लाकर उसे भेंट करता है। जब उसके इस मिथ्या आचरण का भण्डाफोड़ होने लगता है तब उसे भाग जाना पड़ता है। अतः रमानाथ के पलायन मे जालपा का भी हाथ है। इस घटना के माध्यम से प्रेमचन्द यह सिद्ध करना चाहते है कि पत्नी का यह कर्तव्य है कि वह अपने पति की वस्तु-स्थिति को समझकर जीवन-पथ पर अग्रसर हो, और अपनी आवश्यकताओं को पति की आमदनी के अनुसार सीमित रखे। अपने स्वार्थ के लिए उसे अनुचित काम करने पर विवश न करे। अपने इस कर्तव्य का ध्यान जालपा को पहली ठोकर खाने के बाद ही आता है। जब उसको विदित होता है कि उसी की सुख-चिंता के लिए उसका पति झूठी गवाही दे रहा है तो वह पति को यह स्पष्टतः समझा देना चाहती है कि वह अब पहले-जैसी जालपा नहीं रही, उसे अब अपने कर्तव्य का ज्ञान हो चुका है। वह बड़े जोरदार शब्दों में कहती है कि यदि रमानाथ उसको सुखी बनाने के विचार से झूठी गवाही देना चाहता है तो यह उसकी भूल है। यदि वह झूठी गवाही देगा तो वह उसके साथ कदापि न रहेगी।[1] जालपा का यह निश्चय ही रमानाथ को सही रास्ते पर लाता है।

इसी प्रकार रामवृक्ष बेनीपुरी लिखित 'कैदी की पत्नी' (१९४०) की दुलारी भी अपने स्वार्थ का त्याग कर पति के सम्मान की रक्षा करती है। उसका प्राणों से प्रिय पति देशभक्ति के अपराध में कारागार मे बन्द है। वह अपने पुत्र और देवर के साथ उससे मिलने जाती है। पत्नी से बातचीत करने के समय सी० आई० डी० की उपस्थिति से पति को असह्य अपमान का अनुभव होता है और वह उसका प्रतिकार करने के लिए पत्नी से मिलना ही अस्वीकार कर देता है। यद्यपि दुलारी के मन मे अपने बन्दी पति से भेंट करने की बहुत ही उत्कट अभिलाषा है, पर वह ऐसी परिस्थिति में पति के सम्मान की रक्षा को ही अधिक महत्वपूर्ण समझती है, और अपनी भावनाओं को दबाकर बुझे मन से वापस लौट आती है।

पत्नी को पति की अर्धांगिनी माना गया है। वह उसके सुख दुख मे समान रूप से साझीदार बनती है। आज के समाज में यह बात केवल पत्नी की सामाजिक स्थिति से ही सम्बन्ध रखती हो, ऐसा नहीं है। पति के मन को समझना और उसके मनोनुकूल अपने जीवन को ढालना भी पत्नी का कर्तव्य बन गया है। जैनेन्द्र के 'सुनीता' की सुनीता पति की मनोकामना पूरी करने के लिए अपने पातिव्रत की भी बाजी लगा देती है।

---

१. 'जाओ, शौक़ से जिन्दगी के सुख लूटो, मैंने तुमसे पहले ही कह दिया था और आज फिर कहती हूँ कि मेरा तुमसे कोई नाता नहीं। मैंने समझ लिया कि तुम मर गये। तुम भी समझ लो कि मैं मर गई। बस, जाओ।'
प्रेमचन्द : 'ग़बन' (पृष्ठ २८०)

उपेन्द्रनाथ अश्क के 'गिरती दीवारें' में चेतन की सारी चेष्टा इस ओर है कि उसकी पत्नी का मानसिक विकास हो, उसका व्यक्तित्व उसके ही समान हो। इस स्थिति में पत्नी का भी यह दायित्व है कि वह युग की माँग के साथ अपने स्वभाव और विचारों को बदले, तभी वह अपने दायित्व का सही निर्वाह कर सकेगी।

हिन्दी-उपन्यासों में हमें ऐसे कई महत्वपूर्ण उदाहरण मिलते हैं जब पति के विचार अथवा स्वभाव को समझने की चेष्टा न करने के कारण पत्नी को पति का प्रेम नहीं मिल पाता और दोनों में मनमुटाव, यहाँ तक कि कभी-कभी विच्छेद भी हो जाता है। एक-दूसरे की रुचि और स्वभाव को समझकर, और एक-दूसरे की भूल और कमजोरी के प्रति सहानुभूति रखकर ही पति-पत्नी अपना युगल-जीवन सुखी बना सकते हैं। उदाहरणार्थ प्रेमचन्द लिखित 'प्रतिज्ञा' की सुमित्रा को जब यह विदित होता है कि उसका पति पूर्णा की ओर आकर्षित है तो उसके मन में प्रतिहिंसा की भावना जागृत हो जाती है। सम्पन्न घराने की पुत्री होने के कारण उसके मन का अहंकार उसे पति से विमुख कर देता है। और जब उसका पति उससे खिचा-खिचा रहता है तो वह सोचती है कि उसने कोई अपराध नहीं किया फिर वह क्यों उसे मनाने जाये। यही नहीं, वह बात-बात में अपने पति को झिड़क भी देती है। इस प्रकार उनके दाम्पत्य-जीवन की कटुता तीव्रतर होती जाती है।

यही दशा 'कर्मभूमि' की सुखदा की है। वह प्रेम के आदान-प्रदान में व्यवसाय-बुद्धि का परिचय देती है। पति उसे प्यार नहीं करते, आत्म-समर्पण नहीं करते तो मैं ही क्यों करूँ। उसके मन में इस तरह का भाव सदा बना रहता है। वह पति को समझने की तनिक भी चेष्टा नहीं करती। उधर उसके पति अमरकान्त का व्यक्तित्व भी असाधारण है। शैशवावस्था में ही माँ की मृत्यु हो जाने के कारण, कर्कशा विमाता द्वारा प्रताड़ित होते रहने के कारण और अन्त में सैद्धान्तिक मतभेद के फलस्वरूप पिता से अलग हो जाने के कारण उसके जीवन में प्रेम का सदा अभाव रहा है। वह अपनी पत्नी से इन सब अभावों की पूर्ति चाहता है। वह चाहता है कि उसकी पत्नी उसका सम्मान करे, उसके क्रान्तिकारी भावों और विचारों को समझे और अपने स्वार्थ की चिन्ता किये बिना उसे निश्छल और एकान्त प्रेम दे। पर सुखदा अपने पति की इन माँगों को न तो समझती है, न समझने की आवश्यकता ही पहचानती है। वह उसको साधारण व्यक्ति ही मान कर चलती है। पति के प्रति निष्काम आत्मसमर्पण को वह दासीत्व का चिह्न मानती है।[1] परिणाम यह होता है कि दोनों के बीच की खाई बढ़ती ही जाती है। प्रेम का भूखा अमरकान्त पत्नी

---

१. 'उन्हें प्रेम की भूख थी, तो मुझे प्रेम की भूख कुछ कम न थी। मुझसे वह जो चाहते थे, वही मैं भी उनसे चाहती थी। जो चीज वह मुझे न दे सके, वह मुझसे न पाकर वह क्यों उद्दण्ड हो गए? क्या इसीलिए कि वह पुरुष हैं और चाहें स्त्री को पाँव की जूती समझें, पर स्त्री का धर्म है कि वह उनके पाँव से लिपटी रहे।?'
प्रेमचन्द : 'कर्मभूमि' (पृष्ठ २४३)

की ओर से निराश होकर सकीना की ओर आकर्षित हो जाता है और अपने दाम्पत्य-जीवन के घोर असंतोष से मुक्ति पाने के लिए घर से भाग जाता है। पर सुखदा अब भी अमरकान्त की मानसिक ग्रन्थि को नहीं समझ पाती और पति के इस व्यवहार को केवल अपने प्रति विश्वासघात के रूप में ही देखती है : 'उन्होंने मेरे साथ विश्वासघात किया है। ऐसे कमीने आदमी की खुशामद नहीं कर सकती। यदि आज मैं किसी मर्द के साथ भाग जाऊँ, तो तुम समझती हो, वह मनाने जायेंगे? वह शायद मेरी गरदन काटने जायें।'[1] इसी मिथ्या अभिमान और अहंभाव के कारण वह अपने कर्तव्य की अनदेखी कर पति के कर्तव्य की नाप-जोख में ही उलझी रहती है, और इस प्रकार अपने दाम्पत्य जीवन को घोर अशान्तिमय बना देती है।

प्रतापनारायण श्रीवास्तव के 'विदा' में कुमुदिनी का चरित्र भी ऐसा ही है। वह ज्वाइंट मैजिस्ट्रेट की लड़की है और अण्डर-ग्रेजुएट है। इसलिए उसमें घमण्ड चूर-चूर कर भरा हुआ है। उसका पति निर्मल विद्वान और सरल स्वभाव का है किन्तु कुमुदिनी उसकी प्रवृत्ति को नहीं समझ पाती। उसने सस्ते किस्म के उपन्यास पढ़े हैं और वह अपनी वस्तुस्थिति को भूलकर चाहती है कि उसका पति इन उपन्यासों में चित्रित नायकों की भाँति प्रेम का प्रदर्शन करता रहे और वह मानिनी नायिका की भाँति उसके साथ व्यवहार करती रहे। इस प्रकार वह अपने अज्ञान के कारण पति के सच्चे प्रेम की उपेक्षा कर मरु-मरीचिका की ओर भागती रहती है। इस बात की तनिक भी चेष्टा नहीं करती कि उनकी भिन्न प्रवृत्तियों में किसी प्रकार सामंजस्य स्थापित हो। अपनी जिस ममतामयी माँ को निर्मल अपने प्राणों से भी अधिक प्यार और श्रद्धा करता है, वह उस पर भी अत्याचार करने में नहीं चूकती। पति-प्रेम की इसी मिथ्या धारणा और अपनी प्रतिकूल प्रवृत्ति के कारण वह अपने दाम्पत्य-जीवन में नितान्त कर्तव्यच्युत सिद्ध होती है। फिर भी उसे अपने दोष का ज्ञान नहीं होता और वह गर्विता की भाँति पति से रूठकर पितृगृह चली जाती है। फल यह होता है कि निर्मल चपला की ओर आकर्षित हो जाता है।

इन तीनों नारियों को दाम्पत्य-सुख के दर्शन तभी होते हैं, जब वे अपने कर्तव्य और दायित्व को समझकर दंभ और प्रतिहिंसा का त्यागकर सहज प्रेम का व्यवहार करती हैं। सुमित्रा अपने पति को घायल देखते ही अपने मन का सारा विद्रोह और सारी कटुता भूल-कर उसकी सेवा में लग जाती है और तभी वह पहली बार दाम्पत्य-सुख की झलक पाती है। सुखदा जब सकीना से मिलती है और सकीना उसे अमरकान्त के आन्तरिक अभावों का रहस्योद्घाटन करती हुए कहती है कि 'वह खिदमत के गुलाम हैं, और खिदमत से ही आप उन्हें जीत सकती हैं।'[2] तो सुखदा को जैसे अपनी भूल मालूम पड़ती है। इस दिन से वह अमरकान्त को समझने की चेष्टा शुरू करती है और अपने व्यक्तित्व को उसके विचारों

---

१. प्रेमचन्द : 'कर्मभूमि' : (पृष्ठ १९६)
२. वही : (पृष्ठ १९५)

के अनुरूप बनाने की चेष्टा करती है। अन्त में उसकी प्रवृत्ति में यहाँ तक सामंजस्य हो जाता है कि वह असहयोग आन्दोलन में भाग लेकर जेल जाने में भी आनन्द का अनुभव करती है। वहीं उसका अपने पति से मिलाप होता है। इस समय सुखदा को जो सच्चे आन्तरिक सुख का अनुभव होता है, वह उसे जीवन में कभी नहीं हुआ था। 'आज वह अपने पति की अनुगामिनी थी. . .अब दोनों एक ही मार्ग के पथिक हैं, एक ही आदर्श के उपासक हैं, उनमें कोई भेद नहीं है, कोई वैषम्य नहीं है। आज पहली बार उसका अपने पति से आन्तरिक सामंजस्य हुआ। जिस देवता को अमंगलकारी समझ रखा था, उसी-की आज धूप-दीप से पूजा कर रही थी।'[1]

कुमुदिनी को भी अन्त में अपनी भूल स्वीकार करनी पड़ती है। जब कुमुदिनी की भाभी लज्जा उसको पत्नी के कर्तव्य और पति-सेवा की महत्ता समझाती है और यह कहती है कि 'स्वामी के सामने झुकने ही में स्त्री का गौरव है।'[2] और दूसरी ओर चपला उसे पत्र भेजकर अपने कर्तव्य के प्रति सचेत करती है तो कुमुदिनी अपनी भूल स्वीकार करती हुई सोचने लग जाती है 'चाहे जो कुछ हो, वह मुझे प्यार करते हैं, और प्यार करते है अपने प्राणों से भी अधिक। वास्तव में मैं अभागिनी हूँ। अभागिनी न होती, तो यहाँ आकर बाप की रोटियों पर पड़ी रहती? अपने घर जाने में कौन लज्जा, कौन भय और कौन हिचकिचाहट? सासजी तो देखते ही फूली नहीं समायेंगी और वह भी प्रसन्न होंगे। मैं जाऊँगी।'[3] पति गृह लौटने पर ही उसे दाम्पत्य-जीवन के माधुर्य और सौन्दर्य के दर्शन होते हैं।

इनके विपरीत 'रंगभूमि' की इन्दु को अपने दाम्पत्य-जीवन में कभी भी सुख के दर्शन नहीं होते, क्योंकि वह अपने स्वभाव में न तो किंचित भी परिवर्तन करने के लिए तैयार होती है, न पति के किसी भी दोषयुक्त दीखने वाले व्यवहार को क्षमा करती है। यह एक प्रकार का दुर्भाग्य ही है कि इन्दु और उसके पति राजा महेन्द्र की मूल प्रकृति में ही बड़ा विरोध है। ऐसी स्थिति में बड़े परिश्रम और सचेत प्रयत्न से ही दाम्पत्य-जीवन को सुखी बनाया जा सकता है। पर इस प्रयत्न का इन्दु में नितान्त अभाव है। उसके विचार और उसके व्यवहार पति की अनुकूलता पाने में असमर्थ होते हैं, क्योंकि वह पति के मूल भावों का अनुसंधान नहीं करती। यही कारण है कि वह जिस प्रकार सोचती है, जो काम करती है, पति के प्रतिकूल सिद्ध होता है। यहाँ तक कि कभी-कभी जब उसे कोई कार्य या निर्णय करते समय यह विश्वास होता है कि वह महेन्द्र को प्रसन्न करेगा, तब भी परिणाम सदैव दुखदायी होता है। जब इन्दु अपनी और पति की प्रसन्नता को ध्यान में रखकर बड़े प्रयत्न के बाद सोफ़ी को अपने साथ चलने के लिए तैयार करती है तो यह भी पति को

---

१. प्रेमचन्द : 'कर्मभूमि' : (पृष्ठ २७२)
२. प्रतापनारायण श्रीवास्तव : 'विदा' (पृष्ठ ३२३)
३. वही : (पृष्ठ ३६३)

अनुचित लगता है। वह सेवा समिति के प्रति सहानुभूति रखना हर व्यक्ति का कर्तव्य समझकर जब समिति के कार्य में सहयोग देती है तो भी पति को बुरा लगता है।[1] जब वह अपने और पति के सम्मान का ध्यान रखकर इन्द्रदत्त को चन्दा देती है तब भी उसका परिणाम उल्टा सिद्ध होता है।[2] और जब वह पति की प्रसन्नता के लिए अपमान सहकर भी रुपये लौटा लेने की सोचती है तब भी वह बात प्रतिकूल ही सिद्ध होती है।[3] पति-पत्नी की इतनी प्रतिकूल प्रवृत्तियों पर दृष्टिपात करके ही एक दिन महेन्द्र इन्दु से पूछता है : 'तुम क्यों बार-बार वे ही काम करती हो, जिनसे मेरी निंदा और जग-हँसाई हो, मेरी मान-प्रतिष्ठा धूल में मिल जाये, मैं किसी को मुँह दिखाने लायक न रहूँ। मै जानता हूँ, तुम ज़िद से ऐसा नही करतीं। मैं यहाँ तक कह सकता हूँ, तुम मेरे आदेशानुसार चलने का प्रयास भी करती हो किन्तु फिर जो यह अपवाद हो जाता है, उसका क्या कारण है?

---

१. इन्दु—'क्या सेवा-समितियों से सहानुभूति रखना भी आपत्तिजनक है? मैं समझती हूँ, ऐसे शुभ कार्यों में भाग लेना किसी के लिए भी लज्जा या आपत्ति की बात नहीं हो सकती।
राजा महेन्द्र—'तुम्हारी समझ में मेरी समझ में बड़ा अन्तर है। यदि मैं बोर्ड का प्रधान न होता, यदि मैं शासन का एक अंग न होता, अगर मै एक रियासत का स्वामी न होता, तो स्वच्छन्दता से प्रत्येक सार्वजनिक कार्य में भाग लेता।'
प्रेमचन्द : 'रंगभूमि' (पृष्ठ २५१-२५२) प्रथम भाग

२. इन्दु—'तो आपने चंदा भी नहीं दिया होगा?'
महेन्द्र—'कभी कभी तुम बेसिर-पैर की बातें करती हो। चंदा कैसे देता, अपने मुँह में आप ही थप्पड़ मारता।'
इन्दु—'लेकिन मैंने तो दिया है। मुझे...'
महेन्द्र—'अगर तुमने दिया है तो, बुरा किया है।'
इन्दु—'मुझे यह क्या मालूम था कि...'
महेन्द्र—'व्यर्थ बात न बनाओ। अपना नाम गुप्त रखने को कह दिया है?'
इन्दु—नहीं, मैने कुछ नहीं कहा।'
महेन्द्र—'तो तुमसे ज्यादा बेसमझ आदमी संसार में न होगा।...इस अवसर पर वह दूसरों से चंदा वसूल करने के लिए तुम्हारा नाम उछालता फिरेगा। जरा दिल में सोचो, लोग क्या समझेंगे। शोक है। अगर इस वक्त मैं दीवार से सिर नहीं टकरा लेता, तो समझ लो कि बड़े धैर्य से काम ले रहा हूँ। तुम्हारे हाथों मुझे सदैव अपमान ही मिला, और तुम्हारा यह कार्य तो मेरे मुख पर कालिमा का वह चिह्न है, जो कभी [मिट नहीं सकता।'
वही : (पृष्ठ १३५-१३६)

३. इन्दु—'जाती हूँ आपकी आज्ञा का पालन करने। इंद्रदत्त से रुपये वापस लूँगी।'

क्या यह बात तो नहीं कि पूर्व जन्म में हम और तुम एक दूसरे के शत्रु थे; या विधाता ने मेरी अभिलाषाओं और मंसूबों का सर्वनाश करने के लिए तुम्हें मेरे पल्ले बाँध दिया है? मैं बहुधा इसी विचार में पड़ा रहता हूँ, पर कुछ रहस्य नहीं खुलता।"[1]

पत्नी के कर्तव्य के प्रसंग में एक प्रश्न और उठता है। पूर्वार्पण में बँधी नारी पति को अपना एकान्त समर्पण न दे पाये, उसका मन प्रेम और विवाह की विरोधी शक्तियों की टकराहट में विभक्त हो जाये, तो उसका क्या कर्त्तव्य है? क्या वह अपने प्रेम के प्रति सच्ची रहकर विवाहित जीवन की मर्यादाओं को तिलांजलि दे दे, अथवा, क्या वह अपने पूर्व-प्रेम को मन की कमजोरी समझकर पत्नीत्व की मर्यादा का पालन करे?

अधिकांश उपन्यासकारों ने नारी के सच्चे प्रेम को सहानुभूति दी है। ऐसी अनेक प्रेयसियों का चित्रण हुआ है जो विवाह के बाद भी अपने प्रेमियों का ही ध्यान करती रहती हैं। 'चढ़ती धूप' की ममता मोहन के प्रति अपने गहरे प्रेम के कारण अपने विवाहित जीवन में मरी-सी, बुझी-सी रहती है। मोहन के समझाने-बुझाने पर वह अपने पति को अपना तन तो दे देती है पर उसका मन अब भी उसके वश में नहीं है। इसी प्रकार 'गुनाहों का देवता' की सुधा अपने अस्तित्व के रेशे-रेशे से चन्दर को ही प्रेम करती है और जन्म-जन्मान्तर तक उसी के चरणों में रहने की आकांक्षा करती है। अन्यत्र विवाह हो जाने पर भी उसके इस भाव में किंचित भी परिवर्तन नहीं होता। 'नया आदमी' की रेखा पत्नीत्व की मर्यादाओं का उल्लंघन कर अपने पूर्व-प्रेमी से गुप्त रूप से मिलती रहती है। 'शेखर : एक जीवनी' में शशि विवाहोपरान्त भी अपने को शेखर में समर्पित मानती है।[2] उसका वैवाहिक जीवन सफल हो सके इस बात के लिए शेखर अथवा शशि तनिक भी प्रयत्नशील नहीं हैं। प्रत्युत शेखर तो उसके दाम्पत्य-जीवन में एक चुनौती के रूप में खड़ा हो जाता है। शशि के प्रति आन्तरिक अनुराग की भावना से ही वह शशि के पति रामेश्वर को अत्याचारी और अन्यायी के रूप में देखता है। उपन्यास पढ़ते हुए ऐसा लगता है जैसे शशि और शेखर का प्रेम ही सच्चा और सार्थक है, उसके बीच में पड़कर यह पति नामधारी व्यक्ति व्यर्थ ही उलझनें खड़ी कर रहा है।

यद्यपि इस प्रकार के चित्रण के मूल में उपन्यासकारों का मुख्य उद्देश्य नारी के प्रेम-विवाह का समर्थन करना और अनमेल विवाह के दुष्परिणामों पर प्रकाश डालना ही है तथापि यह बात विचारणीय है कि चाहे उसकी इच्छा के विरुद्ध ही सही, एक बार विवाह हो जाने के बाद नारी का ऐसा आचरण क्या सामाजिक अथवा नैतिक दृष्टि से उचित

महेन्द्र—'इन्दु, सच कहता हूँ, तुम मुझे पागल बना दोगी।'
प्रेमचन्द : 'रंगभूमि' : (पृष्ठ १४१) प्रथम भाग

१. वही : (पृष्ठ १३७-१३८)

२. 'पर तुममें मेरा यह जीवन है, जो मैं हूँ, जो मेरा मैं है।'
अज्ञेय : 'शेखर : एक जीवनी' (पृष्ठ १६६)

ठहराया जा सकता है? अपने पूर्व-प्रेम में लीन होकर, पति अथवा परिवार की उपेक्षा कर क्या वह अपने पत्नीत्व के कर्तव्य और दायित्व से विमुख नही होती? उसका विवाह उसके प्रेमी से नहीं हुआ, इसमें निश्चित ही उसके माता-पिता अथवा समाज की प्रचलित रीति-नीति का दोष है, पर इस दोष का विष-फल उसका निरपराध पति क्यों भोगे जो उसके प्रेम और विश्वास से वंचित होकर कहीं का भी नहीं रहता?

इस विषम जाल से मुक्ति का एक ही उपाय जान पड़ता है कि नारी अपने व्यक्तित्व को इतना समर्थ बनाये कि विवाह-जैसी महत्वपूर्ण घटना उसकी इच्छा के विरुद्ध न हो। पर विवाह के उपरान्त अपने पत्नी-धर्म की मर्यादा और आवश्यकताओं को समझकर तदनुरूप आचरण करना उसका कर्त्तव्य हो जाता है। उसमें चूक करने से उसे समाज से कभी भी क्षमा अथवा सहानुभूति नहीं मिल सकती। विवाह की सफलता तभी सच्ची हो सकती है जब पति-पत्नी दोनों एक दूसरे के प्रति निश्छल और मुक्त हृदय से समर्पित हों। इस समर्पण में जो भी सम्बन्ध, परिस्थिति या मान्यता रुकावट बने उसका बलपूर्वक त्याग करना पत्नी का कर्तव्य है।

सपत्नी

यद्यपि भारतीय समाज में आदिकाल से ही एक-पत्नी-प्रथा को प्रतिष्ठा दी गई है, तथापि भारत के स्वतन्त्र होने के पूर्व तक बहु-पत्नी-प्रथा को अपराध कभी नही माना गया। इसीलिए हमारे समाज में कभी-कभी पुरुष एकाधिक पत्नियाँ रखता आया है। संपन्न वर्ग अपने विलास के लिए और साधारण वर्ग पहली पत्नी में कोई गंभीर दोष होने पर एक पत्नी के रहते भी दुबारा विवाह कर लेता था। राजों-महाराजों के परिवार में तो एक प्रकार से बहु-पत्नी-प्रथा ही प्रचलित थी। रामायण-काल से ही हम एक राजा की अनेक रानियों की कथा सुनते आये है। आज भी नानी की कहानी का आरम्भ प्रायः इसी प्रकार होता है: 'एक राजा था, उसके सात रानियाँ थीं।' मध्ययुग में, विशेषतः बंगाल में, कुलीन वरों की अल्प संख्या के कारण कभी-कभी एक-एक पुरुष दस-दस बीस-बीस नारियों से विवाह कर लेता था। प्राचीन-पंथी रूढ़िग्रस्त परिवारों में यह प्रथा कुछ वर्ष पूर्व तक मिलती थी। हमारा ग्रामीण समाज भी इससे मुक्त नहीं था।

बहु-पत्नियों की इस प्रथा ने एक नये नारी-सम्बन्ध को जन्म दिया। सपत्नी का घर में पत्नी के ही समान स्थान और अधिकार होता है। ऐसी स्थिति में यदि सपत्नियों का स्वभाव-व्यवहार मधुर और सहिष्णु हुआ तब तो रक्षा हो जाती है, अन्यथा घर का जीवन कलह-भूमि बन जाता है और कभी इस ओर से और कभी उस ओर से संकट छाया रहता है। और यदि कहीं पति उनमें से किसी एक के प्रति पक्षपात करने लगता है, तब तो अन्य सपत्नियों का जीवन आँसुओं से भीग जाता है।

हिन्दी के कुछ उपन्यासों में सपत्नी के सम्बन्धों का चित्रण मिलता है, यद्यपि एक-पत्नी-प्रथा को मान्यता देने के कारण उपन्यासकारों ने इसे समस्या के रूप में चित्रित नहीं किया

है। प्रेमचन्द के उपन्यास 'कायाकल्प' में कुँवर विशालसिंह के तीन पत्नियाँ हैं—वसुमती, रोहिणी और रामप्रिया। रामप्रिया तो सहिष्णु स्वभाव की है इसलिए सदा शान्त रहती है, किन्तु वसुमती और रोहिणी में निरन्तर कलह मचा रहता है। विशालसिंह रोहिणी के द्वार से उसे मनाकर निराश लौट रहे है कि वसुमती उन्हें अपनी ओर बुलाकर कहती है—'अभी घण्टे भर वहाँ बैठे चिकनी-चुपड़ी बातें करते रहे तो देर नहीं हुई, मैं एक क्षण के लिए बुलाती हूँ तो भागे जाते हो'[1] फिर सपत्नी के विरुद्ध भड़काती हुई कहती है : 'औरतों को सिर चढ़ाने का यही फल है। उसे तो तब चैन आये, जब घर में अकेली वही रहे। जब देखो तब अपने भाग्य को रोया करती है, 'किस्मत फूट गई, माँ-बाप ने कुएँ में झोंक दिया, जिन्दगी खराब हो गई।' यह सब मुझसे नहीं सुना जाता, यही मेरा अपराध है। तुम उसके मन के नहीं हो, सारी जलन इसी बात की है। पूछो, तुझे कोई जबरदस्ती निकाल लाया था, या तेरे माँ-बाप की आँखें फूट गई थीं। वहाँ तो यह मंसूबे थे कि बेटी मुँहजोर है ही, जाते-ही-जाते राजा को अपनी मुट्ठी में करके रानी बन बैठेगी। क्या मालूम था कि यहाँ उसका सिर कुचलने को कोई और भी बैठा हुआ है। यही बातें खोल-कर कह देती हूँ तो तिलमिला उठती है, और तुम दौड़ते हो मनाने। बस उसका मिजाज और आसमान पर चढ़ जाता है। दो दिन, चार दिन, दस दिन, रूठी पड़ी रहने दो, फिर देखो भीगी बिल्ली हो जाती है या नहीं, यह चिरंतन का नियम है कि लोहे को लोहा ही काटता है। कुमानुस के साथ कुमानुस बनने ही से काम चलता है।'[2]

'गोदान' में झिंगुरीसिंह की भी दो पत्नियाँ हैं जिनके कारण घर में नित्य लड़ाई-झगड़ा होता रहता है। और झिंगुरीसिंह दोनों को प्रसन्न रखने की चेष्टा में एक से दूसरी की निन्दा करता रहता है। उसके जीवन का यह पक्ष गाँव वालों के लिए व्यंग्य-विनोद का अच्छा माध्यम बन जाता है, क्योंकि गाँव में झिंगुरीसिंह के हथकण्डों के मारे सबकी नाक में दम रहता है। होली के अवसर पर गोबर के नेतृत्व में गाँव के लड़के एक प्रहसन में झिंगुरीसिंह और उसकी पत्नियों की नक़ल उतारते है।

इसी प्रकार अवधनारायण श्रीवास्तव के उपन्यास 'विमाता' में विवाह को वर्षों बीत जाने पर भी सुभद्रा निःसंतान रहती है। उसका पति हारकर संतान की लालसा के कारण दूसरा विवाह कर लेता है। नई पत्नी का स्वभाव इतना ईर्ष्यालु और असहिष्णु है कि वह सुभद्रा से रात-दिन लड़ती रहती है जिसके कारण घर की शान्ति भंग हो जाती है।

वास्तव में सपत्नी का सम्बन्ध नितान्त अस्वाभाविक सम्बन्ध है। दाम्पत्य-जीवन का आधार है पति-पत्नी का एक दूसरे के प्रति एकान्त समर्पण। एकाधिक पत्नियाँ होने पर यह समर्पण किसी प्रकार सम्भव नहीं हो सकता।

---

१. प्रेमचन्द : 'कायाकल्प' (पृष्ठ ११०)
२. वही : (पृष्ठ ११०)

माँ—संतान

माँ का अपनी सन्तान से रक्त का सम्बन्ध होता है। इसीलिए वह स्वभावतः अपनी सन्तान को अतिशय स्नेह देती है। जब से वह गर्भ धारण करती है तभी से उसकी रक्षा करना और उसका उचित ढंग से लालन-पालन करना वह अपना कर्तव्य और दायित्व समझती है। वह स्वयं दुख भोगकर भी उसको सुख पहुँचाने की सतत चेष्टा करती है, स्वयं गीले पर सोकर उसे सूखे पर सुलाती है। उसकी प्रसन्नता और कल्याण के लिए वह बड़े-से-बड़ा दुख उठाने को तत्पर रहती है, अवज्ञा और अपमान तक सह लेती है। हिन्दी उपन्यासकारों ने माँ की इस उदात्त भावना की विशेष रूप से सराहना की है। यशपाल के 'दिव्या' में दिव्या अपने नवजात पुत्र शाकुल को जीवित रखने के विचार से एक द्विज-पत्नी के सद्य-जात बालक को दूध पिलाने की नौकरी करती है। किन्तु वह देखती है कि जिस पुत्र की रक्षार्थ वह यह नौकरी करती है, उसीको अत्यधिक क्लेश मिलता है। अपने बच्चे को भूखा रखकर दूसरे की संतान को स्तन-पान कराना माँ के कर्तव्य से च्युत होना है। फलस्वरूप दिव्या की मातृत्व भावना को गहन वेदना होती है। जब यह यंत्रणा असह्य हो जाती है तब वह भागकर एक बौद्ध भिक्षु की शरण में जाती है और जब वे उसको शरण नहीं देते तो अपने पुत्र को जीवित रखने के लिए, उसकी क्षुधा-पूर्ति के लिए वह वेश्या बनने तक का विचार करती है। जब वहाँ से भी उसे भर्त्सना मिलती है[1] तब अन्त में और कोई उपाय न देखकर वह अपने पुत्र शाकुल को हृदय से चिपकाये यमुना के जल में कूद पड़ती है जिससे उसकी मृत्यु के बाद अनाथ बालक को दर-दर की ठोकरें न खानी पड़ें।

अनेक हिन्दी-उपन्यासों में ऐसा चित्रण मिलता है कि माँ किसी कारणवश अपने जीवन से दुखी होकर मृत्यु की शरण लेना चाहती है अथवा घर छोड़कर चली जाने की सोचती है, किन्तु संतान के रुदन, दुख और अपने कर्तव्य का स्मरण आते ही उसे अपना यह विचार त्याग देना पड़ता है, और अपने दुखी जीवन की परिस्थितियों के आगे सिर झुका देना पड़ता है। मन्मथनाथ गुप्त के 'अवसान' की मुनिया आत्महत्या करने के लिए गंगा-तट पर जाती है, किन्तु बच्चे के रुदन का स्मरण कर उसके पैर आगे नहीं बढ़ते। 'गोदान' की मिसेज़ खन्ना अपने दाम्पत्य-जीवन से अत्यधिक दुखी होने पर भी बच्चों की असुविधा का विचार कर घर नहीं छोड़ पाती। यहाँ तक कि जब एक बार साहस कर वह घर से बाहर पैर रखती भी है तो तुरन्त अपने मातृत्व के दायित्व को अपने दुखी जीवन से भी अधिक महत्वपूर्ण मानकर पुनः लौट आती है। प्रेमचन्द लिखित 'निर्मला' उपन्यास की कल्याणी भी अपने बच्चों के दुख का विचार कर गृहत्याग नहीं कर पाती। सियाराम-शरण गुप्त लिखित 'नारी' में यमुना का पति और 'प्रसाद' लिखित 'तितली' में तितली

---

१. 'माता का सम्मानित पद पाकर तू वेश्या बन समाज की शत्रु बनना चाहती है?'
यशपाल : 'दिव्या' (पृष्ठ १२६)

का पति मजबुन घर छोड़कर चले जाते हैं। पति की अनुपस्थिति में इन नारियों को अनेक कष्टों का सामना करना पड़ता है किन्तु फिर भी मातृत्व के कर्तव्य की पूर्ति के लिए वे विरह-यंत्रणा में भी जीवित रहती हैं और अपनी संतान का लालन-पालन करती हैं। ये सभी माताएँ अपने बच्चों के स्नेह में अपने अपमान और दुख को भूलने की चेष्टा करती हैं।

माँ का कर्तव्य है कि अपनी सन्तान के भविष्य के बारे में प्रारम्भ से ही सोचे। बालक के विकास एवं व्यक्तित्व-निर्माण का प्रतिपल ध्यान रखना माँ का कर्त्तव्य है चाहे इसके लिए उसे थोड़ी-बहुत कठोरता का ही सहारा क्यों न लेना पड़े। प्रेमचन्द लिखित 'रंगभूमि' की जाह्नवी' अपने पुत्र विनय को एक आदर्श, वीर पुत्र के रूप में देखना चाहती है। इसलिए वह प्रारम्भ से ही उसे कष्ट सहने का अभ्यास कराती है। 'गोदान' में धनिया जब यह देखती है कि उसका पुत्र गोबर झुनिया को भगाकर तो ले आया है, किन्तु समाज के डर से स्वयं भाग गया है तो वह एक ओर तो झुनिया को घर में स्थान देती है, दूसरी ओर गोबर के कायरपन पर क्रुद्ध भी होती है।[1]

दूसरी ओर जो माता अपने संतान के चरित्रनिर्माण की उपेक्षा करती है, या संतान को लाड़-प्यार जताकर ही अपने कर्तव्य की इति-श्री समझ लेती है, वह अपनी संतान का भविष्य अंधकारमय बना देती है। ईश्वरीप्रसाद शर्मा लिखित 'वामा शिक्षक' में जमनादास की पत्नी अपनी पुत्री राधा और पार्वती के चरित्र-निर्माण की ओर तनिक भी ध्यान नही देती, जिसके कारण वे दोनों बड़ी होकर नितांत अनुभवहीन सिद्ध होती हैं और उनका समस्त जीवन दुखमय व्यतीत होता है। अवधनारायण श्रीवास्तव लिखित 'विमाता' में राजेश्वर की माँ, कौशिक लिखित 'माँ' में सावित्री, भगवतीचरण वर्मा लिखित 'पतन' में भवानीशंकर की माँ अपनी संतानों के प्रति इतना लाड़-प्यार दिखाती हैं कि उनके दोषों को भी यह कहकर कि 'लाल अभी लड़का ही है, उसमें अभी समझ कहाँ है, समझ आने पर खुद सँभल जायेगा,'[2] अनदेखा कर जाती हैं। उन्हें दुराचार और वेश्यागामिता की ओर जाते देखकर भी चिन्तित नहीं होतीं, उल्टे वात्सल्य के कारण उनकी इच्छानुसार रुपया-पैसा देती रहती हैं। इसीका यह परिणाम होता है कि अंकुशहीन पशु की भाँति वे अंधे होकर अपने ही हाथों अपना जीवन नष्ट कर लेते हैं।

माँ की यह स्वाभाविक कामना होती है कि उसकी संतान जीवन में निरन्तर उन्नति करे और सुख पाये। इसलिए वह बचपन से ही संतान के आचार-व्यवहार पर ध्यान देती

---

१. धनिया ने झुनिया का हाथ पकड़कर अन्दर ले जाते हुए कहा : 'कायर कहीं का। जिसकी बाँह पकड़ी, उसका निबाह करना चाहिए कि मुँह में कालिख लगाकर भाग जाना चाहिए। अब जो आये, तो घर में न बैठने दूँ।'
प्रेमचन्द : 'गोदान' (पृष्ठ १५२)

२. भगवतीचरण वर्मा : 'पतन' (पृष्ठ २३७)

है। पर एक अवस्था के बाद कभी-कभी माँ की यह स्वाभाविक चिन्ता संतान के विकास अथवा सुख में बाधक भी बन जाती है। बीसवीं शताब्दी भारतवर्ष के लिए संक्रान्ति का काल रही है। इसमें जीवन की नई दिशाओं और नए स्तरों की खोज हुई, जिसके फलस्वरूप पुरानी पीढ़ी की अपेक्षा नई पीढ़ी के विचार अधिक प्रगतिशील रहे। ऐसी परिस्थिति में यदि माँ अपने लघु स्वार्थ अथवा वात्सल्य के अतिरेक में संतान को अपनी सीमाओं में ही बन्द रखे तो उसकी प्रगति में रुकावट भी आ सकती है। इसीलिए उपन्यासकारों ने ऐसी माता का कई स्थलों पर चित्रण किया है जो संतान के सच्चे सुख के लिए अपने वात्सल्य की भी चिन्ता नहीं करती। 'अवसान' की वेश्या मुनिया अपने पुत्र के भविष्य का ध्यान रखकर उचित वातावरण में उसके लालन-पालन की इच्छा से ही उसे अपने पास से दूर भेज देती है। अपनी संतान से यह वियोग उसे चाहे कितना ही कष्टकर क्यों न हो, वह सहने को तैयार हो जाती है। इसके विपरीत 'गोदान' की 'धनिया' यही चाहती है कि शहर में जाकर धन कमाने की बजाय उसका बेटा गोबर गाँव में ही रहकर अपने माता-पिता की मदद करे। यद्यपि उसके मन में भी पुत्र की मंगल-कामना ही है, पर वह यह समझने में असमर्थ है कि गोबर का सच्चा हित कहाँ रहने में होगा। ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था की परिपाटी से हटना धनिया को अवांछनीय लगता है। इसीलिए पाठक की सहानुभूति उसके साथ नहीं हो पाती, वह गोबर के चले जाने का ही समर्थन करता है।

माँ-बाप अपने बच्चों का विवाह करना अपना दायित्व समझते हैं। साथ ही वे इसे भी अपना कर्तव्य समझते हैं कि उनकी संतान का विवाह-संबंध उनके मनोनुकूल हो। प्रेमचन्द लिखित 'निर्मला' में कल्याणी अपनी पुत्री निर्मला के विवाह के लिए अच्छे-से-अच्छा घर-वर ढूँढ़ने का प्रयत्न करती है किन्तु अधिक दहेज देने में असमर्थ होने के कारण उसे निर्मला का विवाह बूढ़े तोताराम से करना पड़ता है जिससे उसके मन को अत्यधिक क्लेश होता है। 'गोदान' में धनिया की बड़ी पुत्री सोना का विवाह-सम्बन्ध तो उपयुक्त परिवार में होता है किन्तु बाद में निर्धनता के कारण छोटी बेटी रूपा का विवाह-सम्बन्ध बूढ़े रामसेवक से ही करना पड़ता है। धनिया खिन्न वदन होकर कहती है: 'उमिर तो ज्यादा है; लेकिन तुम लोगों की राय है, तो मुझे भी मंजूर है। तकदीर में जो लिखा होगा, वह तो आगे आयेगा ही।"[1]

पर कभी-कभी स्वार्थपरता या अदूरदर्शिता के कारण भी माँ अपनी संतान का विवाह-सम्बन्ध ग़लत जगह पर कर देती है। इलाचन्द्र जोशी के 'निर्वासित' में नीलिमा की माँ और 'मुक्तिपथ' में प्रमीला की माँ अपनी पुत्री का विवाह धन-वैभव की चकाचौंध में आकर ऐसे व्यक्ति से कर देती है जो लम्पट और दुराचारी है। यद्यपि माँ की इच्छा के कारण बेटी भी यह सम्बन्ध स्वीकार कर लेती है, पर बाद में चलकर उसे दुख उठाना पड़ता है।

---

१. प्रेमचन्द: 'गोदान' (पृष्ठ ३६३) तेरहवाँ संस्करण १९५६

माँ की ममता जहाँ तक बन सके अपनी संतान को सामाजिक निन्दा से बचाना चाहती है। संतान भूल भी करे तो भी उसे घर पर बैठकर चाहे जितना डाँट-फटकार ले, किन्तु समाज में उसका अपमान नहीं होने देती। रामवृक्ष बेनीपुरी लिखित 'पतितों के देश में' मुन्नू की माँ जब यह सुनती है कि उसके पुत्र मुन्नू का पिअरिया के साथ प्रेम-सम्बन्ध है तो उसे बहुत बुरा लगता है और उसको सामाजिक निन्दा से बचाने के लिए समझाती हुई कहती है: 'आज तुझे मेरी देह छूकर शपथ खानी पड़ेगी। शपथ खानी होगी कि अब से पिअरिया से न बोलेगा, न उसकी परछाहीं छुएगा। ले मेरा हाथ शपथ खाता है या नहीं ?'[1]

'गोदान' में जब गोबर झुनिया को भगाकर लाता है तो पहले तो होरी और धनिया के रोष का ठिकाना नहीं रहता किन्तु फिर तुरन्त ही धनिया अपने कर्तव्य का स्मरण कर झुनिया को अपने घर में स्थान दे देती है और उसे अपनी पुत्र-वधू की भाँति ग्रहण कर लेती है। गोबर के इस कृत्य पर जब गाँव वाले नाक-भौं सिकोड़ते हैं तब वह गोबर का पक्ष लेती हुई कहती है: 'मेहरिया रख लेना पाप नहीं है, रखकर छोड़ देना पाप है।'[2] जब झुनिया के पुत्र उत्पन्न होता है तब बिरादरी की औरतों के असहयोग से तनिक भी विचलित न होकर वह स्वयं ही अपनी पुत्रियों के साथ गला फाड़-फाड़कर सोवर गाती है। झुनिया को स्वीकार कर एक प्रकार से धनिया गोबर की भूल को समाज में ग्राह्य बना देती है।

माँ का कर्तव्य है कि वह अपने सभी बच्चों को समान दृष्टि से देखे। धनिया अपनी संतान रूपा, सोना और यहाँ तक कि गोबर को भी समान दृष्टि से देखती है। सभी मिलकर काम करते हैं और जो कुछ घर में होता है मिल-बाँटकर खाते-पहनते हैं। किन्तु उषा-देवी मित्रा लिखित 'पिया' में नीलिमा और कविता की माँ ऐसी नहीं है। नीलिमा बाल-विधवा है, इसलिए उसकी माँ भी उसे दासी की भाँति रखती है, यहाँ तक कि उससे छोटी बहिन कविता के कपड़े तक धुलवाती है। इसके विपरीत वह कविता को पढ़ाती-लिखाती है और घर के काम से मुक्त रखती है। माँ का ऐसा हृदयहीन चित्रण बड़ा ही अस्वाभाविक लगता है। संभव है यथार्थ जीवन में ऐसी माँ के भी उदाहरण मिलते हों, पर स्वाभाविक रूप से माँ की ममता विधवा-बेटी के प्रति इतनी करुण और संवेदनापूर्ण होती है कि वह उसके दुख को घटाने का ही प्रयत्न करेगी, बढ़ाने का नहीं। उपन्यासकार ने ऐसा चित्रण कर माँ के मनोभावों के प्रति न्याय नहीं किया है।

भारतीय संस्कृति में माँ के सहज गुणों में क्षमा को बहुत महत्व दिया गया है। सन्तान चाहे कितनी भी बड़ी ग़लती क्यों न करे, जब वह विनत होकर अपनी गलती स्वीकार करती है और क्षमा चाहती है तो माँ का मन पिघल जाता है। 'गोदान' में गोबर धनिया से कहनी-अनकहनी कहकर झुनिया को लेकर शहर चला जाता है तो धनिया को गोबर के व्यवहार पर क्रोध भी आता है और वेदना भी होती है। पाठक को ऐसा लगने लगता

---

१. रामवृक्ष बेनीपुरी : 'पतितों के देश में', बेनीपुरी ग्रन्थावली : (पृष्ठ ३०)
२. प्रेमचन्द : 'गोदान' (पृष्ठ १६३)

है कि अब वह गोबर को कभी क्षमा न करेगी। पर जब धनिया रूपा के विवाह के अवसर पर गोबर का स्मरण करती और आँसू गिराती है और गोबर भी शील की मूर्ति बनकर उसके सामने सिर झुकाकर खड़ा हो जाता है तो वह क्षण भर में ही अपना सारा गुस्सा भूल जाती है और झुनिया को फिर अपने पास रख लेती है।

जिस प्रकार संतान के प्रति माँ का यह कर्त्तव्य है कि वह आजीवन अपनी संतान के हित और सुख का ध्यान रक्खे उसी प्रकार संतान का भी यह कर्तव्य हो जाता है कि वह माँ-बाप के सुख-दुख का ध्यान रखे, उनकी आज्ञा का पालन करे और उनकी भावनाओं को चोट न पहुँचने दे। साधारणतः परिवार में ऐसा होता भी है। बुड्ढे माँ-बाप को सहारा देना और उनकी सुख-सुविधा का ध्यान रखना सभी चाहते है। 'गोदान' में सोना के विवाह की चिन्ता में जब धनिया घुलती रहती है तो उसको अपार कष्ट होता है। कभी वह आत्म-हत्या करने की सोचती है;[1] कभी माता-पिता को कर्ज लेते देखकर विकल हो जाती है।[2] अन्त में और कोई उपाय न देखकर वह अपनी अंतरंग सखी सिलिया को समझा-बुझा कर अपने भावी ससुराल भेजती है, और अपने भावी पति से यह वचन ले लेती है कि वह बिना दहेज लिये ही उससे विवाह कर लेगा। प्रेमचन्द ने सोना की इस भावना में माँ-बाप के प्रति संतान का आदर्श रूप उपस्थित किया है। ऐसा ही आदर्श रूप इलाचन्द्र जोशी के 'प्रेत और छाया' में मंजरी का है जो अपनी रुग्णा माँ की सेवा करने के लिए माँ से छिपकर होटल में आगन्तुकों के मन-बहलाव जैसा निन्दनीय कार्य स्वीकार कर लेती है। यही नहीं 'शेखर: एक जीवनी' की शशि अपनी विधवा माँ की प्रसन्नता के लिए अपने आन्तरिक सुख की तिलांजलि दे देती है। यद्यपि वह विवाह नहीं करना चाहती और अपनी इस इच्छा के लिए वह समाज से टक्कर लेने को भी प्रस्तुत है तथापि माँ के प्रति वह इतनी कर्तव्यशील है कि उनके कहने पर विवाह के लिए भी सहमत हो जाती है।

लेकिन आधुनिक जीवन में उपस्थित आर्थिक कठिनाइयाँ और वैचारिक संघर्ष कभी-कभी माता-पिता और संतान के बीच ऐसी अभेद्य दीवार खड़ी कर देते हैं कि संतान न चाहते हुए भी बड़ों के दुःख का कारण बन जाती है। 'गोदान' में गोबर और रामचन्द्र तिवारी लिखित 'कमला' में रामानुग्रह आर्थिक कठिनाइयों के कारण बूढ़े माँ-बाप को छोड़कर दूर चले जाते हैं। 'अंचल' के 'नई इमारत' की आरती और यशपाल के 'दादा कामरेड' की शैल विचारों के संघर्ष के कारण अपने माता-पिता को छोड़ देने पर बाध्य हो जाती हैं।

---

१. 'मैं एक बार उससे कह के देख लेना चाहती हूँ; अगर उसने कह दिया मेरा कोई अख्तियार नहीं है, तो क्या गोमती यहाँ से बहुत दूर है! डूब मरूँगी।'
प्रेमचन्द: 'गोदान' (पृष्ठ २७०) तेरहवाँ संस्करण, १९५६

२. वही: (पृष्ठ २७०)

कभी-कभी माता-पिता के प्रकृति-गत विभेद के कारण भी सन्तान को अलग हो जाना पड़ता है। प्रेमचन्द के 'रंगभूमि' में यह प्रकृति-गत विभेद ही मिसेज़ सेवक और सोफ़िया के सम्बन्धों को कटु बना देता है। मिसेज सेवक धर्मप्राण ईसाई महिला हैं, जो अपने परिवार के सम्मान और प्रतिष्ठा के लिए चाहती हैं कि सोफ़िया रियासत के पोलिटिकल एजेन्ट मिस्टर क्लार्क से विवाह करे। पर सोफ़िया उदार विचार की आदर्श-वादिनी युवती है जो विनय के उन्नत चरित्र और सेवा-भाव से प्रभावित होकर उसी को अपना सर्वस्व मान लेती है। इसलिए न तो उसे अपनी माँ के धर्माचार-सम्बन्धी चोचले पसन्द हैं, न उनको लघु स्वार्थ दृष्टि। अत: दोनों में कहा-सुनी होती रहती है।[1] मिसेज सेवक अपने लक्ष्य की सिद्धि के लिए ज्यों-ज्यों आग्रहशील और निष्ठुर होती जाती हैं,[2] त्यों-त्यों वह सोफ़िया की नजर में गिरती जाती हैं। अन्त में सोफ़िया परिवार से अलग रहने में ही शान्ति अनुभव करती है।

'शेखर : एक जीवनी' में शेखर बचपन में ही अपनी माँ से इतनी घृणा करने लगता है कि उनकी मृत्यु-समय भी उनके दर्शन करने नहीं जाता। 'गुनाहों का देवता' में बिनती की विधवा माँ अपने सारे कष्टों का कारण अपनी बेटी को ही समझती है, और दिन-रात उसे ताने देती रहती है।[3] बिनती जितना सहती जाती है उतना ही माँ का अत्याचार बढ़ता जाता है।[4] अन्त में बिनती एक दिन फूट पड़ती है : 'बहुत सुन लिया मैंने। अब बर्दाश्त नहीं होता। तुम्हारे कोसने से अब तक नहीं मरी, न मरूँगी। और अब मैं यह सुनूँगी नहीं, मैं साफ़ कह देती हूँ। उन्हें मेरी सकल अच्छी नहीं लगती तो जाओ तीरथ यात्रा में अपना परलोक सुधारो! भगवान का भजन करो। समझीं कि नहीं।'[5]

विच्छेद के इस चित्रण से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि माँ और सन्तान के सम्बन्ध तभी तक मधुर रह सकते हैं जब तक दोनों के भाव और विचारों में सामंजस्य रहे।

---

१. प्रेमचन्द : 'रंगभूमि' (पृष्ठ ४८-४९)
२. वही : (पृष्ठ १०६)
३. 'पैदा करत वखत बहुत अच्छा लग रहा, पालत बखत टें बोल गये। मर गये रह्यो तो आपन सन्तानौ अपने साथ ले जात्यौ। हमरे मूड़ पर ई हत्या काहे डाल गयो। ऐसी कुलच्छनी है कि पैदा होते दिन बाप को खाय गई।'
   धर्मवीर भारती : 'गुनाहों का देवता' (पृष्ठ ८२-८३)
४. 'आप देख चुके हैं कि माँ का व्यवहार मुझसे कैसा है? आप यहाँ इस परिवार को देखकर समझ नहीं सकते कि मैं वहाँ कैसे रहती हूँ, कैसे माँजी की बातें बरदाश्त करती हूँ। वह नरक है, मेरे लिए माँ की गोद नरक है।'
   वही : (पृष्ठ ११६)
५. वही : (पृष्ठ २३३)

बहन-बहन

एक ही माँ की सन्तान होने के कारण बहनों को बचपन से ही समान वातावरण और समान संरक्षण मिलता है। इसीलिए एक ओर उनके मन में सहज स्नेह का भाव रहता है तो दूसरी ओर बराबरी की, और कभी-कभी प्रतिद्वन्द्विता की भावना भी। हिन्दी उपन्यासों में बहन-बहन के इस सहज स्नेह के पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं। ईश्वरीप्रसाद शर्मा लिखित 'मागधी कुसुम' में सरला और बिन्दु का स्नेह, 'गोदान' में रूपा और सोना का स्नेह, इलाचन्द्र जोशी के 'लज्जा' में लज्जा और कला का स्नेह ऐसा ही है। साथ-साथ खेलने, उठने-बैठने से बहनों में पारस्परिक स्नेह का विकास होता है। यों चौबीसों घण्टे साथ-साथ रहने के कारण कभी-कभी उनमें लड़ाई-झगड़ा भी होता रहता है। किंतु वे फिर भी सदा एक दूसरे का सामीप्य चाहती हैं। अकेले रहना उन्हें पसन्द नहीं होता। छोटी बहन में यह प्रवृत्ति विशेषकर पाई जाती है। साथ ही यह भी पाया जाता है कि छोटी बहन बहुधा हर बात में बड़ी बहन का अनुकरण करती है। 'गोदान' में प्रेमचन्द ने दिखाया है कि जहाँ सोना जाती थी वहाँ रूपा अवश्य जाने को तैयार रहती थी। 'रूपा भी बहन के पीछे हो ली। जो काम सोना करे वह रूपा जरूर करेगी। सोना के विवाह की बातचीत हो रही थी, रूपा के विवाह की कोई चर्चा नहीं करता। इसलिए वह स्वयं अपने विवाह के लिए आग्रह करती है।[1]

इस स्नेह-मिश्रित बराबरी की भावना के कारण ही बहुधा बहनों में छोटी-मोटी बातों पर झगड़ा हो जाता है। छोटी बहन से बड़ी बहन की तर्क-बुद्धि अधिक विकसित होने के कारण छोटी बहन को बहुधा बड़ी बहन से हार खानी पड़ती है। फलस्वरूप वह खीझ उठती है और उस खीझ को दूर करने के लिए कभी वह अपनी माँ से शिकायत करती है, कभी अनुचित शब्दों का प्रयोग कर बैठती है, कभी रोने लगती है तो कभी बल-प्रयोग भी करने लग जाती है। इस मनोवैज्ञानिक सत्य का एक बहुत रोचक चित्रण 'गोदान' में मिलता है। सोना और रूपा में इस बात पर विवाद छिड़ जाता है कि झिंगुरीसिंह की छोटी ठकुराइन पहले खुद खाकर पति को खिलाती है या पति को खिलाकर तब खुद खाती हैं। बात बढ़ते-बढ़ते व्यक्तिगत आरोपों पर आ जाती है।

इसी प्रकार एक बार सोना-रूपा में अपने-अपने नामों को लेकर झगड़ा हो जाता है। सोना बड़ी है इसलिए वह स्वयं ही अपनी बात की रक्षा कर लेती है किन्तु रूपा की ओर से होरी और गोबर दोनों को ही बोलना पड़ता है।

बराबरी का यही भाव रूपा को बड़ी बहन की स्पर्द्धा करने की ओर प्रवृत्त करता है। जब गोबर शहर से लौटता है तो वह रूपा के लिए गुड़िया और सोना के लिए एक जोड़ी चप्पल लाता है। रूपा को गुड़िया पसन्द नहीं आती, उसका ध्यान सोना की चप्पलों

---

१. प्रेमचन्द : 'गोदान' (पृष्ठ ३७) : तेरहवाँ संस्करण

पर ही रहता है और वह रूठ जाती है। रूपा की यह स्पर्द्धा देखकर सोना उसको और भी चिढ़ाने लगती है: 'तू क्या करेगी चप्पल लेकर, अपनी गुड़िया से खेल। हम तो तेरी गुड़िया देखकर नही रोते, तू मेरी चप्पल देखकर क्यों रोती है?'[1]

वचपन में वहनों की यह स्पर्द्धा कुछ हद तक स्वाभाविक होती है और उनके वड़े होने पर अपने-आप समाप्त भी हो जाती है। पर कभी-कभी प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण वह उलटा और भी गंभीर रूप धारण कर लेती है। तव उनमें ईर्ष्या उत्पन्न हो जाती है, जो अशान्ति और विषमता का कारण बनती है। वहन के प्रति मन में इस प्रकार की ईर्ष्या को स्थान देना अनुचित है, और अपने कर्त्तव्य के प्रति उपेक्षा का प्रमाण है।

बड़ी बहन

हिन्दी-उपन्यासों में साधारणतः वडी वहन को अधिक समझदार और अधिक उदार व्यक्ति के रूप में चित्रित किया गया है। वह अपनी छोटी वहन के प्रति सहज वात्सल्य की भावना से प्रेरित होती रहती है, और आवश्यकता पड़ने पर उसको सुखी बनाने के लिए स्वयं कष्ट भोगने को तैयार रहती है। यही नहीं, जव उसे यह ज्ञात होता है कि उसकी उपस्थिति छोटी वहन के सुख में बाधक हो रही है तव वह अपने अधिकारों का भी त्याग कर देती है। किशोरीलाल गोस्वामी कृत 'स्वर्गीय कुसुम' में, ब्रजनन्दन सहाय लिखित 'सौन्दर्योपासक' में, तेजरानी दीक्षित के उपन्यास 'हृदय का काँटा' में, प्रेमचन्द लिखित 'सेवा सदन' में और उपेन्द्रनाथ 'अश्क' के उपन्यास 'गिरती दीवारें' में हमें वड़ी वहन के चरित्र का यही रूप मिलता है।

पर वड़ी वहन छोटी वहन से ईर्ष्या करती हो—ऐसा उदाहरण हमें केवल एक उपन्यास उषादेवी मित्रा के 'पिया' में मिलता है जहाँ वड़ी वहन नीलिमा कविता के प्रति घृणा और ईर्ष्या का भाव रखती है। किन्तु उसका मूल कारण यही है कि विधवा होने के कारण नीलिमा को परिवार में अपमान और अत्याचार सहना पड़ता है। ऐसी परिस्थिति में जव वह अपनी छोटी वहन कविता को सुख-सुविधा पाते देखती है, तो वरवस उसका हृदय ईर्ष्यालु हो जाता है। वड़ी वहन होकर भी नीलिमा तो टहलनी की भाँति सारे घर की सेवा में लगी रहती है और छोटी वहन कविता का सारा समय पढ़ाई-लिखाई और वनाव-शृंगार में जाता है। यही नहीं, कभी-कभी कविता नीलिमा को खरी-खोटी भी सुना देती है। ऐसी स्थिति में अपनी दयनीय दशा के प्रति नीलिमा का सारा दमित विद्रोह कविता की शिकायत बनकर फूट पड़ता है: 'वह पढ़ती है तो इससे मुझे क्या? पढ़ेगी तो अपने लिए। वड़े घर में ब्याह हो जायेगा, मोटर पर घूमती फिरेगी। क्यों—क्यों मैं उसके कपड़ों को साबुन लगाऊँ, वासन माँजूं, रोटी वनाऊँ? किसलिए यह सब करूँ? क्या मेरा स्वास्थ्य न विगड़ेगा? अपने को विदुषी समझती है, जरा-सी लड़की, सवके सामने मेरा अपमान करती है।'

इन कुछ प्रसंगों को छोड़कर हमें सर्वत्र वहनों में पारस्परिक सौहार्द और सहज स्नेह

---

१. प्रेमचन्द 'गोदान' (पृष्ठ २१८):

के ही चित्र मिलते हैं। 'सुनीता' में सुनीता की छोटी वहन सत्या का वड़ा ही अनुगत और निश्छल रूप मिलता है। जिस प्रकार सुनीता सत्या की पढ़ाई-लिखाई और विवाह आदि की चिन्ता करती है उसी प्रकार सत्या भी अपनी वड़ी वहन की हित-कामना करती रहती है। जिस रात सुनीता हरिप्रसन्न के साथ आतंकवादी दल में जाती है, उसी रात उसके पति श्रीकान्त लौट आते हैं। सुनीता ने सत्या को वता रक्खा है कि उसके हरिप्रसन्न के साथ जाने की बात किसी पर प्रकट न हो। इसलिए सत्या जीजा जी को देखते ही बातों में लगा लेती है, और अपनी सारी योग्यता और कौशल का प्रयोग कर श्रीकान्त को अपने घर जाने से रोकती है। यद्यपि उसका ऐसा प्रगल्भ व्यवहार श्रीकान्त को भी अप्रत्याशित लगता है, फिर भी उससे सत्या का वड़ी वहन के प्रति अनुराग प्रमाणित होता है। इसी प्रकार 'पिया' में कविता अपनी बड़ी वहन का कष्ट न समझ पाती हो, ऐसी बात नहीं है। वह शिक्षिता है और जानती है कि नीलिमा का सारा अपराध यही है कि वह विधवा है। पर घर में माँ की व्यवस्था में वह कुछ बोल नहीं पाती। कविता का विवाह हो जाने पर जब नीलिमा उसके पति से प्रेम करने लगती है और फलस्वरूप गर्भवती हो जाती है तब भी कविता नीलिमा के प्रति रुष्ट न होकर सहानुभूति ही प्रदर्शित करती है। वह नीलिमा का पक्ष लेकर माँ की भर्त्सना करते हुए कहती है: 'उस अपढ़ ग्रामीण विधवा के सहारे के लिए एक हल्का-सा तिनका भी उठाकर धर दिया था उसके हाथ पर? नहीं, कुछ नहीं; मैं जानती हूँ कुछ नहीं। और उसी विधवा से दुनिया यदि बड़े-से-बड़ा त्याग माँग बैठे तो वह उसे कहाँ से दे सकती है?'[१]

छोटी वहन

यद्यपि कविता के इन शब्दों में आधुनिक शिक्षित नारी की त्याग-भावना और समाज-सुधार की प्रवृत्ति ही झलकती है, तथापि उनके मूल में बड़ी वहन के प्रति जो स्नेह और यत्न छिपा हुआ है, उसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इसी स्नेह के बल पर वह नीलिमा की ईर्ष्या को भूल जाती है, और उसके प्रति सच्ची सहानुभूति प्रकट करती है।

इसी प्रकार विशेष परिस्थितियों में बड़ी वहन के मातृवत् स्नेह का परिचय भी हमें कई उपन्यासों में मिलता है। यशपाल के 'देशद्रोही' में चन्दा अपनी छोटी वहन राज के विधवा हो जाने के कारण अत्यन्त कष्ट अनुभव करती है। और अपने पति की इच्छा न होते हुए भी उसे अपने साथ मसूरी ले जाने की जिद करती है। 'मैं इसे जरूर ले जाऊँगी। जिससे पूछना होगा; पूछ लूँगी, देखा जायेगा——और फ़िर वहन तो मेरी है। और किसी का क्या है?' स्नेह से राज की ठोड़ी छू उसने पूछा—'चलेगी न तू मेरे साथ? . . . . रात में मैं तेरा सामान बँधवा दूँगी।'[२]

बड़ी बहन का मातृवत स्नेह

---

१. उषादेवी मित्रा: 'पिया' (पृष्ठ १६२)
२. यशपाल: 'देशद्रोही' (पृष्ठ ७६)

बाद में जब राज पुनर्विवाह कर लेता है, तब भी चन्दा की सहानुभूति कम नहीं होती। ऐसा ही मातृवत् स्नेह इलाचन्द्र जोशी के 'लज्जा' और 'निर्वासित', जैनेन्द्र के 'सुनीता' और 'अंचल' के 'नई इमारत' उपन्यासों में भी न्यूनाधिक रूप में हमें मिलता है। जब बड़ी बहन और छोटी बहन की वय में अन्तर अधिक होता है, अथवा जब छोटी बहन पर कोई विपत्ति आ पड़ती है तब बड़ी बहन प्रायः माँ का-सा ही लाड़-प्यार करने लगती है।

'सुनीता' में सुनीता के अतिरिक्त सत्या की एक और बड़ी बहन है माधवी। "माधवी को भला कभी सत्या किसी बात के लिए पूछती है? माधवी पढ़ी नहीं है, विधवा है, निष्पुत्रा है, विक्षिप्त-सी है। सो अंग्रेजी के अखबार-किताब पढ़ने वाली यह सत्या, जो माधवी के सदा ठट्ठ के ठट्ठ आभूषण पहने रहने पर उसकी खिल्ली ही उड़ाती रही है, वही सत्या इस माधवी से कह रही है—'जीजी, चलोगी न?'......अर्द्ध विक्षिप्त उस माधवी की आँखों में इतने पर ही आँसू भर आये। सत्या उसकी बेटी तो नहीं है, बहन ही है, पर उसके भी बेटी होती तो क्या वह भी ऐसे ही न बोलती? अर्ध-पगली माधवी का मन उसी अनहोनी संभावना को खींच लाया है। माधवी बोली, 'सत्या मेरी बहन, मुझे रहने दे, तू जा घूम आ।'"[१] 'नई इमारत' में विधवा शमीम माँ की मृत्यु के बाद अपनी छोटी बहन जोहरा का लालन-पालन करती है। 'निर्वासित' में सुषमा अपनी परित्यक्ता छोटी बहन नीलिमा को अपने घर में शरण देकर उसके कष्ट दूर करने का प्रयत्न करती है।

यद्यपि सम्मिलित परिवार के विघटन और पृथक् परिवार की प्रतिष्ठा के साथ समाज में पति-पत्नी के सम्बन्ध ही सर्वोपरि हो चुके हैं, और विवाहोपरान्त नारी का प्रमुख क्षेत्र अपना पतिगृह ही है, फिर भी छोटी बहन के प्रति उसका स्नेह-भाव कम नहीं हुआ है। हाँ, आधुनिक जीवन-प्रणाली में उसका स्थान अब महत्वपूर्ण नहीं रहा है, और विशिष्ट परिस्थितियों में ही वह तीव्रता से प्रकाश पाता है।

बहन-भाई

परिवार में बहन-बहन के स्नेह से भी अधिक गहरा स्नेह बहन और भाई में पाया जाता है। पाश्चात्य विकासवादी समाजशास्त्रियों का तो मत है कि मानव-जीवन के उषःकाल में बहन-भाई में विवाह-सम्बन्ध को भी अनुचित नहीं माना जाता था। इसके प्रमाण में वे विभिन्न देशों की पौराणिक गाथाओं में से ऐसे प्रसंगों का उदाहरण उपस्थित करते हैं। जो हो, यह निःसंदेह है कि बहन-भाई का एक दूसरे के प्रति सहज स्नेह होता है, और यौन-सम्बन्धों की वर्जना से वह और भी पवित्र एवं अटूट बन गया है। मध्ययुग के जीवन में नारी की स्थिति जब पूर्ण आश्रिता की-सी हो गई थी, तब भाई को वह अपना संरक्षक भी मानने लगी थी। रक्षा-बंधन का त्योहार आज भी इस बात का साक्षी है।

---

१. जैनेन्द्र : 'सुनीता' (पृष्ठ १६३)

भाई-बहन के प्रेम की इस पावन परम्परा की रक्षा हमारे लोकगीतों में अकृत्रिम रूप से की गई है।

भाई-बहन के इस प्रेम को यद्यपि किसी भी उपन्यास में प्रधानता नहीं मिली है, फिर भी यत्र-तत्र प्रसंगवश उसकी झलक अवश्य मिल जाती है। साधारणतः भाई के सहायक और संरक्षक रूप का ही चित्रण हमें हिन्दी उपन्यासों में मिलता है। रत्नचन्द्र प्लीडर लिखित 'नूतन चरित्र' में जब चित्रकला घर के अर्थाभाव के कारण नौकरी द्वारा अर्थोपार्जन करने का विचार करती है तब उसका भाई इसमें अपना अपमान मानता है। चतुरसेन शास्त्री लिखित उपन्यास 'आत्मदाह' में विधवा कमला पुनर्विवाह के लिए सहमत नहीं होती। वैधव्य को वह अमिट भाग्य-विधान मानकर स्वीकार करती है। पर उसका भाई सुधीन्द्र बहन की यंत्रणा नहीं देख पाता और इसलिए उसे समझा-बुझाकर पुनर्विवाह के लिए प्रेरित करता है। यद्यपि कमला पुनर्विवाह नहीं करती, फिर भी भाई की संवेदना और आश्वासन से उसे सहारा मिलता है। जयशंकर 'प्रसाद' के 'तितली' में मधुबन अपनी विधवा बड़ी बहन राजकुमारी की लाज बचाने के लिए अपने प्राणों की बाजी लगाकर चौबे की हत्या तक कर डालता है। भगवतीप्रसाद वाजपेयी कृत 'दो बहनें' में मंदा को छूत का ऐसा भयंकर रोग है कि उसकी अपनी माँ भी उसके पास जाते डरती है। ऐसी परिस्थिति में उसका सौतेला भाई ज्ञानप्रकाश ही रातदिन एक कर उसकी सुश्रूषा करता है। इसी प्रकार 'अंचल' के 'नई इमारत' में महमूद अपनी विधवा बहन शमीम के भरण-पोषण का सारा दायित्व अपने कंधों पर ले लेता है।

भाई का यह सहारा पारिवारिक परम्परा में इतना महत्वपूर्ण होता है कि कभी-कभी बहन अपने अल्पवयस्क असमर्थ भाई का साथ पाकर भी शक्ति का अनुभव करती है। निस्संदेह इसका मूल कारण यही है कि प्राचीन काल से हमारे समाज में नारी आश्रिता रहती आई है। 'पार्टी कामरेड' की गीता जैसी शिक्षिता आधुनिका तक अपने छोटे भाई को अपना रक्षक मानती है: 'इस कठिनाई में वह छोटा-सा बेसमझ भाई सहसा उसका रक्षक बनकर खड़ा हो गया।....।'[1] 'उसने एक बाँह का सहारा अनुभव किया। वह बाँह देखने में कितनी दुबली-पतली कमजोर हो, है तो मर्द की बाँह, वह अकेली नहीं है। श्यामू छोटा है तो क्या? है तो लड़का...मर्द! उसके सहारे वह खड़ी हो सकेगी।'[2]

पुरुष के सहारे की अपेक्षा से ही रक्षा-बंधन की प्रथा का जन्म हुआ था। यद्यपि आधुनिक काल में इसका वास्तविक महत्व धूमिल हो गया है और वह एक औपचारिकता मात्र ही रह गई है, फिर भी राखी बाँधकर बहन आज भी आश्वस्ति का अनुभव करती है, और राखी बँधवाकर भाई अपने कर्तव्य का। सेठ गोविन्ददास के उपन्यास 'इन्दुमती' में यह प्रसंग आया है। इन्दुमती जब अपने सहपाठियों के हाथ में राखी बाँधना चाहती

---

१. यशपाल : 'पार्टी कामरेड' (पृष्ठ १०३)
२. वही : (पृष्ठ १०१)

है, तो सब उस भार से बचना चाहते हैं। 'यह बड़ी भारी जिम्मेदारी है श्रीमती जी।' केवल वजीरअली ही अपना हाथ बढ़ाता है: 'मैं इस जिम्मेदारी के लिए तैयार हूँ, बहन जी, आप मुझे राखी बाँध दें।'[1] आगे चलकर वजीरअली सगे भाई के समान जीवन भर इस राखी का दायित्व निभाता है। 'नई इमारत' में प्रतिमा महमूद को राखीबंद भाई बनाकर उस पर अपना अधिकार समझने लग जाती है।[2] इन प्रसंगों से यह सिद्ध है कि हमारे समाज में राखी का बंधन ऐसा पवित्र बंधन था जो जाति-धर्म-गत भेदभाव को भी पार कर जाता था।

लेकिन कुछ आधुनिक उपन्यासों में भाई-बहन के ऐसे परम्पराभुक्त चित्रण के स्थान पर उन नये संबन्धों की झलक मिलती है जो नारी के समान और समर्थ होते जाने के फल-स्वरूप विकसित हो रहे हैं। 'देशद्रोही' में शिवनाथ अपनी बहन यमुना को अपने आश्रय में रखने की अपेक्षा उसे आत्मावलम्बी और समर्थ बनाना चाहता है। उसका मत है कि यमुना को इतनी शिक्षा अवश्य लेनी चाहिये जिससे वह अपना जीवन स्वयं चला सके। 'लज्जा' में लज्जा जिस व्यक्ति से प्रेम करती है, उसका भाई राजू उससे घृणा करता है। भाई-बहन के दृष्टिकोणों का यह मौलिक विरोध उनके स्नेह को सोख लेता है, और राजू अपनी बहन के आचरण पर इतनी पीड़ा अनुभव करता है कि आत्महत्या कर लेता है। यद्यपि ऊपर से देखने पर यह बात बड़ी अस्वाभाविक लगती है, पर इसके मूल में नारी की नई स्थिति की प्रतिष्ठा है जो भाई के आदेश-उपदेश पर अपने जीवन को ढालना आवश्यक नहीं मानती।

नारी की इस नई स्थिति का चरम रूप—और कुछ मानों में अस्वाभाविक रूप—हम 'शेखर: एक जीवनी' में पाते हैं। शशि शेखर की मौसेरी बहन है, और बचपन से ही दोनों के मन अद्भुत रूप से एक दूसरे के प्रति अनुरक्त हैं। यह अनुराग शशि को एक तेजस्विता प्रदान करता है, और अपनी परिस्थितियों से जूझने का साहस देता है। वह शेखर के प्रति इतनी समर्पित अनुभव करती है कि विवाह भी नहीं करना चाहती और जब शेखर के समझाने पर और माँ के आदेश पर विवाह कर भी लेती है, तब भी उसके मन में आदर्श-पुरुष के रूप में शेखर ही प्रतिष्ठित रहता है। आगे चलकर जब शशि को शेखर के कारण ही पति-गृह छोड़ देना पड़ता है, तब वह शेखर के साथ रहने लग जाती है, और अब तक के उनके आत्मिक स्नेह में पार्थिवता का भी समावेश हो जाता है। शशि के चरित्र को हम साधारण नियमों में बाँधकर देखें तो यह सम्बन्ध अनैतिक ही सिद्ध होगा, पर जिस प्रेम की ज्वाला में शशि आहुति बनती है, वह सच्चा है इसमें संदेह नहीं। इसलिए वह यह दावा कर सकी है: 'मैंने सदा उन्हें प्यार किया है, पाप मैंने कभी नहीं किया।'[3]

---

१. सेठ गोविन्ददास: 'इन्दुमती' (पृष्ठ ६८)
२. 'अंचल': 'नई इमारत' (पृष्ठ ५)
३. अज्ञेय: 'शेखर: एक जीवनी' (पृष्ठ २४२)

सास-बहू

नारी के पारिवारिक सम्बन्धों में कदाचित सास-बहू का सम्बन्ध सबसे अधिक महत्व-पूर्ण है। सम्मिलित परिवार में घर की सुख-शान्ति इसी सम्बन्ध पर टिकी होती है। जब तक घर में बहू नहीं आती, तब तक सम्मिलित परिवार की एकता में शायद ही कभी बाधा आती हो, चाहे उसके सदस्य कितने ही विपरीत और भिन्न स्वभाव के क्यों न हों। बहू के आते ही परिवार के जीवन में जैसे एक नया मोड़ आ जाता है। यह मोड़ सभी सदस्यों से सौहार्द्र और समझदारी की माँग करता है, पर विशेष रूप से सास-बहू में इन गुणों की आवश्यकता प्रमुख होती है। यदि उनमें से एक भी इन गुणों से रहित होता है तो परिवार का विघटन अनिवार्य हो जाता है। आधुनिक युग के लिए तो यह बात और भी सही है क्योंकि विचारों और जीवन-दृष्टियों में मतभेद होने के कारण सौहार्द और सहिष्णुता के सहारे ही गृहस्थी की शान्ति बनी रह सकती है।

सास-बहू में सौहार्द की जितनी उत्कट आवश्यकता है, यथार्थ जीवन में कदाचित उसका उतना ही अभाव मिलता है। ऐसे विरले ही घर होते हैं जहाँ किसी-न-किसी कारण से उनके सम्बन्धों में कुछ-न-कुछ तनाव न हो। एक प्रकार से नारी की समस्याओं की आदि समस्या सास-बहू का कलह है। यह एक ऐसा सम्बन्ध है जिसमें नारी अपने कर्तव्य पर सबसे कम और अपने-अपने अधिकार पर सबसे अधिक ध्यान देती मिलती है।

आरम्भ से ही हिन्दी-उपन्यासों में हमें सास-बहू के इन विग्रह-भरे संबंधों का चित्रण मिलता है। इस चित्रण में प्रायः उन सभी परिस्थितियों का समावेश हो गया है जो बहू पर सास के अन्याय-अत्याचार का कारण बनती है। यद्यपि उपन्यासकारों की सहानुभूति बहू की दयनीय दशा पर ही है, पर एक-दो उदाहरण ऐसे भी हैं जिनमें बहू को कर्तव्य से च्युत और दोषी ठहराया गया है। इसी प्रकार एक-दो उपन्यास ऐसे भी हैं जिनमें सास का आदर्श मातृ-रूप चित्रित हुआ है।

चण्डिकाप्रसाद मिश्र के उपन्यास 'सुहागिनी' में सास के प्रचंड उग्र रूप का चित्रण है। जसोदा अपनी बहू सावित्री को दासी की भाँति समझती है।[1] यही नहीं, वह सर्वदा इस प्रयत्न में लगी रहती है कि बहू को अपने पति से भी कोई सहानुभूति न मिले।[2] 'हतभागिनी सावित्री गृह-बहू होने के कारण सब-कुछ सहती है, किसी से कुछ नही कहती, घर के

---

१. 'उग्र मूर्ति जसोदा इसे तरह-तरह के दुःख देती है। उसे इस बात का घमण्ड है कि मैं घर की मालकिन हूँ और यह मेरी दासी।'
चण्डिकाप्रसाद मिश्र : 'सुहागिनी' (पृष्ठ ३१)

२. 'जसोदा यह नहीं चाहती थी कि अतुल और सावित्री में परस्पर मेल हो।'
वही : (पृष्ठ ३२)

काम-काज से छुट्टी मिलने पर चुपचाप एक कोने में बैठ कर रोया करती है। .....'[1] किन्तु सास को उसका रोना भी सह्य नहीं है। वह बिगड़कर कहती है: 'राक्षसिन, सौ-सौ बेर कहा घर में न रोया कर। मानती ही नहीं, निकल घर से। तुझे रोना ही है तो बाहर निकलकर जी भर रो ले।'[2] रमाशंकर सक्सेना लिखित 'अबला' में सास बहू को तंग तो करती ही हैं, उसके विरुद्ध अपने पति और पुत्र के कान भी भरती रहती है। पर्दे में रहने के कारण बहू को यह अन्याय चुप होकर सहना पड़ता है। इसी प्रकार 'रंगभूमि' (प्रेमचंद) में कुल्सूम की दोनों विधवा सास ज़ैनब और रक़िया परिवार में अपने-आपको सर्वोपरि समझती हैं और हर प्रकार से बहू पर अत्याचार करती रहती हैं। स्वयं विधवा होने पर भी बनी-ठनी रहती हैं, अच्छे-से-अच्छा खाती-पहनतीं हैं, पर सुहागिन कुल्सूम साधारण-से-साधारण सुख को भी तरस जाती है। पर वह कर कुछ भी नहीं सकती क्योंकि उसका पति उसकी एक भी नहीं सुनता।

इन उपन्यासों में सास की सहज शासन-वृत्ति का ही चित्रण है जिसके कारण वे अकारण ही बहू को त्रास देती हैं। और क्योंकि यह तभी तक संभव है जब तक बेटा बहू का पक्ष न ले। इसलिए वे बेटे को सदा बहू के विरुद्ध भड़काती रहती हैं। अपने मिथ्या दंभ और स्वार्थ के कारण ऐसी सास पति-पत्नी के शुभ सम्बधों में बाधा बनकर अपने मूल कर्तव्य से च्युत हो जाती हैं। इसके विपरीत रामचंद्र तिवारी के उपन्यास 'कमला' में और भैरवप्रसाद गुप्त के उपन्यास 'शोले' में ऐसी सास का चित्रण है जो अपने पुत्र के विदेश जाने पर बहू को अकेली पाकर सताने लगती हैं। इस चित्रण से सिद्ध होता है कि आज की सास में बहू को सताने की साधारण प्रवृत्ति होती है।

शासन-वृत्ति के अतिरिक्त सास के अत्याचार के और भी अनेक कारण हमें कुछ उपन्यासों में मिलते हैं। लज्जाराम शर्मा मेहता लिखित 'आदर्श हिन्दू' में प्रियम्वदा की सास उसको इसी कारण मारती-पीटती रहती है कि उसके पिता बेटी के विवाह में वर-पक्ष की आशा के अनुकूल दहेज नहीं दे सके। भगवतीचरण वर्मा लिखित 'आखिरी दाँव' में चमेली की सारी यंत्रणा का कारण केवल यही है कि वह बाँझ है। प्रकृति की इस अकृपा के कारण चमेली को अपने सास-ससुर से ताने-झिड़की, डाँट फटकार और मारपीट तक सहनी पड़ती है।[3] राधिकारमण प्रसाद सिंह के उपन्यास 'राम रहीम' की बेला जब चौदह वर्ष की अल्प आयु में ही विधवा हो जाती है, तब उसकी सास उसके इस दुर्भाग्य का कारण

---

१. चण्डिकाप्रसाद मिश्र : 'सुहागिनी' : (पृष्ठ ३४-३५)

२. वही : (पृष्ठ ९१)

३. 'हाँ, आज जो कुछ कहना है उसे तू जनम भर याद रक्खेगी, बाँझ कहीं की!' और यह कह कर उसने बेलन का दूसरा प्रहार किया।...'क्यों री चुड़ैल, बाँझ कहीं की अभी तक सो रही है! पानी-वानी की फिक्र है?'
भगवतीचरण वर्मा : 'आखिरी दाँव' (पृष्ठ ९-१०)

उसी को समझती है। 'इस कलमुँही राँड ने मेरे घर को उजाड़ डाला।'[1] प्रेमचन्द लिखित 'वरदान' में विरजन की भी यही दशा है। उसकी सास का यह पक्का विश्वास है कि विरजन के अशुभ पैर घर में पड़ने के कारण ही उसके पति और पुत्र की मृत्यु हुई है। वह व्यंग्य करती हुई कहती है: 'तुम्हारे चिकने रूप ने ही मुझे ठग लिया।....मैं क्या जानती थी कि तुम्हारे चरण ऐसे अशुभ है।'[2] इसी प्रकार 'मनुष्य के रूप' में सोमा की सास की भी यही धारणा है कि सोमा के कारण ही उसके बेटे की मृत्यु हुई है: 'मेरे शेर जैसे लड़के को भी खा गई।'[3] 'शेखर: एक जीवनी' में रामेश्वर जब अपनी पत्नी शशि के चरित्र पर सन्देह करने के कारण उसे पीटने लगता है, तब शशि की सास उसकी रक्षा करने के बदले उलटे रामेश्वर को और पीटने के लिए उभाड़ती है: 'देखो बेहयाई....मार और एक मार....'।[4]

वहू के प्रति सास के इस तर्कहीन द्वेष-भाव का ही यह परिणाम होता है कि कभी-कभी सास अपने बेटे के दोष अथवा हानि का कारण भी बहू को ही मान बैठती है। आधुनिक जीवन की नई परिस्थितियों के कारण जब बेटा माँ से अलग होने की चेष्टा करता है अथवा अपनी पत्नी की सुख-सुविधा का ख्याल रखना चाहता है, तो सास उसका सही कारण जानने का प्रयत्न न कर, अथवा सही परिस्थिति की जाँच न कर तुरन्त बहू को ही उसका दोषी ठहरा देती है। प्रभावती भटनागर कृत उपन्यास 'पराजय' में सरला का पति राजेन्द्र सरला से प्रेम नहीं करता क्योंकि वह लावण्य नामक एक युवती के प्रति आकृष्ट है। बेटे के इस चारित्रिक दोष की अनदेखी कर सरला की सास सरला को ही इसके लिए जिम्मेदार ठहराती है। उसका मत है: 'जिसे पाकर पुत्र सुखी न हो सका, ऐसी बहू की क्या आवश्यकता है?'[5] इसी प्रकार 'गोदान' में जब गोबर अपने माँ-बाप के रूढ़िग्रस्त जीवन की कठिनाइयों से झल्लाकर, और अपने पृथक परिवार की सुख-सुविधा का विचार कर माँ से दो टूक बातें करता है तब धनिया गोबर के इस परिवर्तन का असली कारण न समझकर झुनिया को ही इसका कारण मानती है। 'डाइन ने आकर उसका सोने-सा घर मिट्टी में मिला दिया। गोबर ने तो कभी उसकी बात का जवाब भी नहीं दिया था। इसी राँड ने उसे फोड़ा, और वहाँ ले जाकर न जाने कौन-कौन से नाच नचावेगी।'[6]

सास के इन निरंतर कठोर अत्याचारों को जब वहू सहन नहीं कर पाती तब या तो वह आत्महत्या कर लेती है, या फिर घर छोड़कर चली जाती है। 'हृदयेश' के 'मंगल प्रभात' की राधा, 'मनुष्य के रूप' की सोमा और 'आखिरी दाँव' की चमेली—तीनों अपनी

---

१. राधिकारमण सिंह: 'राम रहीम' (पृष्ठ ६)
२. प्रेमचन्द: 'वरदान' (पृष्ठ ११७-११८)
३. यशपाल: 'मनुष्य के रूप' (पृष्ठ २९)
४. अज्ञेय: 'शेखर: एक जीवनी' (पृष्ठ १८६)
५. प्रभावती भटनागर: 'पराजय' (पृष्ठ ५०)
६. प्रेमचन्द: 'गोदान' (पृष्ठ ३०७)

यंत्रणा से मुक्ति पाने के लिए पर-पुरुष के साथ भाग जाती हैं। यद्यपि ऐसा करने से उन्हें और भी अनेक प्रकार के दुख सहने पड़ते हैं, किन्तु अपने घर लौटकर आने का भाव भी उनके मन में नहीं जागता। वहू के प्रति सास के अन्तहीन अत्याचार की ऐसी ही दुखद परिणति होती है।

लेकिन आधुनिक युग में परिस्थितियों के परिवर्तन से वहू की स्थिति में भी परिवर्तन हुआ है। जिन घरों में वेटा अर्थोपार्जन का मुख्य सहारा है, उनमें वहू को सास से दवकर नहीं चलना पड़ता। 'ग़वन' की जालपा अपने पति रमानाथ की डींगों पर विश्वास कर अपने-आपको अत्यन्त सम्पन्न समझती है, और सास से तनिक भी भय नहीं खाती, उलटे उनसे कुछ अकड़कर ही वात करती है और अपने लघु स्वार्थ के लिए पति की वास्तविक आमदनी सास पर प्रकट नहीं होने देती। चतुरसेन शास्त्री लिखित 'आत्मदाह' में भगवती ससुराल में आते ही सास को वेखटके अपने मन का भाव वता देती है: 'अम्मा जी, तुम मुझे क्या पढ़ाती हो? यहाँ माँ ने सव वतला दिया है—सास कैसे वहुओं को चाकरनी बनाकर रखती हैं। पर मैं वाँदी नहीं हूँ। घर-भर का धन्धा मुझसे न होगा।'[1] वह अपने पति राजाराम को भी सास के विरुद्ध भड़काती रहती है। यही नहीं, 'गोदान' में झुनिया जो पहले धनिया से शरण माँगती है और शरण पाकर धनिया की अत्यधिक कृतज्ञता अनुभव करती है,[2] गोवर के साथ शहर जाते समय धनिया को भला-वुरा कहते नहीं झिझकती: 'कोई वच्चा नहीं है कि उन्हें फोड़ लूँगी। अपना-अपना भला-वुरा सव समझते हैं। आदमी इसीलिए नहीं जनम लेता कि सारी उम्र तपस्या करता रहे, और एक दिन खाली हाथ मर जाय। सव जिन्दगी का सुख चाहते हैं, सव को लालसा होती है कि हाथ में चार पैसे हों!'[3]

इस विपरीत स्थिति का चरम रूप हमें प्रतापनारायण श्रीवास्तव के उपन्यास 'विदा' में मिलता है जिसमें कुमुदिनी सम्पन्न परिवार की पुत्री होने के कारण ससुराल में वड़ी शान और ठसक से रहती है और अपनी सास शान्ता को जव-तव भला-वुरा कहती रहती है।[4] कुमुदनी का यह व्यवहार उसके पति निर्मल को पसन्द नहीं है और वह हारकर उसे अपने मायके भेज देता है। तो भी शान्ता आदर्श सास की भाँति[5] यही चाहती है कि 'तुम दोनों को सुखी देखूँ। क्या इस वुढ़ापे की तुच्छ साध को तुम पूरी नहीं करोगे? . . .

---

१. चतुरसेन शास्त्री : 'आत्मदाह' (पृष्ठ ६५)
२. प्रेमचन्द : 'गोदान' (पृष्ठ १६२) : तेरहवाँ संस्करण १९५६
३. वही : (पृष्ठ २३८)
४. 'सब तुम्हीं तो कहवाती हो और बाद में ऐसी लीपा-पोती करती हो।'
प्रतापनारायण श्रीवास्तव : 'विदा' (पृष्ठ ३३)
५. 'नन्हें और तुम दोनों मेरे लिए बराबर हो। वह कम और तुम अधिक।'
वही : (पृष्ठ ३३)

तुम राजा बन कर रहो और वह रानी बन कर। मुझे दासी बनकर जीवन के इने-गिने दिन काटने दो।'[१]

'विदा' में कुमुदिनी के पाश्चात्य रंग में रँगे जीवन की आलोचना करने के उद्देश्य से ही सास का ऐसा आदर्शवादी चित्र उपस्थित किया है। पर इसके अतिरिक्त दो-एक उपन्यास और भी है जिनमें हमे सास के आदर्श रूप का दर्शन होता है। 'आत्मदाह' मे सुधीन्द्र की माँ बहू की मृत्यु पर अपना शोक प्रकट करती हुई कहती है: 'उसने मेरे बेटे को प्राण और शरीर अर्पण किया। वह पराई बेटी होकर मेरे बेटे के लिए जीई और मरी, उसने मेरे बच्चों को अपने बच्चों की तरह छाती से लगाया। उसने मुझे सब चिन्ताओं से छुट्टी दी, उसे मै प्यार न करूँ।'[२]

इसी प्रकार 'गोदान' में जब झुनिया का पिता भोला झुनिया से बुरी-भली कहता है तो वह आत्महत्या करने के लिए आगे कदम बढ़ाती है 'लेकिन वह दो क़दम भी न गयी थी कि धनिया ने दौड़कर उसे पकड़ लिया और हिंसा-भरे स्नेह से बोली—'तू कहाँ जाती है बहू, चल घर में। यह तेरा घर है, हमारे जीते भी और हमारे मरने के पीछे भी। डूब मरे वह, जिसे अपनी संतान से वैर हो। इस भले आदमी को मुँह से ऐसी बात कहते लाज नही आती। मुझ पर धौंस जमाता है नीच। ले जा, बैलों का रक्त पी....'[३]

'जीवन की मुस्कान' में भी जब रूपरेखा का पति उसकी ओर ध्यान नही देता, तो रूपरेखा की सास उसकी बड़ाई करती हुई बेटे से कहती है: 'ऐसी सुन्दर परी-सी बहू, लिखी-पढ़ी, और तू उदास अलग-अलग रहेगा उससे। यदि तू उससे अच्छा बर्ताव नही करेगा तो वह रहेगी किसकी होकर?'[४]

देवरानी-जिठानी

जिस प्रकार बहन-बहन में बराबरी का सम्बन्ध होता है उसी प्रकार देवरानी-जिठानी का सम्बन्ध भी बराबरी का होता है। एक ही माँ की सन्तान होने के कारण बहनों में बराबरी की भावना के साथ-साथ प्रेम की भावना भी सहज रूप से विद्यमान रहती है, किन्तु देवरानी-जिठानी में यह सौहार्द धीरे-धीरे ही विकसित हो सकता है। यदि देवरानी-जिठानी कर्तव्य-परायण है, जिठानी देवरानी को छोटी बहन की भाँति प्यार करती है और देवरानी जिठानी को बड़ी बहन मानकर आदर करती है, यदि दोनों एक दूसरे के सुख-दुख में साथ देती है तब तो उनमें घनिष्ठ और अंतरंग मेल हो जाता है, अन्यथा

---

१. प्रतापनारायण श्रीवास्तव : 'विदा' (पृष्ठ १९)
२. चतुरसेन शास्त्री : 'आत्मदाह' (पृष्ठ ९)
३. प्रेमचन्द : 'गोदान' (पृष्ठ १६२)
४. उषादेवी मित्रा : 'जीवन की मुस्कान' (पृष्ठ ७५)

अपनी-अपनी रुचि और स्वभावगत विशेषताओं पर वल देने के कारण उनमें प्रायः कलह होती रहती है जिससे परिवार की शान्ति को वड़ा व्याघात पहुँचता है।

'सेवासदन' में भामी अपनी देवरानी पर इतना विश्वास करती है कि जव उसे लगता है कि उसके पुत्र सदन की शिक्षा उसके पास उचित रूप से नहीं हो रही है तो वह उसे अपनी देवरानी के यहाँ भेज देती है। उसकी देवरानी भी सदन को अपना ही पुत्र मानकर पूरी देख-भाल करती है। इसके विपरीत 'गोदान' में धनिया तो जिठानी का अपना कर्तव्य भली प्रकार निवाहती है किन्तु उसकी देवरानी नहीं। जव वह संयुक्त परिवार की स्वामिनी थी, तव वह अपनी देवरानी की सुख-सुविधा का पूरा ध्यान रखती थी। वेचारी अपनी देवरानियों के फटे-पुराने कपड़े पहनकर दिन काटती थी। खुद चाहे भूखी सो रहती थी, लेकिन उनके लिए जलपान तक का ध्यान रखती थी। उसकी अपनी देह पर गहनों के नाम कच्चा धागा भी न था, देवरानियों के लिए दो-दो, चार-चार गहने वनवा दिये थे। इतना करने पर भी जव देवर-देवरानी उसकी निन्दा करते हैं और उसके साथ दुर्व्यवहार करते हैं तो परिवार का विच्छेद अनिवार्य हो जाता है।

सच तो यह है कि देवरानी-जिठानी का एक साथ प्रेम-पूर्वक रहना बहुत कठिन काम है। ससुराल में उनका समान अधिकार होता है। यदि किसी एक ओर भी इस अधिकार का अनुचित उपयोग किया जाता है तो दूसरी ओर से तुरन्त उसके प्रतिकार की प्रतिक्रिया आरम्भ हो जाती है। ईश्वरीप्रसाद शर्मा लिखित 'वामा शिक्षक' में जिठानी जव यह देखती है कि उसका पति अधिक कमाता है, किन्तु घर-खर्च फिर भी देवरानी ही चलाती है तो उसके मन में देवरानी के प्रति ईर्ष्या उत्पन्न हो जाती है। 'वह घर में लड़ाई रखने लगी और उसने यह सोचा कि प्रथम तो मेरा मालिक पच्चीस रुपये का नौकर है, दूसरे आधा गाँव मेरे वाँटे में अधिक आया है जो मैं देवरानी से अलग रहूँगी तो उसमें मेरा वड़ा लाभ है। इसलिए अलग होने के लिए खुला-खुली तो न कहती पर सव वातों में तकरार करती और देवरानी के प्रवन्ध को वुरा वतलाया करती और उसे घड़ी भर भी चैन नहीं लेने देती।'[१]

इसी प्रकार 'अश्क' लिखित 'गिरती दीवारें' में चन्दा की जिठानी को यह वात वहुत वुरी लगती है कि उसका पति डाक्टर होने पर भी उसके लिए साज-शृंगार की चीज़ें नहीं खरीदता और उसका देवर कुल चालीस रुपये का नौकर होने पर भी आठ-आठ रुपये अपनी पत्नी के लिए स्वेटर खरीदने में खर्च कर देता है, उसके लिए हारमोनियम खरीदता है, उसे पढ़ाता-लिखाता है, गाना सिखाता है। वह शिकायत करती हुई पति से कहती है: 'आप तो डाक्टर हैं, और वह चालीस रुपये का क्लर्क। उसकी वीवी तो स्कूल में पढ़े, वाजे वजाये और मैं वैठी मुटर-मुटर ताका करूँ। उनको सव कुछ लेकर देने के लिए पैसे आ जाते हैं और मेरे लिए.....'[२]

---

१. ईश्वरीप्रसाद शर्मा : 'वामा शिक्षक' (पृष्ठ १३-१४)
२. उपेन्द्रनाथ 'अश्क' : 'गिरती दीवारें' (पृष्ठ ३६०)

बराबरी की इसी भावना के फलस्वरूप वह भी पढ़ने की इच्छा प्रकट करती है। अपढ़ होने के कारण वह पढ़ने-लिखने को विनोद-विलास का ही एक ढंग मानती है । 'वह यदि पढ़ती है, तो क्या मै नही पढ़ती, वह तो पढ़ने के बहाने खाट पर टाँगें फैलाये लेटी रहे और मै बाँदी बनी घर का सब काम करूँ।'[1] दूसरी ओर चन्दा को अपनी जिठानी से यह शिकायत रहती है कि: 'उसकी जिठानी चेतन (चन्दा के पति) की तरकारी में तड़का कम लगाती है और उसके दूध में मलाई नहीं डालती।'[2] बराबरी की यही भावना घर में अशान्ति उत्पन्न कर देती है। चन्दा अपने जेठ से पर्दा नहीं करती, यह बात पुराने संस्कारों में पली उसकी जिठानी को अच्छी नही लगती। वह इसी प्रश्न को लेकर देवरानी, देवर यहाँ तक कि पति से भी कहा-सुनी कर बैठती है। वह एक ओर देवरानी से अपनी ज्येष्ठता का संकेत करती हुई कहती है, : 'ससुर-जेठ की कुछ तो शरम होनी चाहिए बहन, आँखों का पानी क्या बिल्कुल ही मर गया।'[3] दूसरी ओर पति से मुँह बिचकाकर कहती है, 'जब वह आपके सामने बैठी : 'हिं हिं करती है तो आपसे रोका नहीं जाता उसे ?'[4] वह चाहती है कि देवरानी उसका वैसा ही आदर करे जैसे सास का किया जाता है। पर देवरानी का मन इसे स्वीकार नही करता। वह जिठानी को बड़ी बहन तो मान सकती है, किन्तु सास नहीं।

आधिपत्य की यही भावना रामचन्द्र तिवारी लिखित 'कमला' उपन्यास में कमला की जिठानी के चरित्र में पाई जाती है। वह अपना आधिपत्य सुरक्षित रखने के लिए देवरानी को बदनाम करना चाहती है। किन्तु जिसका पति कमाता हो, वह अपनी जिठानी का आधिपत्य स्वीकार कैसे कर सकती है ? कमला अपने मन का विद्रोह प्रकट करती हुई कहती है: 'जिठानी जी, घर में मुझसे जितना काम करवाना हो, मैं करने को तैयार हूँ। पर मैं बाहर का काम नहीं करूँगी। मैं कोई मुफ्त में घर में नहीं रहती। यह जो आये दिन मनिआर्डर चला आता है और तुम चुपके से रख लेती हो, यह इसलिए नही आता कि चमारियों की भाँति चारा काटती फिरूँ। जिस ससुर का यह घर है उसकी मैं भी बहू हूँ।'[5]

कमला अपनी जिठानी से यह कहने का साहस कर सकी इसकी पृष्ठभमि में उसके पति की आर्थिक सम्पन्नता ही है। विधवा होने पर जब नारी असहाय अनुभव करती है तब वह कठोर-से-कठोर अत्याचार मौन रूप से स्वीकार कर लेती है जैसा कि 'मनुष्य के

---

१. उपेन्द्रनाथ 'अश्क' : 'गिरती दीवारें' (पृष्ठ ३५९)
२. वही : (पृष्ठ ३५८)
३. वही : (पृष्ठ २७८)
४. वही : (२७९)
५. रामचन्द्र तिवारी : 'कमला' (पृष्ठ १९९)

रूप' की विधवा सोमा रात-दिन अपनी जिठानियों की टहल में लगी रहती है, किन्तु जिस पत्नी की पीठ पर पति का समर्थ हाथ हो, उसका मन अत्याचारों के प्रति विद्रोह कर ही उठता है।[1]

कमला के प्रति जिठानी के इस भीषण अत्याचार का एक और कारण भी है। जिठानी नि:संतान है जबकि कमला पुत्रवती है। जिठानी को यह चेतना बनी रहती है कि एक-न-एक दिन कमला का पुत्र ही घर का स्वामी होगा, और उसके सारे अधिकार छिन जायेंगे। इसी प्रच्छन्न ईर्ष्या-द्वेष के कारण एक ओर वह कमला को नाना प्रकार से सताती है, दूसरी ओर कमला के पुत्र जगदीश की मृत्यु-कामना करती है। कमला के कष्ट का अन्त परिवार से पृथक हो जाने पर ही होता है। 'गिरती दीवारें' में भी जिठानी के चले जाने के बाद ही घर में चैन आता है।

वास्तविक बात यह है कि आधुनिक जीवन के विकास के साथ-साथ व्यक्तियों में रुचि-वैचित्र्य और आर्थिक विभेद इतना बढ़ गया है कि सम्मिलित रूप में अनुशासित और सहयोगी जीवन बिता सकना कठिन हो गया है। इसीलिए अधिकतर सम्मिलित परिवार टूट जाते हैं। यदि जेठ और देवर में घनिष्ठता और सौहार्द हो तब तो कुछ दिनों जिठानी-देवरानी का साथ निभ भी सकता है, पर यदि उनमें भी विषमता हो तो देवरानी-जिठानी में विग्रह अनिवार्य-सा ही हो जाता है। पृथक् परिवार की प्रतिष्ठा के साथ-साथ देवरानी-जिठानी के सम्बन्ध गौण और औपचारिक ही रह गये हैं। कभी-किसी विशेष अवसर पर उन्हें कुछ दिन तक एक साथ रहना भी पड़ता है तो वे यही सोचकर निर्वाह कर लेती हैं कि अन्त में तो उन्हें अपनी-अपनी गृहस्थी ही सँभालनी है।

ननद-भौजाई

सम्मिलित परिवार में ननद-भौजाई के सम्बन्धों में एक विचित्र रस और माधुर्य होता है। कभी-कभी तो वह देवर-भाभी के सम्बन्धों से भी अधिक घनिष्ठ और आन्तरिक होता है। इसका कारण संभवत: यह है कि ससुराल में बहू की जो स्थिति होती है उसमें उसे ननद ही एक ऐसी सदस्य मिलती है जो प्राय: उसकी समवयस्क होती है, और जिसके प्रति वह मैत्री-भाव रख सकती है। अन्य सभी सदस्यों का तो उसे केवल भय अथवा आदर ही करना पड़ता है। दूसरे, यदि ननद विवाहित है तो वह अपने अनुभव घर में केवल भाभी को ही बता सकती है, अथवा यदि वह अविवाहित है, तो उसकी आकांक्षाओं के प्रति भाभी ही सहज सहानुभूति दे सकती है। घर के अन्य संबन्धियों से उसका सम्बन्ध

१. 'सास की आँख लगी देख बड़ी और मझली दोनों बहुएं पड़ोस में पल भर बैठ आने के लिए निकल गईं। जाते-जाते बड़ी बहू अपनी कांयर और सुई-डोरा भी सोमा के सामने रख गई कि मक्का पछोर कर उसमें चार डोरे डाल दे।'
यशपाल : 'मनुष्य के रूप' (पृष्ठ ३७)

इतना निकट होता है कि लज्जा-संकोच के कारण वह अपने अंतरंग-जीवन को उनसे छिपाने के लिए बाध्य होती है। इस प्रकार परिवार में भाभी और ननद—ये दोनों ऐसी सदस्या होती हैं जिनको एक दूसरे की सहज ही आवश्यकता होती है। इसीलिए साधारणतः ननद-भौजाई में मित्रता, हास-परिहास और मान-मनौवल चलता रहता है। केवल रूढ़िग्रस्त घरों में ही ननद-भौजाई में द्वेष या वैमनस्य मिलता है, जहाँ माँ-बाप के प्रभाव में बेटी भी नवागता बहू को पराया समझती है। आधुनिक युग में जीवन-प्रणालियों के विभेदों के कारण भी कभी-कभी ननद-भाभी में अमैत्री का भाव हो जाता है। पर यदि इन विशिष्ट परिस्थितियों को छोड़ दें तो ननद-भाभी में हमें अधिकतर सख्य-भाव ही मिलता है।

ईश्वरीप्रसाद शर्मा ने 'मागधी कुसुम' (१९११) में ननद-भाभी के हास-परिहास का बड़ा सजीव चित्रण किया है।

'गोदान' में भी ननद-भाभी के मधुर हास-परिहास की सुन्दर झलक मिलती है—झुनिया और उसकी ननद सोना में।

इसी प्रकार 'नई इमारत' में भी ननद-भाभी के हास-परिहास की अच्छी झलक मिलती है जहाँ आधुनिकता के फलस्वरूप पारस्परिक सम्बन्धों में अधिक समानता लक्षित होती है और हास-परिहास भी उच्च स्तर का है। आरती ननद है और शीला भाभी। आरती को प्रेम करने के कारण महमूद भी शीला को भाभी कहता है। एक बार महमूद शीला को चांदनी की बहन कहकर परिहास करता है। आरती महमूद के मज़ाक का सहारा पाकर बोली :

'भाभी को चाँद-सूरज-सितारे सभी छेड़ते है—इनके देश में यही रिवाज है महमूद भाई। हम लोग ज़मीन के रहने वाले है—ये चन्द्रलोक की परी हैं। माहताब की चहेती हैं ये। तुम फिकर न करो। जब तक ये बाहर है, चाँद इन्हें बराबर घूरता रहेगा।'

भाभी—'जिस तरह महमूद तुम्हें घूरता है। बोल न अब ? बढ़-बढ़ कर बात करती है, ज़रा-सा पुचारा पाकर।'

महमूद ने नाराज़ी दिखाते हुए कहा : 'भाभी! बीसियों बार तुमसे कह चुका, आरती को मेरे मजाक में न घसीटा करो। आरती सीधी है—कुछ बोलती नहीं।...... हम दोनों तुम्हारे चंचल मन की थाह पा सकते हैं....?'

भाभी—'क्या कहने है इन मासूमों के। क्या बहकाने का तरीका निकाला है। आरती मन-ही-मन घुली जा रही होगी। क्यों न हो 'किया असीर मुझे लज्ज़ते असीरी ने' प्रेम हो तो ऐसा। भाई-भाभी, माँ-बाप, घर-द्वार, समाज और धर्म एक तरफ, महमूद एक तरफ़। कल मुझसे कहती थी—'महमूद को छोड़ मुझे दुनिया का राज्य नहीं चाहिए। उनके साथ खुशी-खुशी जेल की चक्की पीसूँगी।'

आरती ने झल्लाकर कहा: 'भाभी तुम चाहती हो मैं नदी में कूद पड़ूँ। क्यों मनगढ़न्त झूठी बातें करती हो। मैंने तुमसे कब कहा था और क्या कहा था?'[1]

आरती भी मौका नहीं चूकती। जब आरती के भाई अपनी पत्नी की परिहास-वृत्ति पर फब्तियाँ कसते हैं तो आरती शह पाकर कहती है: 'इन्हें हर ऋतु हर महीने में हरा सूझता है। आपको कितनी फिक्रें और उलझनें हैं इससे इन्हें क्या मतलब? तुम बड़ी चंचल होती जा रही हो भाभी। इरादे बता दो। पूरा करने की कोशिश की जाये। क्यों तुम्हारे हौसले आधे पेट रहें।'[2]

ननद-भाभी में इस प्रकार का स्वस्थ हास-परिहास तभी सम्भव है जब उनमें सच्चा स्नेह हो, और विचार एवं भावों की समानता हो। आरती का अपनी भाभी के सम्बन्ध में विचार है: 'नवल नवेली प्यारी भाभी मिली तो जैसे दीप की बाती से बाती जुड़ गई—गंगा-धारा में एक मेघशून्य नीले आकाश-सी जमुना की धारा आकर मिल गई—सुख स्वप्न-सी मधुर संध्या में आकर मन को मुग्ध करने वाली चाँदनी घुल गई।'[3] और उधर भाभी अपनी ननद के सुख-दुख को अपना ही सुख-दुख मानती हैं। महमूद से आरती के प्रणय को सफल बनाने के लिए वह अपनी सास-ससुर को हर तरह से समझाने की चेष्टा करती है। उनके न मानने पर और उल्टे इस अपराध के कारण आरती को घर से निर्वासित कर देने पर भाभी भी आरती के साथ जाने को प्रस्तुत हो जाती है। यद्यपि आरती नहीं चाहती कि उसके कारण उसकी प्यारी भाभी भी घर के लोगों की उपेक्षा-पात्र बनें और दुख झेलें[4] किन्तु भाभी अपनी ननद के सुख-दुख में साथ देना अपना कर्तव्य समझकर आरती के साथ घर से निकल ही पड़ती हैं।

ऐसी ही कर्तव्यपरायण भाभी का चित्रण हमें प्रतापनारायण लिखित 'विदा' में मिलता है, जहाँ लज्जा अपनी ननद कुमुदिनी के दाम्पत्य-जीवन को सफल बनाना अपना कर्तव्य समझती है। इसके लिए उसे अपने अनुभव, हास-परिहास और व्यंग्य का सहारा लेना पड़ता है।

भाभी का ऐसा ही आदर्श रूप हमें 'कर्मभूमि' की सुखदा में दिखाई देता है। जब सुखदा को मालूम होता है कि उसकी ननद नैना का पति अत्यन्त विलासी, असभ्य और अत्याचारी है, और ससुराल में उसे पग-पग पर अपमान और तिरस्कार सहना पड़ता है तब वह नैना की माँ की अनुपस्थिति में स्वयं सारा उत्तरदायित्व लेकर नैना को ससुराल जाने से रोक देती है।

---

१. 'अंचल' : 'नई इमारत' (पृष्ठ २३-२४)
२. वही : (पृष्ठ ३१)
३. वही : (पृष्ठ ५८-५९)
४. 'भैया! भाभी को मैं अपने साथ नहीं ले जा रही। वे खुद जाना चाहें तो मैं रोक भी कैसे सकती हूँ?'
   वही : (पृष्ठ १०२)

हिन्दी उपन्यासों में जहाँ ननद-भाभी के मधुर सम्बन्धों की इतनी चर्चा मिलती है वहीं कुछ उपन्यासों में उनके सम्बन्धों की विषमता पर भी प्रकाश डाला गया है। 'निर्मला' में निर्मला की ननद रुक्मिणी निर्मला को फूटी आँख भी नहीं देख सकती। निर्मला उसके भाई तोताराम की दूसरी पत्नी है इसलिए वह उसको डाइन समझकर पहली पत्नी के बच्चों को उसके पास भी नहीं फटकने देती।[1] उलटे उन्हें निर्मला के विरुद्ध भड़काती रहती है। यही नहीं, उसको यह भी चेष्टा रहती है कि उसके भाई और भाभी में घनिष्ठता न हो सके।

'मनुष्य के रूप' की मनोरमा शिक्षित है, वह आधुनिक ढंग से रहती है, इसी कारण उसकी भाभियों को वह फूटी आँख नहीं सुहाती।[2] जब वह एक अप्रिय घटना के कारण अपने भाई जगदीशसहाय को बचाने की चेष्टा करती है तब उसकी बड़ी भाभी उसके चरित्र पर लांछन लगाने से भी नहीं चूकतीं। 'बनने को तो अधेड़ उम्र तक कुआँरी बनती है, लेकिन दुनिया के सब चरित्रों में दखल है। शर्म नहीं आती, भाई की दूती बन रही है। एक-दूसरे के कर्मों पर पर्दा डाल रहे हैं। जो चाहे करो! हमारी मिट्टी क्यों खराब करते हो?'[3]

किन्तु ननद-भाभी के ऐसे कटु सम्बन्धों की चर्चा हिन्दी-उपन्यासों में अपवाद-स्वरूप ही मिलती है।

भाभी-देवर

यद्यपि भाभी-देवर का सम्बन्ध अत्यन्त प्राचीन सम्बन्ध है, तथापि समय-समय पर उसमें गुणात्मक परिवर्तन होते रहे हैं। भारतीय समाज के आदिकाल में देवर को कुछ हद तक पति के से अधिकार प्राप्त थे। 'द्विवर' शब्द में भी यही ध्वनि है, जिससे 'देवर' बना है। वैदिक समाज में इसका प्रमाण मिलता है कि पति की मृत्यु पर विधवा अपने देवर से विवाह कर लेती थी।

---

१. 'रुक्मिणी देवी लड़कों को उसके पास भी नहीं फटकने देती, मानो वह कोई पिशाचिनी है, जो उन्हें निगल जायेगी।'
प्रेमचन्द : 'निर्मला' (पृष्ठ ३६)

२. 'मनोरमा के मुँह खोलते ही बड़ी और छोटी दोनों भाभियाँ बरस पड़तीं। घर की लड़की के सम्मान का भी विचार उनकी जिह्वा को संयम में न रख सकता। उसकी आयु इतनी अधिक हो जाने का लांछन, उसके अकेले घूमने का लांछन। उसके बैठ-बैठ कर जाने कहाँ लम्बे-लम्बे पत्र लिखने का लांछन बड़ी भाभी और छोटी भाभी दोनों सर हिला, हाथ फैला बार-बार कहतीं कि किसी इज्जतदार घर में इस उम्र की लड़की कुँवारी नहीं देखी।'
यशपाल : 'मनुष्य के रूप' (पृष्ठ १८९)

३. वही : (पृष्ठ १८२)

परन्तु संस्कृति के विकास के साथ भाभी-देवर का सम्बन्ध उच्चतर धरातल पर प्रतिष्ठित हुआ। अब वे सहज मित्र के रूप में देखे गये। भाभी-देवर का निश्छल सहज हास-परिहास और विनोद हमारे साहित्य में अनेक रूपों में ध्वनित हुआ है। सुख-दुख में एक-दूसरे की सहायता करना भी उनका कर्त्तव्य माना गया।

कालांतर में इस सम्बन्ध में फिर एक अन्तर आया। अब देवर भाभी को माता के समान ही आदर देने लगा और भाभी भी देवर को पुत्र के समान ही अपने यत्न और वात्सल्य का पात्र समझने लगी। इस प्रसंग में सीता-लक्ष्मण का सम्बन्ध आदर्श माना गया। वाल्मीकि और फिर तुलसीदास—दोनों महाकवियों ने यह दिखाया है कि लक्ष्मण अपनी भाभी सीता को माता के समान ही आदर और पूजा भाव से देखते थे।

किन्तु इस आदर्श की प्रतिष्ठा चाहे हो गई हो, यथार्थ जीवन में परिस्थितियों और रीति-नीति के विभेदों के अनुसार देवर-भाभी के सम्बन्धों के अनेक रूप मिलते रहे, और आज भी मिलते है। आधुनिक युग में शिक्षा और संस्कृति के द्रुत प्रचार-प्रसार से भाभी-देवर का सम्बन्ध फिर मैत्री का रूप लेने लग गया है।

पर हिन्दी-उपन्यासों में भाभी-देवर का यह सख्य कहीं भी चित्रित नही मिलता। उनमें अधिकतर इस सम्बन्ध के दो परम विरोधी रूप मिलते हैं। कुछ उपन्यासों में भाभी आदर्श के अनुसार देवर से माँ जैसा आचरण करती है। किन्तु कुछ उपन्यासों में भाभी को अबला और निस्सहाय स्थिति में पाकर देवर की कुत्सित, विकृत मनोवृत्ति का भी चित्रण मिलता है। सियारामशरण गुप्त लिखित 'गोद', चतुरसेन शास्त्री लिखित 'आत्मदाह' तथा इलाचंद्र जोशी लिखित 'संन्यासी' में हमें पहला रूप मिलता है और 'राम रहीम' और 'रतिनाथ की चाची' में दूसरा।

'गोद' में शोभाराम अपनी भाभी पार्वती को, और 'आत्मदाह' में वीरेन्द्र अपनी भाभी सुधा को माता के समान समझते हैं, और वे भी उन्हें पुत्रवत ही मानती हैं। शोभाराम अपनी भाभी से कहता है:

'जी छोटा क्यों करती हो भौजी ? मैं तो हूँ तुम्हारा लड़का। मुझे अपनी किसी माँ की याद नही है, मैं तो इतना ही जानता हूँ कि भगवान ने तुम्हें ही मेरी माँ बनाया है। बंसी अपने बाप को भैया कहता है, मैं अपनी माँ को भौजी, बस इतना ही अन्तर है और कुछ नहीं।'[1]

इसी प्रकार 'संन्यासी' में नन्दकिशोर अपनी भाभी का प्यार पाकर अपनी स्वर्गीया माँ का अभाव भी भूल जाता है।[2] भाभी भी नन्दकिशोर का पुत्रवत यत्न करती है।

---

१. सियाराम शरण गुप्त : 'गोद' (पृष्ठ ८-९)

२. 'मेरे पैदा होने के चार-पाँच मास बाद ही माँ की मृत्यु हो गई थी। इसलिए जब से मैंने तुम्हें पाया तबसे एक कितने बड़े अभाव की पूर्ति मेरे जीवन में हुई, इसकी कल्पना शायद तुम न कर सकोगे।'
इलाचन्द्र जोशी : 'संन्यासी' (पृष्ठ ३४६)

उसके बीमार पड़ने पर उसकी सुश्रूषा करती है,[१] उसे व्यावहारिक ज्ञान देती है[२] और माँ के समान ही उसके विवाह के लिए चिन्तित होती है।[३]

'राम रहीम' में दिनेश अपनी भाभी बेला को और 'रतिनाथ की चाची' में जयनाथ अपनी विधवा भाभी को निस्सहाय और अबला समझकर अपनी काम-पिपासा का शिकार बनाते हैं। उनके इस अनैतिक आचरण से दोनों नारियों का जीवन कलंकित और दुख-पूर्ण हो जाता है।

'गोदान' में भाभी-देवर के सम्बन्धों में आदर्श और यथार्थ की विषमता के दर्शन होते हैं। धनिया अपने देवर हीरा और सोभा का छुटपन से ही माँ के समान लालन-पालन करती है और बड़े चाव से उनका विवाह कराती है किन्तु बड़े होने पर वे धनिया के इस उपकार को भूल जाते हैं, और सम्मिलित परिवार छोड़कर अलग रहने लगते हैं। होरी और धनिया अब भी उनके प्रति ममता ही रखते हैं, पर वे अपने भाई और भाभी की निन्दा करने का कोई अवसर नहीं चूकते। जब धनिया के घर में गाय आती है तो हीरा ईर्ष्या से इतना पागल हो जाता है कि सारे गाँव में यह कहकर उनकी बुराई करने लगता है कि अवश्य ही धनिया ने बँटवारे के समय रुपया दबा लिया होगा।

---

१. भाभी जी ने मेरी बीमारी में रात-दिन मेरे पास बैठकर मेरी जैसी सुश्रूषा की वह वर्णनातीत है। उनके प्रति कृतज्ञता के भाव से मेरा हृदय गद्गद् हो गया। बच्चों की देख-रेख, गिरस्ती के काम-काज, अपना खाना-पीना सब छोड़ कर वह केवलमात्र मेरी परिचर्या में लगी रहीं। मेरी इच्छी हुई कि उनके दोनों पाँवों के नीचे अपना सिर रखकर उनकी धूलि से अपने को पवित्र करूँ, पर केवल अपनी आँखों में ही कृतज्ञता का भाव झलका कर मैं रह गया।'
इलाचन्द्र जोशी : 'संन्यासी' : (पृष्ठ २८०)

२. 'तुम भी कभी-कभी बड़ी बेतुकी बात कह देते हो, लाल ! ऐसे लोफर से मुझे क्या काम हो सकता है? और एक बात मैं तुमसे भी कहे देती हूँ, ऐसे आदमी के साथ हेल-मेल बढ़ाना तुम्हारे लिए भी अच्छा नहीं है।'
वही : (पृष्ठ ३२७)

३. 'अगर तुम विवाह कर लो और भगवान की कृपा से तुम्हारे कोई लड़का हो जाये तो मैं अपनी सब मनोकामनाओं को सिद्ध समझ लूँगी। तुम एक बार सिर्फ कह दो कि 'मैं जयन्ती से विवाह को तैयार हूँ, बाक़ी सब भार, सारी जिम्मेदारी मैं अपने ऊपर लेती हूँ, बोलो राज़ी हो? बोलो।' यह कह कर भाभी जी अत्यन्त उत्सुकता से मेरी ओर देखने लगीं—जैसे इसी एक प्रश्न के उत्तर पर उनके समस्त जीवन की सार्थकता अथवा व्यर्थता निर्भर करती है।'
वही : (पृष्ठ ३३९)

धनिया को जब अपने देवर की इस बात की सूचना मिलती है, तो वह असह्य क्रोध के कारण प्रचण्ड रूप धारण कर लेती है। वह होरी से कहती है: 'मैं अभी जाकर पूछती हूँ न कि तुम्हारे बाप कितने रुपये छोड़ कर मरे थे। डाढ़ीजारों के पीछे हम बरबाद हो गये, सारी जिन्दगी मिट्टी में मिला दी, पाल-पोसकर संडा किया, और अब हम बेईमान हो गये ?'[१] फिर वह हीरा के घर जाकर जवाब तलब करने लगती है:

'तू हमें देखकर क्यों जलता है ? हमें देखकर क्यों तेरी छाती फटती है ? पाल-पोस कर जवान कर दिया, यह उसका इनाम है ? हमने न पाला होता, तो आज कहीं भीख माँगते होते। रुख की छाँह भी न मिलती।'....हीरा ने जवाब दिया: 'हम किसी का कुछ नहीं जानते। तेरे घर में कुत्तों की तरह एक टुकड़ा खाते थे और दिन भर काम करते थे। जाना ही नहीं कि लड़कपन और जवानी कैसी होती है। दिन-दिन भर सूखा गोबर-बीना करते थे। उस पर भी तू बिना दस गाली दिये रोटी न देती थी। तेरी जैसी राच्छसिन के हाथ पड़कर जिन्दगी तलख हो गई।' धनिया और भी तेज हुई: 'जबान सँभाल, नहीं जीभ खींच लूँगी। राच्छसिन तेरी औरत होगी। तू है किस फेर में, मूँड़ी-काटे, टुकड़े-खोर, नमक-हराम।'....

हीरा गला फाड़कर बोला: 'चली जा मेरे द्वार से, नहीं जूतों से बात करूँगा। झोंटा पकड़कर उखाड़ लूँगा। गाली देती है, डाइन। बेटे का घमण्ड हो गया है। खून..'[२]

इस प्रकार आर्थिक अभाव और सामाजिक रूढ़ियों से ग्रस्त ग्रामीण जीवन में भाभी-देवर का-सा मधुर संबन्ध भी द्वेष और ईर्ष्या का रूप धारण कर लेता है। यही नहीं, धनिया की स्पष्टवादिता से हीरा इतना चिढ़ जाता है कि वह होरी की साध से लाई गाय को ईर्ष्या-वश विष खिला देता है।

इसी प्रकार की एक रूढ़ि का चित्रण 'अश्क' के 'गिरती दीवारें' में मिलता है। चम्पावती अपने अल्पवयस्क देवर से पहले तो सहज व्यवहार करती है, पर उसके बड़े होते ही उससे पर्दा करने लग जाती है।[३] देवर से पर्दा करना इतना अस्वाभाविक है कि उससे स्वस्थ संबन्धों का मूल ही नष्ट हो जाता है।

---

१. प्रेमचन्द : 'गोदान' (पृष्ठ ४४)
२. वही : (पृष्ठ ४५-४६)
३. 'और मैं अपने देवर तक से घूँघट निकालती हूँ, ऊँचे स्वर से बात नहीं करती।'... 'तुम्हारे जेठ ने बहुतेरा कहा, पर जब देवर सयाने हुए तो मैंने उनसे पर्दा करना शुरू कर दिया।'
उपेन्द्रनाथ 'अश्क' : 'गिरती दीवारें' (पृष्ठ २७९-२८०)

अध्याय ७

नारी के शाश्वत रूप : देवी, माता, पत्नी, प्रेयसी

देवी

वैदिक युग से ही भारतीयों ने नारी को देवी मानकर उसके प्रति श्रद्धा अर्पित की है। नारी की देवी के रूप में कल्पना करने के कारण ही आर्यों ने अनेक देवियों की प्रतिष्ठा की। प्रकृति के रहस्यमय और रमणीय व्यापारों को (जैसे उषा) हृदय की भावनाओं और गुणों को (जैसे धृति) और जीवन की सहायक परिस्थितियों को (जैसे लक्ष्मी) उन्होंने देवी के रूप में ग्रहण किया और अपनी समृद्धि के लिए उनकी अर्चना का विधान किया। नारी की ऐसी महती प्रतिष्ठा के कारण ही प्राचीन काल में असाधारण गुणों से सम्पन्न नारी को देवी का पद दिया जाता था, और उसकी पूजा-अर्चना भी की जाती थी। विलक्षण सौंदर्य, विलक्षण ज्ञान अथवा विलक्षण शक्ति से सम्पन्न नारी को देवी का अवतार मानकर सरल-हृदय भारतीयों ने संस्कृति के आदि युग में नारी के प्रति अपनी श्रद्धा-भक्ति का परिचय दिया है। सीता और पार्वती जैसे पौराणिक चरित्र इसके प्रमाण हैं।

मध्य-युग में भारतीय जीवन की विश्रृंखलता और अगति के कारण यद्यपि समाज में नारी की स्थिति अत्यन्त हीन हो गई थी और उसके व्यक्तित्व पर नाना प्रकार के उचित-अनुचित प्रतिबन्ध लग गये थे, फिर भी नारी के प्रति श्रद्धा समाप्त नहीं हुई थी और असाधारण प्रतिभा से मंडित नारी सहज ही देवी की प्रतिष्ठा पा लेती थी। नारी के दोषों और बंधनों का मूल-स्रोत उसके यौन-सम्बन्धों को ही माना जाता था। इसलिए साधारण कन्या को देवी-तुल्य मानने का संस्कार हमारे समाज में आज भी विद्यमान है, और विशेष पर्वों में कन्या की पूजा का विधान भी है।

आधुनिक युग में संस्कार और यथार्थ की यह खाई दूर होती गई है। इसलिए नारी को देवी न मानकर मानवी माना जाने लगा है, और मानवी के रूप में उसकी सामाजिक स्थिति को पुरुष के समान ही महत्वपूर्ण बनाने के प्रयत्न होने लगे हैं।

हिन्दी-उपन्यासों का जन्म और विकास आधुनिक युग में ही हुआ है, इसलिए उनमें नारी के देवी रूप की खोज अनुचित ही ठहराई जायेगी। तथापि दो उल्लेखनीय उपन्यासों में हमें इस रूप के दर्शन होते हैं। पहला उपन्यास है डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी लिखित 'बाणभट्ट की आत्मकथा', जिसमें हर्षकालीन भारतीय जीवन का चित्रण है।

आत्मकथात्मक शैली में लिखे जाने के कारण इस उपन्यास में घटनाओं से भी अधिक

महत्व भावनाओं के वर्णन का है। लेखक ने अत्यन्त पुष्ट और समर्थ भाषा के प्रयोग से तत्कालीन जीवन के सम्बन्ध में बाण की प्रतिक्रियाओं का विस्तृत और विशद विवरण दिया है। बरसों से निरुद्देश्य विचरता बाण जब अपने जीवन को नए सिरे से प्रारम्भ करने का निश्चय कर स्थाण्वीश्वर पहुँचता है तो अचानक उसे अपने विघटित नाट्य-मण्डल की अभिनेत्री निपुणिका मिल जाती है। निपुणिका अब रनिवास की दासी है। वह बाण को देखकर उसे अपने एक कार्य में संलग्न करने में सफल हो जाती है। यह कार्य है एक महिला की रक्षा, जिसे रनिवास में उसकी इच्छा के विरुद्ध रक्खा गया है। निपुणिका उस महिला का जिस प्रकार वर्णन करती है, उसी से बाण के सरल, उदात्त और निश्छल मन में उसके प्रति श्रद्धा और संभ्रम का उदय हो जाता है :

'भट्ट, अब तक तुमने नारी में जो देव-मन्दिर का आभास पाया है, वह तुम्हारे भोले मन की कल्पना थी। आज मैं तुम्हें सचमुच का देव मन्दिर दिखाऊँगी। परन्तु उसके लिए तुम्हें छोटे राजकुल में मेरी सखी बनकर प्रवेश करना होगा और कीचड़ में धँसे हुए उस मन्दिर का उद्धार करना होगा'[1]...

अंतःपुर में पहुँचकर जब बाण उस महिला के दर्शन करता है तो उसके अलौकिक रूप और तेज से वह अभिभूत हो जाता है :

'मेरे मन में बार-बार यह प्रश्न उठता रहा कि इतनी पवित्र रूपराशि किस प्रकार इस कलुष धरित्री में सम्भव हुई ?'[2]

इस देवी-स्वरूपा महिला के उद्धार का साधन बनकर बाण निज को ही कृतार्थ अनुभव करता है, और उसकी सुरक्षा एवं कुशलता के लिए अपने प्राणों पर खेल जाता है।

बाद में बाण को ज्ञात होता है कि जिस देवी की उसने रक्षा की है वह देव-पुत्र तुवर मिलिन्द की राजकन्या है। प्रत्यंत दस्युओं से अपहृत होकर वह राजकन्या चन्द्रदीधिति नाना कष्टों को पार कर मौखरिराज के अन्तःपुर में पहुँची थी। पर चंद्रदीधिति वहाँ रहने में अपना अपमान समझती थी। इसीलिए अपने उद्धार कर्ता बाण के प्रति वह कृतज्ञ है, और उसके लिए उसके मन में आदर और अनुराग का ऐसा पवित्र भाव है जिसे सात्विक प्रेम की संज्ञा दी जा सकती है। पर बाण का सरल मन चंद्रदीधिति को देवी-तुल्य श्रद्धा ही देता रहता है, यद्यपि उसके मन में भी अनजाने उसके प्रति एक मोह समा गया है। इस उपन्यास में आदि से अन्त तक चंद्रदीधिति का चरित्र और आचरण इतना उच्च, महान, और पवित्र दिखाया गया है कि अनायास वह सबसे श्रद्धा और भक्ति पाती है। आचार्य सुगतभद्र बाण से प्रश्न करते समय उसके इस दिव्य रूप का बड़ा ही सुन्दर वर्णन करते हैं :

'क्या कहा वत्स, देवपुत्र तुवर मिलिन्द की एक मात्र कन्या चन्द्रदीधिति अभी जीवित

---

१. हजारीप्रसाद द्विवेदी : 'बाणभट्ट की आत्मकथा' (पृष्ठ २८)
२. वही : (पृष्ठ ३९-४०)

है ? वह कहाँ है वत्स ? किस अवस्था में तुमने देखा है ? वह कुशल से तो है ? मैंने सुना था, प्रत्यन्त-दस्युओं ने उसे हरण किया है। तुमने ठीक देखा है वत्स ! वह सुकुमारता की मूर्ति है, पवित्रता का उत्स है, शोभा की खानि है, शुचिता की आश्रय-भूमि है, मूर्त्तिमति भक्ति है, कान्तिमती करुणा है। अहा, वह तुवर मिलिन्द की नयन-तारा अभी जीवित है ? बताओ वत्स, मैं उसे देखने को व्याकुल हूँ।"[1]

भट्टिनी चंद्रदीधिति जब नौका में मगध की ओर जाते हुए बाण को अपना पूर्ववृत्त सुनाती है, और दस्युओं के पाश में पड़ जाने के कारण अपने को 'धर्षिता, अपमानिता, कलंकिनी' कहती है, तो बाण अपने प्राणों के पूरे बल से उसका प्रतिवाद करता हुआ कहता है :

'कौन कहता है देवि, कि आप कलंकिनी सामान्य नारी है ? पार्वती के समान निर्मल अन्तःकरण, गंगा के समान पूतकारी विचार-धारा, कैलास के समान शुभ्र चरित्र और मानसरोवर के समान सकरुण हृदय ने जिस देवी को अशेष लोक की पूजनीय बनाया है, उसे कलंकिनी समझने वाला नरक-भागी होगा।..... आश्वस्त हो देवि, तुम पवित्रता की मूर्ति हो, कल्याण की खानि हो। समग्र आर्यावर्त्त के ब्राह्मण और श्रमण, देव मन्दिर और शस्य-क्षेत्र, अनाथ और नारी पौर और जनपद जिस दिन अपने रक्षक देवपुत्र तुवर मिलिन्द की नयनतारा को पहचान लेंगे, उस दिन वे मन्दिरों में तुम्हारी मूर्तियां बनाकर पूजेंगे।'[2]

भट्टिनी के अनुपम व्यक्तित्व का सान्निध्य पाकर बाण निरन्तर अपने को कृतज्ञ समझता है, और भट्टिनी के योग्य ही उदात्त भावों का परिचय देता है। भट्टिनी यद्यपि अनेक प्रकार से यह प्रकट करती है कि वे उसकी अनुगता हैं, पर बाण उनको देवी मानकर अपने-आपको उनका सेवक ही मानता है। उपन्यास के अन्त में जब भट्टिनी निपुणिका की मृत्यु पर कातर होकर अचेतनप्राय हो जाती हैं, तब बाण कहता है :

'देवि, उठो ! तुम्हें कातर होना नहीं शोभता। नरलोक से किन्नर लोक तक व्याप्त एक ही रागात्मक हृदय का संधान पाना बाकी है। अपने सेवक का उचित मार्ग प्रदर्शन करो। निपुणिका शोच्य नहीं है। शोच्य मैं हूँ। मुझे और भी अनाथ मत बनने दो। उठो देवि, आर्यावर्त को बचाना है, म्लेच्छ देश को बचाना है, मनुष्य जाति को बचाना है।, देवपुत्र नन्दिनी को यह अवशता उचित नहीं है।'[3]

इस प्रकार 'बाणभट्ट की आत्म-कथा' में नारी के पवित्र देवी-तुल्य रूप का बहुत ही हृदयग्राही और प्रभावशाली चित्रण हुआ है।

दूसरा उपन्यास वृन्दावनलाल वर्मा का 'विराटा की पद्मिनी' है। इसमें उत्तर-मुग़ल-कालीन बुंदेलखण्ड के जीवन का चित्र है, और इसमें चित्रित विभिन्न चरित्रों के माध्यम से

---

१. हजारीप्रसाद द्विवेदी : 'बाणभट्ट की आत्मकथा' : (पृष्ठ ६४)
२. वही : (पृष्ठ १४१-१४२)
३. वही : (पृष्ठ ३८४)

सरल ग्रामीणों के अंधविश्वास और राजसी परिवारों के घात-प्रतिघातों पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। जन्म के समय ही कुमुद में शास्त्रों में वर्णित पद्मिनी नारी के सभी गुण विद्यमान थे, और इसीलिए भोले ग्रामीण उसे दुर्गा का अवतार मानकर पूजने लगते हैं। ज्यों-ज्यों कुमुद बढ़ती जाती है उसकी चर्चा दूर-दूर तक फैलने लगती है, और नित्य ही श्रद्धालु जन उसके दर्शन करने आने लगते हैं। देवी के समान ही कुमुद वरदान और आशीर्वाद भी देती है, और भक्तों को उन पर अटूट विश्वास है। उसका पिता नरपति कुमुद की देख-भाल में ही अपना सारा समय बिता देता है।

कुमुद भक्तजनों की इस श्रद्धा को सहज रूप से स्वीकार करती है। वह अपने-आपको देवी नहीं, देवी की पुजारिन मानती है, और मन्दिर में दुर्गा की मूर्ति की बग़ल में बैठकर दर्शन देती है। उपन्यासकार ने कुमुद में अनुपम सौन्दर्य और तेज की प्रतिष्ठा की है, और उसके हृदय को सात्विक भावों से भरपूर दिखाया है। कुमुद स्वयं अपने पुजारिन-रूप को अटल समझती है, और अपना सारा जीवन देवी के पूजन-अर्चन में लगा देती है। जब मन्दिर नष्ट हो जाता है, तब वह बेतवा में कूदकर अपने जीवन का अंत कर देती है।

उपन्यासकार ने कुमुद की जन्म-कथा और उसमें देवीरूप की प्रतिष्ठा का वर्णन इस प्रकार किया है:

'१६-१७ वर्ष पहले नरपति सिंह दाँगी के घर लड़की उत्पन्न हुई थी। जब वह गर्भ में थी, उसकी माँ विचित्र स्वप्न देखा करती थी। लड़की के उत्पन्न होने पर पिता को ऐसा जान पड़ा, मानो प्रकाश-पुंज ने घर में जन्म लिया हो। उसकी माँ लड़की को जन्म देने के कुछ मास उपरांत मर गई।

'नरपति दुर्गा का भक्त था, और जागते हुए भी स्वप्न-से देखा करता था। गाँववाले उसे श्रद्धा और भय की दृष्टि से देखते थे।

'वह क्या रूप-राशि थी! उस पर देवत्व के आरोप होने में विलंब न हुआ। अविश्वास करने के लिए कोई स्थान न था। गाँव के मन्दिर में दुर्गा की जो मूर्ति थी, शिल्प की कला उसे वह रूप-रेखा नहीं दे पाई थी, जो इस बालिका में सहज ही भासित होती थी। ज्यों-ज्यों उसने वय प्राप्त किया, त्यों-त्यों अंग सुडौल होते गए, सौन्दर्य की विभूति बढ़ती, निखरती गई, और गाँववाले नरपतिसिंह की उस कन्या को किसी निर्भ्रान्त सिद्धान्त की तरह स्वीकार करते गए। पहले बालिका की पूजार्चा बहुधा नरपतिसिंह के ही घर पर होती रही, पीछे बालिका द्वारा मंदिर में स्थापित मूर्ति की पूजा कराई जाने लगी।.....उस कन्या को देवी का अवतार मानते हुए न केवल गाँव के लोग ठठ-के-ठठ जमा होकर उसके घर पर या मंदिर में जाते थे, बल्कि बाहर के, दूर-दूर के लोग भी अब मानता मान-मानकर आते थे।'[1]

किन्तु उपन्यासकार ने कुमुद का चित्रण सरल, निश्छल नारी के ही रूप में किया है।

---

१. वृन्दावनलाल वर्मा : 'विराटा की पद्मिनी' (पृष्ठ २२-२३)

लोग उसे देवी समझते हैं, पर वह अपने को साधारण नारी ही समझती है। जब सुरक्षा के विचार से नरपतिसिंह कुमुद को लेकर पालर से विराटा चले जाते हैं, तब उनके पड़ोस में रहने वाली गोमती भी उन्हीं के साथ जाती है। अपरिचित और निर्जन स्थान में गोमती का साथ पाकर कुमुद को साधारण नारी का-सा हर्ष होता है:

'बिना किसी प्रतिबंध के गोमती को गले लगाकर बोली: 'गोमती तुम भी आ गई! अच्छा किया। भूली नहीं। एक से दो हुए। अच्छी तरह हो! अब जब पालर चलेंगे, साथ ही चलेंगे।'

यह मिलाप नरपतिसिंह को भी बुरा नहीं लगा। देवी को—अपनी कन्या को एक घड़ी के लिए स्वाभाविक आनन्द में लहराते देखकर वह बूढ़ा पंडा भी प्रसन्न हो गया। उसने सोचा: 'ऐसा मिलाप बहुधा और सबके सामने न होना चाहिए।'[1]

उपर्युक्त उद्धरण से हमें यह भी पता चलता है कि कुमुद का पिता नरपतिसिंह उसके देवी-रूप की प्रतिष्ठा बनाये रखने के प्रति अत्यन्त व्यग्र और चिन्तित रहता है। इसमें उसका निपट स्वार्थ और लाभ वृत्ति झलकाकर लेखक ने मध्ययुग के अंधविश्वासों का अविवेक भी सिद्ध कर दिया है। इसके विपरीत कुमुद के समय-समय पर किये गए प्रतिवादों से लेखक ने कुमुद की सरलता प्रमाणित की है:

'बड़ी क्लांत हूँ गोमती। आजकल काम के मारे जी बेचैन हो जाता है। मूर्ति से वरदान न माँगकर लोग मेरे सामने हाथ फैलाते हैं।......यह मेरी शक्ति के बाहर है। मैं तो दुर्गा से केवल प्रार्थना करती हूँ, स्वयं किसी को कुछ नहीं दे सकती। जो इससे प्रतिकूल विश्वास करते हैं, वे अपने साथ अन्याय और मेरे साथ क्रूरता करते हैं।'[2]

कुमुद को देवी न माननेवालों की संख्या भी कम नहीं है। जो सम्पन्न और राजवर्ग के लोग हैं, वे इस जनश्रुति को कोरा ढकोसला ही मानते हैं। छोटी रानी और गोमती का यह संवाद इसका प्रमाण है:

गोमती धीरे से बोली: 'आप जो कुछ करें, मैं आपके संग में हूँ, मैं भी मरना चाहती हूँ। मुझे संसार में अब और कुछ भी देखने की इच्छा नहीं। कुमुद—विराटा की देवी—सुखी रहे, यही लालसा है।'

'विराटा की देवी!' रानी ने उत्तेजित होकर कहा—'दाँगी की छोकरी को देवी किसने बना दिया।'

गोमती ने भी ज़रा उत्तेजित स्वर में उत्तर दिया: 'संसार उसे मानता है। और कोई माने या न माने, मैं उसे लोकोत्तर समझती हूँ। यदि इसी समय प्रलय होने वाली हो, तो मैं ईश्वर से प्रार्थना करूँगी कि कम-से-कम एक वह बची रहे।'[3]

---

१. वृन्दावनलाल वर्मा: विराटा की पद्मिनी' (पृष्ठ ८१)
२. वही: (पृष्ठ १०७)
३. वही: (पृष्ठ ३७२)

यही कारण है कि वृद्ध राजा नायकसिंह और नवाब अलीमर्दान दोनों रूपवती कुमुद से अपने अंतःपुर की शोभा बढ़ाना चाहते हैं। नायकसिंह की तो रोगशय्या पर मृत्यु हो जाती है पर अलीमर्दान अन्त तक उसे पाने का प्रयत्न करता रहता है। उसकी यह अभिलाषा सभी पक्षों पर प्रकट है, इसीलिए विराटा की 'पद्मिनी' कुमुद सर्वग्रासी युद्ध का प्रधान लक्ष बन जाती है। विराटा का राजा सबदलसिंह दाँगियों का राजा है, वह कुमुद के देवीत्व की प्रसिद्धि से प्रभावित होकर उसकी रक्षा में लगता है। उधर राजा देवीसिंह और नवाब अलीमर्दान दोनों विराटा पर चढ़ाई करते हैं। अन्त में दाँगी लोग जौहर की शरण लेते हैं, देवी का मन्दिर तोपों से उड़ा दिया जाता है, और कुमुद नदी में समा जाती है।

इसी प्रकार कुमुद की रक्षा में राजकुमार कुंजरसिंह भी अपने प्राणों की आहुति दे देता है। यह कहना कठिन है कि वह कुमुद को देवी मानता है या नहीं। पहली बार जब वह कुमुद के दर्शन करता है, तो उसे एक अलौकिक तेज का आभास होता है। वह रूप और दृष्टि उसे भुलाये नहीं भूलती। बाद में सब ओर से निराश होकर जब वह विराटा में कुमुद के पास पहुँचता है, तो अपनी सारी आकांक्षाओं को तिलांजलि देकर कुमुद के पास रहकर देवी की रक्षा करने में ही अपनी सार्थकता समझता है। कुमुद के प्रति उसके मन में विचित्र आकर्षण है। वह प्रेम और भक्ति का एक अनोखा सम्मिश्रण है। कदाचित लेखक यह झलकाना चाहता है कि वह कुमुद को पाना चाहता है, पर उसके अलौकिक रूप और जन-विश्वास ने कुमुद को जो देवीत्व प्रदान किया है, उसके कारण वह प्रणय-निवेदन का साहस नहीं कर पाता, केवल भक्ति-मात्र ही प्रदर्शित करता है।

कुंजरसिंह के इस भक्ति-समर्पण को कुमुद एक ऐसी विशेष भावना से स्वीकार करती है, मानो वह भी कुंजर की ओर आकृष्ट हो, पर प्रकट रूप से शान्त और दूर ही बनी रहती है। यदि उसमें नारी-सुलभ भावनाएँ हैं भी तो वह उन्हें व्यक्त नहीं करती। केवल अन्त समय में जब वह यह जानती है अब उसे और कुंजर दोनों को ही मिट जाना है तब वह कुंजर के गले में अपनी बनाई माला डालकर मानो अपने प्रेम को वाणी देती है :

'उठो चलो।' कुंजरसिंह ने खोह में धँसकर कुमुद से कहा—'मुसलमान घुस आये हैं। हमारे सब सैनिकों ने जौहर कर लिया है।'.....

उसने (कुमुद) अपने आँचल के छोर से जंगली फूलों की गुँथी हुई एक माला निकाली, और कुंजर के गले में डाल दी। उस माला में फूल अधखिले और सूखे थे।

कुंजरसिंह ने कुमुद को छाती से लगा लिया। कुमुद तुरन्त उससे अलग होकर बोली: 'यह मेरा अक्षय भाँडार लेकर जाओ। अब मेरे पास और कुछ नहीं।' कुमुद के आँसू आ गए। उसने उन्हें निष्ठुरता के साथ पोंछ डाला। थोड़ी दूर पर लोगों की आहट सुनकर कुमुद ने आदेश स्वर में कहा : 'जाओ! खड़े मत रहो। मुझे मार्ग मालूम है।' फिर जाते-जाते मुड़कर बोली : 'मेरा मार्ग निःशंक है : तुम अपना असंदिग्ध करो।'[1]

---

१. वृन्दावनलाल वर्मा : 'विराटा की पद्मिनी' (पृष्ठ ४०६-४०७)

इस प्रकार देवी मानी जाने वाली कुमुद अंत तक देवी की ही भाँति निश्छल, निर्मल और निश्चल रहती है। लेखक ने बड़े कौशल से उसके नारीत्व और देवीत्व दोनों का निर्वाह किया है।

विलक्षण तेजवती नारी को देवी मानकर पूजने का एक प्रसंग हमें 'गोदान' में भी मिलता है। जब धनिया के प्रचण्ड रूप को देखकर पुलिस-दरोगा खाली हाथ लौट जाता है तो भोले गाँववाले धनिया को देवी का कृपापात्र समझकर पूजने लगते है:

'महीनों तक आस-पास के इलाकों में इस काण्ड की खूब चर्चा रही। यहाँ तक कि वह अलौकिक रूप तक धारण करता जाता था—'धनिया नाम है उसका जी! भवानी का इष्ट है इसे। दरोगाजी ने ज्योंही उसके आदमी के हाथ में हथकड़ी डाली कि धनिया ने भवानी का सुमिरन किया। भवानी उसके सिर आ गई। फिर तो उसमें इतनी शक्ति आ गई कि उसने एक झटके में पति की हथकड़ी तोड़ डाली और दरोगा की मूँछें पकड़कर उखाड़ ली, फिर उसकी छाती पर चढ़ बैठी। दरोगा ने जब बहुत मानता की, तब जाकर उसे छोड़ा।' कुछ दिन तक तो लोग धनिया के दर्शनों को आते रहे। वह बात अब पुरानी पड़ गई थी; लेकिन गाँव मे धनिया का सम्मान बहुत बढ़ गया। उसमें अद्भुत साहस है और समय पड़ने पर वह मर्दो के भी कान काट सकती है।'[१]

माता

नारी के नाना रूपों में सबसे अधिक महत् और गौरवशाली रूप माता का है। वेदों मे माता को पृथ्वी-स्वरूपा कहा गया है। पृथ्वी के समान ही वह संतान को धारण करती है, उसका लालन-पालन करती है, और आजीवन धैर्य एवं सहिष्णुता के साथ संतान के सुख की कामना करती है। इसलिए माता के ऋण से उऋण होना असंभव माना गया है।

'स्त्री के विकास की चरम सीमा उसके मातृत्व में हो सकती है।'[२] मातृत्व नारी-जीवन की चरम सफलता है। 'नारी-जीवन की सफलता मातृत्व में ही चरितार्थ होती है। इस बात को उस समय के सभी मनीषी मानते थे। माँ को पृथ्वी स्वरूपा और पिता से भी बड़ी माना है। माता के स्वभाव में एक ओर धैर्य, त्याग, ममता, स्नेह का परम उत्कर्ष देखते थे तो दूसरी ओर उसके पुत्रवती होने को भी अनिवार्य मानते थे।'[३] पत्नी का पद पाकर नारी के व्यक्तित्व का विकास अवश्य होता है, पर उसके जीवन की सच्ची सार्थकता और पूर्णता तभी होती है जब वह माँ बनती है। संतान को जन्म देना, उसका लालन-पालन करना, अन्तिम क्षण तक उसकी रक्षा करना और आजीवन उसकी उन्नति मे योग देना—मातृत्व का यही आदर्श है, यही उसका शाश्वत रूप है। जीवन भर की साधना

१. प्रेमचन्द : 'गोदान' (पृष्ठ १२२-१२३): तेरहवाँ संस्करण
२. महादेवी वर्मा : 'शृंखला की कड़ियाँ' (पृष्ठ ९६)
३. अल्तेकर : 'पोजीशन आफ विमेन इन हिन्दू सिवलाइजेशन,' अध्याय ३ (पृष्ठ ११८)

और तपस्या से माता अपने वात्सल्य को चरितार्थ करती है। एक शब्द में, वह अपने समस्त व्यक्तित्व को अपनी संतान में लय कर देती है।[1]

हिन्दी उपन्यासों में माँ के इस शाश्वत रूप के सभी पक्षों का भरपूर चित्रण हुआ है। उसकी ममता, दया, क्षमा-सहिष्णुता का जैसा आदर्श रूप इन उपन्यासों में मिलता है[2] वैसा ही आदर्श रूप अपनी संतान के प्रति उसकी हित-चिन्ता का भी। संतान चाहे अयोग्य हो, चाहे कर्तव्यच्युत हो, चाहे समाज की आँखों में पतित और तिरस्कृत हो, माँ का वात्सल्य-भरा अंचल सदा उस पर छाया रहता है।

माँ की वात्सल्य-भावना

माता का यह अक्षय वात्सल्य कभी नहीं घटता, कभी नहीं सूखता। कठिन-से-कठिन परिस्थिति में और बड़े-से-बड़े विरोध में भी माँ अपना वात्सल्य नहीं भूलती। वह संसार के बाकी सारे सुखों को तिलांजलि दे सकती है, समाज और परिवार का बड़े-से-बड़ा अत्याचार सह सकती है, पर अपनी संतान की हानि नहीं सह सकती। संतान का सुख उसके जीवन में सबसे बड़ा मूल्य होता है। 'गोदान' में मिसेज खन्ना अपने पति के अत्याचारों से तंग आकर घर छोड़कर चली जाती है। किन्तु एक तो वह अपनी गोदी के बालक को साथ ही ले जाती है, दूसरे जब मेहता उसे मातृत्व के महान गौरव की याद दिलाते हैं तो वह अपने बच्चों के सुख के लिए फिर लौट आती है। घर लौटकर आने पर जब उसके बच्चे 'अम्माँ' 'अम्माँ' पुकारते हुए दौड़कर आते हैं और उससे लिपट जाते हैं तो वह अपने दाम्पत्य-जीवन का कष्ट भूल जाती है। उसके मुख पर मातृत्व की उज्ज्वल, गौरवमयी ज्योति चमक उठती है।'[3] 'देशद्रोही' में विवाहिता चन्दा अपने असंतुष्ट दाम्पत्य-जीवन से मुक्ति पाने के लिए कहीं चली जाना चाहती है, पर अपने अबोध शिशुओं का ध्यान उसे ऐसा करने से रोकता रहता है। अन्त में जब वह डा० खन्ना के साथ जाना स्थिर करती है तो गोद के बालक को अपने साथ ले जाती है। 'प्रेत

---

१. 'नारी केवल माता है और उसके उपरान्त वह जो कुछ है सब मातृत्व का उपक्रम मात्र है। मातृत्व संसार की सबसे बड़ी साधना, सबसे बड़ी तपस्या, सबसे बड़ा त्याग और सबसे महान विजय है। एक शब्द में उसे लय कहूँगा—जीवन का, व्यक्तित्व का और नारीत्व का भी।'
प्रेमचन्द : 'गोदान' (पृष्ठ २५१)

२. 'माँ शब्द का अर्थ है दया, क्षमा और ममता। स्नेह और वात्सल्य का अन्तिम रूप है माँ।'
प्रतापनारायण श्रीवास्तव : 'विदा' (पृष्ठ १७)

३. 'बच्चे घर में से निकल आये और 'अम्माँ-अम्माँ!' कहते हुए माता से लिपट गए। गोबिन्दी के मुख पर मातृत्व की उज्ज्वल, गौरवमयी ज्योति चमक उठी।'
प्रेमचन्द : 'गोदान' (पृष्ठ २५१)

और छाया' की मंजरी पारसनाथ के अनेक अत्याचार चुपचाप सह लेती है किन्तु जब उसकी उपेक्षा के कारण मंजरी के पुत्र की मृत्यु हो जाती है तब उसके मन में पारसनाथ के प्रति इतनी घृणा उत्पन्न हो जाती है कि वह उसको जीवन भर क्षमा नहीं कर पाती।[1] उषादेवी मित्रा लिखित 'सोहिनी' की तूलिका का अबोध शिशु जब भूख से व्याकुल होकर मर जाता है, तो वह पुत्र-वियोग की असह्य वेदना के कारण पागल हो जाती है।[2] वृन्दावनलाल वर्मा के 'प्रत्यागत' में मंगल जब बहुत दिनों के बाद मुसलमानों के चंगुल से छूटकर घर लौटता है तो उसकी दुखिनी माता अधीर होकर सब सुध-बुध भूलकर उससे लिपट जाती है। प्रचलित रीति के अनुसार मंगल प्रायश्चित्त-विधान के उपरान्त ही घर में प्रवेश कर सकता था। यही कारण है कि मंगल के पिता, यहाँ तक कि मंगल की पत्नी भी उससे दूर ही रहते हैं, पर माँ का वात्सल्य ऐसे ऊपरी बंधनों को मानने से इन्कार कर देता है।[3]

कुछ उपन्यासों में अत्यन्त असाधारण परिस्थितियों में माँ के इस उत्कट वात्सल्य का अत्यन्त मार्मिक रूप उपस्थित किया गया है। यशपाल के 'दिव्या' में निराश्रिता दिव्या को परिस्थितिवश एक द्विज-पत्नी के बालक को अपना दूध पिलाने का काम स्वीकार करना पड़ता है। अपने ही दूध से अपने ही बालक को वंचित कर दूसरे बालक की रक्षा करना एक ऐसी विडम्बना है जो माँ के मर्म को विदीर्ण कर देती है। दिव्या और कोई उपाय न देखकर द्विज-पत्नी की सतर्क दृष्टि से बचाकर अपने शिशु को अपना स्तन-पान कराने का अवसर खोजती रहती है। इस प्रसंग के चित्रण में यशपाल ने माँ के वात्सल्य की बड़ी ही प्रभावोत्पादक झाँकी दी है?[4] सियारामशरण गुप्त के उपन्यास 'नारी' में पति-परित्यक्ता जमना अपने एकमात्र पुत्र हल्ली के खो जाने से इतनी दुखी हो जाती है कि जब अजित हल्ली को खोज निकालने के लिए दिन-रात एक कर देता है तब वह कृतज्ञता से भर उठती है। अपनी इसी कृतज्ञता के कारण वह अजित का घर बसाने को भी सहमत हो जाती है।[5] विश्वंभरनाथ शर्मा 'कौशिक' लिखित 'माँ' में सुलोचना का

---

१. इलाचन्द्र जोशी : 'प्रेत और छाया' (पृष्ठ ३१५)
२. उषादेवी मित्रा : 'सोहिनी' (पृष्ठ ९६)
३. वृन्दावनलाल वर्मा : 'प्रत्यागत' (पृष्ठ १२२)
४. यशपाल : 'दिव्या' (पृष्ठ ११८)
५. 'कहने में मुझे लज्जा नहीं है। फिर घर बसा लेने के लिए कहा था। तुम्हें मंजूर हो तो फिर मेरे लिए कहीं जाओ, मैं न रोकूँगी।'

. . . . . .

'तुम मेरे हल्ली को इतना प्यार करते हो, तुम्हारे लिए मैं अपने को काट-काट कर फिकवा सकूँ, तब मेरे जी को सुख मिले।'

सियारामशरण गुप्त : 'नारी' (पृष्ठ १०४-१०५)

पति अपनी दारुण दरिद्रता से दुखी होकर अपने पुत्र श्यामू को एक सम्पन्न परिवार में गोद दे देना चाहता है। सुलोचना पहले तो इस प्रस्ताव से सहमत नहीं होती, पर फिर पति के वाध्य करने पर और श्यामू को सुखी देखने के लिए किसी प्रकार मान जाती है। पर उसका वत्सल मन फिर भी छटपटाता रहता है। 'क्या कहूँ, मेरा तो कलेजा नुचा आता है, भूखी-नंगी रही, तव भी मुझे इतना दुःख नहीं था, जितना अव है। जी चाहता है, संखिया खाकर सो रहूँ। हाय-हाय। जव मैं सोचती हूँ कि मेरा पाला-पोसा चाँद-सा वच्चा मुझसे छिन गया, तव छाती फटने लगती है। आदमी मर जाता है, सवर आ जाता है, पर जीते सवर नहीं आ सकता।'[१] अपने विकल वात्सल्य की प्रेरणा से वह अपने पुत्र को देखने के लिए वार-वार सावित्री के पास जाती रहती है जिसने श्यामू को गोद लिया है। वहाँ थोड़ी देर के लिए श्यामू को अपनी गोद में लेकर छाती से लगा लेने के लिए उसका जी तड़पने लगता है। अपने कलेजे के टुकड़े पर दूसरे का अधिकार देखकर वह वेदना से विह्वल हो उठती है।[२]

चतुरसेन शास्त्री के 'हृदय की परख' में शशिकला की परिस्थिति और भी विचित्र है। जव वह कुमारी थी तभी वह माँ वन गई थी। लोकापवाद से वचने के लिए वह अपनी पुत्री सरला को त्याग देती है। सरला का लालन-पालन लोकनाथ के यहाँ होता है। इस घटना को वरसों वीत जाते हैं, पर माँ का मन अपनी वेटी के लिए भीतर-ही-भीतर घुमड़ता रहता है, उसका विफल मातृत्व सदा हाहाकार करता रहता है। अन्त में जव वह अपने मन की यंत्रणा नहीं सह पाती तव एक दिन सरला के पास आती है, और अपना वास्तविक परिचय देकर सरला से आग्रह करती है कि वह उसके साथ चली चले और उसे माँ कहे।[३] जव सरला उसकी वात का विश्वास नहीं करती[४] तो उसको इतनी गहरी वेदना होती है कि उसका प्राणान्त हो जाता है।

माँ के वात्सल्य के इन आदर्श रूपों से एकदम भिन्न, उसके यथार्थ रूप के अत्यन्त सजीव दर्शन हमें 'गोदान' की धनिया में होते है। जीवन-निर्वाह भी जहाँ एक समस्या हो, वहाँ माँ का वात्सल्य पग-पग पर कुंठित और पराजित होता रहता है, पर फिर भी वह कभी भी लुप्त नहीं होता, वरन् अंत में सारी निराशा और निष्फलता में सार की भाँति वही

---

१. विश्वंभरनाथ शर्मा 'कौशिक' : 'माँ' (पृष्ठ ८९)
२. वही : (पृष्ठ ८२)
३. 'अपनी माता का अपमान मत करो। अपने कर्मों पर मुझे स्वयं अनुताप है। फिर मैं चाहे जैसी हूँ, पर तुम मेरी ही वस्तु हो। तुमने वड़ा कष्ट पाया है। अव मैं तुम्हें अपने घर ले चलूँगी। वहाँ चल कर सुख से रहना।'
चतुरसेन शास्त्री : 'हृदय की परख' (पृष्ठ ४५)
४. 'देवी, सचमुच मैं तुम्हारी वेटी नहीं हूँ। इस वात को भूल जाओ।'
वही : (पृष्ठ ४६)

शेष रह जाता है। जब गोबर लम्बी अवधि के बाद शहर से लौटकर माँ-बाप के पैर छूता है तो धनिया फूली नहीं समाती। उसका सिर अपनी छाती से लगाकर मानों अपने मातृत्व का पुरस्कार पा गई हो।[१] किन्तु जब गोबर धनिया की उपेक्षा करता है तब उसका मातृ-हृदय विदीर्ण हो जाता है। उसको अपना जीवन व्यर्थ-सा लगने लगता है। गोबर की तीक्ष्ण बातें सुनकर और उसका भाव जानकर 'धनिया सन्नाटे में आ गई। एक ही क्षण में उसके जीवन का मृदु स्वप्न जैसे टूट गया। अब तक वह मन में प्रसन्न थी कि अब उसका दुःख-दरिद्रय सब दूर हो गया। जब से गोबर घर आया, उसके मुख पर हास की एक छटा खिली रहती थी। उसकी वाणी में मृदुता और व्यवहार में उदारता आ गई।'.... ये शब्द तपते हुए बालू की तरह हृदय पर पड़े और चने की भाँति सारे अरमान झुलस गये। 'उसका सारा घमण्ड चूर-चूर हो गया। इतना सुन लेने के बाद अब जीवन में क्या रस रह गया। जिस नौका पर बैठकर इस जीवन-सागर को पार करना चाहती थी, वही टूट गई तो किस सुख के लिए जिए।'[२]

इससे भी अधिक वेदना धनिया को तब होती है जब गोबर माता-पिता से लड़-झगड़ कर अपनी पत्नी और पुत्र को साथ लेकर एक प्रकार से सम्बन्ध-विच्छेद कर शहर जाने लगता है। 'धनिया बैठी रो रही थी, जैसे कोई उसके हृदय को आरे से चीर रहा हो। उसका मातृत्व उस घर के समान हो रहा था, जिसमें आग लग गई हो और सब कुछ भस्म हो गया हो। बैठकर रोने के लिए भी स्थान न बचा हो।'[३]

अपने एकमात्र पुत्र गोबर के ऐसे निर्मम व्यवहार से धनिया का वात्सल्य कुंठित और पराजित अनुभव करता है। धनिया का हृदय इतना घायल हो जाता है कि वह अपने आत्माभिमान के कारण अपने कष्टों की असीम दुःखमय घड़ियों में भी गोबर की मदद की अपेक्षा नहीं करती।

पर माँ का वात्सल्य अंत में विजयी होकर ही रहता है। अपने दुःख के क्षणों में माँ चाहे पुत्र की उपेक्षा कर भी दे किन्तु सुख के क्षणों में उसे नहीं भुला सकती। रूपा के विवाह के अवसर पर धनिया द्वारा कहे गये शब्दों में प्रेमचन्द ने माँ की समस्त ममता को बटोरकर एक पंक्ति में रख दिया है: '"परदेश जाकर ऐसा भूल गया कि न चिट्ठी न पत्री। न जाने कैसे है।'" यह कहते-कहते उसकी आँखें सजल हो आईं।[४] और जब गोबर पुनः अबोध शिशु की भाँति उसके सामने आकर खड़ा हो जाता है तो धनिया का सारा

---

१. 'उसका हृदय गर्व से उमड़ा पड़ता था। आज तो वह रानी है। इस फटे हाल में भी रानी है।'
प्रेमचन्द : 'गोदान' (पृष्ठ २६०)
२. वही : (पृष्ठ २८५)
३. वही : (पृष्ठ २८८)
४. वही : (पृष्ठ ४४७)

क्रोध क्षण भर में विलीन हो जाता है। यहाँ तक कि इस बार वह गोबर के शहर लौटने पर झुनिया को उसके साथ नहीं जाने देती, अपने ही पास रख लेती है।

नारी-मन में वात्सल्य का यह भाव इतना स्वाभाविक और प्रकृतिगत होता है कि नारी अपने ही नहीं, दूसरे के बालक के प्रति भी सहज स्नेह प्रदर्शित करती है। यही कारण है कि जो नारी माता नहीं बन पाती, वह दूसरे की सन्तान की देख-भाल करके ही अपने वात्सल्य की तुष्टि करती है और दुःख या कष्ट में पड़े पराये बालक की सहायता करके अनेक नारियाँ अपने मातृत्व को सार्थक करती है। 'माँ' सम्बोधन सुनते ही नारी का वात्सल्य सहज वेग से प्रवाहित होने लगता है।

वात्सल्य के इस रूप के भी अनेक चित्र हमें हिन्दी उपन्यासों में मिलते है। 'प्रेत और छाया' की मंजरी अपने प्रेमी पारसनाथ से विमुख रहती है क्योंकि उसी के कारण मंजरी को पुत्र-वियोग सहना पड़ता है। पर जब मंजरी के डाक्टर बन जाने पर पारसनाथ ओर उसकी पत्नी उससे अपनी रुग्णा पुत्री का जीवन बचाने की प्रार्थना करते है,[1] तो अपनी मातृ-भावना से प्रेरित होकर वह अपना सारा पिछला प्रतिशोध भूल जाती है और उसकी पुत्री को नीरोग कर देती है।[2] विश्वनाथ वैशम्पायन के 'मातृत्व का अभिशाप' (१९५०) में राधा नामक वेश्या मदन को अपने चंगुल में फँसाकर उसकी सारी सम्पत्ति हड़प लेती है, यहाँ तक कि मदन के घर में जीवन-निर्वाह की समस्या उठ खड़ी होती है। किन्तु जब मदन की पत्नी अपने पुत्र को वेश्या राधा के सामने लाकर डाल देती है[3] तो राधा के नारी-हृदय में भी वात्सल्य का भाव भर उठता है। वह कहती है: 'माँ सदा ही सन्तान के लिए अपना सर्वनाश करती आई है। यह उसके जीवन में बहुत बड़ा अभिशाप है, जो सदा

---

१. 'बहन जी, मेरी बच्ची को या तो देख लीजिए, या इसे अपने पैरों से कुचल कर मार डालिये। इससे अधिक मै और कुछ नहीं कह सकती।'
इलाचन्द्र जोशी : 'प्रेत और छाया' (पृष्ठ ४०८-४०९)

२. 'यह क्या करती हो! यह क्या करती हो।' कहकर डाक्टर राय (मंजरी) ने बच्ची को दोनों हाथों से उठा लिया। उनकी दोनों आँखों से आँसुओं की धारा जैसे रोके नहीं रुकना चाहती थी। उन्होंने पारसनाथ की ओर एक बार अपनी सजल और साथ ही जलती हुई आँखों से देख कर कहा—'अगर तुम चाहते हो कि मैं बच्ची का इलाज करूँ, तो तुम इसी क्षण यहाँ से हट कर बाहर चले जाओ।'
वही : (पृष्ठ ४०९)

३. 'संतान के लालन-पालन का यह कष्ट वही जान सकती है जो माँ बनी हो। यदि तुम माँ बन चुकी हो तो बहन मुझे विश्वास है कि तुम्हें इसका भविष्य नष्ट करने का साहस नहीं हो सकता। अगर ऐसा नहीं है तो तुम इसके पेट पर पैर रख कर सुख से चली जाओ।'
विश्वनाथ वैशम्पायन : 'मातृत्व का अभिशाप' (पृष्ठ १५९)

बना रहेगा।'[1] और वह सम्पत्ति के दान-पत्र के टुकड़े-टुकड़े कर डालती है। प्रेमचन्द के 'कायाकल्प' में हरिसेवक जब लौंगी को अपने घर में रख लेता है तब लौंगी उसकी मातृहीन अबोध संतान मनोरमा और गुरुसेवक का सहज वात्सल्य से लालन-पालन करती हैं। और जब हरिसेवक की मृत्यु हो जाती है तो अपने हिस्से की समस्त सम्पत्ति गुरुसेवक के नाम कर देती है। सियारामशरण गुप्त के उपन्यास 'अन्तिम आकांक्षा' में हरि की माँ अपने नौकर रामलाल को और 'गोद' में पार्वती शोभाराम को मातृवत् स्नेह देती है। उषादेवी मित्रा के 'जीवन की मुस्कान' में कमलेश की माँ अनाथ सविता को अपनी बेटी की ही भाँति ग्रहण करती है। प्रेमचन्द के 'गबन' में रमानाथ जब कलकत्ते के अपरिचित नगर में शरण-स्थल खोजता तरकारी वाली के यहाँ पहुँचता है, और उसे 'अम्मा' कहकर सम्बोधन करता है तब वह तरकारी वाली पूरी तौर से माँ के ही समान उसकी रक्षा करती है। 'गोदान' में झुनिया जब अपरिचित नगर में प्रसव-वेदना से कराहती निःसहाय अनुभव करती है तब चुहिया माता के समान उसकी परिचर्या करने लगती है।[2] प्रभावती भटनागर के 'पराजय' (१९३४) में सारे परिवार की उपेक्षा और तिरस्कार से त्रस्त सरला अपने अबोध भानजे विपिन को पुत्रवत् प्रेम कर मानो अपने जीवन की सार्थकता पाती है।

अपने इसी अक्षय वात्सल्य के कारण माँ कठोर-से-कठोर कष्ट, अत्याचार और अपमान सहकर भी सन्तान-हित में लगी रहती है। माँ के इस धीर स्वभाव के कारण ही उसे पृथ्वी के समकक्ष बताया गया है। प्रेमचन्द ने 'निर्मला' में कल्याणी के चित्रण में माँ की इस सहिष्णुता का चित्र उपस्थित किया है। पति से कलह हो जाने के कारण कल्याणी घर छोड़कर चली जाना चाहती है, पर अपने बच्चों का ध्यान कर यह विचार त्याग देती है

माँ की सहिष्णुता

---

१. 'विश्वनाथ वैशम्पायन : 'मातृत्व का अभिशाप' (पृष्ठ १६०)

२. 'तुम बाहर जाओ गोबरधन, मैं सब कर लूँगी। बखत पड़ने पर आदमी ही आदमी के काम आता है।···

वह झुनिया के पास जा बैठी और उसका सिर अपनी जाँघ पर रख कर उसका पेट सहलाती हुई बोली—'मैं तो आज तुझे देखते ही समझ गई थी। सच पूछो, तो इसी धड़के से आज मुझे नींद नहीं आई। यहाँ तेरा कौन सगा बैठा है।'

···चुहिया स्नेह से उसके केश सुलझाती हुई बोली—'धीरज धर बेटी, धीरज धर। अभी छन भर में कष्ट कटा जाता है। तूने भी ऐसी चुप्पी साध ली थी। इसमें किस बात की लाज। मुझसे बता दिया होता तो मैं मौलवी साहब के पास से ताबीज ला देती।'

···चुहिया रोज सवेरे आकर झुनिया के लिए हरीरा और हलवा पका जाती, और दिन में भी कई बार आकर बच्चे को उबटन मल जाती और ऊपर से दूध पिला जाती।' प्रेमचन्द : 'गोदान' (पृष्ठ २८९) तेरहवाँ संस्करण

और अपनी यंत्रणा को चुपचाप सहती रहती है। आत्मापमान और वात्सल्य के इस द्वन्द्व में वात्सल्य ही विजयी होता है। 'कल्याणी के मन में संकल्प-विकल्प होने लगे, पति की बातें याद आती तो मन होता घर को तिलांजलि देकर चली जाऊँ। लेकिन बच्चों का मुँह देखती तो वात्सल्य से चित्त गद्‌गद हो जाता। बच्चों को किस पर छोड़कर जाऊँ? मेरे इन लालों को कौन पालेगा, वे किसके होकर रहेंगे? कौन प्रातःकाल इन्हें दूध और हलवा खिलायेगा, कौन इनकी नींद सोयेगा, कौन इनकी नींद जागेगा? बेचारे कौड़ी के तीन हो जाएँगे। नहीं, प्यारो, मैं छोड़कर नहीं जाऊँगी। तुम्हारे लिए सब कुछ सह लूँगी। निरादर, अपमान, जली-कटी, खोटी-खरी, घुड़की-झिड़की सब तुम्हारे लिए सहूँगी।'[1]

प्रतापनारायण श्रीवास्तव लिखित 'विदा' में निर्मल की माँ शान्ता भी अपने पुत्र-स्नेह के लिए और उसके दाम्पत्य-जीवन को सुखी बनाने के लिए अपनी पुत्रवधू की ताड़ना, उपेक्षा और अवज्ञा को भी शिव के गरल-पान की भाँति पचाती रहती है। वह आदर्श माँ है जो अपने कर्तव्य और 'माँ' नाम की महत्ता को समझती है और अपनी सन्तान की सुख-चिन्ता के लिए आजीवन अपनी सहिष्णुता का परिचय देती है। अपने कर्तव्य के सम्बन्ध में निर्मल से कहे गये उसके शब्दों में उसके हृदय की विशालता तथा सहिष्णुता झलकती है। वह अपराधी कर्तव्य-च्युत सन्तान को भी उसके भाग्य पर छोड़ देने की नहीं सोचती। उसके मत में ऐसी संतान के लिए तो माँ को और भी अधिक चिन्ताशील तथा सहिष्णु रहना पड़ता है। जिस प्रकार उँगली के गले नाखून के कारण पूरी उँगली को काट फेंकना अदूरदर्शिता है उसी प्रकार अपराधी संतान का त्याग भी अनुचित है। उसको क्षमा करते रहना और निरंतर उसके सुधार की चेष्टा करते रहना ही माँ का कर्तव्य है।[2]

नागार्जुन ने 'रतिनाथ की चाची' (१९४८) में चाची के मातृ रूप में सहिष्णुता का अत्यन्त स्वाभाविक, सजीव और मार्मिक चित्रण किया है। विधवा चाची का पुत्र उमानाथ काशी में पढ़ता है। चाची आठ-दस घंटे प्रतिदिन सूत कातकर पच्चीस-तीस रुपये माहवार कमाती है। इस आय का अधिकांश वह अपने पुत्र के विवाह के लिए इकट्ठा करती जाती है। किन्तु जब उमानाथ अपने पिता के श्राद्ध पर घर आता है और मोहल्ले के लोगों से अपनी माँ के कलंक की चर्चा सुनता है तो वह क्रुद्ध होकर माँ से बिना बोले ही लौट जाता है। बेटे के इस व्यवहार से माँ को असह्य यंत्रणा होती है। वह जानती है कि उसके देवर जयनाथ के कुकृत्य के कारण सारा गाँव उसको कलंकिनी समझता है, पर क्या उसका अपना बेटा भी इस अपवाद को सत्य मानकर उसे त्याग देगा? समाज सत्य की अवहेलना कर सकता है किन्तु जब उसका पुत्र भी सत्य की अनदेखी कर उसी को दोष देता है तो उसका रोम-रोम व्यथित हो उठता है। पर इस गहरे घाव को सहकर भी वह पुत्र की भावी गृहस्थी के लिए सामग्री जुटाती रहती है। बाद में जब उमानाथ का विवाह हो

---

१. प्रेमचन्द : 'निर्मला' (पृष्ठ १२)
२. प्रतापनारायण श्रीवास्तव : 'विदा' (पृष्ठ १५)

जाता है तो चाची उमानाथ की सुखी गृहस्थी के सपने देख-देखकर हर्ष से गद्‌गद होती रहती है। वह बड़ी साध से उसके गौने की चर्चा करती है, किन्तु तब भी उमानाथ मौन रहकर उसके उत्साह पर पानी फेर देता है और उल्टे कताई का काम करने के कारण उसे जुलाहिन कह कर व्यंग्य करता है। चाची के हृदय को इससे मर्मान्तिक चोट पहुँचती है। जिस बेटे के सुख के लिए उसने सारी उम्र परिश्रम करके नाना लाछना और अपमान सहन करके अपने वैधव्य के दिन बिताये, वही उसका अपमान और तिरस्कार करे? उसकी आँखों से अविरल धारा बहने लगती है। वह उस क्षण सोचती है और निश्चय करती है, 'वह अब नहीं जिएगी, अवश्य मर जायेगी। इस जीवन से मृत्यु लाख गुना श्रेयस्कर है।'[1]

किन्तु उसका पुत्रप्रेम उसे इस निश्चय पर भी दृढ़ नही रहने देता। वह सोचती है कि यदि वह आत्महत्या करेगी तो उमानाथ को नाना प्रकार की निन्दा और आलोचना का शिकार बनना पड़ेगा।[2] इसलिए पुत्र-हित का ध्यान कर वह अपना विचार बदल देती है और मृत्यु से भी कठिन जीवन बिताती हुई, तिल-तिल कर मिटती हुई अपनी आदर्श सहिष्णुता का परिचय देती है।

भविष्य-चिन्ता

माँ की इस वात्सल्य-भावना का परिचय संतान की भविष्य-चिन्ता से भी मिलता है। प्रेमचन्द के 'सेवासदन' में जब सदन सिंह अपने माँ-बाप की इच्छा के विरुद्ध सुमन और शान्ता को अपने घर में आश्रय देता है तब सदन के पिता मदन सिंह तो क्रोध के कारण अपने पुत्र से विमुख हो जाते है, पर उसकी माँ भामा से नही रहा जाता। वह उसके भविष्य को सोचकर अपने देवर पद्मसिंह के पास जाती है और उससे सदन की खोज-खबर लेते रहने के लिए विनम्र आग्रह करती है। वह अपने पति से छिपाकर सदन के लिए कुछ रुपये भी देती है। यही नही, अपने पुत्र की रुचि और स्वास्थ्य का ध्यान कर वह घर की भैंस का घी और मीठे आमों की बनी चटनी भी रख देती है।[3] वह पद्मसिंह से कहती है, 'समझाकर कह देना, बेटा, कोई चिन्ता मत करो। जब तक तुम्हारी माँ जीती है; तुमको कोई कष्ट न होने पावेगा। मेरे तो वही एक अंधे की लकड़ी है। अच्छा है तो बुरा है तो, अपना ही है। संसार की लाज से आँखों से चाहे दूर कर दूँ लेकिन मन से थोड़े ही दूर करती हूँ।'[4]

---

१. नागार्जुन : 'रतिनाथ की चाची' (पृष्ठ १६३)
२. वही : (पृष्ठ १६५)
३. 'नहीं भैया, लेते जाओ, क्या हुआ। इस हाँड़ी में थोड़ा-बहुत घी है, यह भी भेजवा देना। बाजारू घी घर के घी को कहाँ पाता है, न वह सुगन्ध न वह स्वाद। उसे अमावट की चटनी बहुत अच्छी लगती है, मैं थोड़ी-सी अमावट भी रखे देती हूँ। मीठे-मीठे आम चुन कर रस निकाला है।'
प्रेमचन्द : 'सेवासदन' (पृष्ठ ३१५)
४. वही : (पृष्ठ ३१५)

गोविन्दवल्लभ पंत के 'मदारी' (१९३५) में जब नवाब अपने पिता के डाँटने पर बाहर चले जाने की धमकी देता है तो पिता तो चुप होकर रह जाते हैं किन्तु उसकी माँ को चैन नहीं पड़ता। वह उसके भविष्य को सोच कर अपने पति के पैर पकड़कर पुत्र को मना लाने के लिए आग्रह करती है: 'तुमने उसे डाँट दिया, वह नाराज होकर चला गया। उसे बुला लाओ। मेरा बेटा, उसने कभी परदेश की सूरत भी नहीं देखी। तुम्हारे पैर पड़ती हूँ। उसे मना लाओ। उसे जितनी जल्दी क्रोध आता है, वह उतनी ही जल्दी मना भी लिया जाता है।'[1]

संतान के प्रति माँ की भविष्य-चिन्ता का एक बड़ा मार्मिक उदाहरण हमें मन्मथनाथ गुप्त के 'अवसान' (१९५०) में मिलता है। मुनिया को परिस्थितिवश वेश्या बनना पड़ता है किन्तु वह अपने पुत्र के भविष्य के लिए कुवृत्ति छोड़कर सदाचार का जीवन अपनाने की चेष्टा करती है और एक संभ्रान्त परिवार में नौकरी करने लग जाती है। किन्तु जैसे ही उस परिवार को मुनिया के विगत जीवन का पता चलता है, वे उसको निकाल देते हैं। सब प्रकार से लज्जित, पीड़ित, अपमानित और निराश्रित होकर वह आत्महत्या करने के लिए गंगा तक जाती है पर तभी मानों उसके कानों में अपने अबोध शिशु का क्रंदन सुनाई पड़ने लगता है। वह लौट पड़ती है और घर आकर अपने बच्चे को छाती से लगाकर कहती है: 'मेरे नन्हें से बच्चे, तुम्हारे लिए जिऊँगी।'[2] यद्यपि अर्थोपार्जन के लिए उसे पुनः वेश्यावृत्ति ग्रहण करनी पड़ती है तथापि इस दूषित वातावरण में रहकर भी वह यह चेष्टा करती है कि उसका पुत्र उसके विनाशकारी प्रभाव से बचा रहे। इसीलिए वह पुत्र-वियोग सहकर भी उसके लालन-पालन और शिक्षा-दीक्षा के लिए गोकुल में प्रबन्ध करती है। सेठ गोविन्ददास लिखित 'इन्दुमती' में जब इन्दुमती को इस बात का ज्ञान होता है कि उसी के कारण उसके पुत्र मयंक का समाज में अपमान होता है जिससे बचने के लिए वह उससे दूर रहने की कामना करता है[3] तो वह अपने पुत्र की प्रसन्नता और उसके भविष्य-निर्माण के लिए स्वयं वहाँ से हटकर विदेश चली जाती है।[4] किन्तु जाने के पहले वह मयंक के उज्ज्वल भविष्य को सोचकर अपनी समस्त सम्पत्ति जिसको

---

१. गोविन्दवल्लभ पंत : 'मदारी' (पृष्ठ ४४)

२. मन्मथनाथ गुप्त : 'अवसान' (पृष्ठ १७३)

३. 'मुझे सचमुच ही माँ के पापों का प्रायश्चित करना पड़ रहा है; शायद जन्म भर करना पड़े और जब तक माँ हैं, तब तक तो सचमुच ही बहुत पड़े परिमाण में ... किसी तरह यदि इस माँ से मेरा पिण्ड छूट सकता।
सेठ गोविन्ददास : 'इन्दुमती' (पृष्ठ ८५५)

४. 'अपने और मयंक दोनों की हित-दृष्टि से मैं हमेशा के लिए घर छोड़ रही हूँ।'
सेठ गोविन्ददास : 'इन्दुमती' (पृष्ठ ८७३)

उसने गर्भधारण करने के बाद से ही जोड़ना प्रारम्भ कर दिया था,[१] मयंक के नाम कर जाती है।[२]

अपनी सन्तान के भविष्य का ध्यान रखते हुए ही माँ-बाप यह चेष्टा करते हैं कि उनकी बेटी का विवाह-सम्बन्ध ऐसे परिवार में हो जहाँ वह प्रसन्नतापूर्वक सुख से रह सके। यदि किसी कारणवश ऐसा नहीं होता तो जितना दुःख उनकी बेटी को होता है उससे भी अधिक दुःख माँ को होता है। प्रेमचन्द के 'निर्मला' में निर्मला की माँ कल्याणी सब ओर से निराश और विवश होकर ही निर्मला का विवाह बुड्ढे तोताराम से करती है। 'कायाकल्प' की लौंगी बुड्ढे विशालसिंह के साथ मनोरमा के विवाह-सम्बन्ध का बलपूर्वक विरोध करती है।[३] 'गोद' में किशोरी की माँ जब यह देखती है कि केवल लोकापवाद के कारण किशोरी का विवाह-सम्बन्ध उसके प्रेमी, समवयस्क, सुन्दर, सुशील शोभाराम से न होकर एक बुड्ढे से तय हो रहा है तो वह पुत्री के दुख का अनुमान कर विक्षिप्त-सी हो जाती है।[४] अन्त में जब शोभाराम किशोरी से विवाह करने को प्रस्तुत हो जाता है तभी वह स्वस्थ होती है।

माता अपनी वात्सल्य-भावना से ही प्रेरित होकर संतान की प्रगति और

---

१. 'खास कर मयंक के पेट में आते ही तो उसने मयंक के लिए किफ़ायत कर-कर उपर्युक्त कुछ खर्च हो जाने पर भी एक-एक पैसा जोड़ा था और उसके बालिग होने पर लाखों रुपये की यह रक़म वह उसे देने वाली थी।
सेठ गोविन्ददास : 'इन्दुमती' (पृष्ठ ८७०-८७१)

२. 'लखनऊ के एक वकील से अपनी स्थावर संपत्ति का मयंक की नाबालग़ी तक के लिए ट्रस्ट लिखवाया।'
वही : (पृष्ठ ८७३)

३. 'लड़की को राजा से ब्याह कर तुम्हारा मरतबा बढ़ जायगा; क्यों? धन और मरतबा संतान से भी ज्यादा प्यारा है, क्यों? लगा दो आग घर में। घोंट दो लड़की का गला। अभी मर जायगी; मगर जन्म भर के दुःख से तो छूट जायेगी। धन और मरतबा अपने पौरुष से मिलता है। लड़की बेचकर धन नहीं कमाया जाता। यह नीचों का काम है, भलेमानुसों का नहीं।'
प्रेमचन्द : 'कायाकल्प' (पृष्ठ १९९)

४. किशोरी की माँ अपने भाई से कहती है, 'वे (शोभाराम) बारात अपने यहाँ नहीं लाएँगे, इसलिए इसी में भला है कि तुम अपनी बहन और भानजी का गला घोंट डालो।' ...

'मुझे नहीं सुननी तुम्हारी अनोखी बातें। तुम जो ठीक समझो, करो; मैं कुछ नहीं जानती।'
सियारामशरण गुप्त : 'गोद' (पृष्ठ ५९-६०)

उन्नति के उपाय खोजती रहती है।[1] उसकी सदा यही चेष्टा रहती है कि उसकी सन्तान समर्थ और सच्चरित्र बने, अपने जीवन में यश और सफलता अर्जित करे। इसीलिए वह बचपन से ही अपनी संतान को कर्तव्य-अकर्तव्य का ज्ञान देती है, उसके आचार-व्यवहार की देखभाल करती है और अपनी सामर्थ्य भर उसको ग़लत रास्ते पर नहीं जाने देती। इसके लिए यदि उसे कष्ट उठाने पड़ें अथवा आत्म-त्याग भी करना पड़े तो वह सहर्ष प्रस्तुत रहती है। हिन्दी उपन्यासों में संतान के चरित्र-निर्माण में माता के इस अमूल्य योग के अनेक उदाहरण मिलते हैं। ईश्वरी प्रसाद लिखित 'वामाशिक्षक' में मथुरादास की पत्नी अपनी संतान गंगा और किशोरी के चरित्र का निर्माण इतनी कुशलता से करती है कि वे अपने परवर्ती जीवन में सुख-भोग करती हैं। विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' के 'माँ' की सुलोचना स्वयं दुःख-दारिद्र्य में रहकर श्यामू के भाई शम्भू को नर-रत्न बना देती है।

संतान का चरित्र-निर्माण

माता के चरित्र के इस पहलू के सबसे प्रभावपूर्ण दर्शन हमें प्रेमचन्द की 'रंगभूमि' की जाह्नवी में होते हैं। जाह्नवी वीर, साहसी एवं संकल्पवती माँ हैं। वह राष्ट्रीय विचारों की महिला है। इसीलिए वह बचपन से ही अपने पुत्र विनय को इस प्रकार रखती है कि उसमें राष्ट्रोचित गुणों का विकास हो। रानी होने के कारण जाह्नवी को सहज ही राजसी सुख-भोग और ठाठ-बाट उपलब्ध है। पर विनय को वह इनसे दूर रखती है, और उसे त्याग-तपस्या का कठोर जीवन बिताने की शिक्षा देती है। उसकी इसी आदर्शवादिता के कारण सोफ़ी और विनय एक-दूसरे से अनन्य प्रेम करने पर भी विवाह नहीं कर पाते। इसी का यह फल होता है कि विनय वीर, साहसी और देशप्रेमी युवक बन जाता है और समाज में आदर एवं यश प्राप्त करता है। देश-भक्ति में जब विनय अपने प्राण भी न्योछावर कर देता है, तब उसकी प्रेमिका सोफ़िया असीम दुःख के कारण रोने लग जाती है, पर माता का कर्तव्य-परायण वीर-हृदय भीतर से हाहाकार करने पर भी सोफ़िया से यही कहता है: 'क्यों रोती हो बेटी? विनय के लिए? वीरों की मृत्यु पर आँसू नहीं बहाये जाते, उत्सव के राग गाये जाते हैं। मेरे पास हीरे और जवाहिर होते, तो उसकी लाश पर लुटा देती। मुझे उसके मरने का दुःख नहीं है। दुःख होता, अगर वह आज प्राण बचाकर भागता। यह तो मेरी चिरसंचित अभिलाषा थी, बहुत ही पुरानी, जब मैं युवती थी और वीर राजपूतों तथा राजपूतनियों के आत्म-समर्पण की कथाएँ पढ़ा करती थी, उसी समय मेरे

---

१. 'माता-पिता को बाध्य होना चाहिए कि वे अपनी कन्याओं को अपनी-अपनी रुचि तथा शक्ति के अनुसार कला, व्यवसाय आदि की ऐसी शिक्षा पाने दें, जिससे उनकी शक्तियाँ भी विकसित हो सकें और वे इच्छा तथा आवश्यकतानुसार अन्य क्षेत्रों में काम भी कर सकें।'

महादेवी वर्मा : 'श्रृंखला की कड़ियाँ' (पृष्ठ ९८)

मन में यह कामना अंकुरित हुई थी कि ईश्वर मुझे भी कोई ऐसा ही पुत्र देता जो उन्हीं वीरों की भाँति मृत्यु से खेलता, जो अपना जीवन देश और जाति के लिए हवन कर देता, जो अपने कुल का मुख उज्ज्वल करता। मेरी वह कामना पूरी हो गई।'[1] इस प्रकार जाह्नवी की प्रेरणा और शिक्षा अपने पुत्र को सत्पथ पर हँसते-हँसते मृत्यु का वरण करना सिखाती है।

इसी प्रकार जाह्नवी अपनी पुत्री इन्दु के जीवन की भी देखरेख बराबर करती रहती है। इन्दु और उसके पति राजा महेन्द्र के स्वभावों में मेल नहीं है जिसके कारण उन दोनों में झगड़ा होता रहता है। ऐसा ही एक कलह के बाद जब इन्दु अपने पति से झगड़कर अपनी माँ के पास आती है तो जाह्नवी उसके प्रति कोई सहानुभूति प्रकट नहीं करती वरन् उसे यही समझाती है कि पति की इच्छानुसार चलना ही उसका परम धर्म है। बाद में जब राजा महेन्द्र के कारण इन्दु के भाई विनय की मृत्यु होती है तो इन्दु को इतना दुःख होता है कि वह अपने पति का मुँह भी नहीं देखना चाहती, पर जाह्नवी तुरन्त उसकी भर्त्सना कर उसके कर्तव्य को याद दिलाती है :—

······रानी जाह्नवी ने तीव्र स्वर में कहा—'क्या महेन्द्र को कहती है? अगर फिर मेरे सामने मुँह से ऐसी बात निकाली, तो गला घोंट दूँगी। क्या तू उन्हें अपना गुलाम बनाकर रक्खेगी? तू स्त्री होकर चाहती है कि कोई मेरा हाथ न पकड़े, वह पुरुष होकर क्यों न ऐसा चाहें? वह संसार को क्यों तेरे ही नेत्रों से देखें, क्या भगवान ने उन्हें आँखें नहीं दीं? अपने हानि-लाभ का हिसाबदार तुझे क्यों बनाएँ, क्या भगवान ने उन्हें बुद्धि नहीं दी? तेरी समझ में, मेरी समझ में, यहाँ जितने प्राणी खड़े हैं, उनकी समझ में यह मार्ग भयंकर है, हिंसक जन्तुओं से भरा हुआ है। इसका बुरा मानना क्या? अगर तुझे उनकी बातें पसन्द नहीं आती, तो कोशिश कर कि पसंद आएँ। वह तेरे पतिदेव हैं, तेरे लिए उनकी सेवा से उत्तम और कोई पथ नहीं है।'[2]

यशपाल के 'पार्टी कामरेड' में गीता की माँ भी गीता के सही विकास के प्रति अत्यंत सतर्क और सचेत रहती है। वह आधुनिक जीवन और नए विचारों से भली भाँति परिचित है, इसलिए गीता के आने-जाने पर कोई रोक-टोक नहीं करती। यदि पास-पड़ोस में कभी उसे गीता के इस रूप की टीका सुननी पड़ती तो वह अमित विश्वास से कह देती: 'भाई, एक ही हाथ की पाँच उँगलियाँ भी एक-सी नही होतीं। ठसके हुए बर्तन की तरह सभी की खबरदारी नहीं की जाती····।'[3] फिर भी वह इस बात का पूरा ध्यान रखती है कि अपने राजनैतिक कार्यों की व्यस्तता में गीता अपने स्वास्थ्य की उपेक्षा न करे। शाम को दिन भर काम-काज करके घर लौट कर यदि गीता कहती कि 'भूख नही है', तो माँ का माथा ठनक जाता। वह स्नेह और कर्तव्य-मिश्रित झिड़की में कहती: 'क्या?

---

१. प्रेमचन्द : 'रंगभूमि' (पृष्ठ ३५२) २. वही : (पृष्ठ ३५४)
३. यशपाल : 'पार्टी कामरेड' (पृष्ठ ३२)

साँझ को जाड़े में फिरा होगी ? कितनी बार तो कह चुकी हूँ, सुबह-साँझ की सर्दी से जरा बचा कर। लेकिन यह तो नगर नाउन है। शहर भर की परिक्रमा कर स्वराज्य का अलख जगाये बिना इसे चैन कहाँ.... क्या हुआ सिर में......?"[1] कभी-कभी गीता को घर लौटने में देर हो जाती तो माँ की मीठी झिड़की अवश्य सुननी पड़ती : " 'आ गई?' माँ का बड़बड़ाना सुनाई दिया—'क्या ढंग है, बाबा? दोपहर में घर से निकली और रात में लौटी? लड़की है कि सिपाही? और आजकल रोज ही मारपीट चलती है।'[2] इस प्रकार वह गीता की सहृदय और उदार अभिभावक बनकर उसे अपने जीवन का विकास करने देती है। पर जब एक बार अखबारों में गीता के चरित्र के सम्बन्ध में झूठी-सच्ची कलंक-कहानी छपती है तो माँ का प्यार-भरा हृदय घबरा उठता है। समाज में यदि उसकी बेटी कलंकिनी घोषित हो गई तो उसका सारा जीवन ही नष्ट हो जायेगा। वह आपे से बाहर हो जाती है, और गीता को घूमने-फिरने से रोक देती है, "अब अगर जीने की तरफ क़दम बढ़ाया तो पाँव काट दूँगी।....मालूम होता ऐसा ही जस लायेगी तो जनमती के गले में अँगूठा दे खतम कर देती। क्या मालूम था छाती का दूध पिलाकर साँप पाल रही हूँ?....अभी और क्या करने को बाकी है जो बाहर जायगी?....बहुत नाम तो कर दिया अखबारों में।' आगे माँ का गला रुँध गया और आँखों से आँसू बह गये।[3]

यद्यपि माँ अपनी सन्तान को बचपन से ही ऐसी शिक्षा देती है कि वह वयस्क होकर अपने जीवन को स्वयं सफल बना सके, फिर भी वह आजीवन उसके सुख-दुख का ध्यान रखती है। यदि संतान की भूल से, चारित्रिक त्रुटि से अथवा परिस्थितियों के योग से संतान को कभी विपत्ति झेलनी पड़ती है, तो चाहे शेष संसार उससे रूठ जाय, पर माँ सन्तान को अवश्य ही शरण और संरक्षण देती है। 'अज्ञेय' के 'शेखर : एक जीवनी' में माँ के इस स्वभाव का सुन्दर परिचय मिलता है। शशि अपने पति रामेश्वर के यहाँ सुखी नहीं रह पाती और अन्त में उसका पति उसे दुश्चरित्र एवं असती कहकर घर से निकाल देता है। जब शशि की माँ को इस घटना का पता चलता है तो वह पुत्री की शुभकामना से उद्विग्न हो जाती है। वह उसके कष्ट में अपने हृदय की पूरी सहानुभूति देती है। वह शेखर से कहती है : 'शशि कहती है कि मैं तटस्थ रहूँ, और समाज जो दण्ड उसे दे उसे उसी को अकेली सहने दूँ।...पर मैं तटस्थ कैसे रह सकती हूँ? अपने शरीर से जिसे बना कर अपने लहू से बीस बरस तक सींचा, उसे अपने ही हाथ से काट फेंकूँ, यह क्या मेरी हार नहीं है? कैसे अनदेखी कर जाऊँ मैं—'[4]

संतान का संरक्षण

---

१. यशपाल : 'पार्टी कामरेड' (पृष्ठ ३२) २. वही : (पृष्ठ ५५)
३. वही : (पृष्ठ ९४)
४. 'अज्ञेय' : 'शेखर एक जीवनी' (पृष्ठ १८८)

जब शशि इतने बड़े अपमान के बाद भी पति के यहाँ लौटने के बारे में इतस्ततः करती है तो माँ अत्यन्त दृढ़तापूर्वक कहती है: 'लौटना तो अब नहीं है। पर पति को सर्वस्व मानने के लिए ससुराल लौटना ही एक मात्र उपाय है, यह तो मैं नहीं समझती। जो रास्ता पति ही बन्द कर दे, उस पर चले बिना भी धर्म निवारण किया जा सकता है।'[१]

वह शशि का झुकाव देखकर उसे शेखर के साथ रहने की अनुमति दे देती है, और ऐसी व्यवस्था कर देती है कि उसको आर्थिक अभाव का सामना न करना पड़े। इसी प्रकार श्रीकृष्णदास के 'क्रांतिदूत' में मुसलमान होते हुए भी नसीम जब हिन्दू युवक विनय से विवाह करना चाहती है तो उसके पिता के क्रोध की सीमा नहीं रहती। पर माँ का आश्वासन उसे अब भी प्राप्त है। वह कहती है: 'कोई बात नहीं बेटी, बड़े मियाँ नाराज़ हैं तो हुआ करें। मैं तो जिन्दा हूँ, मेरी लाड़ली, तू घबड़ा मत।'[२] भगवतीप्रसाद वाजपेयी के 'प्रेम निर्वाह' में कला अपने पति से अपमानित होकर मातृ-गृह लौट आती है। तब उसकी माँ उसे अपनी छाती से लगा कर कहती है: 'अब जब तक बबुआ यहाँ आकर इस बात की माफ़ी नहीं माँग जाएँगे, तब तक मैं उन्हें तेरी सूरत न देखने दूँगी, बिना उनसे चिरौरी करा लिये मैं किसी तरह नहीं मानूँगी।' ' ' 'अब रो मत बिट्टी, यहाँ तुझे रोटियों की कमी थोड़े ही रहेगी।'[३]

पत्नी

प्रकृति ने नारी को पुरुष के पूरक रूप में बनाया है। एक के बिना दूसरे का व्यक्तित्व अपूर्ण और अधूरा ही रहता है। विवाह इसी प्राकृतिक विधान का सामाजिक संस्कार है।

पत्नी बनकर नारी पुरुष की सहधर्मिणी और अर्द्धांगिनी बनती है, और अपने जीवन की सार्थकता पाती है। पति-पत्नी दोनों के सहयोग से ही दाम्पत्य-जीवन का संचालन होता है।

मानव-सभ्यता के आदि काल से पत्नी के धर्म और मर्यादा का महत्त्व स्वीकार किया जाता है। जिस प्रकार पुरुष के लिए एक पत्नी-व्रत की आवश्यकता पर जोर दिया गया है, उसी प्रकार पातिव्रत को पत्नी का परम धर्म माना गया है। वेद, पुराण और शास्त्रों में पत्नी के पातिव्रत का नाना प्रकार से बखान किया गया है। अपनी अविचल पति-भक्ति के ही कारण सीता, सावित्री और पार्वती जैसी सती नारियाँ हमारे समाज में श्रद्धा और सम्मान पाती रही हैं।

---

१. अज्ञेयः 'शेखर एक जीवनी' : (पृष्ठ १८७)
२. श्रीकृष्णदास : 'क्रान्तिदूत' (पृष्ठ २८२)
३. भगवतीप्रसाद वाजपेयी : 'प्रेम-निर्वाह' (पृष्ठ १५२)

तन-मन-वचन से पति-परायणता पत्नी का आदर्श रूप है। वह पति की शक्ति है, गृहिणी है, अनुगता है। अपनी योग्यता, कुशलता और सेवा से दाम्पत्य-जीवन को निरन्तर सुचारु रूप से चलाना पत्नी का धर्म है। पत्नी का यह धर्म परिवार की नैतिकता और शान्ति का मेरुदण्ड है। पति चाहे एक बार भूल कर जाये या भटक जाये, पर पत्नी, अपने कर्तव्य से कभी च्युत नहीं होती। यही उसका सनातन आदर्श है, यही उसका शाश्वत रूप है।

भारतवर्ष के लम्बे इतिहास में हमारे समाज में समय-समय पर बड़े-बड़े परिवर्तन होते रहे हैं। इनके अनुसार समाज मे नारी की स्थिति में भी उतार-चढ़ाव आता रहा है। वैदिक युग में नारी को प्रतिष्ठित पद प्राप्त था, गुप्त-युग तक आते-आते नारी भोग्या और अन्तःपुरिका बन गई, मध्य युग मे नारी को पाप की खान और मोक्ष-साधना की बाधा भी माना गया। पर पत्नी-धर्म के इस शाश्वत-रूप में कभी कोई परिवर्तन नही हुआ। पति मे उसे चाहे समान प्रेम और आदर मिला, चाहे दासी और सेविका का-सा शासन और निरादर, पत्नी अपने सत्य-धर्म से विचलित नही हुई। सती साध्वी पतिव्रता नारी की महिमा सदा गाई जाती रही।

हिन्दी उपन्यासों में पत्नी के इस शाश्वत रूप का विस्तृत और बहुमुखी चित्रण है। कठिन-से-कठिन परिस्थितियों मे पति के प्रति उसका अनन्य प्रेम और विश्वास अटल रहता है। वह अपने जीवन के प्रत्येक क्षण सेवा और आत्म-त्याग की मूर्ति बनी अपना गृहिणी और सहधर्मिणी का रूप निभाती है। पति-प्रेम की अनन्यता के कारण वह पति का बड़े-से-बड़ा अत्याचार चुपचाप सह लेती है, और हर प्रकार से पति की उन्नति और प्रगति की कामना करती रहती है।

नारी एक बार जिसे वरण कर लेती है, आजीवन उसी के प्रति समर्पित रहती है। विषम-से-विषम परिस्थितियों का जाल भी उसे अपने प्रेम से नही डिगा पाता। इसी प्रेम के बल पर वह पति पर अखण्ड विश्वास रखती है। यदि किसी कारणवश उसका पति उसे छोड़कर चला भी जाय, अथवा किसी अन्य नारी की ओर आकर्षित हो जाय, तो भी उसके प्रेम में कोई कमी नही आती। वह उसके लौटकर आने की प्रतीक्षा में ही अपना सारा जीवन काट देती है। यही नही, वह पति की विमुखता के लिए भी अपने भाग्य या परिस्थितियों को ही दोषी समझती है, और पति के पुनः उसकी ओर झुकने पर तुरन्त अपने प्रेम और समर्पण से उस दुःखान्त प्रकरण को मिथ्या सिद्ध कर देती है।

पति के प्रति अनन्य प्रेम और विश्वास

नारी की सहज प्रवृत्ति होने के कारण यों तो पति के प्रति इस अनन्य प्रेम और विश्वास के न्यूनाधिक दर्शन हमे प्रायः सभी पत्नी चरित्रों मे मिलते है परन्तु 'गबन' की जालपा, 'तितली' की तितली और 'नारी' की जमना इनमे प्रमुख है। इनमे भी 'नारी' की जमना का प्रेम और विश्वास इतना गहरा और अटूट है कि जमना एक प्रकार से भारतीय

पत्नी की प्रतीक बन गई है, जो जन्म-जन्मान्तर तक अपने पति को अपना सर्वस्व समर्पण कर अपने जीवन को कृतार्थ मानती है। जमना का पति वृन्दावन कलकत्ते चला जाता है और बहुत दिनों तक अपनी कोई खबर भी नहीं भेजता। जमना पति की अनुपस्थिति में उसकी सुखद स्मृति से अपने वियोगी प्राणों को आश्वासन देती रहती है और दिन-रात उसी के नाम की माला जपती रहती है। उसका प्रेम अटूट है, पति ने भी उसे प्रेम देकर कृतार्थ और तृप्त किया है, पति के इस प्रेम का प्रतीक हल्ली—उनका पुत्र उसके पास है, जिसको पाल-पोसकर उसे बड़ा करना है। उसके वियोगी प्राणों को जीवन के यही आधार हैं। उसकी दैनिक चर्या में पति के विभिन्न प्रेम-व्यापारों की स्मृतियाँ इतने घनिष्ठ रूप से जुड़ी हुई हैं कि प्रतिपल उसे वृन्दावन की याद दिलाती रहती हैं और उसकी पलकों को भिगाती रहती है।[१] उसका सारा अस्तित्व अपने पति की, अपने पति के समाचार की प्रतीक्षा में विकल रहता है।[२] डाकिया जब हल्ली का मँगाया पंचांग दे जाता है, तो वह अशिक्षित, अबोध नारी सोचती है कि पति का ही पत्र आया है। वह बहुत भारी है, पर 'छोटी में बहुत बातें आ कैसे सकती थीं?'[३] वह छपा हुआ है, पर 'मुझे चौंकाने के लिए

---

१. 'वह पेड़ के नीचे जाकर खड़ी हो गई। इस पेड़ के साथ उसकी एक बहुत सुखद स्मृति है। उसकी याद से उसकी आँखों के आँसू गालों पर आकर नीचे टपाटप गिरने लगे।'...

उसने सोचा—आज बुधवार है?—हाँ आज का ही दिन वह था। यही समय था, ऐसी ही चाँदनी थी। चारों ओर सुनसान भी ऐसा ही था, जगह भी यहाँ की यही थी। अधिक और जो था वह आज नहीं है। उस समय उसके सास-ससुर दोनों जीवित थे। उसके पति ने न जाने कैसा मेल मिलाया कि दोनों पति-पत्नी यहाँ अकेले पड़ गये थे।...

वृन्दावन खुरपी से गड्ढा खोदने लगा और गगरी लेकर वह सींचने के लिए कुँए से पानी खींचने लगी।...

एक बार खोदी हुई मिट्टी नीचे न डाल कर उसने जमना के ऊपर डाल दी। जमना ने भी अपने आँचल का छोर इस तरह फटकारा कि मिट्टी वृन्दावन के ही ऊपर पड़ी।'

सियारामशरण गुप्त : 'नारी' (पृष्ठ २६-२७)

२. 'भीतर एक कोठरी में जमना गोबर लीप रही थी। डाकिये की आवाज उसने सुनी। यही वह आवाज थी जिसे बरसों की प्रतीक्षा के बाद उसने भुला रखा था। फिर भी पहचानने में उसे देर न लगी। एक साथ मन के किसी निगूढ़ आनन्द की बुझी बत्ती उसके रोम-रोम में जाग उठी। उसका एक हाथ पानी के घड़े पर और दूसरा गोबर के ऊपर जहाँ का तहाँ रुक गया। किसी विशिष्ट पाहुने के आगमन में उसके शरीर का समस्त क्रिया-व्यापार जैसे क्षण भर के लिए अनध्याय मनाने बैठ गया हो।'

वहीं : (पृष्ठ ५)

३. वहीं : (पृष्ठ ५-६)

किसी छापेखाने में जाकर अपनी चिट्ठी छाप लाये हो तो ?'[1] जब हल्ली आकर उसे बताता है कि वह पंचांग है, चिट्ठी नहीं तो उसके विकल मन की कल्पना ढह जाती है, वह गुम-सुम रह जाती है।

गाँव में अजीत विधुर है, कुछ मंत्र-विद्या जानता है। शुरू-शुरू में आकर वह खोज-खबर लेता रहता है। जमना उससे वृन्दावन के सम्बन्ध में प्रश्न करती रहती है। पर जब वह यह संकेत करता है कि विदेश में वृन्दावन की मृत्यु न हो गई हो, तो उसका समस्त पत्नीत्व विद्रोह कर उठता है : 'फिर वैसी बात ! तुम चाहते हो, सब कोई मर जाएँ, तब मैं तुम्हारी बाँदी हो जाऊँगी। मै इतनी नादान नही हूँ जो कुछ न समझूँ। परन्तु तुम भी समझ लो, इस तरह बुरा ताकने से किसी का सत्यानाश नही होता।'[2]

इस प्रचण्ड निश्छलता के तेज के आगे अजीत हतप्रभ हो जाता है। स्वयं जमना के मन में कभी-कभी यह भाव उठता है कि उसके पति ने किसी दूसरी नारी से सम्बन्ध न कर लिया हो। पर ऐसा क्षण-मात्र को ही होता है। वह इसे अपने मन की मिथ्या शंका समझकर उड़ा देती है। वृन्दावन का साथी जगराम जब कलकत्ते से लौटकर अजीत के कहने से उसके पति के सम्बन्ध में उसे उल्टी-सीधी बातें सुनाता है, तो अपना दुर्भाग्य समझकर उसका मन तो बुझ जाता है, पर उसकी आस्था पर कोई आँच नहीं आती। उसके समाज में यह दोष नही माना जाता कि वह पति के लापता हो जाने पर किसी और के घर बैठ रहे, परन्तु उसकी वह कल्पना भी नहीं करती। बाद में अपने प्रिय पुत्र और एकमात्र आधार हल्ली के खो जाने पर जब अजीत उसकी खोज मे भूखा-प्यासा रात-दिन एक कर देता है, तब वह कृतज्ञता के आवेश में उसका घर बसाने को सहमत तो हो जाती है, किन्तु प्रकृतिस्थ होते ही वह लज्जा और ग्लानि से महीनों दबी रहती है। अपनी इसी क्षणिक मानसिक दुर्बलता के लिए वह अपने भगवान से आकुल प्रार्थना करती रहती है : 'हे मेरे भगवान, वह सब क्या मैंने अपने आपे में रहकर किया था ? क्या तुम जानते नहीं हो, उस दिन मै अपने आप न जाने कहाँ खो गई थी। मेरे मुँह से उस दिन न जानें किसने क्या कहला लिया था। अरे ! मेरी रक्षा करो, तुम मेरी रक्षा करो !'[3]

अंत में वृन्दावन का पत्र आता है। दुर्भाग्य से जमना उस समय घर पर नहीं है। पत्र गाँव के महाजन मोतीलाल चौधरी के लड़के हीरालाल के हाथ पड़ जाता है। वह यह पत्र अपने पिता को जाकर देता है। उसमे वृन्दावन ने लिखा है कि वह बीमार है। जमना यह सुनती है तो आनन्द और चिन्ता के मारे विकल हो जाती है : 'बीमारी की ही खबर सुनकर एक क्षण के लिए उसके भीतर आनन्द की बिजली-सी दौड़ गई थी। बीमार ही सही, जीवित तो है। न जाने कितना और कैसा कष्ट उन्हे है। कोई दवा

१. सियारामशरण गुप्त : 'नारी' (पृष्ठ ७)
२. वही : (पृष्ठ ५२)
३. वही : (पृष्ठ १४२)

देने वाला, पानी पिलाने वाला, पंखा करने वाला भी वहाँ है या नहीं ? अरे, इस सबका पता कैसे लगे ?'[१] इसके साथ उसके मन में इसका भी सोच कम नहीं है कि पति ने यह समाचार सीधे उसे क्यों न दिया। डाकिये की भूल का उसे कोई ज्ञान नहीं है।

महाजन मोतीलाल वृन्दावन का पता पाकर षड्यंत्र रचता है। वह वृन्दावन को लिख देता है कि उसकी पत्नी ने दूसरे का घर बसा लिया है। अपने कर्ज की वसूली में वह वृन्दावन की सदर कचहरी में बुलवाकर उसके खेत और कुएँ की लिखा-पढ़ी भी कर लेता है। सदर मे उसके आने की बात गाँव में तुरन्त फैल जाती है। अबोध जमना सोचती है कि अब उसका भाग्य उदय होने वाला है। उसकी आँखों में आनन्द के आँसू भर जाते हैं :—

'लो, सदर में वृन्दावन भैया आ गए हैं। शाम की गाड़ी से यहाँ आ जाएँगे।'

'आ गए है !'—जमना ने ऊपर की ओर दोनों हाथ जोड़कर वहीं किसी के उद्देश्य से अपना मत्था टेक दिया। अजीत ने देखा कि उसकी दोनों आँखों से आँसू बहने लगे हैं।

अजीत का हृदय भी भर आया। उसने कहा—'भौजी, तुम जिन्दगी भर दुख में रोती रहीं और आज सुख में प्रसन्न होने के समय भी रोती हो।'[२]

पर वृन्दावन को जो समाचार मिले है, उनके कारण वह सदर से ही वापस विदेश लौट जाता है। अजीत जब सारी वस्तु-स्थिति का पता लगाकर गाँव लौटता है तो जमना का जीवन जैसे अपार अंधकार से घिर जाता है। पर जमना का अनन्य प्रेम फिर भी अक्षुण्ण ही रहता है। 'चारों ओर अँधेरा ही अँधेरा। कहीं कुछ दीख नहीं पड़ता था। फिर भी लड़के का हाथ थामकर वह आगे बढ़ी जा रही थी। कुछ अकेले आज ही नहीं जा रही थी। वह चिरन्तन नारी युग-युग के अंधकार में उसे तुच्छ करके चिरकाल से इसी तरह आगे बढ़ी जा रही है।'[३]

ऐसी ही एकान्त-निष्ठा का परिचय तितली देती है। बचपन से ही बंजो (तितली) और मधुआ (मधुवन) साथ-साथ रहते है। बड़े होकर उनका यह बाल-सुलभ साहचर्य प्रणय में परिणत हो जाता है। विवाह के उपरान्त तितली आदर्श गृहिणी की भाँति अपने जीवन को संचालित करती है। इस सुखी जीवन में अचानक एक विपत्ति आकर खड़ी हो जाती है। मधुवन अपनी बहन राजकुमारी के चरित्र की रक्षा के लिए विलासी और लम्पट महन्त की हत्या करने पर बाध्य होता है, और फिर कहीं दूर चला जाता है। बरसों उसकी खोज-खबर नहीं मिलती। लोगों में उसके सम्बन्ध में तरह-तरह के प्रवाद फैल जाते है। पर तितली का प्रेम-प्रदीप निष्कंप रहता है। जब शैला उससे सहज भाव से

१. सियारामशरण गुप्त : 'नारी' (पृष्ठ १४१)
२. वही : (पृष्ठ १६०)
३. वही : (पृष्ठ १७६)

पूछती है : 'तो तुम मधुवन को अब भी प्यार करती हो ?'[1] तो तितली उत्तर देते हुए कहती है : 'इसका तो कोई प्रश्न ही नहीं है। बहन शैला ! संसार भर उनको चोर, हत्यारा और डाकू कहे, किन्तु मैं जानती हूँ कि वे ऐसे नहीं हो सकते इसलिए मैं कभी उनसे घृणा नहीं कर सकती। मेरे जीवन का एक-एक कोना उनके लिए, उस स्नेह के लिए संतुष्ट है। मैं जानती हूँ कि वे दूसरी स्त्री को प्यार नहीं करते। कर भी नहीं सकते। कुछ दिनों तक मैना को लेकर जो प्रवाद चारों ओर फैला था, मेरा मन उस पर विश्वास नहीं कर सका। हाँ, मैं दुखी अवश्य थी कि उन्हें क्यों लोग सदेह की दृष्टि से देखते हैं।'[2]

मधुवन पर तितली का यह अटूट विश्वास ही उसे जीने की प्रेरणा देता है। वह अपने कर्तव्य पथ से च्युत नहीं हो सकती। तितली की ननद विधवा राजकुमारी अपने जीवन से दुखी होकर मृत्यु की कामना कर सकती है, किन्तु तितली नहीं, क्योंकि पत्नी के नाते उसका धर्म है पति की प्रतीक्षा करना और उसके अधूरे कार्य को पूरा करना। अपनी इस कर्तव्य-भावना को तितली राजकुमारी के सम्मुख इन शब्दों में व्यक्त करती है: 'मैं भी तुम्हारी सी-ही बात सोचकर छुट्टी पा जाती जीजी ! पर क्या करूँ वैसा नहीं कर सकती। मुझे तो उनके लौटने के दिन तक जीना पड़ेगा। और जो कुछ वे छोड़ गये उसे सँभालकर उनके आगे रख देना होगा।'[3] पति के चले जाने पर वह कर्तव्यनिष्ठ नारी घर और बच्चे दोनों को सुचारु रूप से सँभालने का दुहरा उत्तरदायित्व वहन करती है।

इस प्रकार तितली अपने पति की सम्पत्ति, उसके अधूरे सेवा-कार्य और उसके प्रतीक अपने बालक मोहन की देख-रेख में अपना जीवन समर्पित कर देती है। जीवन की जटिलताओं एवं विषम परिस्थितियों में धैर्यपूर्वक संघर्ष करते रहना ही उसका कर्तव्य है, पलायन नहीं। वह अपने आभूषणों को बेचकर लगान का रुपया चुकाती है और बाकी रुपयों से कन्या पाठशाला के लिए दालान बनवाती है। वह बड़ी दृढ़ता, लगन और विश्वास से अपना मंतव्य राजकुमारी पर प्रकट करती है : 'तुम देखो खेती का काम और मैं पढ़ाई करूँगी। हम लोगों को इस भीषण संसार से तब तक लड़ना होगा, जब तक वे लौट नहीं आते।'[4]

तितली अपने एकाकी जीवन के लिए जो मार्ग निश्चित करती है वह साधारण ग्रामीण नारी के लिए चाहे कुछ अस्वाभाविक जान पड़े किन्तु वह अपने तेज से पत्नी के आदर्श रूप का परिचय देती है। उसको अपने प्रेम की शक्ति पर इतना अटल विश्वास है कि उसके मन में एक क्षण के लिए भी यह संदेह उत्पन्न नहीं होता कि सम्भवतः मधुवन न लौटे। उसका अपना पुत्र मोहन जब अपने पिता के जीवित होने के विषय में प्रश्न करता

---

१. जयशंकर 'प्रसाद' : 'तितली' (पृष्ठ २६७)
२. वही : (पृष्ठ २६७)
३. वही : (पृष्ठ २३२)
४. वही : (पृष्ठ २३३)

है तब तितली अमित विश्वासभरे स्वर में कहती है, 'हाँ बेटा, तेरे पिता जी जीवित हैं। मेरा सिन्दूर देखता नहीं? ····और मेरा सत्य अविचल होगा तो तेरे पिताजी भी आवेंगे।'[१] पति की प्रतीक्षा में ही वह चौदह वर्ष तक अविचल, अरुक, अडिग रहकर अपने पत्नी-धर्म का पालन करती है।

उसकी इस निष्ठा में व्याघात की भाँति शेष समाज का व्यवहार उसके आड़े आता है। उसके पुत्र मोहन को लोगों की रहस्यमयी चर्चाओं से बड़ा कष्ट और सन्देह होता है। वह कातर होकर अपने चाचा से कहता है: 'मेरे पिता। दुहाई चाचा! तुम एक सच्ची बात बताओगे? मेरे पिता थे न! फिर स्कूल मे रामनाथ ने उस दिन क्यों कह दिया कि—चल, तेरे बाप का भी ठिकाना है।'[२]

स्वयं तितली भी उद्विग्न हो जाती है: 'गाँव भर मुझसे कुछ लाभ उठाता है, और मुझे भी कुछ मिलता है; किन्तु उसके भीतर एक छिपा हुआ तिरस्कार का भाव है। और है मेरा अलक्षित बहिष्कार। मैं स्वयं कही नही जाती, किन्तु यह क्या मेरे मन का सदेह नही है? मुझे जीभ दबाकर लोग न जाने क्या-क्या कहते है।'[३]

समाज के इस सदेह एवं अपने अबोध बालक के इस असमजस से एक क्षण को तितली के धैर्य का बाँध टूट जाता है और वह गंगा की गोद में शरण लेने चल पड़ती है। तभी उसके प्रेम और विश्वास का आश्रय, उसकी दीर्घ तपस्या का वाछित फल 'जीवन-युद्ध का थका हुआ सैनिक मधुवन द्वार पर खड़ा था।'[४] तितली के ऐसे अनन्य प्रेम का मार्मिक चित्रण कर 'प्रसाद' ने नारी की पति-निष्ठा का अत्यन्त प्रभावोत्पादक रूप उपस्थित किया है।

'ग़बन' की जालपा का चरित्र कुछ अंशों में जमना और तितली से भिन्न होते हुए भी पति के प्रति अटूट-प्रेम और विश्वास मे वह भी इन्हीं के समकक्ष पहुँचता है। बचपन से आभूषणों की एक अस्वाभाविक लालसा होने के कारण जालपा अपने पति रमानाथ को दिन-रात तग करती रहती है। पति अपनी पत्नी की कामना पूरी करने के लिए पत्नी के अनजान में ही ग़बन करता है, और फिर पकड़े जाने के डर से भाग जाता है। दीर्घकाल तक उसका कोई पता नही चलता।

जालपा में आभूषण-प्रियता अवश्य थी, पर वह अपने पति को उतना ही प्रेम करती थी जितना आदर्श पत्नी करती है। उसे पता होता कि उसकी लालसा का यह विषफल निकलेगा तो शायद वह गहनों का नाम भी न लेती। उसका अन्तःकरण निरन्तर उसे धिक्कारता रहता है कि उसी के कारण उसके पति को ये विपत्तियाँ झेलनी पड़ रही हैं।

---

१. जयशंकर 'प्रसाद' : 'तितली' (पृष्ठ २९३)
२. वही : (पृष्ठ २८७)
३. वही : (पृष्ठ २९०)
४. वही : (पृष्ठ २९५)

वह पश्चात्ताप के अथाह सागर में इतनी डूब जाती है कि उस समय यदि कोई उसका जीवनदान भी चाहता तो सहर्ष दे देती। बनाव-शृंगार के प्रति उसे अजीब घृणा हो जाती है और वह भोग-विलास की सामग्री समेट कर नदी में बहा देती है। जब रतन उसे टोकती है तो वह उत्तर देती है : 'जब तक ये चीज़ें मेरी आँखों से दूर न हो जाएँगी, मेरा चित्त शान्त न होगा। इसी विलासिता ने मेरी यह दुर्गति की है। वह मेरी विपत्ति की गठरी है, प्रेम की स्मृति नहीं। प्रेम तो मेरे हृदय पर अंकित है।'[1]

मन में इतनी ग्लानि होने पर भी वह पति को निर्दोष मानती है, और उसकी ओर से उसके मन में कभी कोई संदेह नहीं उठता। वह पति को सम्पूर्ण और निश्छल भाव से प्रेम करती है। इसी प्रेम के कारण वह अपने पति में असाधारण गुण देखती रहती है।[2] उसकी सबसे बड़ी कामना यही है कि जैसा प्रेम पति के लिए उसका है, वैसा ही प्रेम उसे पति से भी मिलता रहे: 'मेरा स्वामी सदा मुझसे प्रेम करता रहे, उसका मन कभी न फिरे।'[3] पति के चले जाने पर जब उसकी सहेली रतन रमानाथ के सम्बन्ध में कुछ दबे स्वर में संदेह व्यक्त करती है, तो जालपा का स्वर विश्वास के प्रकाश से चमक उठता है: 'नहीं रतन, मैं इस पर जरा भी विश्वास नहीं करती। यह बुराई उनमें नहीं है, और चाहे जितनी बुराइयाँ हों। मुझे उन पर संदेह करने का कोई कारण नहीं है।'[4]

इस पर रतन हँसकर कहती है: 'इस कला में ये लोग निपुण होते हैं, तुम बेचारी क्या जानो।'[5]

पर जालपा का विश्वास रंचमात्र भी नहीं काँपता। वह तुरन्त उत्तर देती है: 'अगर वे इस कला में निपुण होते हैं, तो हम भी हृदय को परखने में कम निपुण नहीं होतीं। मैं इसे नहीं मान सकती। अगर वे मेरे स्वामी थे, तो मैं उनकी स्वामिनी थी।'[6]

पति के प्रति उसका यह विश्वास और पति की विपत्ति में उसका अपना दोष जालपा को निष्क्रिय नहीं बैठने देता। वह जानती है कि रमानाथ पुलिस के भय के कारण स्वयं कभी लौट कर नहीं आयेगा, इसीलिए वह उसे खोजने के उपाय करने लगती है। जब अन्य

---

१. प्रेमचन्द : 'ग़बन' (पृष्ठ १५७)
२. 'मेरी आशा थी, उससे तुम कहीं बढ़ कर निकले। मेरी तीन सहेलियाँ हैं। एक का भी पति ऐसा नहीं। एक एम० ए० पर सदा रोगी, दूसरा विद्वान भी है, और धनी भी; पर वेश्यागामी। तीसरा घरघुस्सू है और बिल्कुल निखट्टू।'
वही : (पृष्ठ ११३)
३. वही : (पृष्ठ १२७)
४. वही : (पृष्ठ १४९)
५. वही : (पृष्ठ १४९)
६. वही : (पृष्ठ १४९)

किसी उपाय से कोई फल नहीं निकलता तो उसकी उत्कट लगन उसे एक विलक्षण उपाय सुझा देती है। उसके पति को शतरंज का बड़ा शौक है। शतरंज के कुछ नक्शे ऐसे थे जो केवल उसके पति ही सुलझा सकते थे। उन्हीं में से एक नक्शा वह गुमनाम से एक समाचार पत्र में प्रकाशित कराती है, और पाठकों से उसका हल मँगवाती है। दूर कलकत्ते में बैठा रमानाथ उसको देखता है और बिना यह पहचाने कि उसका असली रहस्य क्या है, उसका उत्तर भेज देता है। इस प्रकार रमानाथ का पता चल जाता है।

जालपा तब एक क्षण की भी देर नहीं करती। वह कलकत्ते पहुँचकर रमानाथ को बताती है कि किस प्रकार उसने अपने गहने बेचकर गबन का रुपया भर दिया था, और उसके घर लौटने में कोई भय या बाधा नहीं है।

अपने इस अनन्य प्रेम और निष्ठा के कारण ही पत्नी सदा अपने पति के प्रति समर्पित रहती है। वह कठिन से कठिन परिस्थितियों में भी, विवशता की चरम सीमा में भी पति के अतिरिक्त किसी भी अन्य पुरुष को अपने मन में स्थान नहीं देती। यही कारण है कि आदि काल से भारतीय धर्म-ग्रंथों में सती और पतिव्रता नारियों की प्रशंसा के गीत गाये गये हैं।

अटल पातिव्रत

नारी का तन चाहे किसी कारणवश कभी पराजित भी हो जाये, उसका मन सदा पति के ही नाम की माला जपता रहता है।[1] पत्नी के इस पातिव्रत का उदाहरण हमें 'सुनीता' में मिलता है। सुनीता शिक्षित सुसंस्कृत गृहिणी है जो अपने पति श्रीकान्त के प्रति पूर्णतः समर्पित है। श्रीकान्त जब अपने मित्र हरिप्रसन्न को घर में छोड़ कर बाहर चला जाता है और सुनीता को यह आदेश दे जाता है कि हरिप्रसन्न की प्रसन्नता के लिए वह कुछ भी न उठा रखे,[2] तब सुनीता के सामने विकट धर्म-संकट उपस्थित हो जाता है। और जब उसे लाहौर से अपने पति का पत्र मिलता है कि वह कुछ दिनों के लिए उसे भूल कर सम्पूर्णतः हरिप्रसन्न की इच्छानुसार व्यवहार करे[3] तो वह विकल हो जाती है। इस कठिन

---

१. 'कर्मभूमि' में मुन्नी की देह को जब कुछ बर्बर अंग्रेज बलात्कार द्वारा अपवित्र कर देते हैं, तो उसे इतनी ग्लानि होती है कि पति के मना करने पर भी फिर पति के साथ रहना स्वीकार नहीं करती। प्रतापनारायण श्रीवास्तव के 'विजय' की मनोरमा भी इसी प्रकार की परिस्थिति में ठीक ऐसा ही आचरण करती है।

२. 'अब यह तुम्हारे ऊपर रहा कि हरिप्रसन्न यहीं रहे और ठीक रहे।' जैनेन्द्र : 'सुनीता' (पृष्ठ १२१) दूसरा संस्करण

३. 'तुमसे कहता हूँ कि उसकी किसी बात पर बिगड़ना मत। सुनीता, तुम मुझे जानती हो कि मैं तुम्हें ग़लत नहीं समझ सकता। तब तुमसे मैं चाहता हूँ कि इन कुछ दिनों के लिए मेरे ख्याल को अपने से तुम बिल्कुल दूर कर देना। सच पूछो तो इसी के लिए मैं यह अतिरिक्त दिन बिता रहा हूँ।'
वही : (पृष्ठ १२५)

स्थिति में वह मन ही मन पति से ही प्रश्न करती है : 'मुझे बताओ, इस तुम्हारी चिट्ठी का क्या यही आशय मैं पाऊँ कि मुझे स्वयं कुछ नहीं रहना है, नियति के बहाव में बहते ही चलना है, धर्म-अधर्म बिसार देना है।'[1] सम्भवतः सुनीता अपने जीवन में इतनी विवश कभी भी न हुई थी। वह इन क्षणों में अपने पति का बार-बार स्मरण करती है। वह अपने सम्पूर्ण अस्तित्व को पति के चरणों में अर्पित कर अपने प्रेम और विश्वास द्वारा उस ऊँचाई तक पहुँचना चाहती है जहाँ वह अभिन्नता का अनुभव कर सके।

ऐसी स्थिति में जब हरिप्रसन्न रात के समय सुनसान निर्जन में क्रान्तिकारी दल के सदस्यों से भेंट करने के लिए सुनीता को साथ चलने के लिए कहता है, तो सुनीता टूटने को हो जाती है। वह हरिप्रसन्न का प्रत्याख्यान कैसे करे, पर जाने के लिए भी उसका मन गवाही नहीं देता। वह हरिप्रसन्न से तर्क करती है, और तर्क में हार कर साथ चलने के लिए सहमत हो जाती है। पर उसके मन में भावों का ऊहापोह चलता रहता है। वह डूबते हुए को तिनके के सहारे की भाँति हरिप्रसन्न से कहती है : 'सोच देखिए, हरि बाबू ! कहेंगे तो चलूँगी। क्यों न चलूँगी ? आपका कहा टालूँगी नहीं। लेकिन क्या यह जरूरी है ?'[2] और अन्त में जब वह साथ जाने का निश्चय कर लेती है तो उसका मन पति के पैरों से लिपट कर रोना चाहता है। पतिव्रता के सामने यह महान अग्नि-परीक्षा है। पर पति वहाँ उपस्थित नहीं हैं, इसलिए वह उनके चित्र से ही शक्ति और विश्वास की भीख माँगती है।

यहाँ से हरिप्रसन्न के जाने तक सुनीता प्राणहीन यंत्र की भाँति संज्ञाशून्य और अचेत बनी रहती है। चलते-फिरते, बैठते, बात करते मानो उसका मन कहीं और हो। पतिप्राणा पत्नी की सहज वृत्ति के अनुसार उसका तन पति के आदेश का पालन करता है, पर उसका मन पति में ही रमा हुआ है। जंगल में पहुँच कर सुनसान सन्नाटे में जब हरिप्रसन्न अपना प्रणय-निवेदन करता है, तब सुनीता जैसे व्यक्ति न होकर कोई कठपुतली हो। उसका तन हरिप्रसन्न को अर्पित है, पर मन वहाँ अनुपस्थित है। फलतः हरिप्रसन्न का आवेश नशे की भाँति चूर-चूर हो जाता है, और सुनीता का पातिव्रत ही उसके सतीत्व की भी रक्षा करता है। हरिप्रसन्न में अब यह शक्ति नहीं कि उससे आँख मिला सके। वह बाहर से ही विदा लेकर चला जाता है।

सुनीता घर आती है तो वह हरिप्रसन्न के चले जाने पर दुखी है। वह लौटकर आये पति को सब कहानी बता कर कहती है कि अपनी सारी चेष्टा, सारे समर्पण के बावजूद हरिप्रसन्न को वह रोक नहीं पाई। श्रीकान्त इसका मर्म समझता है और कहता है : 'आवर क्वीन कैन डू नो रोंग' और सुनीता गद्‌गद भाव से यही प्रार्थना करती है कि "मुझे छोड़

---

१. जैनेन्द्र : 'सुनीता' (पृष्ठ १४४)
२. वही : (पृष्ठ १४४)

कर तुम न जाना। क्या विधाता ने हमें व्यर्थ ही नारी बनाया है ? इस प्रार्थना का अधिकार क्या हमें पति के निकट भी न होगा कि स्वामी से कहें 'नाथ हमें छोड़ कर जाना मत।' इस अधिकार से तो तुम सदा-सदा मेरे हो।"[१]

सुख-दुःख समभागिनी

विवाह होते ही नारी के जीवन में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन आ जाता है। वह अपने माता-पिता से दूर पति के साथ रहने लगती है। मायके का जीवन और वातावरण त्याग कर अब उसे पति की जीवन-प्रणाली और ससुराल का वातावरण अपनाना पड़ता है। इस प्रकार पति का जीवन और उसका जीवन अभिन्न हो जाता है। पति के सुख-दुःख, आशा-निराशा, आचार-विचार और महत्वाकांक्षाओं को अपना कर ही वह सहधर्मिणी और अर्धांगिनी बनती है। उसका अनन्य प्रेम और पातिव्रत इसी अभिन्नता की कसौटी पर कसा जाता है। इसी अभिन्नता के कारण वह पति से न कोई दुराव रखती है, न पति को ही रखने देती है। जालपा को जब पता लगता है कि उसकी आभूषणों की कामना को तुष्ट करने के लिए उसका पति रमानाथ उससे वस्तुस्थिति छिपाता रहा है, तो उसे मर्मान्तिक कष्ट होता है। वह कहती है : 'जो पुरुष अपनी स्त्री से परदा रखता है, मैं समझती हूँ, उससे प्रेम नहीं करता। मै उनकी जगह पर होती, तो यों तिलांजलि देकर न भागती, अपने मन की सारी व्यथा कह सुनाती और जो कुछ करती, उनकी सलाह से करती। स्त्री और पुरुष में दुराव कैसा ?'[२]

सुख-दुःख में निरन्तर साथ देने के विषय में 'गोदान' की धनिया आदर्श पत्नी है। वह अपने पति होरी से स्वभाव में भिन्न है। न तो उसके मन में होरी की धर्म-भीरुता है, न सम्मिलित परिवार की भावना के प्रति वैसा लगाव ही है। वह तेजस्विनी नारी है, और स्पष्टवादिता में अपना सानी नहीं रखती। होरी को उसकी यह प्रकृति उद्दण्ड लगती है, अक्सर दोनों में कहा-सुनी भी हो जाती है। होरी क्रोध में आकर धनिया को मार-पीट भी बैठता है। पर यह सब होते हुए भी धनिया होरी की अनुगता है। दुःख में वह होरी को सांत्वना देती है, विपत्ति में उसे धीरज बँधाती है, और परिश्रम में उसका पूरा-पूरा हाथ बँटाती है। दरिद्र किसान होने के कारण उनकी कठिनाइयों का कोई पार नहीं है, और होरी अपने स्वभाव के कारण कभी-कभी कठिनाइयाँ मोल भी ले लेता है। धनिया को उसके ये कार्य अक्सर ग़लत लगते हैं, पर उनका फल-भोग करने में वह कभी पीछे नहीं हटती और सर्वदा पति का हाथ बँटाती है। पति के जीवन को अभिन्न रूप से अपनाने में धनिया आदर्श उपस्थित करती है। इसीलिए उन दोनों का प्रेम बहुत गहरा और दृढ़ है, और दुःख-दारिद्रय के निराश जीवन में भी वे निश्छल परिहास से अपना हृदय हलका करते रहते है।

---

१. जैनेन्द्र : 'सुनीता' (पृष्ठ १८७)
२. प्रेमचन्द : 'ग़बन' (पृष्ठ १५६)

उपन्यास के प्रारम्भ में ही उनके इस परिहास और जीवन-संघर्ष का परिचय उनके इस वार्तालाप से मिलता है :

"होरी ने उसकी ओर आँखें तरेरकर कहा—'क्या ससुराल जाना है, जो पाँचों पोसाक लायी है ? ससुराल में भी तो कोई जवान साली-सलहज नहीं बैठी है, जिसे जा कर दिखाऊँ।'

होरी के गहरे साँवले, पिचके हुए चेहरे पर मुस्कराहट की मृदुता झलक पड़ी। धनिया ने लजाते हुए कहा—'ऐसे ही तो बड़े सजीले जवान हो कि साली-सलहजें तुम्हें देखकर रीझ जाएँगी।'

होरी ने फटी हुई मिरजई को बड़ी सावधानी से तहकर के खाट पर रखते हुए कहा—'तो क्या तू समझती है, मैं बूढ़ा हो गया ? अभी तो चालीस भी नहीं हुए। मर्द साठे पर पाठे होते हैं।'

'जाकर सीसे में मुँह देखो। तुम-जैसे मर्द साठे पर पाठे नहीं होते। दूध-घी अंजन लगाने तक को मिलता नहीं, पाठे होंगे। तुम्हारी दशा देख-देखकर तो मैं और भी सूखी जाती हूँ कि भगवान यह बुढ़ापा कैसे कटेगा ? किसके द्वार भीख माँगेंगे ?'

होरी की क्षणिक मृदुता यथार्थ की इस आँच में जैसे झुलस गयी। लकड़ी सँभालता हुआ बोला—'साठे तक पहुँचने की नौबत न आने पायेगी धनिया ! इसके पहले ही चल देंगे।'

धनिया ने तिरस्कार किया—'अच्छा रहने दो, मत असुभ मुँह से निकालो। तुमसे कोई अच्छी बात भी कहे, तो लगते हो कोसने।"[1]

एक बार धनिया भरी-सभा में होरी का अपमान करती है इसलिए दोनों में बोलचाल बन्द हो जाती है। पर होरी के बीमार होते ही धनिया का मान चूर हो जाता है और दोनों फिर अपने दुःखमय पथ के सहयात्री हो जाते हैं। प्रेमचन्द ने इस स्थल पर बड़ी मार्मिकता से काम लिया है :

'एक महीने तक होरी खाट पर पड़ा रहा। इस बीमारी ने होरी को तो कुचल डाला ही, पर धनिया पर भी विजय पा गयी। पति जब मर रहा है, तो उससे कैसा वैर। ऐसी दशा में तो वैरियों से भी वैर नहीं रहता, वह तो अपना पति है। लाख बुरा हो; पर उसी के साथ जीवन के पचीस साल कटे हैं, सुख किया है तो उसी के साथ, दुःख भोगा है तो उसी के साथ, अब तो चाहे वह अच्छा है या बुरा, अपना है। दाढ़ीजार ने मुझे सब के सामने मारा, सारे गाँव के सामने मेरा पानी उतार लिया; लेकिन तब से कितना लज्जित है कि सीधे ताकता नहीं। खाने आता है तो सिर झुकाये खाकर उठ जाता है, डरता रहता है कि मैं कुछ कह न बैठूँ।

होरी जब अच्छा हुआ तो पति-पत्नी में मेल हो गया था।

---

१. प्रेमचन्द : 'गोदान' (पृष्ठ ६) तेरहवाँ संस्करण

एक दिन धनिया ने कहा—'तुम्हें इतना गुस्सा कैसे आ गया। मुझे तो तुम्हारे ऊपर कितना ही गुस्सा आये मगर हाथ न उठाऊँगी।'

होरी लजाता हुआ बोला—'अब उसकी चर्चा न कर धनिया। मेरे ऊपर कोई भूत सवार था। इसका मुझे कितना दुःख हुआ है, वह मैं ही जानता हूँ।'

'और जो मैं भी उस क्रोध में डूब मरी होती।'

'तो क्या मैं रोने के लिए बैठा रहता? मेरी लहास भी तेरे साथ चिता पर जाती।'

'अच्छा चुप रहो, बेबात की बात मत बको।'[१]

कुछ दिनों बाद होरी दातादीन के खेत में काम करते-करते निरन्तर अनाहार और असाध्य परिश्रम के कारण जब बेहोश होकर गिर पड़ता है, तो धनिया का विलाप और दुःख देखते नहीं बनता।

धनिया ऊख का गट्ठा पटककर पागलों की तरह दौड़ी हुई होरी के पास गई, और उसका सिर अपनी जाँघ पर रखकर विलाप करने लगी—'तुम मुझे छोड़कर कहाँ जाते हो? अरी सोना, दौड़ कर पानी ला और जाकर सोभा से कह दे दादा बेहाल हैं। हाय भगवान! अब मैं कहाँ जाऊँ। अब किसकी होकर रहूँगी, कौन मुझे धनिया कहकर पुकारेगा।'...

लाला पटेश्वरी भागे हुए आये और स्नेहभरी कठोरता से बोले—'क्या करती है धनिया, होस सँभाल! ... दिल इतना कच्चा कर लेगी तो कैसे काम चलेगा।'

धनिया ने पटेश्वरी के पाँव पकड़ लिये और रोती हुई बोली—'क्या करूँ लाला, जी नहीं मानता। भगवान ने सब कुछ हर लिया। मैं सबर कर गयी। अब सबर नहीं होता। हाय रे मेरा हीरा।'

... ...

धनिया अधीर होकर बोली—'ऐसा कभी नहीं हुआ था, लाला, कभी नहीं!'

पटेश्वरी ने पूछा—'रात कुछ खाया था?'

धनिया बोली—'हाँ रोटियाँ पकायी थीं, लेकिन आजकल हमारे ऊपर जो बीत रही है, वह क्या तुमसे छिपा है? महीनों से भरपेट रोटी नसीब नहीं हुई। कितना समझाती हूँ, जान रख कर काम करो; लेकिन आराम तो हमारे भाग्य में लिखा ही नहीं।'

सहसा होरी ने आँखें खोल दीं और उड़ती हुई नज़रों से इधर-उधर ताका।

धनिया जैसे जी उठी। विह्वल होकर उसके गले से लिपटकर बोली—'अब कैसा जी है तुम्हारा? मेरे तो परान नहों में समा गये थे।'

होरी ने कातर स्वर में कहा—'अच्छा हूँ। न जाने कैसा जी हो गया था।'

धनिया ने स्नेह में डूबी भर्त्सना से कहा—'देह में दम तो है नहीं, काम करते हो जान देकर। लड़कों का भाग था, नहीं तुम तो ले ही डूबे थे।'

पटेश्वरी ने हँसकर कहा—'धनिया तो रो-पीट रही थी।'

---

१. प्रेमचन्द : 'गोदान' (पृष्ठ १२३)

होरी ने आतुरता से पूछा—'सचमुच तू रोती थी धनिया ?'

धनिया ने पटेश्वरी को पीछे ढकेलकर कहा—'इन्हें बकने दो तुम। पूछो, यह क्यों कागद छोड़कर घर से दौड़े आये थे।'

पटेश्वरी ने चिढ़ाया : 'तुम्हें हीरा-हीरा कह कर रोती थी। अब लाज के मारे मुकरती है। छाती पीट रही थी।'

होरी ने धनिया को सजल नेत्रों से देखा—'पगली है और क्या। अब न जाने कौन-सा सुख देखने के लिए मुझे जिलाये रखना चाहती है।'[१]

इस प्रकार धनिया प्रतिक्षण अपने पति के स्वास्थ्य और आराम का ध्यान रखती है। भीषण दारिद्र्य के कारण उसका कुछ वस तो नहीं चलता, फिर भी वह भरसक अपने परिश्रम और सेवा से पति का भार हल्का करना चाहती है। क़दम-क़दम पर हमें इसका प्रमाण मिलता रहता है :

रात के बारह बज गये थे। दोनों बैठे सुतली कात रहे थे। धनिया ने कहा—'तुम्हें नीद आती हो तो जाके सो रहो। भोरे फिर तो काम करना है।'

होरी ने आसमान की ओर देखा—'चला जाऊँगा। अभी तो दस बजे होंगे। तू जा सो रह।'

'मैं तो दोपहर को छन-भर पौढ़ रहती हूँ।'

'मैं भी चबेना कर के पेड़ के नीचे सो लेता हूँ।'

'बड़ी लू लगती होगी।'

'लू क्या लगेगी। अच्छी छाँह है।'

'मैं डरती हूँ, कहीं तुम बीमार न पड़ जाओ।'[२]

और जब होरी कठोर परिश्रम को सह सकने में असमर्थ होकर मरने लगता है, तब धनिया की वेदना कठिन से कठिन हृदय को भी रुला लेती है :

मगर सब कुछ समझकर भी धनिया आशा की मिटती हुई छाया को पकड़े हुए थी। आँखों से आँसू गिर रहे थे, मगर यंत्र की भाँति दौड़-दौड़ कर कभी आम भूनकर पना बनाती, कभी होरी की देह में गेहूँ की भूसी की मालिश करती। क्या करे, पैसे नहीं हैं, नहीं किसी को भेजकर डाक्टर बुलाती।

हीरा ने रोते हुए कहा—'भाभी दिल कड़ा करो, गो-दान करा दो, दादा चले।'

और कई आवाजें आयीं—'गो-दान करा दो। अब यही समय है।'

धनिया यंत्र की भाँति उठी, आज जो सुतली बेची थी उसके बीस आने पैसे लायी और पति के ठण्डे हाथ में रखकर सामने खड़े दातादीन से बोली—'महाराज घर में न गाय है, न बछिया, न पैसा। यही पैसे हैं, यही इनका गो-दान है।'

---

२. प्रेमचंद : 'गोदान' (पृष्ठ २१६-२१७)

१. वही : (पृष्ठ ३६८-३६९)

और पछाड़ खाकर गिर पड़ी।[१]

पति के सुख-दुःख को अपना बनाने की यही भावना हमें 'अंचल' के 'नई इमारत' की शीला में भी मिलती है। शीला का पति बलराज देशभक्त है, और देश की आजादी के लिए आन्दोलन में सक्रिय भाग लेता है। शीला भी उसका अनुकरण करती है। वह प्रतिमा से बात करते हुए अपनी भावना को स्पष्ट करते हुए कहती है—'जो तुम्हारे भैया करेंगे वह मुझे करना होगा। मैंने अपने को उनकी इच्छा पर समर्पित कर रखा है। लखनऊ से व्याह कर चली। सोचती थी कैसे गाँव में रहूँगी। शहर के राग-रंग, हास-विलास, आमोद-प्रमोद की छाया वहाँ देखने को न मिलेगी। यहाँ आकर इन्हें पाकर ऐसी रमी कि अब लखनऊ जाने की इच्छा नहीं होती। तुम्हारे भैया के साथ मेरा जीवन जुड़ा है। जैसे लहर के साथ लहर जुड़ी होती है। वे जो करेंगे, जहाँ जाएँगे वहीं तुम मुझे पाओगी।'[२]

जब शीला की ननद आरती राजनैतिक कार्यकर्ता महमूद को प्यार करने के कारण अपने पिता ठाकुर साहब के पसन्द किए लड़के से शादी करने से इन्कार कर देती है तो ठाकुर साहब शीला और बलराज दोनों को समझाते हैं कि वे आरती पर ज़ोर डालें। पर दोनों में से एक भी तैयार नहीं होता। फलतः बलराज और उसके साथ शीला दोनों को अपना घर छोड़कर आ जाना पड़ता है। अब शीला जी खोलकर राजनैतिक कार्य में अपने पति का साथ देती है और बयालीस के 'भारत छोड़ो' आन्दोलन में जुलूस का नेतृत्व करती हुई अपने प्राणों को भी बलिदान कर देती है। उसकी शव-यात्रा में लाखों की भीड़ उसकी शहादत पर आँसू बहाती है।

अपनी सहज प्रवृत्ति और व्यक्तित्व को पति के जीवन और व्यक्तित्व से अभिन्न मानने के कारण ही पत्नी पति के दोषों के प्रति सहिष्णु रहती है।[३] पति यदि दुराचारी, क्रोधी अथवा विश्वासघाती भी हो तो भी वह उसे बुरा-भला कहने की बजाय अपने आचरण को तदनुकूल बनाने की चेष्टा करती है। परिवार और समाज यदि उसके पति की निन्दा भी करते है तो सच्ची होने पर भी वह इस निन्दा को सुनना भी सहन नहीं करती। उसकी धारणा यही है कि पति चाहे जैसा भी हो, उसकी अनुगामिनी और अर्धांगिनी बने रहना ही उसका कर्तव्य है। श्रीनिवासदास

पति के दोषों के प्रति सहिष्णुता

---

१. प्रेमचंद : 'गोदान' (पृष्ठ ३७२)

२. 'अंचल' : 'नई इमारत' (पृष्ठ ११६)

३. 'नारी में परिस्थितियों के अनुसार अपने बाह्य जीवन को ढाल लेने की जितनी सहज प्रवृत्ति है, अपने स्वभावगत गुण न छोड़ने की आन्तरिक प्रेरणा उससे कम नहीं—इसी से भारतीय नारी भारतीय पुरुष से अधिक सतर्कता के साथ अपनी विशेषताओं की रक्षा कर सकी है, पुरुष के समान अपनी व्यथा भूलने के लिए वह कादम्बिनी नहीं

कृत 'परीक्षा गुरु' में वेश्यागामी मदनमोहन अपनी पतिव्रता पत्नी की तनिक भी चिन्ता नहीं करता, पर पत्नी की निष्ठा में कोई कमी नहीं आती : 'मदनमोहन की पतिव्रता स्त्री अपने पति पर क्रोध करना तो सीखी ही नहीं है। मदनमोहन उसकी दृष्टि में एक देवता है। वह अपने ऊपर के सब दुखों को मदनमोहन की सूरत देखते ही भूल जाती है और मदनमोहन के बड़े से बड़े अपराधों को सदा जाना न जाना करती रहती है। मदनमोहन कभी उसकी याद नहीं करता, परन्तु वह केवल मदनमोहन को देखकर जीती है।'[1] देवकीनंदन खत्री के 'नरेन्द्र-मोहिनी' की रंभा पति द्वारा तिरस्कृत होने पर भी अपनी सखी से कहती है: 'सखी जो हो, लँगड़ा, लूला, अंधा, कोढ़ी चाहे जैसा भी हो, आखिर हमारा पति हो चुका। अब मैं दूसरी जगह शादी नहीं करने की। पण्डित लोग लाख कसम खाएँ कि इसमें कोई दोष नहीं मगर मैं एक न सुनूँगी। ज्यादा जिद्द करेंगे तो बाप-माँ, भाई इत्यादि सभी को छोड़ कहीं चली जाऊँगी या अपनी जान ही दे दूंगी।'[2] लज्जाराम शर्मा मेहता के 'आदर्श हिन्दू' की प्रियम्वदा की भावना है: 'स्त्री के लिए पति के सिवाय दूसरी गति नहीं। संसार में परमेश्वर के समान कोई नहीं, किन्तु स्त्री का पति ही परमेश्वर है।'[3] अवधनारायण श्रीवास्तव के 'विमाता' में सुभद्रा निःसंतान होने के कारण अपने पति के सुख के लिए स्वयं उसका दूसरा विवाह करवा देती है। तेजरानी दीक्षित लिखित 'हृदय का काँटा' की प्रतिभा और चतुरसेन शास्त्री के 'हृदय की प्यास' की सुखदा के पति पर-नारी के आकर्षण में अपना कर्तव्य भूलकर उन पर नाना प्रकार के अत्याचार करते हैं, पर वे चुपचाप सहती रहती हैं। प्रतिभा तो इतनी पतिपरायण है कि पति का मार्ग निर्बाध करने के लिए अपनी पुत्री कनक को साथ लेकर घर से निकल जाती है और पुरुष वेश धारण कर प्रमोद बाबू बनकर नौकरी द्वारा जीविका चलाती है। बाद में जब उसका व्यभिचारी पति ऐसी दुर्दशा को प्राप्त हो जाता है कि उसकी सारी सम्पत्ति बिकने की नौबत आ जाती है, तो वह पति की सम्पत्ति-रक्षा के हेतु स्वयं ही उसे खरीद लेती है। सियारामशरण गुप्त के 'गोद' की पार्वती का पति जब शोभाराम और किशोरी में विवाह-सम्बन्ध नहीं होने देता, तब सभी उसको दोष देने लगते हैं, पर पार्वती को यह निन्दा असह्य हो जाती है: 'तुम्हारे लिए उनका काम कसाईपन का हो या चाहे जो कुछ; मेरे लिए तो जो वे कहते हैं, वही ठीक है। बस अब इस सम्बन्ध में

माँगती, उल्लास के स्पन्दन के लिए लालसा का ताण्डव नहीं चाहती क्योंकि दुःख को वह जीवन की शक्ति-परीक्षा के रूप में ग्रहण कर सकती है और सुख को कर्तव्य में प्राप्त कर लेने की क्षमता रखती है।'

महादेवी वर्मा : 'शृंखला की कड़ियाँ' (पृष्ठ २५-२६)

१. श्रीनिवासदास : 'परीक्षा गुरु' (पृष्ठ १५६)

२. देवकीनंदन खत्री : 'नरेन्द्र मोहिनी' (पृष्ठ ३२)

३. लज्जाराम शर्मा मेहता : 'आदर्श हिन्दू' (पृष्ठ ३३) तीसरा भाग

मैं और कुछ नहीं कहना चाहती।"[1] चतुरसेन शास्त्री के 'आत्मदाह' में सुधीन्द्र की वहिन यह जानते हुए भी कि उसका पति डाकू और लंपट है, अपनी पति-परायणता पर आँच नहीं आने देती। जव उसका पति डकैती के अपराध में गिरफ्तार हो जाता है तो वह अपने आभूषण वेचकर उसकी ओर से मुक़द्दमा लड़ती है और उसको मुक्त करा लाती है। यद्यपि उसके पति की गतिविधि में फिर भी कोई अन्तर नहीं आता, फिर भी वह आजीवन उसका साथ निभाती है। 'गोदान' में मिसेज खन्ना अपने पति के भाँति-भाँति के अत्याचार मौन होकर सहती रहती है।

मन्मथनाथ गुप्त के उपन्यास 'अवसान' में मुनिया का चरित्र इनसे भिन्न है, यद्यपि पति के प्रति उसका रुख भी ऐसा ही है। मुनिया के पति वलखंडी में अनेक चारित्रिक दोष है जिनके कारण उसे जेल जाना पड़ता है। अर्थाभाव के कारण मुनिया अपने निर्वाह के लिए वेश्यावृत्ति की शरण लेने को वाध्य होती है, पर फिर भी अपने पति के प्रति उसका अगाध प्रेम ज्यों का त्यों बना रहता है। वलखण्डी जव जेल से छूटकर आता है, तव मुनिया फिर उसके साथ रहने लगती है। वलखण्डी जव मुनिया का कमाया हुआ धन शराव, जुआ और वेश्यागमन में उड़ाने लगता है, तव भी मुनिया कुछ नही कहती। वह इसी को अपना सौभाग्य मानती है कि वह पति के साथ रह पाती है। इसके बाद वलखण्डी नाना प्रकार से उसे सताता है, उसके साथ विश्वासघात करता है, पर मुनिया अन्त तक उसके प्रति सच्ची वनी रहती है, और उसके अपराधों को मन मे नही लाती। वलखण्डी उसके आभूषण चुराकर भाग जाता है, उसके एकमात्र पुत्र को ईसाइयों के हाथ वेच देता है और अन्त में मुनिया का सारा धन हड़पने के लिए उसका खून कर डालता है, पर मरते समय मुनिया पुलिस को ऐसा वयान दे जाती है कि वलखण्डी निर्दोष सिद्ध होता है। यद्यपि इस उपन्यास में वलखण्डी का चरित्र अत्यन्त अस्वाभाविक लगता है, पर मुनिया की पति-भक्ति आदर्श के ही अनुरूप है।

यदि स्वभाववश अथवा विषम परिस्थितियों के कारण पति ग़लत रास्ते पर जाने लगता है, अथवा ऐसा आचरण करने लगता है जिसमें उसकी प्रतिष्ठा, मर्यादा और सुख के नष्ट होने की सम्भावना है, तो पत्नी प्राणपण से यह उद्योग करती है कि वह पति को ऐसा करने से विरत कर सके। इसके लिए उसे जो भी कष्ट या त्याग सहना पड़े, उसे वह सहर्ष स्वीकार करती है। विश्वंभरनाथ शर्मा 'कौशिक' के 'माँ' में सुलोचना की पुत्री चुन्नी अपने वेश्यागामी पति को सुराह पर लाने के अनेक प्रयत्न करती है। पति को हर प्रकार से समझाती है कि उसका ऐसा आचरण नैतिकता और दाम्पत्य के विरुद्ध है। इसके लिए वड़े से वड़ा मार्मिक

भटके हुए पति को सत्पथ पर लाने को सतत चेष्टा

---

१. सियारामशरण गुप्त : 'गोद' (पृष्ठ ५१)

तर्क उपस्थित करती है।[1] पर पति की आदत नहीं सुधरती और इसका चुन्नी को इतना संताप होता है कि वह तपेदिक से ग्रस्त होकर मर जाती है। फिर भी वह यथासंभव पति के दोषों को छिपाती रहती है, और अपनी माँ के बार-बार पूछने पर भी यही कहती है कि वह सुख से है।

प्रेमचन्द के 'प्रेमाश्रम' में विद्यावती ज्ञानशंकर की पत्नी है। वह सज्जन, उदार और पवित्र स्वभाव की है। ज्ञानशंकर अत्यंत धूर्त, लालची और कुचक्री है। इसीलिए विद्या को अपने पति के कृत्य देखकर अत्यन्त दुःख होता है। जब ज्ञानशंकर द्वेष के कारण अपने भाई से सम्बन्ध-विच्छेद करने पर तुल जाता है, अपनी विधवा साली गायत्री की भूमि हड़पने की योजना बनाता है और धन के लालच में अपने एकमात्र पुत्र को उसे गोद देना चाहता है, तो विद्या को अपने पति की अनैतिकता पर गहरा मानसिक संताप होता है। वह उसे भाँति-भाँति से समझा-बुझाकर इन कुकर्मों से रोकना चाहती है, पर ज्ञानशंकर अपने स्वार्थ में अन्धा होकर उसकी प्रार्थना और परामर्श पर कोई ध्यान नहीं देता। फिर भी वह सती नारी ज्ञानशंकर के विरुद्ध एक शब्द भी किसी से सुनना पसन्द नहीं करती। अपने पिता तक से प्रतिवाद कर उठती है।[2] अंत में विद्या अपने पति के पतन को देखने में असमर्थ और उसको सुमार्ग पर लाने में विफल होकर विष खाकर आत्म-हत्या कर लेती है।

इसके विपरीत 'ग़बन' की जालपा अपने पति रमानाथ को सही रास्ते पर लाने में सफल होती है। रमानाथ की खोज करती हुई जब वह कलकत्ते पहुँचती है तो उसे पता चलता है कि उसका पति अपनी जान बचाने के भय से झूठी गवाही देने के लिए तैयार हो गया है। जालपा के मन को इससे बड़ी ठेस पहुँचती है। पति की निन्दा और बदनामी

---

१. 'मेरी तरह एक दिन तुम्हें यहाँ बैठना पड़े और मैं ग्यारह बजे घूमकर लौटूँ तो तुम्हें पता लगे।'

'भला यह तो बताओ कि क्या तुम्हें यह बात अच्छी लगती है कि मैं यहाँ अकेली पड़ी तड़पती रहूँ और तुम दोस्तों में बैठकर गुलछर्रे उड़ाओ।'

विश्वंभरनाथ शर्मा 'कौशिक' : 'माँ' (पृष्ठ २५९-२६०)

२ 'पिताजी, मैंने सदैव आपका अदब किया है और आपकी अवज्ञा करते हुए मुझे कितना दुःख हो रहा है, वह वर्णन नहीं कर सकती, पर यह असम्भव है कि उनके विषय में यह लांछना अपने कानों से सुनूँ। मुझे उनकी सेवा में आज सत्रह वर्ष बीत गये, पर मैंने उन्हें कभी कुवासनाओं की ओर झुकते नहीं देखा। जो पुरुष अपने यौवन-काल में भी संयम से रहा हो, उसके प्रति ऐसे अनुचित संदेह कर के आप उनके साथ नहीं, गायत्री बहन के साथ भी घोर अत्याचार कर रहे हैं। इससे आपकी आत्मा को पाप लगता है।'

प्रेमचन्द : 'प्रेमाश्रम' (पृष्ठ ३२९)

की बात सोचकर वह विकल हो जाती है। 'हमेशा के लिए वे सबकी आँखों से गिर जाएंगे, किसी को मुँह न दिखा सकेंगे।'[१] इसी भाव से प्रेरित होकर वह पति से अनुरोध करती है कि वह ऐसा कार्य न करे। पर रमानाथ के मन में पुलिस का मिथ्या भय समाया हुआ है। वह मुक़द्दमे की पेशी होने पर पुलिस के सिखाने के अनुसार मुख़बिरी कर देता है। तब जालपा का मन इतना आहत होता है कि वह प्रचण्ड हो जाती है। वह व्यंग्य-बाण बरसाती हुई पति से कहती है: 'अगर तुम सख़्तियों और धमकियों से इतना दब सकते हो तो कायर हो। तुम्हें अपने को मनुष्य कहने का कोई अधिकार नहीं। क्या सख़्तियाँ की थीं, जरा सुनूँ? लोगों ने हँसते-हँसते सिर कटा लिये हैं, अपने बेटों को मरते देखा है, कोल्हू में पेले जाना मंजूर किया है, पर सचाई से जौ भर भी नहीं हटे। तुम भी तो आदमी हो, तुम क्यों धमकी में आ गये? क्यों नहीं छाती खोलकर खड़े हो गये कि इसे गोली का निशाना बना लो; पर मैं झूठ नहीं बोलूँगा। क्यों नहीं सिर झुका दिया? देह के भीतर इसीलिए आत्मा रखी गई है कि देह उसकी रक्षा करे। इसलिए नहीं कि उसका सर्वनाश कर दे।'[२]

यही नहीं, वह यह सोचकर कि शायद उसका पति उसे सुखी बनाने के लिए धन के लालच में पड़कर ही ऐसा न कर रहा हो, वह स्पष्ट कर देती है कि उसे ऐसा जीवन किसी हालत में स्वीकार नहीं है। 'जाओ, शौक से जिन्दगी के सुख लूटो, मैंने तुमसे पहले ही कह दिया था और आज फिर कहती हूँ कि मेरा तुमसे कोई नाता नहीं। मैंने समझ लिया कि तुम मर गये। तुम भी समझ लो कि मैं मर गई। बस जाओ। मैं औरत हूँ। अगर कोई धमकाकर मुझसे पाप कराना चाहे तो चाहे उसे मार न सकूँ, अपनी गर्दन पर छुरी चला दूँगी। क्या तुममें औरत के बराबर भी हिम्मत नहीं है?'[३]

जालपा पति को सन्मार्ग पर लाने के लिए ही ऐसे कठोर व्यंग्य और भर्त्सना का प्रयोग करती है। पति-प्रेम की लौ उसके हृदय में अब भी वैसी ही प्रज्ज्वलित है। वह जोहरा से अपने मन का धर्म-संकट बताते हुए कहती है: 'जोहरा, मैं बड़ी मुसीबत में पड़ी हूँ। एक तरफ़ तो एक आदमी की जान और कई खानदानों की तबाही है, दूसरी तरफ़ अपनी तबाही है। मैं चाहूँ तो आज इन सबों की जान बचा सकती हूँ। मैं अदालत को ऐसा सबूत दे सकती हूँ कि फिर मुखबिर की शहादत की कोई हक़ीकत ही न रह जायगी; पर मुख़बिर को सज़ा से नहीं बचा सकती। बहन, इस दुविधा में मैं नरक का कष्ट भोग रही हूँ। न यही होता है कि इन लोगों को मरने दूँ और न यही हो सकता है कि रमा को आग में झोंक दूँ।' यह कहकर वह रो पड़ी और बोली, 'बहन मैं खुद मर जाऊँगी; पर उनका अनिष्ट मुझसे न होगा। न्याय पर उन्हें भेंट नहीं कर सकती। अभी देखती हूँ, क्या

---

१. प्रेमचन्द : 'ग़बन' (पृष्ठ २४२)
२. वही : (पृष्ठ २७९-२८०)
३. वही : (पृष्ठ २८०)

फैसला होता है। नहीं कह सकती, उस वक्त मैं क्या कर बैठूँ। शायद वहीं हाईकोर्ट में सारा किस्सा कह सुनाऊँ, शायद उसी दिन ज़हर खाकर सो रहूँ।"[१]

और अन्त में जालपा की चेष्टा सफल हो जाती है। पत्नी की फटकार सुनकर रमानाथ को वस्तु-स्थिति का ज्ञान होता है, उसके मन में साहस का संचार होता है और वह अगली पेशी में अपना बयान बदलकर सब कुछ सच-सच कह देता है और इस प्रकार बुझती हुई लौ को जीवन-दान देता है।

प्रेमिका

'पुरुष का जीवन संघर्ष से आरम्भ होता है और स्त्री का आत्म-समर्पण से।'[२] स्त्री-पुरुष का आकर्षण एक प्राकृतिक सत्य है। इसी आकर्षण पर सृष्टि का विकास अवलम्बित है। इसीलिए आदि काल से ही नर-नारी के सम्बन्धों में प्रेमतत्व को अनिवार्य माना गया है। विवाह की प्रथा प्रचलित होने के पूर्व पुरुष और नारी का मिलन उनके पारस्परिक प्रेम पर ही निर्भर था। बाद में समाज की नैतिक प्रगति के फलस्वरूप जब विवाह-प्रथा का आरम्भ और विकास हुआ, तब भी विवाह के लिए दोनों पक्षों में प्रेम के अस्तित्व को आवश्यक माना गया। ऋग्वैदिक काल में प्रचलित 'समन' आदि प्रथाओं से विदित होता है कि सभ्यता के जन्म-काल में युवक-युवतियों के स्वतन्त्रतापूर्वक मिलने पर कोई प्रतिबन्ध न था। वे समान रूप से आमोद-प्रमोद और उत्सवों में भाग लेते थे और अपने मनोनुकूल जीवन-संगी का चुनाव करते थे। तत्पश्चात अपने अभिभावकों की अनुमति पाकर विवाह-बंधन में बँधते थे।

बाद में यद्यपि इन प्रथाओं के दोष और त्रुटियाँ ज्ञात हो जाने पर इन्हें त्याग दिया गया, पर विवाह के लिए वर-वधू में प्रेम-भाव बहुत दिनों तक आवश्यक माना जाता रहा। 'स्वयंवर' की प्रथा जो महाभारत-काल—यहाँ तक कि बौद्ध-काल मे भी मिलती है, यही सिद्ध करती है कि नारी को अपना जीवन-साथी चुनने की पूरी स्वतन्त्रता दी जाती थी। बाद में यद्यपि स्वयम्वर की प्रथा केवल राजन्यवर्ग में ही सीमित रह गई थी, तथापि प्रेम-तत्व की महत्ता कभी नहीं घटी।

यही कारण है कि प्राचीन काल से हमारे समाज की यह मान्यता रही है कि नारी एक बार जिससे प्रेम करती है, जीवन भर उसी की हो रहती है। अपने प्रेमी से मिलन होने पर ही वह अपने जीवन को सार्थक मानती है। यदि किन्हीं कारणों अथवा परिस्थितियों से ऐसा संभव नहीं होता तो वह अपने जीवन को निरर्थक समझकर प्राण-त्याग तक कर देती है। इसी अनन्य और एकान्त प्रेम की प्रतिष्ठा भारतीय प्रेमिका के शाश्वत रूप में हमें मिलती है। भारतीय प्रेमिका का आदर्श पार्वती और सावित्री हैं जो कठिन

---

१. प्रेमचन्द : 'गबन' (पृष्ठ ३०८)

२. महादेवी वर्मा : 'श्रृंखला की कड़ियाँ' (पृष्ठ २९)

से कठिन वाधाओं और विघ्नों को अपने प्रेम-बल से पार कर अपने प्रेमी का संयोग प्राप्त करती है।

नारी के इस अनन्य प्रेम की पवित्रता और अलौकिकता को हिन्दी उपन्यासकार भी सहज ही श्रद्धा अर्पित करता है। वह मानता है कि नारी अपने जीवन में केवल एक ही पुरुष को प्रेम कर सकती है, एक ही के चरणों में श्रद्धा अर्पित कर सकती है। यदि ऐसी नारी का विवाह उसके प्रेमी के स्थान पर किसी अन्य पुरुष के साथ किया जाता है तो यह उसके साथ घोर अन्याय है, और ऐसा विवाह व्यभिचार की श्रेणी में आ जाता है।[1] जो विवाह प्रेम में सहायक नहीं, वाधक सिद्ध होता है, उस विवाह की अपेक्षा तो अविवाहित रह कर प्रेम का निर्वाह करते रहना ही श्रेयस्कर है।[2] इसीलिए हिन्दी उपन्यासकार उस नारी की प्रेम-जनित वेदना को अत्यन्त सहानुभूति और श्रद्धा से देखता रहा है जिसे विवश होकर किसी अन्य पुरुष से विवाह करने के लिए बाध्य होना पड़ा है। साथ ही जिस नारी का प्रेम विवाह के उद्देश्य से नहीं है, या जिस नारी का प्रेम एकनिष्ठ या अटल नहीं है, उसकी भर्त्सना करता है। प्रेम के मार्ग में आनेवाली कठिनाइयों और वाधाओं से जूझती हुई जो नारी अपने प्रिय के प्रति अविचल भाव से अनुरक्त रहती है, वही श्रद्धा के योग्य है, वही प्रेमिका का शाश्वत रूप है।

प्रेमचन्द के 'वरदान' (१९०६) की व्रजरानी, 'प्रतिज्ञा' (१९०६) की प्रेमा, व्रजनंदन सहाय के 'सौन्दर्योपासक' (१९१९) की मालती, राधिकारमणप्रसाद सिंह लिखित 'पुरुष और नारी' (१९४०) की सुधा, यज्ञदत्त शर्मा लिखित 'प्रेम समाधि' (१९४०) की मिस क्लैवर्ट, 'अंचल' लिखित 'चढ़ती धूप' (१९४५) की ममता, धर्मवीर भारती लिखित 'गुनाहों का देवता' (१९४९) की सुधा अपने विवाह के पूर्व ही अपना हृदय अपने-अपने प्रेमी को अर्पित कर चुकी है किन्तु पारिवारिक बंधन अथवा सामाजिक रूढ़ि के कारण उनका विवाह किसी अन्य व्यक्ति से कर दिया जाता है। फिर भी वे अपने पूर्व प्रेम को न तो दोष ही मानती है, न उसे छोड़ने को तैयार होती हैं। फलस्वरूप उनका दाम्पत्य जीवन असहनीय त्रास वन जाता है। इनमें से कुछ प्रेमिकाएँ तो मौन

---

१. रामवृक्ष बेनीपुरी : 'पतितों के देश में' (पृष्ठ ८३), बेनीपुरी ग्रंथावली

२. (अ) प्रेमचन्द : 'गोदान' (पृष्ठ १८५)

(आ) जयशंकर 'प्रसाद' : 'कंकाल' (पृष्ठ १८७)

(इ) 'प्रेम की पूर्ति विवाह से न हुई तो विवाह व्यर्थ है। प्रेम विवाह से बढ़कर है। जीवन की समस्त योजना से बढ़कर है।'
'अंचल' : 'नई इमारत' (पृष्ठ ११२)

(ई) 'क्या विवाह करके ही हम लोग मिल सकते हैं? विवाह ही प्रेम की सार्थकता है? विवाह का मूल्य तो शरीर है, आत्मा का बंधन प्रेम है।'
सर्वदानन्द वर्मा : 'प्रश्न' (पृष्ठ २४)

प्रतिवाद में तिल-तिल घुलकर अपने प्राण-विसर्जन द्वारा अपने प्रेम की सच्चाई सिद्ध करती हैं।

'वरदान' की ब्रजरानी बचपन से ही प्रताप की ओर आकर्षित है। बचपन का यह आकर्षण वयःकाल के साथ प्रणय में परिणत हो जाता है। किन्तु परिस्थितिवश उसका विवाह लम्पट कमला से होता है और कुछ ही दिनों बाद ब्रजरानी विधवा हो जाती है। अब भी प्रताप के प्रति ब्रजरानी के अनन्य प्रेम में कोई कमी नहीं आती। जब उसे ऐसा लगता है कि प्रताप ने उसको विस्मृत कर दिया है तो असहनीय दुःख के कारण वह मरणासन्न स्थिति में पहुँच जाती है। कुछ दिन बाद जब ब्रजरानी की यह भावना भ्रम सिद्ध होती है, वह पुनः स्वास्थ्य-लाभ करती है। वह अपने स्वार्थ का त्याग कर निष्काम प्रेम की प्रेरणा से अपने प्रेमी के प्रति श्रद्धा और भक्ति-भाव रखने लगती है और उसको आदर्श पथ का अनुगामी जानकर उसके रास्ते से स्वयं हट जाती है।

ब्रजरानी

'प्रतिज्ञा' की प्रेमा अमृतराय के प्रति अनुरक्त है। किन्तु जब अमृतराय समाज-उद्धार की प्रेरणा से यह प्रण कर लेता है कि वह किसी विधवा से ही विवाह करेगा तो वह आजीवन अविवाहित रहने की सोचती है। प्रेमा के माँ-बाप उसका विवाह दाननाथ से कर देते हैं। यद्यपि विवाहोपरान्त वह अपने पति के प्रति सदैव सच्ची रहने की चेष्टा करती है, तथापि उसका मन अमृतराय के आदर्शों की पूजा करता रहता है। वह अमृतराय के प्रति अपनी प्रेम-भावना को श्रद्धा-भावना में परिणत कर लेती है। जब वह देखती है कि अमृतराय के प्राण संकट में हैं तो वह पति की प्रसन्नता की भी उपेक्षा करके अमृतराय को चेतावनी देना अपना कर्तव्य समझती है : 'उसका स्त्री-सुलभ संकोच एक क्षण के लिए लुप्त हो गया। एक बार भय हुआ कि दाननाथ को बहुत बुरा लगेगा, लेकिन उसने इस विचार को ठुकरा दिया। तेजमय गर्व से उसका मुख उद्दीप्त हो उठा—मैं किसी की लौंडी नहीं हूँ—किसी के हाथ अपनी धारणा नहीं बेची है—प्रेम पति के लिए है; पर भक्ति सदा अमृतराय के साथ रहेगी।'[१]

प्रेमा

'सौन्दर्योपासक' की मालती का विवाह जब उसके प्रेमी से न होकर अन्य पुरुष से होता है तो वह तिल-तिल घुलकर मृत्यु की शरण ले लेती है। 'पुरुष और नारी' की सुधा जब देखती है कि उसका विवाह अन्यत्र हो जाने के कारण उसका प्रेमी निराश होकर शराब पीने लगता है और वह अपने प्राणों के समस्त बल से उसे चाहकर भी अपनी वैवाहिक सीमाओं के कारण उसे प्रणय-दान नहीं दे सकती, तो वह इस अन्तहीन त्रास से छुटकारा पाने के लिए आत्महत्या कर लेती है। इसी प्रकार 'प्रेम-समाधि' की मिस क्लैवर्ट प्रेम वेदी पर अपना जीवन अर्पण कर देती है। जब उसका विवाह उसके प्रेमी महेन्द्र से न

---

१. प्रेमचन्द : 'प्रतिज्ञा' (पृष्ठ ८५)

होकर रौबर्ट से होता है तो वह एक क्षण भी अपने प्रेमी को नहीं भूल पाती और मृत्यु की शरण लेती है।

'चढ़ती धूप' में ममता और मोहन बचपन के अभिन्न साथी हैं। मोहन ममता के व्यक्तित्व को उसी प्रकार गढ़ता-सँवारता है जैसे शिल्पी अपनी प्रतिमा को।[१] ममता मानो मोहन की ही आत्मा का प्रतिबिम्ब है। वे दोनों एक दूसरे के मन, प्राण और आत्मा में बसे हुए हैं। उनके सम्बन्धों मे वासना का आवेश नहीं वरन् निश्छल प्रेम और संयम की गहरी भावना है। यही कारण है कि उनके सम्बन्ध सात्विक और पवित्र है। उनकी यह पवित्रता इतनी प्रकट है कि गाँव के प्रपंची विरोधी तक रात के एकान्त में उनके जमुना-किनारे घूमने पर भी उँगली नहीं उठा पाते।[२] ममता की एकमात्र आकांक्षा यही है कि वह जीवन भर मोहन के पास रहे—पत्नी, बहिन, दासी जिस रूप में भी मोहन रखना चाहे। इसीलिए जब मोहन के साथ ही उसके विवाह की बात चलती है तो वह अपने को अत्यन्त सौभाग्यशालिनी समझती है।[३] किन्तु राजनैतिक क्षेत्र में काम करने के कारण मोहन विवाह न करने का निश्चय कर उसका यह स्वप्न तोड़ देता है। फिर भी उसे इससे कोई तीव्र आघात नहीं लगता क्योंकि उसका विश्वास है कि उसके मोहन भैया सदा उसी के रहेंगे,[४] वह इस स्थिति में भी मोहन की संगिनी बनी रहेगी, उसके चरणों में स्थान पाती रहेगी। यही कारण है कि जब मोहन अपने परिवार से नाता तोड़कर किसानों में काम करने के लिए कानपुर जाना चाहता है तो वह स्वयं भी साथ जाने की इच्छा प्रकट करती है।

ममता

जब ममता के पिता किसी अन्य व्यक्ति के साथ उसका विवाह-सम्बन्ध पक्का कर देते हैं तब वह अत्यन्त विकल और विचलित हो उठती है। वह किसी भी दशा में विवाह नहीं कर सकती। वह अपने मन के रेशे-रेशे से मोहन को प्यार करती है, एक तरह से

---

१. 'उसने मम्मो (ममता) को उसी प्रकार सँवारा है जैसे शिल्पी अपनी प्रतिमा को सँवारता है।'
'अंचल' : 'चढ़ती धूप' (पृष्ठ २६)

२. वही : (पृष्ठ ३५)

३. 'ममता भीतर-भीतर उल्लास, तृप्ति, आशंका, आनन्द, भय से फूली जा रही थी। क्या परमात्मा उसको इतना बड़ा सौभाग्य दे देगा।'
वही : (पृष्ठ २७)

४. 'सच पूछो तो मैं भी उनसे विवाह नहीं करना चाहती। मैंने उन्हें सदैव बड़े भाई की तरह समझा, जाना है। मैं सोचती हूँ बड़ा अच्छा हुआ। यदि तुम सोचती हो भैया वकील की लड़की या दुनिया में और किसी लड़की से शादी करेंगे तो तुम्हारा भ्रम है।'
वही : (पृष्ठ ७०)

वह अपने आपको मोहन की विवाहिता समझती है। और कोई उपाय न देखकर वह इससे मुक्ति पाने के लिए पत्र लिखकर मोहन को बुलाती है। मोहन के प्रति उसका प्रेम इतना एकान्त और प्रबल है कि वह समाज की तनिक भी परवाह नहीं करती। मोहन के आने पर वह स्पष्ट कहती है: 'मैंने इधर ही अनुभव किया है कि मैं तुम्हें कितना चाहती हूँ। मैं लोक-लज्जा खोकर निकल भागूँगी। मुझे तुम न त्यागो। मै हड्डी-हड्डी-त्वचा-त्वचा-मज्जा-मज्जा तक तुम्हारी हूँ।'[1] किन्तु मोहन विवश है। जो कार्यक्षेत्र उसने अपनाया है उसमें वह विवाह-बंधन की बाधा नही पाल सकता। ममता के इस विह्वल समर्पण को ठुकराता हुआ, अपने प्रेम की दुहाई देकर ही उससे कहता है: 'मेरा कल्याण और सुख इसी में है कि मेरा विवाह तुम्हारे साथ न हो। बिना विवाह किए तुम्हें साथ रखने का दूसरा रूप नहीं।'[2] और अन्त में ममता मोहन के प्रति अपनी भक्ति के कारण अपनी एकमात्र कामना को भी नष्ट हो जाने देती है। अपने प्रेम की सचाई के ही कारण वह अपने प्रेमी तक का त्याग कर देती है। अपने अनचाहे दाम्पत्य-जीवन को वह प्रेम के दण्ड-रूप में ही स्वीकार करती है। उसका पति उसके मन में प्रवेश तक नहीं पाता। एक बार मोहन की बीमारी की खबर सुनकर वह उसकी सेवा के लिए उसके पास पहुँचती है और रात भर वहीं रुक जाती है। मोहन को उसका इस तरह अकेले आना बुरा लगता है किन्तु ममता के प्राण मोहन के प्रति प्रेम के मार्ग में किसी भी बाधा को स्वीकार नहीं करते।

अन्त में मोहन की मृत्यु हो जाने पर वह अपने आपको विधवा समझकर अपने माथे का सिन्दूर पोंछ डालती है और विक्षिप्त-सी होकर मोहन की अर्थी के पीछे दौड़ती है। मोहन के चले जाने पर उसकी वेदना इतनी मर्मान्तिक है कि वह उसके शव के साथ सती हो जाना चाहती है।

ममता की ही भाँति 'गुनाहों का देवता' की सुधा भी अपने सर्वान्तःकरण से चन्दर को प्रेम करती है, और बड़ी से बड़ी विवशता में भी वह प्रेम त्यागने की बजाय प्राण-त्याग को ही श्रेयस्कर समझती है। उसका भोला, किशोर मन

सुधा

चन्दर के व्यक्तित्व में इतना रम गया है कि अब संसार की कोई शक्ति उसकी इस अटूट लगन को नहीं डिगा सकती। चन्दर के प्रति सुधा के इस अनन्य प्रेम के कई कारण हैं। वे बचपन से ही साथ रहे हैं। चन्दर ने ही लाड़-प्यार से बिगड़ी सुधा के विद्रोही रूप को शान्त किया है।[3] और सुधा

---

१. 'अंचल' : 'चढ़ती धूप' (पृष्ठ १३९)

२. वही : (पृष्ठ १४२)

३. 'घर भर में अल्हड़ पुरवाई और विद्रोही झोंके की तरह तोड़-फोड़ मचाती रहने वाली सुधा, चन्दर के आँख के इशारे पर सुबह की नसीम की तरह शान्त हो जाती थी।'
धर्मवीर भारती : 'गुनाहों का देवता' (पृष्ठ १८)

ने माँ-बाप से उपेक्षित चन्दर के जीवन में सरसता ला दी है: 'कब और क्यों उसने चन्दर के इशारों का यह मौन अनुशासन स्वीकार कर लिया था यह उसे खुद नहीं मालूम था, और यह सभी कुछ इतने स्वाभाविक ढंग से, इतना अपने आप होता गया था, कि दोनों में से कोई भी इस प्रक्रिया से वाक़िफ़ नहीं था, कोई भी इसके प्रति जागरूक न था, दोनों का एक दूसरे के प्रति अधिकार और आकर्षण इतना स्वाभाविक था जैसे शरद की पवित्रता या सुबह की रोशनी।"[1]

चन्दर के प्रति इस अपनत्व की भावना के बल पर ही कभी सुधा चन्दर से रूठती है, कभी उसे खिझाती है, कभी छिपकर उसे नानखताई खिलाती है[2] तो कभी चन्दर से चाय छोड़कर दूध पीने का आग्रह करती है। चन्दर से बिना पूछे वह कोई काम नहीं कर सकती। यदि चन्दर रुष्ट हो जाता है तो जैसे उसकी रूह काँप जाती है। वह अपने मन की छोटी-से-छोटी बात चन्दर को बता देती है। उसकी धारणा है कि उसके मन को उससे भी अधिक चन्दर जानता है यहाँ तक कि वह यह बात भी चन्दर से ही पूछती है कि उसने कभी किसी से प्रेम किया है अथवा नहीं। 'तो हम मन-ही-मन में सोचते रहे कि तुम आओगे तो तुमसे पूछेंगे कि हमने कभी प्यार तो नहीं किया है। क्योंकि तुम्हीं एक हो जिससे हमारा मन कभी कोई बात नहीं छिपाता, अगर कोई बात छिपाई भी होती हमसे, तो तुमसे जरूर बता देता। फिर हमने सोचा शायद कभी हमने प्यार किया हो और तुमसे बताया हो, फिर हम भूल गये हों।"[3]

सुधा का प्रेम इतना गहरा और सर्वव्यापी है कि स्वयं सुधा को भी उसके अस्तित्व का ज्ञान नहीं है। यही कारण है कि जब सुधा अपने विवाह-सम्बन्ध की चर्चा सुनती है तो सहज भाव से दृढ़ स्वर में इन्क़ार कर देती है। परन्तु जब उसे ज्ञात होता है कि विवाह करना न करना उसकी अपनी इच्छा पर निर्भर नहीं है, वह चन्दर की आज्ञा है तब वह विवश हो जाती है। चन्दर उसके सामने अपनी आत्मा की उन्नति का एक ऐसा आदर्शवादी प्रश्न रख देता है कि सुधा आत्म-प्रवंचित होकर चन्दर की भलाई के लिए बेमन से विवाह-बंधन स्वीकार कर लेती है। जिसमें चन्दर को सुख हो, उसी में उसे सुख है।

इस धर्म-संकट के समय सुधा गहरी साँस लेकर कहती है: 'तुम जो कहोगे मैं करूँगी।"[4] 'मैं मृत्यु-शैया पर भी होऊँगी तो तुम्हारे आदेश पर हँस सकती हूँ।"[5]

पर यह स्वीकृति देने के बाद से ही सुधा चन्दर से अपने वियोग की कल्पना करके सिहरने लग जाती है। उसी दिन से उसकी 'मुस्कराहट में उल्लास लुट चुका था रेखाएँ

---

१. धर्मवीर भारती: 'गुनाहों का देवता' (पृष्ठ १८)
२. वही: (पृष्ठ ५०-५१)
३. वही: (पृष्ठ ६६)
४. वही: (पृष्ठ १३१
५. वही: (पृष्ठ १३६)

बाकी थीं।[1] और जैसे-जैसे विवाह की घड़ी पास आती जाती है सुधा को ऐसा लगता है जैसे उसकी मृत्यु की घड़ी पास आ रही है। वह रो-रोकर कभी चन्दर को अपने हाथ से यह कहकर खाना खिलाती है कि 'लाओ आज अपने हाथ से खिला दूँ, कल ये हाथ पराये हो जाएँगे',[2] तो कभी कहती है, 'अरे आज तो लड़ लो चन्दर। आज से खतम कर देना',[3] तो कभी चन्दर के पैरों पर सिर रखकर खूब रोती है, जी भर कर।

विवाह होने पर सुधा चन्दर की स्मृति के सहारे अपनी ससुराल में रहने की चेष्टा करती है किन्तु उसकी आत्मा निरन्तर विद्रोह करती रहती है। इसी कारण न तो उसको एक पल भी चैन मिल पाता है,[4] न वह अपने पति को ही संतुष्ट कर पाती है।[5] वह अब भी अपनी आत्मा के रेशे-रेशे से चन्दर को प्यार करती है और अपने व्यक्तित्व को चन्दर की आत्मा का ही खण्ड समझती है जो अलग होने पर भी जन्म-जन्मान्तर तक उसके चारों ओर चक्कर लगाता रहेगा। कहती है: 'मैं तो तुम्हारी आत्मा का एक टुकड़ा हूँ जो एक जन्म के लिए अलग हो गई लेकिन हमेशा चारों ओर चंद्रमा की तरह चक्कर लगाती रहूँगी।'[6] प्रेम की इसी अनन्यता के कारण वह चन्दर का तिरस्कार भी सिर झुकाकर सह लेती है। यही नहीं, वह सोचती है कि उसी के प्रेम में कोई कमी होने के कारण चन्दर ऊपर नहीं उठ सका है। वह आत्म-ग्लानि में डूब जाती है[7] और अपने मन को और भी दृढ़ करने की चेष्टा करती है। किन्तु वह चंदर के वियोग में निरन्तर मछली की भाँति तड़पती रहती है, और तिल-तिलकर मर जाती है।

किशोरीलाल गोस्वामी लिखित 'स्वर्गीय कुसुम' (१८८९) की कुसुम, प्रेमचन्द के 'कायाकल्प' (१९२६) की मनोरमा, प्रतापनारायण श्रीवास्तव लिखित 'विदा' (१९२८) की चपला, प्रेमचन्द लिखित 'कर्मभूमि' (१९३२) की सकीना, भगवती-प्रसाद वाजपेयी लिखित 'त्यागमयी' (१९३२) की ललिता, उषा देवी मित्रा लिखित 'जीवन की मुस्कान' (१९३९) की सविता आदि नारियाँ ऐसी प्रेमिकाएँ हैं जो अपने प्रेमी को अनन्य प्रेम करते हुए भी उनकी प्रतिष्ठा, उन्नति और मर्यादा का ध्यान करके

---

१. धर्मवीर भारती : 'गुनाहों का देवता' (पृष्ठ १३४)
२. वही : (पृष्ठ १६६)
३. वही : (पृष्ठ १६६)
४. 'काश कि तुम एक क्षण का भी अनुभव कर पाते कि तुमसे दूर—वहाँ, वासना की कीचड़ में फँसी हुई मैं कितनी व्याकुल, कितनी व्यथित हूँ।'
वही : (पृष्ठ ३०५)
५. 'पति को शरीर देकर भी मैं संतोष न दे पाई।'
वही : (पृष्ठ २९६)
६. वही : (पृष्ठ २९४)
७. वही : (पृष्ठ २९४)

उनसे विवाह नहीं करती प्रत्युत उनके मार्ग से अपने आपको अलग करके अपने अपूर्व त्याग का उज्ज्वल उदाहरण प्रस्तुत करती हैं।

'स्वर्गीय कुसुम' में देवदासी कुसुम वसंत को अपने सम्पूर्ण मन से प्रेम करती है और वसंत भी अपने अन्तरतम से उसे चाहता है। दोनों गान्धर्व-विवाह भी कर लेते है।

कुसुम

किन्तु समाज में वसंत की प्रतिष्ठा का ध्यान कर कुसुम अपने इस सम्वन्ध को गुप्त ही रखती है। वाद में वसंत को सुखी बनाने की दृष्टि से वह अपनी छोटी वहिन गुलाव से उसका विवाह करा देती है, और स्वयं संन्यास ग्रहण कर प्रेम की वलि हो जाती है।

'कायाकल्प' की मनोरमा चक्रधर को एकनिष्ठ प्रेम करती है किन्तु उसका प्रेम रूपाकर्षण पर आधारित न होकर चक्रधर की आदर्श-भावना पर आधारित है। प्रथम

मनोरमा

भेंट में ही चक्रधर का व्यक्तित्व उसको इतना आकर्षक लगता है कि वह उस पर श्रद्धा करने लगती हैं। चक्रधर की सेवा-भावना, संयम-वृत्ति और बुद्धि उस श्रद्धा-भावना के धीरे-धीरे प्रेम का रूप धारण करने में सहायक होती है। इसीलिए मनोरमा का प्रेम अत्यन्त गंभीर बन जाता है। यद्यपि वह चक्रधर का सामीप्य चाहती है, उसकी उपस्थिति में उसके व्यक्तित्व के माधुर्य का समावेश होता है, मन को संतोष मिलता है, तथापि वह सदैव विवेक और संयम से काम लेती है। जब धन के अभाव में चक्रधर को अपने कार्य में कठिनाई होती है तव वह नई दिशा में सोचने को वाध्य होती है। इसलिए अपने प्रेमी की वास्तविक सहायता करने के लिए वह अपनी उत्कट प्रेम-भावना को दवाकर बूढ़े राजा-विशालसिंह की पाँचवी पत्नी बनने को प्रस्तुत हो जाती है, और इस प्रकार अपने प्रेम की वेदी पर अपने शारीरिक और मानसिक सुखों की वलि चढ़ा देती है। वह चक्रधर के सम्मुख अपनी भावना को प्रकट करती हुई कहती है: 'मै हृदय में आपकी ही उपासना करती हूँ। मेरा मन क्या चाहता है, यह मैं स्वयं नहीं जानती; अगर कुछ जानती भी हूँ तो कह नहीं सकती। हाँ इतना कह सकती हूँ कि जब मैंने देखा कि आपकी परोपकार-कामनाएँ धन के विना निष्फल हुई जाती है, जो कि आपके मार्ग में सबसे वड़ी वाधा है, तो मैंने उसी बाधा को हटाने के लिए यह वेड़ी अपने पैरों में डाली।"[1]

'विदा' की चपला के चरित्र में उसके अपूर्व त्याग, संयम और क्षमा के योग से अलौकिक स्निग्धता आ जाती है। चपला निर्मल की शिष्या है। उसके व्यक्तित्व के निर्माण में

चपला

निर्मल का महत्त्वपूर्ण हाथ है। चपला स्वभावतः निर्मल की ओर आकर्षित होती है। निर्मल का विवाह हो चुका है, इस वात की चेतना दोनों को वरावर वनी रहती है। इसलिए उनके व्यवहार में कोई उच्छृंखलता या वासना प्रविष्ट नही होती। निर्मल का

---

१. प्रेमचन्द : 'कायाकल्प' (पृष्ठ २५४)

दाम्पत्य-जीवन दुखद है। इसलिए उसके व्यथित हृदय को चपला के प्रेम-पूर्ण व्यवहार से असीम सांत्वना मिलती है। धीरे-धीरे वे दोनों सहज ही एक दूसरे के निकट आ जाते हैं। निर्मल की बीमारी में चपला की सेवा-सुश्रूषा उनके हृदय को एक सूत्र में बाँधने में सहायक होती है। दो हृदयों का यह मौन-सम्मिलन दृढ़ से दृढ़तर होता जाता है। एक दिन चपला विचित्र आचरण कर बैठती है। एकान्त के मदिर वातावरण में निर्मल को सोता जानकर वह अपने आवेश को रोकने में असमर्थ होकर निर्मल के सूखे अधरों पर चुम्बन का पवित्र चिन्ह अंकित कर देती है।[१] पर उसका यह कार्य मन की क्षणिक दुर्बलता के रूप में ही चित्रित हुआ है। जिस व्यक्ति को वह अपने प्राणों से भी अधिक प्यार करती है, उसे इस प्रकार अकेला पाकर वह अपने आपको रोक नहीं पाती। अन्यथा दैनंदिन जीवन में चपला को सदैव अपने कर्तव्य और मर्यादा का ध्यान रहता है। उसका प्रेम सच्चा है, इसीलिए उसके मन में कपट कभी नहीं आता। वह अपने मन की दुर्बलता को समझती है, इसलिए प्रारम्भ से ही सतर्क रहने की चेष्टा करती है। अपना कर्तव्य समझकर और अपने प्रेम-विह्वल मन को संयमित करने के लिए वह निर्मल की पत्नी कुमुदिनी को पत्र लिख-लिख कर बुला लेती है क्योंकि निर्मल के प्रति प्रेम के कारण वह चाहती है कि निर्मल और कुमुदिनी अपना दाम्पत्य-जीवन सुख से व्यतीत करें। चपला का प्रेम शुद्ध और निश्छल है। उसे प्रतिदान की अपेक्षा नहीं है। निर्मल की-सी स्थिति में प्रतिदान की अपेक्षा से उसका प्रेम कलंकित ही हो सकता है। इसीलिए वह निर्मल से कहती भी है : 'मैं जानती हूँ, इस जीवन में मैं तुम्हें नहीं पा सकती और न पाने का यत्न करूँगी। क्योंकि तब मेरा प्रेम स्वार्थमय हो जायेगा। प्रेम में स्वार्थ पाप का चिन्ह है।'[२]

चुम्बन के समय की उस क्षणिक दुर्बलता के पीछे उसके मन में कुमुदिनी का अधिकार छीनने की भावना तनिक भी नहीं थी। फिर भी वह उस एक क्षण को रंक की निधि के समान अपने प्राणों में सँजोकर रखना चाहती है। उसके जीवन में वही एक क्षण ऐसा है जिसकी स्मृति के सहारे वह अपने शेष जीवन की दीर्घ यात्रा तय कर सकती है। वह मन ही मन कहती रहती है : 'ऐ प्रेम के प्रथम चुम्बन, मैं तुम्हें अपने हृदय में छिपा रखूंगी, और तुझे अपने स्मृति-मंदिर में मूर्ति बनाकर स्थापित करूँगी। यही एक चुम्बन मेरे जीवन का अवलंबन होगा।'[३]

यह सब होते हुए भी उसको अपनी इस क्षणिक दुर्बलता पर ग्लानि भी होती है[४] क्योंकि उसका निश्छल हृदय अपने इस कार्य को अनैतिक मानने पर बाध्य है। ऐसी भूल उससे फिर न हो जाये, इसी उद्देश्य से वह स्वयं वहाँ से हट जाती है और विदेश चली जाती

१: प्रतापनारायण श्रीवास्तव : 'विदा' (पृष्ठ ३५१-५३)
२. वही : (पृष्ठ ३९१)
३: वही : (पृष्ठ ३५३)
४: वही : (पृष्ठ ४०१-४०२)

है।[1] इस प्रकार प्रेमिका के रूप में चपला का अपूर्व त्याग, संयम और मर्यादापूर्ण आचरण आदर्श वन जाता है।

चपला की ही भाँति 'कर्मभूमि' की सकीना का अमरकान्त के प्रति आकर्षण अत्यन्त नि.स्वार्थ और सात्विक है। निर्धनता की अवस्था में भी जब अमरकान्त उसको प्रेम और

सकीना

सम्मान देता है तो उसका रोम-रोम जैसे कृतज्ञता से भर उठता है। 'विदा' में चित्रित निर्मल की भाँति अमरकान्त भी विवाहित है इसलिए चपला की भाँति सकीना भी अपने कर्तव्य के प्रति सदैव सजग रहती है। उसके प्रेम में नि:स्वार्थ आत्म-समर्पण है। वह अमरकान्त को अपने सच्चे मन से इतना प्रेम करती है कि वह उसी प्रेम के वल अपनी शेष जीवन-यात्रा सुख से व्यतीत कर सकती है। वह कहती है: 'चार-पाँच वार की मुख्तसर मुलाकातों से मुझे उन पर इतना एतवार हो गया है कि मैं उम्र भर उनके नाम पर वैठी रह सकती हूँ।'[2] किन्तु सकीना का प्रेम इतना निश्छल है कि वह अपने स्वार्थ के लिए अमरकान्त का दाम्पत्य-जीवन दुःखमय वनाना नहीं चाहती। यही कारण है कि अमरकान्त के कहने पर भी वह उसके साथ नहीं जाती। सकीना अपने मन का सच्चा भाव अमरकान्त की पत्नी सुखदा के सामने प्रकट करती हुई कहती है: 'मैं आपसे सच्चे दिल से कहती हूँ, वहन, मेरे लिए इससे वड़ी खुशी की वात नहीं हो सकती कि आप और वह फिर मिल जाएँ, आपस का मनमुटाव दूर हो जाये। मैं उस हालत में और भी सुखी रहूँगी। मै उनके साथ न गई, इसका यही सवव था।'[3] इस प्रकार सकीना अपने प्रेमी की प्रतिष्ठा और सच्चे सुख के लिए अपने प्रेम की वलि दे देती है।

'जीवन की मुस्कान' की सविता और 'भिखारिणी' की जस्सो का चित्रण समान भावभूमि पर हुआ है। दोनों ही मानो केवल भावनाओं से निर्मित हैं। उनके प्रेम में

सविता

पार्थिवता का लेश भी नहीं है। उनका प्रेम अटल अनुराग और अनुपम त्याग का सम्मिश्रण है। जस्सो रामनाथ को और सविता कमलेश को अपने हृदय के अन्तरतम से प्यार करती हैं किन्तु उसको प्रकट करने में भी संकोच का अनुभव करती हैं। वे सदैव मौन ही रहती हैं। यहाँ तक कि अपने प्रेमियों से वातचीत करने में भी सकुचाने लगती हैं। किन्तु उनके प्रेमियों का उनके प्रति व्यवहार अत्यन्त भिन्न है। सविता का प्रेमी कमलेश तो प्रेम की सत्ता पर ही विश्वास नहीं करता इसलिए उसके लिए प्रेम के प्रतिदान का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। जव कमलेश का विवाह होता है तव सविता को मन ही मन असह्य वेदना होती है, पर वह अपना सारा त्रास मौन रहकर सह लेती है। यही नहीं,

---

१. प्रतापनारायण श्रीवास्तव : 'विदा' (पृष्ठ ४०२-४०३)
२. प्रेमचन्द : 'कर्मभूमि' (पृष्ठ १९५)
३. वही : (पृष्ठ १९५)

कमलेश की पत्नी के साथ भी वह सदा समुचित स्नेहपूर्ण व्यवहार करती है। अन्त में जब कमलेश प्रेम की सत्ता स्वीकार करता है और अपनी भूल पहचान कर सविता से प्रेम की याचना करता है, तब भी सविता कमलेश की पत्नी रूपरेखा के अधिकार को छीनना अधर्म मानती है और परिस्थितियों को सुलझाने के लिए तीर्थयात्रा पर निकल जाती है।

प्रतापनारायण श्रीवास्तव लिखित 'विदा' की केट, जयशंकर 'प्रसाद' लिखित 'कंकाल' (१९२९) की यमुना, विश्वंभरनाथ शर्मा 'कौशिक' लिखित 'भिखारिणी' की जस्सो, प्रतापनारायण श्रीवास्तव लिखित 'विकास' (१९३९) की अमीलिया आदि प्रेमिकाओं का प्रेम इतना अनन्य और अक्षय है कि अपने प्रेम का प्रतिदान न मिलने पर भी, प्रेमियों द्वारा विश्वासघात किये जाने पर भी उनकी निष्ठा में कोई अन्तर नहीं आता और वे अन्त तक अपने प्रेमी के सुख और हित के लिए त्याग करती जाती हैं।

'विदा' की केट अंग्रेज महिला है। इंग्लैंड में ही मिस्टर देवदत्त वर्मा से उसका प्रेम-सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। वे दोनों विवाह भी कर लेते हैं। किन्तु मिस्टर

केट

वर्मा केट के साथ विश्वासघात करते हैं। भारत रवाना होते समय वे जहाज से उसको समुद्र में ढकेल देते हैं। अपने प्रति किये इस अक्षम्य दुर्व्यवहार के कारण केट के मन में मिस्टर वर्मा के विरुद्ध प्रतिशोध की भावना अवश्य जागृत हो जाती है किन्तु जैसे ही उसे पता लगता है[1] कि मिस्टर वर्मा अपने दुर्व्यवहार के प्रति दुखी हैं, उसके प्रतिशोध के विचार हवा हो जाते हैं: 'पुराने प्रेम ने जोश मारा। मैं सब कुछ भूल गई। मैं उनसे मिलने के लिए आतुर हो उठी। मैंने अपने मन में प्रतिज्ञा कर ली थी कि उन्हें क्षमा कर दूंगी, और फिर उनकी पत्नी बनकर प्रेम से जीवन व्यतीत करूँगी।'[1] तभी डाकू जान डिक मिस्टर वर्मा की हत्या कर डालता है। इस घटना से केट के ऊपर जैसे वज्रपात होता है। वह मिस्टर वर्मा के शव पर ही शपथ लेती है कि वह हत्यारे को अवश्य पुलिस में देगी। अपने प्रण में सफल होकर ही उसके मन को शान्ति मिलती है। इस प्रकार केट अपने विश्वासघाती प्रेमी के प्रति भी एकान्त निष्ठा और अनन्य प्रेम का उदाहरण प्रस्तुत करती है। अन्त में वह चपला से कहती है: 'प्रेम में प्रतिशोध नहीं है, वह तो एक क्षणिक आवेग था। अगर उन्होंने मेरी जान लेने की कोशिश की थी, तो जीवन-रक्षा भी तो की थी। फिर उन्हें क्यों दोष दूं। मैं उन्हें प्यार करती थी और जीवन के अन्त तक करती रहूँगी।'[2]

'कंकाल' की यमुना अपने हृदय का संचित स्नेह मंगल को अर्पित करती है। फल-स्वरूप अविवाहितावस्था में ही वह गर्भवती हो जाती है। समाज की लांछना से बचने

---

१. **प्रतापनारायण श्रीवास्तव : 'विदा' (पृष्ठ ४०८)**

२. **वही : (पृष्ठ ४०९-४१०)**

के लिए मंगल तो यमुना को अकेली छोड़कर चला जाता है किन्तु नारी के लिए ऐसा कोई मार्ग नहीं है। अपनी अनचाही संतान के प्रति भी उसका एक कर्तव्य है, जिससे वह पीछे नहीं हटेगी। प्रेमी से परित्यक्त होकर, समाज से लांछित, तिरस्कृत होकर भी मंगल के प्रति यमुना की प्रेम-भावना बनी रहती है। वह अपने प्रेम को सच्चा मानती है और उसके लिए वह कठिन-से-कठिन दुःख भी सहने को प्रस्तुत है। अपनी चाची से तिरस्कार मिलने पर यमुना जैसे अपनी सारी शक्ति बटोर कर कहती है: 'मैंने केवल एक अपराध किया है—वह यही कि प्रेम करते समय साक्षी नहीं इकट्ठा कर लिया था, और कुछ मंत्रों से कुछ लोगों की जीभ पर उसका उल्लेख नही करा लिया था। पर किया था प्रेम, चाची, यदि उसका यही पुरस्कार है तो मै उसे स्वीकार करती हूँ।'[१] जब बाद में मंगल माला से विवाह कर लेता है, तब भी वह अपने प्रेमी को कोई दोप नहीं देती और इस विष को भी मौन भाव से पी जाती है।

यमुना

'भिखारिणी' की जस्सो का प्रेमी रामनाथ भीरु प्रकृति का है। वह जाति-भेद के कारण जस्सो से प्रेम करते हुए भी विवाह करने का साहस नहीं कर पाता। इसलिए वह जस्सो से गुप्त विवाह करने का प्रस्ताव करता है। जस्सो ऐसे विवाह को अनुचित मानती है। समाज की आँखों से छिपकर किये गए विवाह का दुष्परिणाम वह अपने पिता के जीवन में घटित होते देख चुकी है इसलिए वह कहती है: 'चुरा-छिपाकर कोई काम नहीं हो सकता।'[२] तब रामनाथ जस्सो को भुलाकर एक अन्य लड़की से विवाह करने को प्रस्तुत हो जाता है। किन्तु जस्सो के प्रेम में कोई अन्तर नही आता। वह अपने प्रेमी के विवाह में स्वयं उपस्थित रहती है और अपने हाथों से उसकी वधू का शृंगार करती है। इस प्रकार मानो वह अपने प्रेम को वधू के व्यक्तित्व में लय कर देना चाहती है। अपनी समस्त अतृप्त अभिलाषाओं और कोमल भावनाओं को वह वधू के माध्यम से साकार कर लेना चाहती है। जब नव-वधू इस प्रलंबित शृंगार से ऊबकर कहती है, 'तूने तो मेरे प्राण ही ले लिए।'[३] तब जस्सो अपनी सारी वेदना और संचित प्रम को व्यक्त करती हुई कहती है: 'तो बदले में अपने प्राण भी तो तुम्हें सौंप रही हूँ।'[४]

जस्सो

जस्सो के प्राणों में रामनाथ ही समाया है, और अब रामनाथ किसी और का होने वाला है। कितनी वेदना और टीस है उसके मन में! किन्तु वह इसके लिए रामनाथ

---

१. जयशंकर 'प्रसाद' : 'कंकाल' (पृष्ठ २९४)
२. विश्वंभरनाथ शर्मा 'कौशिक' : 'भिखारिणी' (पृष्ठ १७६)
३. वही : (पृष्ठ २११)
४. वही : (पृष्ठ २११)

को भूलकर भी दोष नहीं देती, और अपनी सारी सम्पत्ति दानकर आध्यात्मिक शान्ति की खोज में निकल पड़ती है।

'विकास' की अमीलिया एल्फ्रेड जेकब्स नामक एक जहाजी कप्तान की सुन्दरी पुत्री है। फिजी में भारतेन्दु के बीमार होने के अवसर पर अमीलिया ने ही उसकी सेवा-सुश्रूषा करके उसको जीवन-दान दिया है। दोनों में प्रेम हो जाता है। अमीलिया उसे आत्म-समर्पण कर देती है। फलस्वरूप वह गर्भवती हो जाती है। कुछ दिनों बाद भारतेन्दु को भारतवर्ष आ जाना पड़ता है। भारतवर्ष आने पर वह एक तरह से अमीलिया को भूल जाता है। जब आभा से उसके विवाह की चर्चा चलती है तो वह कोई विरोध नहीं करता। जब अमीलिया को विदित होता है कि भारतेन्दु अन्यत्र विवाह कर रहा है तो वह विकल हो जाती है। वह भारतेन्दु को एक पत्र लिखती है जिसमें अपने प्रति उसके वचन का स्मरण दिलाकर वह विनती करती है कि कम से कम अपनी पत्नी के साथ वह अमीलिया जैसा व्यवहार न करे। इस उदाहरण में हमें नारी की सहन-शक्ति तथा विशाल-हृदयता का परिचय मिलता है। अमीलिया अपने प्रेमी के व्यवहार से अत्यन्त दुखी है, पर फिर भी वह अपने प्रेम के प्रति सच्ची रहकर प्रेमी की मंगल कामना ही करती है।

अमीलिया

'निराला' के 'अप्सरा' (१९३१) की नर्तकी की पुत्री कनक, भगवतीचरण वर्मा के 'तीन वर्ष' (१९३६) की वेश्या सरोज और भगवतीप्रसाद वाजपेयी के 'पतिता की साधना' (१९३६) की वेश्या नंदा के चरित्र में प्रेमिका का वह शाश्वत रूप मिलता है जो विषाक्त वातावरण में रहकर भी अपने प्रेमी के प्रति एकनिष्ठ रहता है। उनके अटल और अनन्य प्रेम का ही फल है कि अन्त में उनके प्रेमी से उनका मिलन सम्भव बन जाता है।

कनक राजकुमार को प्रेम करती है। 'शकुन्तला नाटक' में राजकुमार दुष्यन्त बनता है और शकुन्तला का अभिनय अप्सरा करती है। इस रहस्य को राजकुमार रंगमंच पर ही जान पाता है। अपने कल्पना-लोक की आदर्श तरुणी को अभिनेत्री के रूप में देखकर कनक के प्रति उसके मन में घृणा उत्पन्न हो जाती है। किन्तु कनक के प्रेम में कोई अन्तर नहीं आता। यहाँ तक कि वह अपने प्रेमी क्रान्तिकारी राजकुमार को छुड़ाकर घर ले आती है। अन्त में दोनों का पुनर्मिलन होता है। वे दोनों विवाह-बंधन में बँध जाते हैं।

कनक

'तीन वर्ष' की वेश्या सरोज रमेश के प्रति अपने उत्कट प्रेम से प्रेरित होकर चाहती है कि वह रमेश के साथ रहकर सहधर्मिणी की भाँति जीवन व्यतीत करे। वह रमेश के विशृंखल जीवन को संयमित बनाने की भी सतत चेष्टा करती है किन्तु रमेश उसकी भावनाओं को न समझ पाता है, न आदर कर पाता है और एक दिन वह वहाँ से चला जाता है। रमेश

सरोज

के वियोग में सरोज को पल भर भी चैन नहीं मिलता। वह बीमार हो जाती है। उसकी मरणासन्न स्थिति की सूचना अखबार में छपती है जिसको पढ़कर रमेश लौटता है। रमेश को लौटा देखकर सरोज के मन को शान्ति मिलती है और वह अपनी समस्त सम्पत्ति रमेश के नाम करके रमेश की ही गोद में प्राण त्याग देती है।

'पतिता की साधना' में नंदा जब बाल-वैधव्य का जीवन व्यतीत कर रही थी, तभी उसका आकर्षण हरि की ओर था। परिस्थितिवश उसे वेश्या-वृत्ति स्वीकार करनी पड़ती है। किन्तु इस स्थिति में भी वह अपने प्रेमी को नहीं भूल पाती। यह उसकी अटल साधना और अनन्य प्रेम का ही परिणाम है कि एक दिन उसे प्रेम का प्रतिदान मिलता है और हरि और नंदा साथ-साथ जीवन व्यतीत करने लगते है।

नंदा

प्रेमचन्द के 'कायाकल्प' (१९२६) की लौंगी, 'गोदान' (१९३६) की सिलिया तथा भगवतीचरण वर्मा के 'आखिरी दाँव' की चमेली ऐसी वाग्दत्ता प्रेमिकाएँ है जो न तो प्रेमी के परवर्ती रूखे व्यवहार से खिन्न अथवा निराश होती है, और न अपने स्थायी सम्बन्ध के लिए विवाह की सामाजिक रीति को आवश्यक समझती है। एक बार जिसे प्रेमी और पति मानकर ग्रहण करती है उसके साथ वे आजीवन सुख-दुःख में हाथ बँटाती अपने प्रेम की गहराई और सचाई सिद्ध करती है।

'कायाकल्प' में प्रेमिका के रूप में लौंगी का चरित्र अत्यन्त प्रभावशाली है। वह ठाकुर साहब हरिसेवक सिंह की विवाहिता न होने पर भी विवाहिता की भाँति रहती है। ठाकुर साहब के प्रति उसके एकनिष्ठ प्रेम का ही प्रमाण है कि वह उनकी गृहस्थी को, उनके बच्चों को अपना मानकर सुचारु रूप से सँभालती है। ठाकुर साहब भी लौंगी को अपना सम्पूर्ण मन देते हैं। वह उनके जीवन में इतनी घुल-मिल गई है कि वे उससे अलग रहने की कल्पना भी नहीं कर सकते। 'वह कभी रूठ जाती है, तो मेरे हाथ पाँव-फूल जाते है। मैं तो कल्पना भी नहीं कर सकता कि विना उसके मै जिन्दा कैसे रहूँगा। मै तो उससे विना पूछे भोजन भी नहीं कर सकता। वह मेरे घर की लक्ष्मी है।'[१] अपने प्रति ठाकुर साहब का यह अटल प्रेम जानकर उसके मन में शक्ति का संचार होता है और व्यक्तित्व में दृढ़ता आती है। जब हरिसेवक का पुत्र गुरुसेवक उसका अपमान करता है तो वह इसी प्रेम के बल पर बड़े दृढ़ स्वर में कहती है: 'तो बच्चा सुनो, जब तक मालिक जीता है, लौंगी इसी घर में रहेगी और इसी तरह रहेगी। जब वह न रहेगा, तो जो कुछ सिर पर पड़ेगी, झेल लूँगी।'[२]

लौंगी

लौंगी के इसी अनन्य प्रेम, सेवा और निःस्वार्थ आत्म-समर्पण का ही फल है कि मृत्यु-शैया पर पड़े हुए ठाकुर साहब लौंगी के प्रति असीम श्रद्धा अर्पित करते हुए अपने पुत्र गुरु-

---

१. प्रेमचन्द : 'कायाकल्प' (पृष्ठ १९६)

२. वही : (पृष्ठ ६१)

सेवक से कहते हैं: 'मैं लौंगी के हृदय पर मुग्ध हो गया। तुम्हारी माता भी तुम लोगों का लालन-पालन इतना तन्मय होकर न कर सकती थी। सच पूछो, तो यहाँ लक्ष्मी भी लौंगी के साथ ही आयी; बल्कि लक्ष्मी ही लौंगी के रूप में आयी। लौंगी ही ने मेरे भाग्य को रचा।'[१]

'गोदान' में ग्रामीण सिलिया यद्यपि क्षुद्र और उपेक्षित माने जाने वाले वर्ग की नारी है पर उसके अडिग प्रेम में हमें आदर्श प्रेमिका के दर्शन होते हैं। वह चमार है, पर ब्राह्मण युवक मातादीन के प्रति अनुरक्त है। मातादीन से उसका प्रतिदान[२] पाकर वह आनन्द के उन्माद में फूली रहती है[३] और मातादीन के खेत में अनाज ओसाया करती है। तीन आदमियों के बरावर इस परिश्रम के वदले में वह केवल दो रोटियाँ पाती है; फिर भी पूर्ण संतुष्ट और प्रसन्न रहती है। वह अपने प्रेमी के प्रति पूर्णतः समर्पित और कृतज्ञ है। इसीलिए वह ऐसा कोई कार्य नहीं करती जिससे मातादीन के धार्मिक आचार पर दोष आये। एक दिन वह मातादीन के अनाज में से एक सेर अनाज सहुआइन को दे देती है। मातादीन को जब यह मालूम होता है तो वह लाल-लाल आँखें निकाल कर डाँटता है 'तूने अनाज क्यों दे दिया? किससे पूछ कर दिया? तू कौन होती है मेरा अनाज देने वाली?'[४] सिलिया जैसे आसमान से गिरती है। वह पूछती है: 'तुम्हारी चीज में मेरा कुछ अख्तियार नहीं है।'[५] जब मातादीन स्पष्ट निषेध कर देता है तो उसको ऐसी दशा हो जाती है जैसे किसी पक्षी के पर काट कर पिंजड़े से निकाल दिया गया हो और वह फड़फड़ा रहा हो। फिर भी वह मातादीन को छोड़ने की कल्पना भी नहीं करती। 'वह व्याहता न होकर भी संस्कार में, व्यवहार में और मनोभावों में व्याहता थी और अब मातादीन चाहे उसे मारे या काटे, उसे दूसरा आश्रय नहीं है। दूसरा अवलम्ब नहीं है।'[६]

सिलिया

---

१. प्रेमचन्द : 'कायकल्प' (पृष्ठ ६१)
२. 'उसने (मातादीन ने) हाथ में जनेऊ लेकर कहा था—सिलिया, जब तक दम-में-दम है, तुझे व्याहता की भाँति रखूँगा।'
प्रेमचन्द : 'गोदान' (पृष्ठ २६०) तेरहवाँ संस्करण, १९५६
३. 'उसके हास में, चितवन में, अंगों के विलास में हर्ष का उन्माद था, जिससे उसकी बोटी-बोटी नाचती रहती थी, सिर से पाँव तक भूसे के अणुओं में सनी, पसीने से तर, सिर के बाल आधे खुले, वह दौड़-दौड़ कर अनाज ओसा रही थी, मानों तन-मन से कोई खेल खेल रही हो।'
वही : (पृष्ठ २५८)
४. वही : (पृष्ठ २५९)
५. वही : (पृष्ठ २५९)
६. वही : (पृष्ठ २६०)

अपनी बेटी का अपमान देखकर सिलिया के माँ-बाप घटना-स्थल पर पहुँचकर मातादीन का धर्म भ्रष्ट कर देते हैं और सिलिया को बलपूर्वक घर ले जाना चाहते है। किन्तु सिलिया अपने प्रेम के प्रति सच्ची रहती है—जिसको एक बार मन से वर लिया, उससे विमुख नहीं हो सकती। उसकी माँ उसे मारती-पीटती है, फिर भी वह अपने प्रेम से नहीं डिगती। वह जानती है कि सबके सामने उसका धर्म भ्रष्ट कर देने के कारण अब मातादीन भी उसे न पूछेगा पर फिर भी वह अपने निश्चय पर अटल है: 'अब तो वह भी मुझे न पूछेगा, लेकिन पूछे न पूछे, रहूँगी तो उसी के साथ। वह मुझे चाहे भूखों रखे, चाहे मार डाले, पर उसका साथ न छोड़ूँगी। उनकी साँसत कराके छोड़ दूँ। मर जाऊँगी, पर हरजाई न बनूँगी। एक बार जिसने बाँह पकड़ ली, उसी की रहूँगी।'[1] इसीलिए वह मातादीन को समझाती है, 'जो रस्सी तुम्हारे गले में पड़ गई है, उसे तुम लाख चाहो, नहीं छोड़ सकते और न मैं ही तुम्हें छोड़कर कहीं जाऊँगी। मजूरी करूँगी, भीख माँगूँगी, लेकिन तुम्हें न छोड़ूँगी।'[2]

इस प्रकार अपने प्रेम के कारण सिलिया न तो माँ के साथ जाती है, न मातादीन ही उसे स्वीकार करता है।[3] हारकर वह अनाथ बालिका की भाँति धनिया की शरण में जाती है। लेकिन इस स्थिति में भी उसके प्रेम में कोई अन्तर नहीं आता। वह अटल विश्वास भरे स्वर में कहती है: 'अभी मान-मरजाद के मोह में वह (मातादीन) चाहे मुझे छोड़ दे; लेकिन देख लेना, फिर दौड़ा आयेगा।'[4] वास्तव में एक दिन उसके प्रेम की विजय होती है और मातादीन उसे फिर स्वीकार कर लेता है।

'आखिरी दाँव' की चमेली को भी अपने प्रेमी के साथ प्रेममय जीवन व्यतीत करने का सौभाग्य प्राप्त होता है। अपने परिवार के दारुण अत्याचारों से त्राण पाने के लिए वह रामेश्वर का आश्रय लेती है। धीरे-धीरे वह रामेश्वर के प्रति इतनी अनुरक्त हो जाती है और उसके प्रति इतनी कृतज्ञता अनुभव करती है कि वह उसे एक तरह से अपना पति मानकर स्वीकार कर लेती है। बम्बई पहुँचकर अर्थोपार्जन के लिए रामेश्वर के कहने पर वह पान की दुकान खोलकर बैठने में भी आनाकानी नहीं करती यद्यपि उसका मन वहाँ नहीं रमता और वह चाहती है कि घर में बैठकर केवल रामेश्वर की सेवा करे।[5]

चमेली

---

१. प्रेमचन्द : 'गोदान' (पृष्ठ २६३)

२. वही : (पृष्ठ २६४)

३. "मातादीन ने पीछे फिरकर निर्मम स्वर में कहा—'मेरे साथ मत आ। मेरा तुझसे कोई वास्ता नहीं। साँसत करवा के भी तेरा पेट नहीं भरता।'"
वही : (पृष्ठ २६४)

४. वही : (पृष्ठ २७१)

५. 'इन दिनों वह दुकान पर बैठती थी अपनी इच्छा के विरुद्ध। वह चाहती थी कि

इसी बीच उसे मालूम पड़ता है कि रामेश्वर सट्टे में चार हज़ार रुपया हार गया है, और यदि वह रुपया अगले वृहस्पतिवार तक चुका न देगा तो उसे जेल जाना पड़ेगा। इस समाचार से चमेली की आँखों के आगे अँधेरा छा जाता है। संकट को टालने के उपाय सोचते-सोचते रामेश्वर उसे सुझाव देता है कि यदि वह किसी फिल्म कम्पनी में नौकरी कर ले तो समस्या हल हो सकती है। यद्यपि चमेली फिल्म के जीवन को हृदय से घृणा करती है और उसे अनैतिक मानती है, किन्तु रामेश्वर के लिए वह इसके लिए भी तैयार हो जाती है: 'अच्छी बात है, कल मैं नौकरी कर लूँगी—और वृहस्पति तक अगर भगवान चाहेगा तो तुम्हारे चार हजार रुपयों का भी प्रबन्ध हो जायगा।'[1]

स्टूडियो पहुँचकर चमेली अपनी व्यवहार-कुशलता का ऐसा सुन्दर परिचय देती है कि वह अपने उद्देश्य में सफल होती है। किन्तु वहाँ के विषाक्त वातावरण में वह छटपटाने लगती है। अपनी सफलता के लिए उसे सेठ शिवकुमार की वासना का शिकार बनना पड़ता है—यह विवशता उसे विकल बनाती रहती है। अन्त में मन की पीड़ा सहने में असमर्थ होकर वह एक दिन रामेश्वर के सामने फूट पड़ती है: 'मुझे यहाँ से और कहीं ले चलो, मैं *यहाँ नहीं रहना चाहती—हाथ जोड़ती हूँ।* मैं *यहाँ गिर गई हूँ*—बुरी तरह गिर गई हूँ। भगवान जानता है, मैंने बड़ी कोशिश की कि न गिरूँ लेकिन नहीं बच सकी। .....लेकिन....लेकिन, मेरे गिरने में तुमने मुझे मजबूर किया—तुमने।'[2] और अन्त में वह फिल्म-जीवन को त्याग कर ही दम लेती है।

इसी प्रकार जब रामेश्वर गोरेगाँव जाकर स्वयं अपना व्यवसाय चालू करने के कारण अलग रहने की बात कहता है, तब जैसे चमेली के जीवन का आधार ही खिसकने लगता है। वह रोकर सिसकती हुई कहती है: 'तुम मुझे बड़े से बड़ा दण्ड दे लो, मैं स्वीकार कर लूँगी, लेकिन तुम मुझे छोड़ो मत।'[3] जब रामेश्वर उसे आश्वासन देता है कि वह उसको छोड़ नहीं रहा अपितु ऐसा प्रयत्न कर रहा है कि चमेली उसीकी होकर रह सके तो उसका आन्तरिक मन खिल उठता है।'[4]

रामेश्वर उससे एक बार कहे और वह दुकान छोड़ दे। वह घर में रह कर रामेश्वर की सेवा करना चाहती थी, रामेश्वर के साथ बात करना चाहती थी, रामेश्वर के दिल में समा जाना चाहती थी।'

भगवतीचरण वर्मा: 'आखिरी दाँव' (पृष्ठ ७४-७५)

१. वही: (पृष्ठ ९४)
२. वही: (पृष्ठ १७३)
३. वही: (पृष्ठ १८५)
४. 'अरी पागलपन की बात मत कर। मैं सौगन्ध खाकर कहता हूँ कि मैं तुझे छोड़ नहीं रहा बल्कि यह प्रयत्न कर रहा हूँ कि तू मेरी होकर, केवल मेरी होकर रहे। तू जो गिरी इसकी जिम्मेदारी तेरी नहीं है—मेरी है।' ...

रामेश्वर के गोरेगाँव चले जाने पर भी और उसकी ओर से पूर्ण स्वतन्त्रता मिलने पर भी चमेली अपने छोटे से छोटे काम में भी रामेश्वर की सम्मति की अपेक्षा करती है। एक ग़लतफ़हमी के कारण जब रामेश्वर उससे खिचा-खिचा रहने लगता है तो उसे ऐसा लगता है जैसे उसका अस्तित्व ही उससे छीन लिया गया हो। 'उसने उस दिन के पहले तक यह पूर्णरूप से नहीं जाना था कि उसका समस्त अस्तित्व रामेश्वर है—केवल रामेश्वर। उस रामेश्वर को खो देना अपने आपको खो देना है। उस रामेश्वर को एक बार फिर से पाना होगा। अगर वह रामेश्वर को नहीं पा सकी, तो उसके अस्तित्व को मिट जाना ही है, उस मिटने को कोई भी नही रोक सकता है, स्वयं वह तक नही।'[1]

और अन्त में जब उसे मालूम पड़ता है कि जुए के अपराध में रामेश्वर को कारावास होनेवाला है तो वह उसको बचाने की चेष्टा में अपने प्राणों की आहुति दे देती है।

प्रेमचन्द के 'रंगभूमि' (१९२५) की सोफिया, उपादेवी मित्रा के 'पिया' (१९२७) की पिया, वृन्दावनलाल वर्मा के 'लगन' (१९२८) की रामा, जैनेन्द्र के 'परख' (१९३०) की कट्टो, वन्दावनलाल वर्मा के 'प्रेम की भेंट' (१९३१) की सरस्वती, तथा 'कुंडली-चक्र' (१९३२) की पूना, 'गोदान' (१९३६) की मालती, उपादेवी मित्रा के 'वचन का मोल' (१९३६) की कजरी, अज्ञेय के 'शेखर : एक जीवनी' (१९४१) की शशि, 'अंचल' के 'नई इमारत' (१९४५) की प्रतिमा और आरती, उषा देवी मित्रा के 'सोहिनी' (१९४९) की सोहिनी ऐसी प्रेमिकाएँ हैं जो प्रेम के अपने आदर्श को अक्षुण्ण रखने के लिए अपने सर्वस्व की बाज़ी लगा देती हैं—यहाँ तक कि वे कभी-कभी उसके लिए अपने प्रेमी से अलग या दूर रहना भी श्रेयस्कर समझती हैं। लेकिन किसी भी स्थिति में वे अपने प्रेम को आदर्श की उदात्त भूमि से नीचे नही गिरने देती। स्वयं उनके प्रेमी उनके इस आदर्श प्रेम को कभी कृतज्ञता से और कभी विस्मय-विभोर होकर देखते-रहते है। ये प्रेमिकाएँ जब देखती है कि उनके प्रेम का प्रतिदान देने के कारण उनका प्रेमी आदर्श-च्युत होने को तत्पर है तब वे वियोग को ही श्रेयस्कर मानकर प्रेमी के जीवन को गिरने से बचाती है।

'रंगभूमि' में प्रेमचन्द ने सोफिया के माध्यम से प्रेमिका के मन में उठने वाले घात-प्रतिघातों का बड़ा मार्मिक चित्रण किया है। सोफिया धर्मप्राण ईसाई पिता जान सेवक की पुत्री है। उसके पिता और भाई के कारण घर का वातावरण अत्यन्त सात्विक और आदर्शमय बना रहता है। बचपन से ही ऐसे वातावरण में पलने के कारण सोफ़िया के हृदय में भी सात्विक और आदर्शोन्मुख जीवन के प्रति श्रद्धा हो जाती है। इसलिए जब वह रियासत के युवराज विनयसिंह के कर्तव्यनिष्ठ देश-सेवी त्यागी जीवन का परिचय पाती है, तो

सोफ़िया

रामेश्वर के इस कथन से चमेली की आत्मा खिल गई।
भगवतीचरण वर्मा : 'आखिरी दाँव', (पृष्ठ १८५)

१. वही : (पृष्ठ २५९)

वह स्वभावतः उसकी ओर आकृष्ट हो जाती है और धीरे-धीरे यह आकर्षण प्रबल और अटल प्रेम का रूप धारण कर लेता है।

विनयसिंह के जीवन और चरित्र के निर्माण में उसकी माता रानी जाह्नवी का बहुत बड़ा हाथ है। उसने विनय को कठोर और तपस्वी जीवन बिताने की शिक्षा दी है और निरन्तर देश-सेवा में लगे रहने की प्रेरणा दी है, वह सतर्क अनुशासक की भाँति उसकी गतिविधि पर कड़ी नज़र रखती है और उसे अपने कर्तव्य-पथ से तनिक भी हटते देखकर भीषण रूप धारण कर लेती है। प्राचीन धार्मिक आचार-विचारों में पगी होने के कारण वह सोफ़िया को अपनी पुत्रवधू बनाने में हिचकती है, वैसे भी वह विनय को विवाह के जंजाल में फँसते नहीं देखना चाहती। फिर भी सोफ़िया उन्हें पसन्द है। पर जब भी कभी उसको कमजोरी दिखाते पाती हैं, उपदेश दिये बिना नहीं रहतीं।

सोफ़िया की माता की एकमात्र इच्छा यह है कि उसकी बेटी सोफ़िया रियासत के पोलिटिकल एजेण्ट क्लार्क से विवाह कर अपने परिवार की शक्ति और प्रतिष्ठा बढ़ाने में सहायक हो। अपने लघु स्वार्थ के लिए वह सोफ़िया को क्लार्क से मेल-जोल बढ़ाने पर विवश करती रहती है और अपने उद्देश्य को पूरा करने की उतावली में भद्दे काम भी कर बैठती है।

सोफ़िया का नारी-मन इन त्रिविध शक्तियों के संघर्ष की रंगभूमि बन जाता है। अपने सम्पूर्ण मन से विनय को प्यार करने के कारण वह उसे पाना चाहती है, उससे विवाह कर उसकी हो जाना चाहती है, पर जाह्नवी के आदर्शों को भी मिथ्या नहीं करना चाहती। विनय को प्यार करने की प्रेरणा उसे विनय के आदर्शवादी जीवन से ही मिली है, इसलिए वह यह भी नहीं चाहती कि विनय प्रणय-विवाह में उलझ कर अपना वास्तविक कार्य बिसार बैठे। उसके मन को त्रस्त रखने के लिए ये दो विरोधी तत्व ही कम नहीं हैं, तिस पर उसकी माँ की स्वार्थनीति उसको अलग दुःख देती रहती है।

इन तीन विरोधी शक्तियों की खींचतान में सोफ़िया का चरित्र एक ओर करुण हो उठता है, तो दूसरी ओर रहस्यमय। वह कभी-कभी ऐसा आचरण कर बैठती है जिसके लिए उसके पास कोई औचित्य नहीं है, और जो उसके मूल चरित्र से मेल भी नहीं खाता। जब विनय को अपने राजनैतिक कार्य के लिए बंदी बना लिया जाता है, तो वह उसे मुक्त कराने के लिए क्लार्क से प्रेम का स्वाँग भरती है, और फिर विनय से कहीं भाग चलने का आग्रह करती है। इसी प्रकार अपने प्रबल प्रेम में विकल होकर वह विनय को वश में करने के लिए जड़ी-बूटी और मंत्रों का भी प्रयोग करती है और कातर स्वर में प्रणय निवेदन करती है : 'मैं रानी जी के पास जाकर रोऊँगी, उनके पैरों पर गिरूँगी और उनके मन में तुम्हारे प्रति जो गुबार भरा हुआ है, उसे अपने आँसुओं से धो डालूँगी। मुझे दावा है कि मैं उनके पुत्र-वात्सल्य को जाग्रत कर दूँगी। मैं उनके स्वभाव से परिचित हूँ, उनका हृदय दया का आगार है। जिस वक़्त मैं उनके चरणों पर गिर कर कहूँगी, अम्मा,

तुम्हारा बेटा मेरा मालिक है, मेरे नाते उसे क्षमा कर दो, उस वक़्त वह मुझे पैरों से ठुकराएँगी नहीं।'[1]

लेकिन इस प्रणय-कातर रूप के साथ ही साथ उसमें विनय को कर्तव्यपरायण और आदर्श वीर की भाँति आचरण करते देखने की भी उतनी ही प्रबल कामना है। जितना अटल उसका प्रेम है, विनय को वह उतना ही महान बनाना चाहती है। इसलिए जब भी वह विनय को अपने प्रति झुकते हुए देखती है, तत्काल सँभल कर उसे फिर कर्तव्योन्मुख कर देती है। जब उसे पता चलता है कि उसके प्रेम के कारण विनय ने अपने साथियों को त्याग कर रियासत के शासकों का पक्ष लिया है, तो वह व्यंग्य-बाणों से उसका सारा प्रमाद काट देती है। वह स्पष्ट शब्दों में उसकी भर्त्सना करते हुए कहती है: 'मैंने तुम्हारी प्रभुशीलता पर अपने को समर्पित नहीं किया था, बल्कि तुम्हारी सेवा, सहानुभूति और देशानुराग पर। मैंने इसलिए तुम्हें उपास्य-देव बनाया था कि तुम्हारे जीवन का आदर्श उच्च था, तुममें प्रभु मसीह की दया, भगवान बुद्ध के विराग और लूथर की सत्यनिष्ठा की झलक थी। क्या दुखियों को सताने वाले निर्दय, स्वार्थप्रिय अधिकारियों की संसार में कमी थी। तुम्हारे आदर्श ने मुझे तुम्हारे क़दमों पर झुकाया। जब मैं प्राणिमात्र को स्वार्थ में लिप्त देखते-देखते संसार से घृणा करने लगी थी, तुम्हारी निस्वार्थता ने मुझे अनुरक्त कर लिया।'[2] इसी प्रकार जब वह देखती है कि विनय उसके प्रेम में इतना डूब गया है कि पाँडेपुर के बेदखल लोगों के न्याय-आन्दोलन में भाग लेने से कतराता है, तो वह अपने विवाह के स्वप्न भूलकर उसे फिर कर्तव्य की ओर प्रेरित कर देती है।[3] उसके इन विरोधी आचरणों के कारण लोग उसे ग़लत भी समझ लेते हैं। विनय की बहिन इन्दु एक बार सोफ़िया के विषय में चर्चा करते हुई कहती हैं: 'बड़े धर्म-संकट में पड़ी हुई है। न तुम्हें निराश करना चाहती है, न माता जी को अप्रसन्न करना चाहती है। न जाने क्यों उसे अब भी संदेह है कि माता जी उसे अपनी वधू नहीं बनाना चाहतीं। मैं समझती हूँ कि यह केवल उसका भ्रम है, वह स्वयं अपने मन के रहस्य नहीं समझती। वह स्त्री नहीं है, केवल एक कल्पना है, भावों और आकांक्षाओं से भरी हुई। तुम उसका रसास्वादन कर सकते हो, पर उसे अनुभव नहीं कर सकते, उसे प्रत्यक्ष नहीं देख सकते।'[4]

---

१. प्रेमचन्द : 'रंगभूमि' (पृष्ठ २०१) दूसरा भाग

२. वही : (पृष्ठ ८४)

३. 'अच्छा तो मैं आपके सामने कह रही हूँ कि मुझे इनके वहाँ जाने में कोई आपत्ति नहीं है, बल्कि इसे मैं अपने और इनके, दोनों के लिए गौरव की बात समझती हूँ। अब ईश्वर की दया और इनकी कृपा से अच्छी हो गई हूँ, और इन्हें विश्वास दिलाती हूँ कि इनके जाने से मुझे कोई कष्ट न होगा। मैं स्वयं दो-चार दिन में जाऊँगी।'
वही : (पृष्ठ ३३३)

४. वही : (पृष्ठ २८४)

वस्तुतः सोफिया के प्राण कितने ही छटपटाएँ, वह विनय को कर्तव्य-पथ से विचलित होते नहीं देख सकती। फल यह होता है कि अन्त में विनय राजनैतिक संग्राम में अपने प्राणों की वलि दे देता है और सोफिया सच्ची और आदर्श प्रेमिका की भाँति अपने जीवन का भी अन्त कर देती है।[1] इस प्रकार सोफ़िया प्रेम की वेदी पर सर्वस्व का वलिदान कर अपने प्रेमी के जीवन को महान बना देती है।

पिया

'पिय।' में पिया का प्रेम भी पूर्णतः आदर्श है। पिया निशीथ को प्रेम करती है जो विवाहित गृहस्थ है और कई बच्चों का पिता है। इसलिए पिया अपने प्रेम को गोपन रखती है और मन ही मन घुलती रहती है। एक वार रोग-शय्या पर अचेतावस्था में वह अपने मन का भाव प्रकट कर बैठती है जिसका उसे वाद में वहुत पश्चात्ताप होता है। वह अपने प्राणों के निभृत कोने में अपने असफल प्रेम का दीपक जलाये समाज-सेवा में अपना दुःख भूलने की चेष्टा करती है, पर उसका प्रकाश कर अपने प्रेमी के लिए समस्या खड़ी करना नहीं चाहती। एक बार पिया अपनी बीमारी की दशा में एक सभा में जाते हुए आँधी-पानी में भटकती-भटकती अनजान में निशीथ के द्वार पर लुढ़क पड़ती है। निशीथ की पत्नी मृणाल उसे देखकर ईर्ष्यावश अन्दर नहीं आने देती और पिया अपने प्रेमी के द्वार पर ही मृत्यु की गोद में सो जाती है।

रामा

'लगन' में रामा देवीसिंह को एकनिष्ठ प्रेम करती है। जब दहेज के झगड़े के कारण देवीसिंह का पिता वारात लौटा कर ले जाता है तव भी उसके प्रेम में कोई अन्तर नहीं आता। प्रेम की अनन्यता के साथ-साथ उसके चरित्र में साहस और दृढ़ता भी है। रामा का प्रेमी देवीसिंह रोज़ रात को उससे मिलने आता है। देवीसिंह को इस प्रकार छिपकर मिलने में भय लगता है किन्तु रामा अपने एकान्त प्रेम के कारण निर्भीक होकर कहती है: 'मुझे इसका क्या भय है? मेरे देवता मेरे पास हैं। मेरा कोई क्या कर सकता है? वहुत होगा अभी आपके साथ जाने को कह देंगे, चली जाऊँगी।'[2] अन्त में जब उसका प्रेम प्रकट हो जाता है तो वह साहसी वाला अकेली वरसात की वेतवा पारकर देवीसिंह के घर पहुँचती है और वहाँ निस्संकोच अपने को देवीसिंह की पत्नी कहकर अपना परिचय देती है। उसके

---

१. 'आपकी सोफिया आज संसार से विदा होती है। जब विनय न रहे, तो यहाँ मैं किसके लिए रहूँ। इतने दिनों तक मन को धैर्य देने की चेष्टा करती रही···किन्तु मेरा प्यारा विनय मुझे बुला रहा है। मेरे बिना उसे वहाँ एक क्षण को भी चैन नहीं है। वहीं मिलने जाती हूँ।'
प्रेमचन्द : 'रंगभूमि' (पृष्ठ ४०७)

२. वृन्दावनलाल वर्मा : 'लगन' (पृष्ठ ७९)

अटल प्रेम के सम्मुख समाज भी झुक जाता है। देवीसिंह के पिता उसे वहू के रूप में स्वीकार कर लेते हैं।

जैनेन्द्र के 'परख' की कट्टो तो निःस्वार्थ समर्पित प्रेम की साकार प्रतिमूर्ति है। वह अल्हड़ ग्रामीण वाल-विधवा है जिसके मन में काम-वासना का लेश भी नहीं है। वह अत्यन्त निश्छल और सात्विक भाव से सत्यधन को प्रेम करती है।

कट्टो

उसका मन जितना पवित्र और मुक्त है उतना ही उसका व्यवहार संयमित और सरल है। उसका प्रेम उसके मन में कोई झिझक, कोई संकोच नहीं उत्पन्न करता, क्योंकि वह अपने प्रेम का कोई प्रतिदान नहीं चाहती। वह निष्काम समर्पिता है। प्रेम उसके नारी-मन की ऐसी सहज, अकृत्रिम और स्वाभाविक क्रिया है जैसे सूर्य के दर्शन कर कमलिनी का खिलना। सारे उपन्यास में कट्टो की यह खिलखिलाहट गूँजती रहती है।

यही कारण है कि जव सत्यधन उसकी ओर से उदासीन होकर गरिमा से विवाह करना चाहता है, तो उसे न दुःख होता है, न आश्चर्य। जिसमें उसके प्रिय को संतोप हो, उसीमें उसका संतोप है, क्योंकि समर्पिता होने के वाद उसका अलग कोई व्यक्तित्व है ही कहाँ। वह सत्यधन से स्वयं कहती है, 'जो कुछ भी तुम चाहते हो सवमें कट्टो की खूब राय है। कट्टो भी उसे खूब चाहती है। उसका पूरा-पूरा विश्वास रक्खो। तुम्हारी खुशी में उसकी खुशी है। तुम्हारे सोच में उसकी मौत है। अपने कामों में कट्टो की गिनती मत करो,—वह गिनने लायक नही है। उसकी खुशी तुममें ही शामिल है। वस। तुम व्याह करना चाहते हो, तो कट्टो तुम्हारी सवसे पहले व्याह चाहती है। ओ हो वह कितनी खुश होगी, खूव खूव खुश होगी। तुम कट्टो को क्या समझते हो?—वह तुम्हारी नाखुशी लेकर जिंदा रह सकेगी? और क्या समझते हो कि वह तुम्हें समझती ही नहीं? वह तुम्हें खूव समझती है। तुम जो करोगे अच्छा करोगे, और कट्टो उस अच्छे में खूव आनन्द मनायेगी। तुम तो कट्टो के मालिक हो—फिर उसकी फिकर क्यों करते हो?....[१]

अपने इसी निःस्व, एकान्त समर्पण के कारण कट्टो को गरिमा से ईर्ष्या नहीं होती, प्रत्युत वह उसको सहज ही अपनी वड़ी वहिन के रूप में स्वीकार करती है। सत्यधन के माध्यम से गरिमा भी मानो उसके प्रेम की पात्र वन जाती है। वह अपनी उस सोहाग-पिटारी[२] को जिसे वह अपनी सवसे मूल्यवान और प्यारी वस्तु समझती है, जिसके साथ

---

१. जैनेन्द्र : 'परख' (पृष्ठ ७०)

२: 'कट्टो ने तिस पर टिकुली की वह डिविया ली, कंघा और शीशा और हाथों से वे दो लाल चूड़ियाँ निकालीं, उन्हें एक पोटली में वाँध दिया।'

वही : (पृष्ठ ७६)

उसकी कोमल भावनाएँ संबद्ध हैं,[1] उसी पिटारी को वह सहर्ष गरिमा को भेंट-स्वरूप भेज देती है।

इसी सात्विक और निस्वार्थ प्रेम के कारण कट्टो के लिए मिलन-विरह में कोई अन्तर नहीं पड़ता। वरन् उसका तो मत है कि मिलन में भले ही प्रेम का अन्त हो जाये, विरह में तो प्रेम अनिवार्य रूप से प्रतिक्षण साथ रहता है, यही कारण है कि वह सत्यघन को बाँध रखने की कल्पना नही करती। वह विरह को सच्चे प्रेम-जीवन का प्रतीक मान कर स्वीकार करती है। उसका प्रेम शारीरिक मिलन अथवा विवाह की अपेक्षा नहीं रखता। वह सर्मापिता है क्योंकि उसका मन समर्पित है। इसीलिए सत्यघन के आग्रह करने पर भी वह बिहारी से विवाह करने को तैयार नहीं होती। केवल उसके विवाह के मार्ग में कोई बाधा न पड़े इसी विचार से वह बिहारी के साथ सेवा-व्रत में सहयोगिनी बनने की स्वीकृति देती है।[2] इस प्रकार भोली, निश्छल कट्टो के रूप में हमें युग-युग-वंदित शाश्वत प्रेम की ही व्याख्या के दर्शन होते हैं।

'प्रेम की भेंट' में सरस्वती के भी चरित्र में वर्मा जी ने प्रणय का बड़ा सच्चा, शाश्वत और आदर्श चित्र उपस्थित किया है। रामा के चरित्र की ही भाँति सरस्वती के चरित्र में भी हमें साहस, शक्ति त्याग और बलिदान का अपूर्व सामंजस्य मिलता है। उसका प्रेम लघु और स्वार्थमय नहीं वरन् उदार और कर्त्तव्य-परायण है। सरस्वती धीरज को प्रेम करती है किन्तु उसके अभिभावक उनके प्रेम को उचित नहीं मानते। यहाँ तक कि वे उन्हें मिलने-जुलने की भी छूट नही देते। धीरज ने सरस्वती को एक साड़ी उपहार में दी है। इस साड़ी को वह बड़े आग्रहपूर्वक अपने पास रखती है, यहाँ तक कि बीमार पडने पर भी उसे अपने तकिये के नीचे सहेज कर रखती है। सरस्वती के पिता कम्मोद को जब यह ज्ञात होता है तो वह क्रोध में आकर साड़ी छीन कर जला डालना चाहता है। सरस्वती उस साड़ी को अपने से अलग नहीं करना चाहती, वह उसे कसकर पकड़ लेती है। इसी छीना-झपटी में साड़ी फट जाती है और उसकी मुट्ठी में उसका वही छोर रह जाता है जिसमें लिखा है 'प्रेम की भेंट'। यद्यपि धीरज उसी घर में रहता है, फिर भी सरस्वती को उसके दर्शन नहीं मिलते और अपने उत्कट प्रेम में निराश होकर वह रुग्णा अपनी मुट्ठी में साड़ी का वही छोर दबाये अपने प्राण त्याग देती है।

सरस्वती

---

१. मेरे पास शुभ से शुभ जो चीज है, जिस पर मैंने प्यारी से प्यारी भावनाएँ अर्घ्य रूप में चढ़ाई हैं, वही चीज मैं उन्हें दे रही हूँ।'
जैनेन्द्र : 'परख', (पृष्ठ ७६)

२. 'दोनों वैधव्य-यज्ञ की प्रतिज्ञा में एक-दूसरे का हाथ लेकर आजन्म बँधते हैं।'
वही : (पृष्ठ ७५)

'कुंडली चक्र' में ग्रामीण बाला पूना अजित के प्रति अनुरक्त है, पर वह प्रेम प्रकट करने में संकोच का अनुभव करती है। जब उसे विश्वास हो जाता है कि उसका बहनोई भुजबल उससे विवाह करने पर तुला हुआ है तो वह अजित को पत्र द्वारा अपने प्रबल प्रेम और समर्पण का परिचय देती हुई बड़े साहसपूर्वक उसे अपनी रक्षा के लिए बुलाती है। वह पत्र में लिखती है: 'आप दीनों की सहायता करते हैं। मैं बिल्कुल निस्सहाय हूँ। मेरे बहनोई भुजबल आज जबरदस्ती विवाह करके मेरा जन्म नष्ट करना चाहते हैं। मेरी रक्षा कीजिए। मुझे उबारिये, यदि मेरी रक्षा न की गई, तो मैं आज ही अवश्य अपना प्राणान्त कर दूँगी। मैं अनाथ हूँ, शरण दीजिए।'[१] और अन्त में उसका अटल प्रेम सफल होता है। जब वह जीवन से निराश होकर मृत्यु की गोद में सो जाना चाहती है, तभी अजित उसके पास पहुँच कर उसे जीवन दान देता है और वह उसका आश्रय पाकर सुरक्षा का अनुभव करती है 'मुझे अब कोई डर नहीं। माँ ने मेरा रक्षक पहुँचा दिया है।' और अजित उसको अपनी छाती से लगाये कभी न छोड़ने का आश्वासन देता है।

पूना

''गोदान' की मालती का व्यक्तित्व इन सब प्रेमिकाओं से सर्वथा भिन्न होते हुए भी नारी के शाश्वत रूप का बड़ा सच्चा चित्र उपस्थित करता है। मालती विदेशी शिक्षा प्राप्त लेडी डाक्टर है, जो उच्च वर्ग के समाज की शोभा है। 'तालुकेदारों के महलों में उनका बहुत प्रवेश है। आप नवयुग की साक्षात् प्रतिमा हैं। गात कोमल, पर चपलता कूट-कूट कर भरी हुई। झिझक या संकोच का कहीं नाम नहीं, मेक-अप में प्रवीण, बला की हाजिर-जवाब, पुरुष मनोविज्ञान की अच्छी जानकार, आमोद-प्रमोद को जीवन का तत्व समझने वाली, लुभाने और रिझाने की कला में निपुण. जहाँ आत्मा का स्थान है, वहाँ प्रदर्शन; जहाँ हृदय का स्थान है, वहाँ हाव-भाव, मनोद्गारों पर कठोर निग्रह, जिसमें इच्छा या अभिलाषा का लोप-सा होगा।'[२]

मालती

मालती अपने इस आधुनिक परिवेश में मानो नारी-सुलभ गुणों को भुला ही बैठी है। वह तितली की भाँति हँसती-खेलती, पुरुषों से मनोरंजन करती अपना जीवन संचालित करती है। वाक्-पटु और विचारवान् होने के कारण उसके निकट आने का किसी को साहस भी नहीं होता।

तभी मालती का परिचय दर्शन-शास्त्र के प्रोफेसर मेहता से होता है। यह परिचय धीरे-धीरे मालती के जीवन में कायापलट कर देता है। दोनों में बौद्धिकता प्रधान है, इसलिए दोनों सहज ही आकर्षित होते हैं। मालती को मेहता का परोपकारी, सिद्धान्त-प्रिय व्यक्तित्व इतना अधिक प्रभावित करता है कि वह मन ही मन उन्हें श्रद्धा करने लगती

---

१. वृन्दावन लाल वर्मा : 'कुण्डली चक्र'
२. प्रेमचन्द : 'गोदान' (पृष्ठ ५८) तेरहवाँ संस्करण

है। ज्यों-ज्यों वह उनके विचारों और कार्यों के निकट आती-जाती है, त्यों-त्यों यह श्रद्धा प्रेम में परिणत होती जाती है और वह मेहता के योग्य बनने के लिए अपनी गतिविधि में भी परिवर्तन करने लग जाती है। शिक्षा और रहन-सहन में आधुनिक होने पर भी वह प्रेम की अनन्यता और अमरता में विश्वास करती है। अभी तक उसके जीवन में कोई ऐसा उन्नत व्यक्ति आया ही न था जिसे वह आत्म-समर्पण करती। अब मेहता को पाकर वह अपना सम्पूर्ण मन उन्हें दे देती है। मेहता भी मालती के प्रति धीरे-धीरे आसक्त हो जाते हैं और दोनों ही विवाह-सूत्र में बँध जाने के स्वप्न देखने लगते हैं।

एक दिन नदी-तट पर एकान्त में मालती मेहता को अपना प्रेम-निवेदन करती है, और मेहता भी गद्‌गद् भाव से उसे स्वीकार करते हैं। पर यहीं अत्यन्त आत्मीय संभाषण के बीच मेहता ऐसी बात कह देते हैं कि मालती के मन में प्रेम का जो आदर्श है वह डगमगाने लग जाता है :

"अच्छा, मान लो मैं तुमसे विवाह करके कल तुमसे बेवफ़ाई करूँ तो तुम मुझे क्या सजा दोगी ?'

मालती ने उनकी ओर चकित होकर देखा। इसका आशय उसकी समझ में न आया। 'ऐसा प्रश्न क्यों करते हो ?'

'मेरे लिए यह बड़े महत्त्व की बात है।'

'मैं इसकी सम्भावना नहीं समझती।'

'संसार में कुछ भी असम्भव नहीं है। बड़े से बड़ा महात्मा भी एक क्षण में पतित हो सकता है।'

'मैं उसका कारण खोजूंगी और उसे दूर करूँगी।'

'मान लो मेरी आदत न छूटे।'

'फिर मैं नहीं जानती, क्या करूँगी। शायद विष खाकर सो रहूँ।'

'लेकिन यदि तुम मुझसे यही प्रश्न करो, तो मैं उसका दूसरा जवाब दूंगा।'

मालती ने सशंक होकर पूछा—'बतलाओ।'

मेहता ने दृढ़ता के साथ कहा—'मैं पहले तुम्हारा प्राणान्त कर दूंगा, फिर अपना।'

मालती ने ज़ोर से क़हक़हा मारा और सिर से पाँव तक सिहर उठी। उसकी हँसी केवल उसकी सिहरन को छिपाने का आवरण थी। मेहता ने पूछा—'तुम हँसी क्यों ?'

'इसीलिए कि तुम तो ऐसे हिंसावादी नहीं जान पड़ते।'

'नहीं मालती, इस विषय में मैं पूरा पशु हूँ और उस पर लज्जित होने का कोई कारण नहीं देखता। आध्यात्मिक प्रेम और त्यागमय प्रेम और निस्वार्थ प्रेम जिसमें आदमी अपने को मिटाकर केवल प्रेमिका के लिए जीता है, उसके आनन्द से आनन्दित होता है और उसके चरणों पर अपनी आत्मा समर्पण कर देता है, मेरे लिए निरर्थक शब्द हैं. . .प्रेम सीधी-सादी गऊ नहीं, खूँख्वार शेर है, जो अपने शिकार पर किसी की आँख भी नहीं पड़ने देता।'

मालती ने उनकी आँखों में आँखें डाल कर कहा—'अगर प्रेम खूँख्वार शेर है, तो मैं

उससे दूर ही रहूँगी। मैंने तो उसे गाय ही समझ रखा था। मैं प्रेम को संदेह से ऊपर समझती हूँ। वह देह की वस्तु नहीं, आत्मा की वस्तु है। संदेह का वहाँ जरा भी स्थान नहीं और हिंसा तो संदेह का ही परिणाम है। वह सम्पूर्ण आत्म-समर्पण है। उसके मन्दिर में तुम परीक्षक बनकर नहीं; उपासक बनकर ही वरदान पा सकते हो।'[1]

'जब मेहता ने उसकी आशाओं को द्वार तक लाकर प्रेम का वह आदर्श उसके सामने रखा, जिसमें प्रेम को आत्मा और समर्पण के क्षेत्र से गिराकर भौतिक धरातल तक पहुँचा दिया गया था, जहाँ संदेह और ईर्ष्या और भोग का राज है, तब उसकी परिष्कृत बुद्धि आहत हो उठी। और मेहता से जो उसे श्रद्धा थी, उसे एक धक्का-सा लगा, मानो कोई शिष्य अपने गुरु को कोई नीच कर्म करते देख ले। उसने देखा, मेहता की प्रखर बुद्धि प्रेमत्व को पशुता की ओर खींचे लिए जाती है और उसके देवत्व की ओर से आँखें बन्द किये लेती है, और यह देखकर उसका दिल बैठ गया।'[2]

वास्तव में आधुनिका मालती के हृदय में आदर्श नारी का मन स्पन्दित है, यह बात मेहता को भी मालूम न थी। इस घटना के बाद दोनों का सम्बन्ध एक नया रूप ले उठा। अब मेहता मालती की ओर श्रद्धाभरे सतृष्ण नेत्रों से देखते थे और मालती उनके प्रति अटूट प्रेम भाव रखते हुए भी अधिक निकट आते डरती थी कि कहीं उसके प्रेम के कारण मेहता का व्यक्तित्व ओछा न हो जाये। वह अपना जीवन अधिकाधिक सेवा-कार्य में लगाने लगी। फिर भी मेहता के प्रति उसका व्यवहार पहले जैसा ही कोमल-मधुर रहा और उनकी देखभाल भी वह बराबर करती रही। अन्त में वे दोनों विवाह-बंधन के बिना ही साथ-साथ जीवन-यात्रा करने का निश्चय करते हैं। इस निश्चय के पीछे जो प्रेरणा है, वह मालती के अमर, अटूट प्रेम की घोषणा है—'नहीं मेहता, मैं महीनों से इस प्रश्न पर विचार कर रही हूँ और अन्त में मैंने यह तय किया है कि मित्र बनकर रहना स्त्री-पुरुष बनकर रहने से कहीं सुखकर है। तुम मुझसे प्रेम करते हो, मुझ पर विश्वास करते हो, और मुझे भरोसा है कि आज अवसर आ पड़े तो तुम मेरी रक्षा प्राणों से करोगे। तुममें मैंने अपना पथ-प्रदर्शक ही नहीं, अपना रक्षक भी पाया है। मैं भी तुमसे प्रेम करती हूँ; तुम पर विश्वास करती हूँ और तुम्हारे लिए कोई ऐसा त्याग नहीं है, जो मैं न कर सकूँ। और परमात्मा से मेरी यही विनय है कि वह जीवन-पर्यन्त मुझे इसी मार्ग पर दृढ़ रखे। हमारी पूर्णता के लिए, हमारी आत्मा के विकास के लिए और क्या चाहिए? अपनी छोटी-सी गृहस्थी बनाकर, अपनी आत्माओं को छोटे-से पिंजड़े में बंदकरके, अपने दुःख-सुख को अपने ही तक रखकर, क्या हम असीम के निकट पहुँच सकते हैं? यह तो हमारे मार्ग में बाधा ही डालेगा।'[3]

---

१. प्रेमचन्द : 'गोदान', (पृष्ठ ३२३-३२४)
२. वही : (पृष्ठ ३२५)
३. वही : (पृष्ठ ३५१)

'वचन का मोल' की कजरी भी आदर्श प्रेमिका का एक अलौकिक रूप उपस्थित करती है। एक ओर कजरी का मन विनय की ओर अनुरक्त है, दूसरी ओर सरोज कजरी के प्रति अनुरक्त है। जब मरणासन्न सरोज कजरी से अपने हृदय का

कजरी

रहस्य उद्घाटित करता है और उससे विवाह करने का निवेदन करता है तो कजरी के सामने धर्म-संकट उपस्थित हो जाता है। क्या वह अपने प्रेम के प्रति सच्ची रहकर सरोज को मर जाने दे, एक आत्मा की हत्या का पाप अपने सिर पर ले? अथवा, क्या वह सरोज की इच्छा-पूर्ति कर अपने प्रेम को मिथ्या सिद्ध कर दे? अंत में कजरी एक ऐसा उपाय खोज लेती है जिससे उसके प्रेम की भी रक्षा हो जाती है और सरोज को भी शिकायत का अवसर नही रह जाता। वह निश्चय करती है : 'मैं क्वाँरी ही रहूँगी।' अन्त तक कजरी अपने इस वचन पर अटल रहती है और इस प्रकार अपने प्रेम को कलुषित होने से बचा लेती है। प्रेम के लिए सर्वस्व त्याग का ऐसा मार्मिक चित्र प्रेमिका के चरित्र को अलौकिक महिमा से मंडित कर देता है।

'शेखर : एक जीवनी' की शशि के चरित्र में 'अज्ञेय' ने प्रेम की तन्मयता और निष्काम समर्पण का अपूर्व उदाहरण प्रस्तुत किया है। लौकिक बंधनों और वर्जनाओं को अपने उत्कट प्रेम-प्रवाह में बहाती हुई शशि अपने प्रिय के लिए

शशि

अपने जीवन को प्रेम-यज्ञ की आहुति बना डालती है। बचपन से ही शशि के मन में अपने मौसेरे भाई शेखर के प्रति अनुराग उत्पन्न हो जाता है। शेखर की विलक्षण प्रतिभा और अदम्य व्यक्तित्व के प्रति उसकी श्रद्धा निरन्तर बढ़ती जाती है। जब शेखर क्रुद्ध होकर शशि के सिर पर लोटा मार देता है तो शशि घायल हो जाने पर भी शेखर को माता-पिता की मार से बचाने के लिए निस्संकोच झूठ बोल देती है।[1]

यद्यपि शेखर शशि का प्रेम पाने के लिए कोई प्रयत्न नहीं करता, तथापि शशि प्रारम्भ से ही शेखर को अपना मानती है और वय के साथ उसके इस एकान्त प्रेम का भी सहज विकास होता रहता है। यह प्रेम शशि के व्यक्तित्व को तो तेजस्विता देता ही है, शेखर के जीवन में भी आमूल परिवर्तन ला देता है। विद्रोही, अशान्त, हठी शेखर शशि के सामीप्य में अनोखी शान्ति का अनुभव करता है,[2] उससे प्रकाश पाता है,[3] और उसके प्रति

---

१. 'इतनी-सी बच्ची थी यह, तब तुमने नहाते हुए लोटा मार कर इसका सिर फोड़ दिया था, तब भी यह तुम्हें बचाने के लिए झूठ बोली थी कि अपने आप लग गया है।'
'अज्ञेय' : 'शेखर : एक जीवनी' (पृष्ठ १८९) दूसरा भाग

२. 'इतना शान्त तो मैं कहीं नहीं रहता जितना यहाँ।'
वही : (पृष्ठ ३२)

३. 'यही तो शशि ने कहा था, मैं अपनी उलझनों में पड़ा रहता हूँ, आसपास की दुनिया में जो मेरा कर्तव्य है वह नहीं करता···'दुःख उसकी आत्मा को शुद्ध करता है, जो

कृतज्ञ भी होता है। यह शशि के अनन्य और प्रबल प्रेम का ही प्रभाव है कि वह शेखर जैसे आत्म-रत व्यक्ति के मन पर भी व्याप्त हो जाता है। शेखर एक पल को भी शशि को नहीं भुला पाता। यहाँ तक कि उसका राजनैतिक बंदी जीवन भी शशि के स्मरण से सिक्त हो जाता है।

उधर शशि भी इस इतनी बड़ी दुनिया में केवल शेखर को ही अपना मानती है। जब उसके सामने विवाह का प्रश्न उठाया जाता है तो वह चिन्तित हो जाती है। उसकी आत्मा मानो शेखर के ही लिए बनी है। फिर विवाह किससे और कैसा? वह अनायास ही शेखर का स्मरण करती है: 'अगर शेखर बाहर होता तो वह उसकी सहायता माँगती बातचीत को स्थगित कराने में; पर वह जेल में है, और—और कोई इस इतनी बड़ी दुनिया में है नहीं जो उसका पक्ष ले।'[1] शशि शेखर को जेल के सीखचों के भीतर ही पत्र लिखकर सुझाव माँगती है। शेखर विवाह करने या न करने का दायित्व शशि पर ही छोड़ता है किन्तु दोनों विकल्पों में वह शशि के साथ पूर्ण सहयोग का आश्वासन देता है।[2]

शशि इस आश्वासन से इतनी निश्चिन्त अनुभव करती है कि वह अपनी माँ की प्रसन्नता के लिए अपने प्राणों के प्रतिवाद करने पर भी विवाह के लिए सहमत हो जाती है। 'वह शेखर के प्रति दुगुनी कृतज्ञ है कि वह उसके लिए इतना करके उसके आगे भी जा रहा है, वह उसके दीपक में स्नेह भी भर रहा है—'भविष्य क्या है, नहीं जानती; और मैंने जो मार्ग अपने लिए निर्धारित किया है उसमें भविष्य होने का प्रश्न भी नहीं है। वह इतना ज्वलित है; पर इतना मैं आज तुम्हें कहती हूँ कि तुमने जो मुझे दिया वह मैं उसमें नहीं भूलूँगी। · · ·मैंने माँ से कह दिया कि मुझे इस मामले में किसी तरह की कोई दिलचस्पी नहीं है, उनकी आज्ञा मुझे शिरोधार्य है।'[3]

इस प्रकार शशि इस अनचाहे विवाह को स्वीकार कर यंत्र की भाँति निर्विकार रूप से

उसे दूर करने की कोशिश करता है। और किसी का नहीं।' यही तो उसने कहा था· · ·और 'दुःख सब जगह है'—मैं उसे एक जगह—समझ रहा हूँ—अपना ही दुःख लिए फिरता हूँ · · ·और शुद्धि दूसरे के साथ दुःखी होने में नहीं है, दूसरों के लिए दुखी होने में है।'

'अज्ञेय' : शेखर : एक जीवनी (पृष्ठ ४२)

१. वही : (पृष्ठ ६९)

२. 'और मैं तुम्हारे साथ हूँ, शशि, तुम विवाह हो जाने दो, अपने भविष्य को किसी और के भविष्य में मिला दो—तब भी मेरी सारी शक्ति तुम्हारे साथ होगी कि तुम अपने चुने हुए मार्ग में अडिग रहो; और वैसा तुम नहीं करो, एक व्यक्ति पर अपने को मिटाने की बजाय समाज के विरोध से ही टक्कर लेना चाहो, तो भी मैं तुम्हारे साथ हूँ।'

वही : (पृष्ठ ७८)

३. वही : (पृष्ठ ७७)

पति के साथ रहने लगती है, पर शेखर को वह नहीं भुला पाती। बीच-बीच में पति से उसकी चर्चा करती रहती है। शेखर का स्मरण ही उसे पति-गृह में अन्यमनस्क बनाये रहता है जो उसके पति को चिन्तित कर देता है। जब जेल से छूटने के बाद शेखर उससे मिलने पहुँचता है तो भी वह सहसा अपना यह अन्यमनस्क भाव नहीं काट पाती। 'अरे, तुम कैसे आ गए ?' और ठिठक गई। एक मुस्कराहट भी नहीं—चेहरे पर किसी तरह का कोई भाव नहीं झलका। पर क्या उन बड़ी-बड़ी खुली आँखों का स्निग्ध विस्मय और उस प्रश्न की सहज आत्मीयता झूठी थी ?'[1]

शशि पत्नी की मर्यादा के प्रति सचेत है इसलिए वह शेखर से यथासंभव दूरी का व्यवहार करने की चेष्टा करती है किन्तु फिर भी उसके मन का असंतोष और शेखर के प्रति उसका अनन्य अनुराग झलक ही पड़ता है। वह शेखर के जेल-जीवन के सम्बन्ध में सब कुछ जान लेने को उत्सुक है क्योंकि वह शेखर के व्यक्तित्व का कोई भाग ऐसा नहीं रहने देना चाहती जिससे वह अपरिचित रहे। कभी वह यह जिज्ञासा करती है कि कहीं शेखर जेल जाकर अन्य बंदियों की भाँति व्यक्तियों पर अविश्वास तो नहीं करने लगा है?[2] और कभी उसके भाव-लोक की वे अंतरंग बातें जानना चाहती है जिनमें वह अपना स्थान समझती है।[3] यह जानकर आन्तरिक सुख का अनुभव करती है कि शेखर अब भी उसके प्रति पूर्ववत् उन्मुख है। यह भाव उसमें साहस और आत्म-विश्वास भरता है। जब शेखर कहता है कि उसकी साहित्य रचना रुकी हुई है क्योंकि वह यह नहीं समझ पाता कि किसके लिए लिखे, तब शेखर को प्रेरित करने के लिए वह संकोच त्याग कर पूछ बैठती है : 'शेखर, क्या मेरे लिए लिख सकते हो ? · · ·' 'मैंने पूछा है, क्या मेरे लिख सकते हो ? मैंने नहीं सोचा था कि मुँह से कहना पड़ेगा, पर कहने में भी कोई हर्ज नहीं है · · · और सुनो, तुम जितना अच्छा लिखोगे, उतना ही बाहर से क्लेश पाओगे पर भीतर से तुम्हें शान्ति मिलेगी। मैं कहूँ तो यह बड़ी बात लगेगी, पर तुम्हारा प्रतीक उस शान्ति का ही नहीं, इस क्लेश का भी साझीदार हो सकता है।'[4]

---

१. 'अज्ञेय' : शेखर : एक जीवनी (पृष्ठ १०७)
२. 'बहुत से लोग जेल जाकर खट्टे हो जाते हैं—उनका किसी पर विश्वास नहीं रहता, तुम तो वैसे नहीं हो गये ?'
 वही : (पृष्ठ ११०)
३. 'पर यह तो बाहर की घटना है। तुमने अपनी बात तो कुछ कही नहीं। मैं वह भी सुनना चाहती हूँ।'
 'अरे मैं · · · शेखर सकुचा गया। शशि से कैसे उस अन्तरंग जीवन की बात कहे जिसमें शशि की ही देन इतनी बड़ी थी।'
 वही : (पृष्ठ ११३)
४. वही : (पृष्ठ १२४)

इस प्रकार शेखर के आन्तरिक सुख-दुख की साझीदार बनकर शशि उसके अत्यन्त निकट आ जाती है। शेखर उसको बहन की भाँति नहीं, प्रेयसी की भाँति पाता है। उसके सारे स्वप्न शशि में आकर घुल जाते हैं।[१] और शशि उसके प्रेम को वरदान समझ कर ग्रहण करती है। अनचाहे विवाह को स्वीकार कर उसने अपने बाह्य जीवन की आहुति दे दी है किन्तु उसका अपना जो अंतरंग जीवन है, वह शेखर को ही समर्पित है :

'तुमने जो दिया है, उसमें लज्जा नहीं है। वह वरदान है, यह मैं भी विना लज्जा के देखती हूँ। वरदान में अस्वीकार का विकल्प नहीं है।'

'...'

'विवाहिता हूँ। अपना आप मैंने स्वेच्छा से दे दिया है; अपने को, इह का संकल्प कर दिया है—आहुति दे दी है। जो दे दिया है, मेरा नहीं है, उसकी ओर से मै कुछ नहीं कह सकती; न कुछ स्वीकार ही कर सकती हूँ, न प्रतिवाद कर सकती हूँ, और न कुछ दे सकती हूँ'...

'अपने को मिटा देने में मैंने कंजूसी नहीं की—खुले हाथ से दिया—होम कर दिया, और देख लिया कि सब जल गया है—धूल हो गया है। यह नहीं सोचा कि धोखा खाया, मैंने स्पष्ट देखा था कि यही होगा।'

...'पर तुममें मेरा वह जीवन है, जो मैं हूँ, जो मेरा मैं हूँ।'[२]

अपने इसी अनन्य प्रेम के बल पर शशि शेखर पर अपना अधिकार समझती है, उसके जीवन में अपने को साझीदार समझती है। जब शेखर अपने मन की अस्वस्थता के कारण द्वार से ही खिसक जाने की सोचता है तो शशि अधिकारपूर्ण स्वर में कहती है : 'मै कहती हूँ, तुम नहीं जाओगे' फिर उतने ही स्थिर किन्तु सर्वथा बदले हुए स्वर में, 'मेरी तरफ़ देखो शेखर—मेरी आँखों की तरफ़। क्या तुम मनमानी कर सकते हो—अकेले हो ?'[३] शशि के इस विश्वास के सम्मुख विद्रोही शेखर भी परास्त हो जाता है। उसका सारा विद्रोह शशि में ही आ जाता है।

वस्तुतः शेखर के प्रति शशि का प्यार उसके मन की गहराई में उतर चुका है। उस प्यार की शक्ति को शेखर पहचानता है। इसीलिए उसके लिए वह प्यार प्रेरणा का अक्षय स्रोत और जीवन के लिए वरदान सिद्ध होता है। उस प्यार को स्वीकार कर शेखर का व्यक्तित्व और भी ऊपर उठ जाता है। शशि का ध्यान उसे निरन्तर आगे बढ़ने की प्रेरणा देता है। और शशि की भावना तो इतनी महत् और उदात्त है कि वह शेखर को बनाने में स्वयं मिट जाती है। वह अपने व्यक्तिगत सुख-दुख की उपेक्षा कर निरन्तर शेखर के भविष्य के प्रति चिन्ताशील रहती है।

---

१. 'अज्ञेय' : शेखर : एक जीवनी (पृष्ठ १६४-१६५)
२. वही : (पृष्ठ १६६)
३. वही : (पृष्ठ १६९)

पति से अपमानित, प्रताड़ित और परित्यक्त होकर वह शेखर के साथ रहने लगती है। पर जब देखती है कि उसके स्वास्थ्य और निर्वाह की समस्या शेखर को चिन्तित करती है तो वह फिर से पति के पास जाकर वही नारकीय यंत्रणा सहने को प्रस्तुत हो जाती है। वह कहती है—'मेरी आत्मा उसमें नहीं मरेगी, शेखर ! मैं वहाँ भी जी लूंगी, जी सकूंगी—क्योंकि तुम्हें बचाती रहूँगी—तुम्हें बढ़ाती रहूँगी। ···तुमसे दूर हटती हूँ, शेखर क्योंकि पंगु हो गई हूँ; इसलिए नहीं कि प्यार का अर्थ नहीं जानती। ···और मैं लौटकर इसलिए जी सकूँगी कि माँ की तरह पाल सकूँगी—तुम नहीं जानते—तुम नहीं जानते कि यह विश्वास मेरे लिए कितना आवश्यक है—अब और भी अधिक ! जीवन वह कीड़े का होगा, पर नारी अग्निकीट हो सकती है, जिसके पेट में निरन्तर आग जलती है···'[1] पर शेखर को यह स्वीकार नहीं है : 'तुम कहीं जाओगी नहीं; और हारोगी नहीं; और डरोगी नहीं।'[2]

इसके बाद शशि अपने व्यक्तित्व को सब ओर से समेटकर शेखर में लीन हो जाती है। अपने अन्त के इन कुछ दिनों में वह नई स्फूर्ति और तुष्टि का अनुभव करती है और शेखर को निरन्तर प्रगति की ओर प्रेरित करती रहती है। यही कारण है कि वह शेखर को बाँधकर रखने में विश्वास नहीं करती। उसका निश्चित मत है कि शशि का भविष्य तो शेखर है किन्तु शेखर का भविष्य शशि से बहुत ऊपर है। उसका प्रेम तो केवल एक माध्यम है जिसके सहारे वह अपने उज्ज्वल भविष्य की खोज कर सकेगा। मरने के पूर्व शशि शेखर के नाम जो पत्र लिखकर छोड़ जाती है उससे उसके इसी निःस्वार्थ भाव की झलक मिलती है।

'तुमने मुझे जो दिया, वह मैंने कृतज्ञ होकर स्वीकार किया—वर मान कर, अधिकार मान कर नहीं; यह कल्पना मैंने नहीं की कि मैं उसे सदा के लिए बाँध रखूँगी। तुम्हारी आवश्यकता मुझे है, क्योंकि मेरा खण्डित व्यक्तित्व तुम्हारे द्वारा अभिव्यंजना का मार्ग पाता है—तुम्हारे द्वारा, और तुम्हारे लिए मैं जो स्वप्न देखती हूँ उनके द्वारा; किन्तु मैं जानती हूँ, देखती हूँ, कि तुम खण्डित नहीं हो, और इसलिए मेरा निश्चय है कि जहाँ तक मेरा वश है, वह मेरा प्यार नहीं होगा जो तुम्हें बन्दी बनाने का यत्न करेगा···शेखर, मेरा तुम पर अगाध स्नेह है, पर मैं चाहती हूँ कि तुम जानो कि मैंने तुम्हें बाँधा नहीं, बाँधती नहीं—न अब, जब मैं हूँ, और न—पीछे···

'तुम्हारा अपना भविष्य है, शेखर; मेरा भविष्य तुम और केवल तुम थे। उस अपने भविष्य की खोज में यदि···'[3]

'नई इमारत' की प्रतिमा का प्रेमी सन् १९४२ के स्वतन्त्रता-संग्राम में वीरगति को

---

१. 'अज्ञेय' : शेखर : एक जीवनी (पृष्ठ २२१)

२. वही : (पृष्ठ २२२)

३. वही : (पृष्ठ २४७)

प्राप्त होता है। यद्यपि उसके मरने के पूर्व प्रतिमा का उससे क्षणिक सम्वन्ध ही हो पाया था[1] तथापि वह अपने सम्पूर्ण मन से उसे प्रेम करने लगती है। उसे अपने प्रेम पर अटल

प्रतिमा

विश्वास है। वह महमूद के पूछने पर कहती है, 'वे मुझे प्यार करते थे या नहीं यह सोचने का अभिशाप मुझे जीवन में नहीं हुआ। मैं उन्हें जितना चाहती थी उतना किसी लड़की ने किसी पुरुष को आज तक न चाहा होगा।'[2] इसी अनन्य प्रेम की पृष्ठभूमि में जव उसका प्रेमी मरने के पूर्व उसे अपने छोड़े हुए अधूरे कार्य को पूरा करने का, घर-परिवार, व्यक्तिगत सुख-दुःख का मोह छोड़कर देश की आज़ादी की लड़ाई में हँसते-हँसते वलि हो जाने का आदेश देता है[3] तो प्रतिमा अपने प्रेमी की मृत्यु का भीपण आघात सहकर भी अपने प्रेमी के आदेशानुसार अपने दुर्भाग्य पर रोने-विलखने के बजाय उसके अधूरे कार्य को पूर्ण करने में अपना शेष जीवन अर्पित कर देती है और स्वयं प्रेमी की अनुगता की भाँति देश की आज़ादी के लिए वलि हो जाती है। इस प्रकार प्रतिमा अपने प्रेम की सत्यता प्रमाणित करती हुई एक आदर्श प्रेमिका का शाश्वत उदाहरण प्रस्तुत करती है।

'नई इमारत' की दूसरी पात्री आरती भी आदर्श प्रेमिका है। उसके प्रेम की लगन समाजगत रूढ़ियों के वंधन को पार कर जाती है। वह महमूद को प्यार करती है।

आरती

महमूद भी उसे चाहता है। दोनों हृदय से एक दूसरे के हो जाना चाहते हैं।[4] किन्तु धर्म-भेद के कारण आरती के माँ-वाप इसे स्वीकार नहीं करते। वे नाना प्रकार से उसे समझाते रहते हैं। और जव आरती अपने प्रेम पर अडिग रहती है तव क्रुद्ध होकर उसका वाहर आना-जाना तक वन्द कर देते हैं। परन्तु नारी का सच्चा प्रेम हार नहीं मानता। वह

---

१. 'केवल एक क्षण का नाता था—केवल एक चुम्वन —एक स्फूर्तिभरे आलिंगन का नाता था। केवल एक बार मैं उनकी शहीद गोद में बैठी थी···केवल एक बार उनके प्यासे होंठों की पूजा में समर्पित हुई थी। बस भैया। मेरी कहानी दो लब्जों में पोशीदा है।'
'अंचल' : 'नई इमारत' (पृष्ठ ८-९)

२. वही : (पृष्ठ १९-२०)

३. 'तू एक काम करना। घर द्वार कुटुम्ब परिवार—समस्त सुख सौख्य सृजन का मोह छोड़ कर विप्लव यज्ञ की ज्वाला जलाना···तेरा तन अब तेरा नहीं, मेरा है। मेरा आदेश है तू उसे कभी देश की आज़ादी की लड़ाई से बढ़कर न मानना।'
वही : (पृष्ठ १७)

४. आरती—'आप ले चलेंगे तो चलूँगी। आप जहाँ ले चलेंगे चलूँगी।'···
महमूद—'और मैं वहाँ तुम्हारी एक झलक के लिए —शबे माहताब जैसी एक-

महमूद से कहती है: 'मुझे कुछ नहीं चाहिए। मैं तुम्हें चाहती हूँ। तुम्हें पाकर मुझे, कुछ भी पाना शेष नहीं रह जाता····तुम्हें छोड़ना चाहूँ, छोड़ नहीं सकती। लगता है तुम्हें पाकर दो चार जीवन समूचे और सफल हो जाएँगे···[1]

अन्त में अपने प्रेम की पूर्ति का और कोई उपाय न देखकर, वैभव-विलास की गोद में पली आरती सारे सुख-वैभव को तृणवत् त्यागकर अपने परिवार से सम्बन्ध-विच्छेद कर लेती है और पिता से साहसपूर्वक कहती है: 'आप ऐसी बात न करें। आप मेरे पिता हैं—मेरे दिली जज़बातों पर रहम करें। मैं किसी सरकारी नौकर से शादी न करूँगी, अगर शादी करूँगी तो महमूद के साथ। वर्ना मुझे अपने रास्ते जाने दें। आपके क्या संसार के अब रोके न रुकूँगी। मेरा नारीत्व ही स्वीकार न करेगा।'[2]

फिर भी आरती का प्रेम अन्धा नहीं है। वह महमूद को बराबर अपने कर्तव्य-पथ पर चलते रहने की प्रेरणा देती है। आवश्यकता पड़ने पर वह स्वयं भी उसका साथ देने को तैयार है। उसे गर्व है कि महमूद देश की स्वतन्त्रता के लिए प्राणपण से उद्योग कर रहा है। वह महमूद की बहिन शमीम से कहती है, 'महमूद से कह देना मेरी चिन्ता न करें। उन्हें जो करना है—जिन्दगी और मौत की जो हलचल है उसे देखें, समझें। मैं रहूँगी, उनकी रहूँगी। मेरा तन, मन आत्मा सब उनके लिए महफ़ूज़ रहेगा।'[3]

'उनसे कह देना बाजी। जीवन में जब सब भूलने लगें, तब भी मेरी याद का अभिशाप उन्हें क्रान्ति की गति—विद्रोह की प्रलय लहरी—पराजित देश की वेदना और बिखरी प्रतिज्ञाएँ भूलने न दें। कह देना—वे जिस क्षण जहाँ चाहेंगे मैं अपना अभिशप्त रूप और अनियंत्रणीय यौवन—गर्म रक्त से रंजित आह्लाद और पीड़ा लिए पहुँच जाऊँगी। कोई ताकत मुझे उनकी पुकार पर मिट जाने से रोक नहीं सकती।'[4]

और अन्त में महमूद के सुख-दुख में साथ देने के लिए, उसकी सच्ची जीवन-संगिनी बनने के लिए वह सारी चिन्ताएँ छोड़कर उसके साथ कंधे से कंधा मिलाकर कर्मक्षेत्र में रत हो जाती है।

एक दूधिया चितवन के लिए—तुम्हारी एक-एक कपूरी मुस्कान के लिए—तुम्हारी चूड़ियों की एक-एक गीत-भरी झंकार के लिए। मेरी ओर देखो। मेरे तरसने की सीमा है।'

'अंचल' : 'नई इमारत' (पृष्ठ ३५-३६)

१. वही : (पृष्ठ ३८)

२. वही : (पृष्ठ ७८)

३. वही : (पृष्ठ ११८)

४. वही : (पृष्ठ १२०)

'सोहिनी' की सोहिनी असित को इतना उत्कट प्रेम करती है कि उसकी प्रेरणा पाकर वह अपने जीवन-क्रम को ही वदल देती है। वह स्वदेशी आन्दोलन में भाग लेती है और अपनी समस्त धन-सम्पत्ति भी देश को अर्पित कर देती है।

सोहिनी

वाद मे उसे निर्धन और क्षयग्रस्त होकर भांति-भाँति के अपमान और तिरस्कार सहने पड़ते है किन्तु वह असित को नही भूल पाती। उधर असित राजनीति से विरत होकर विदेश जाकर उन्माद-चिकित्सा का विशेषज्ञ वनकर डाक्टर के रूप में प्रतिष्ठित हो जाता है और रोगियों की चिकित्सा द्वारा देश-सेवा करता है। जव सोहिनी को इसका पता चलता है तो वह असित के मार्ग की वाधा वन जाने के भय से पुरुप वेश धारण कर उसके दर्शन करने जाती है। किन्तु प्रेम-जनित असावधानी के कारण असित उसे पहिचान लेता है। सोहिनी अपने मन मे असित को वर लेती है और हर प्रकार से उसकी सहायता करती है। किन्तु क्षय-रोग की रोगिणी होने के कारण वह अपने प्रेमी की भलाई के लिए अपने आपको उससे दूर रखती है। एक दिन रसायनशाला में असित की मृत्यु हो जाती है। सोहिनी का प्रेम इतना सच्चा और अटल है कि वह सती सावित्री की भाँति असित का सिर अपनी गोद में लेकर वैठ जाती है उन्हें पुनर्जीवित करने की आशा में। 'मै कहती हूँ एक दिन यह उठेंगे। उठना इन्हें पड़ेगा ही।'''क्या आज मै अपनी इच्छा-शक्ति से अपने पति के रुद्ध-प्राय हृदय की गति पूर्ण नहीं कर सकती हूँ ?'

अपने दोनों हाथों को असित के हृदय पर रखकर सोहिनी मुँह पर दृष्टि गड़ाए शान्त होकर बैंठ गई। वह वैसी ही वैठी रह गई। वैठी रही। अपनी इच्छा-शक्ति के वल पर पति के हृदय को गतिसम्पन्न करेगी।"[1]

१: उषादेवी मित्रा : 'सोहिनी' (अन्तिम पृष्ठ)

अध्याय ८

ऐतिहासिक उपन्यासों में नारी-चित्रण

प्रेमचन्द-पूर्व

हिन्दी के प्रारम्भिक ऐतिहासिक उपन्यासों में यद्यपि चरित्र-चित्रण की ओर बहुत ही कम ध्यान दिया गया है, तथापि नारियों को सदाचार एवं कर्तव्य-पालन की शिक्षा देने के उद्देश्य से नारी-पात्रों में उन गुणों का समावेश किया गया है जिनको इस काल के लेखक आवश्यक एवं वांछनीय समझते थे। इनमें से अधिकांश की दृष्टि आर्य संस्कृति की पुनःप्रतिष्ठा और हिन्दू धर्म के पुनरुत्थान पर थी, इसीलिए इस काल में प्राचीन आर्य सती-नारियों और मध्ययुगीन वीर-बालाओं के त्याग-उत्सर्गमय जीवन का परिचय विशेष रूप से दिया गया। नारी पतिव्रता बने, सुगृहिणी बने, वीर और निर्भीक बने, इसी उद्देश्य से इस काल में सती सावित्री, सीता, अनसूया, सुभद्रा, सीमन्तिनी, मदालसा, बेहुला, द्रौपदी, चन्द्रलेखा आदि के पौराणिक आख्यान और 'वीरांगना', 'वीरबाला', 'वीर पत्नी', 'लवंगलता', 'पानीपत', 'वीरमणि', 'रानी दुर्गावती' आदि में मध्ययुगीन वीर-बालाओं के शौर्य-वृतान्त उपन्यास के रूप में प्रस्तुत किये गए हैं। इनमें से अधिकांश उपन्यासों की दृष्टि में साम्प्रदायिक भावना का पुट है। अनेक उपन्यासों में मुसलमानों के अत्याचार और उनके प्रतिकार की कहानी है। कहीं-कहीं लेखक इस बात के लिए अंग्रेजों की प्रशंसा तक करता पाया जाता है कि उन्होंने मुसलमानों को पराभूत कर दिया है—

इन उपन्यासों में मुख्यतः नारी के तीन रूप लक्षित होते हैं :

(१) वीरांगना नारी।

(२) प्रेममयी और लज्जामयी नारी।

(३) उच्छृंखल नारी।

किशोरीलाल गोस्वामी ने 'हृदयहारिणी' और 'लवंगलता' द्वारा हिन्दू नारी समाज के सम्मुख ऐसी दो ललनाओं का उदाहरण उपस्थित किया जो अपने पातिव्रत एवं अपने धर्म की रक्षा के निमित्त मुसलमानों के अत्याचारों का विरोध करने में अपने प्राणों पर खेल जाती हैं। लवंगलता अपने आपको सिराजुद्दौला के चंगुल से बचाने में सफल होती है। बलदेवप्रसाद मिश्र के 'पानीपत' में महाराष्ट्र के वीरों की ऐतिहासिक कहानी है। इसमें नारी का संग्राम-भूमि में अवतरित होना, गोपिकाबाई का अपने पति को भाऊ के सम्बन्ध में ऊँच-नीच समझाना, पति को युद्ध के लिए प्रोत्साहित कर सुसज्जित करना और फिर अन्त में स्वयं सती होना चित्रित है। जब दत्ता जी की मृत्यु के अवसर पर मल्हारराव

अत्यन्त दुखी हैं तब गोपिकावाई अपने पति को ललकार कर कहती है: 'यदि दत्ताजी के लिए सहानुभूति है तो तलवार हाथ में लेकर शत्रुओं का संहार करो।'[१]

इस प्रकार प्रेमचन्द-पूर्व के ऐतिहासिक उपन्यासों में एक ओर नारी हाथ में तलवार लेकर रणचंडी वन जाती है तो दूसरी ओर प्रेममयी और लज्जामयी भी दृष्टिगोचर होती है। बलवन्तराव की पत्नी लक्ष्मीवाई पुरुष और नारी के कर्तव्यों को सुस्पष्ट करती हुई कहती है: 'वीरों के लिए संग्रामभूमि ही आनन्द-भवन है। अवला जाति का जीवन सब भाँति पुरुष के भरोसे पर है। प्रेम ही हमारा संसार समझा जाता है और उसका अधिपति स्वामी है जीवनेश्वर। मेरा लोक-परलोक तो सब तुममें ही है।'[२] 'महेन्द्र मोहिनी'[३] में मोहिनी महेन्द्र की वीरता पर उसी प्रकार मोहित है जिस प्रकार संयोगिता पृथ्वीराज की वीरता पर मुग्ध थी। जब दुर्जनशील नाम के शराबी एवं नीच व्यक्ति से मोहिनी का विवाह-सम्बन्ध पक्का हो जाता है तो वह ग्लानिवश आत्महत्या करने का तो प्रयास करती है, किन्तु लज्जा के कारण पिता से अपनी अनिच्छा प्रकट नहीं कर पाती। महेन्द्र के प्रति उसकी आसक्ति इतनी तीव्र है कि महेन्द्र को अपने भाई की मृत्यु का कारण जानकर भी उसके प्रेम में किसी प्रकार की कमी नहीं आती, प्रत्युत कहती है: 'जीवनेश! मैं आपकी दासी हूँ। आपने जो कुछ किया उसकी भागिनी मैं हूँ।'[४] सती सीता की भाँति महेन्द्र के राज्य-निष्कासन के अवसर पर वह उसके साथ जाने को प्रस्तुत हो जाती है।

इन आदर्श नारियों के विपरीत इस युग के ऐतिहासिक उपन्यासों में ऐसे भी कुछ उदाहरण मिलते हैं जहाँ नारी ने अपने प्रेम के साथ खिलवाड़ किया है। किशोरीलाल गोस्वामी लिखित 'तारा' उपन्यास में नायिका तारा अपने कामुक प्रेमियों को छकाने और छिपकर उनकी प्रेमोक्तियों में आनन्द लेने की जो उत्सुकता दिखाती है, वह राजपूत रमणी के आदर्शों के विपरीत पड़ता है। इस प्रकार के चरित्र-चित्रण पर तत्कालीन तिलिस्मी उपन्यासों का प्रभाव स्पष्ट है।

यह दुःख का विषय है कि तत्कालीन बंगला साहित्य में अच्छे ऐतिहासिक उपन्यास होते हुए भी इस युग में हिन्दी में कोई अच्छा ऐतिहासिक उपन्यास नहीं लिखा गया। गोस्वामी जी आदि उपन्यासकारों ने जो ऐतिहासिक उपन्यास लिखे, उनमें दो-चार ऐतिहासिक पात्रों के नामों के अतिरिक्त कुछ भी ऐतिहासिकता नहीं होती थी। ऐतिहासिक उपन्यासों के अभाव की पूर्ति करने का प्रयत्न बंकिमचन्द्र और राखाल वन्द्योपाध्याय के ऐतिहासिक उपन्यासों के हिन्दी अनुवादों द्वारा किया गया। हिन्दी के पाठक ने इन अनुवादों का अच्छा स्वागत किया। 'दुर्गेशनन्दिनी', 'चंद्रशेखर', 'देवी चौधुरानी',

---

१: बलदेवप्रसाद मिश्र: 'पानीपत' (पृष्ठ १७१)
२. वही: (पृष्ठ ३०६)
३: बालकृष्ण दामोदर शास्त्री लिखित 'महेन्द्र: मोहिनी'
४. वही: (पृष्ठ २१७)

'आनन्द मठ' आज भी लोगों को प्रिय हैं। इन उपन्यासों की भाँति हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासों में न तो ऐतिहासिक कल्पना एवं राष्ट्र-भावना का ऊंचा आदर्श परिलक्षित होता है और न मानवीय कोमल प्रवृत्तियों का उत्कर्ष।

प्रेमचन्द-काल

प्रेमचन्द का युग हिन्दी में उपन्यास की प्रतिष्ठा का युग है। पुष्ट कथा वस्तु, स्वाभाविक चरित्र-चित्रण और नवीन जीवन के अनुरूप आदर्शोन्मुख समाज-दर्शन इस युग को अभूत-पूर्व गौरव से मंडित करता है। ऐतिहासिक उपन्यासों के क्षेत्र में यह वृन्दावनलाल वर्मा का युग है। हिन्दी साहित्य को उनके रूप में पहली बार सच्चे ऐतिहासिक उपन्यासकार के दर्शन हुए जब उनका 'गढ़ कुंडार' (१९२८) प्रकाशित हुआ। इसके बाद अपने अथक अध्ययन और श्लाघनीय लगन से उन्होंने एक-एक कर 'विराटा की पद्मिनी' (१९३६), 'मुसाहिबजू' (१९४६), 'झाँसी की रानी' (१९४६), 'कचनार' (१९४८) और 'मृगनयनी' (१९५०) जैसे सफल ऐतिहासिक उपन्यास हमें दिये। उनकी लेखनी आज भी अविराम गति से रचना कर रही है। यद्यपि उनका कृतित्व प्रेमचन्द युग की अपेक्षा प्रेमचन्दोत्तर काल में ही अधिक प्रकाशित हुआ है, पर सर्व-श्रेष्ठ और सर्व-प्रमुख ऐतिहासिक उपन्यासकार होने के नाते प्रेमचन्द-युग में ही वे प्रतिष्ठित हो चुके थे। इसलिए हम उनके सभी उपन्यासों की एकत्र चर्चा करना ही उचित समझते हैं। वस्तुतः ऐतिहासिक उपन्यासों का विचार रचना-काल से भी अधिक लेखक के व्यक्तित्व से सम्बन्ध रखता है, इसलिए हम काल-क्रम की अपेक्षा लेखक-क्रम से उनकी विवेचना करेंगे।

वर्मा जी के ऐतिहासिक उपन्यासों में मध्य-युगीन बुंदेलखण्ड का जीवन चित्रित हुआ है। 'गढ़ कुंडार' की कथा चौदहवीं शताब्दी की है और 'झाँसी की रानी' की कथा उन्नीसवीं शताब्दी की। उनके उपन्यास इन्हीं पाँच शताब्दियों को अपने पृष्ठों में समेटे हुए हैं। यह काल बुंदेलखण्ड के गौरव का भी काल रहा है और पतन का भी। बाहरी आक्रमणों का निरन्तर भय, छोटे-छोटे राज्यों की प्रतिद्वन्द्विता और कूटनीति, एवं शासक-वर्ग की भोग-लिप्सा के कारण जन-जीवन त्रस्त, अनिश्चित और नैराश्यपूर्ण रहा। किन्तु बीच-बीच में साहस, शौर्य, शक्ति, संकल्प और उदात्त भावनाओं से युक्त पुरुष और नारियों के व्यक्तित्व ने उसे यश और आशा का प्रकाश भी निरन्तर दिया है। आशा-निराशा, सत्-असत् और आदर्श एवं अधम चरित्रों का यह रंगीन संसार वर्मा जी की प्रभावकारी लेखनी से जीवन्त हो उठा है। यही कारण है कि उनके नारी पात्रों में भी हम गुण-अवगुण दोनों का स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक चित्रण पाते हैं। सामन्तीय जीवन का शायद ही कोई ऐसा पहलू हो जो वर्मा जी की सूक्ष्म दृष्टि से बचा हो। रनिवास और ऊँचे-ऊँचे महलों में बन्द नारियों से ले कर गाँव की भोली नारियाँ, नीच कहलाने वाली जातियों की कर्मठ नारियों तक से उन्होंने अपने पात्र लिए हैं, और प्रत्येक को उसके स्वभाव एवं परिस्थिति के अनुकूल सजी-

वर्मा

वता दी है। इसी प्रकार लक्ष्मीवाई और मृगनयनी जैसी आदर्श नारियों और सुमन-मोहिनी और पिल्ली जैसी कर्तव्य-च्युत नारियों—सब को वर्मा जी ने कुशलता और उदारतापूर्वक चित्रित किया है। और यह उनकी स्वस्थ राष्ट्रीयता का ही प्रमाण है कि उन्होंने राजन्य वर्ग की नारी की अपेक्षा साधारण नारी को अधिक गुणों से विभूपित किया है, केवल लक्ष्मीबाई ही इसका अपवाद है।

यद्यपि ऐतिहासिक उपन्यासों में काल-विशेप का चित्रण ही प्रधान लक्ष्य होता है तथापि उसकी कथावस्तु के चयन और चरित्रों के विकास में युग का प्रभाव भी अनिवार्य रूप से पड़ता है। वर्मा जी का बुंदेलखण्ड की भूमि और परम्परा से अत्यन्त घनिष्ठ परिचय होने के कारण उनके उपन्यासों की परिधि अनायास ही निर्धारित हो गई थी, फिर भी परोक्ष रूप से उनमें युग की समस्याओं और आवश्यकताओं की झलक भी मिलती है। इस युग में सामाजिक रूढ़ियों से मुक्त कर नारी को समर्थ और शिक्षित वनाने की ओर लेखकों का विशेष रूप से ध्यान गया था। स्वच्छन्द प्रेम, अन्तर्जातीय विवाह, राष्ट्र के लिए त्याग एवं वलिदान पर लेखकों की विशिष्ट दृष्टि थी। वर्मा जी के उपन्यासों में भी हम प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से इन्हीं प्रवृत्तियों को पाते है। नारी-प्रेम की समस्या तो प्रायः प्रत्येक उपन्यास में मिलती है। उसके माध्यम से एक ओर वर्मा जी ने अतीत का वड़ा आकर्षक और रोमाण्टिक चित्र उपस्थित किया है, दूसरी ओर सामाजिक सुधार और नवीन आदर्शों की स्थापना पर भी ज़ोर दिया है। मुक्त, निर्मल और निर्भीक प्रेम उन नारी-चरित्रों की सामान्य विशेपता है। दो-एक अपवादों को छोड़कर उनकी सभी प्रेयसियां प्रेम के लिए कठिन-से-कठिन दुःख सहने को तैयार मिलती हैं, और सच्चे प्रेम के सामने कुल के मिथ्या दंभ अथवा सामाजिक रूढ़ियों को तिलांजलि देने में नहीं हिचकती। उनका प्रेम उथला या अस्थायी नहीं , इसीलिए वह उनमें साहस, वीरता, सदाचार, त्याग और कर्तव्यपरायणता की भावना का संचार करता है।

'गढ़ कुंडार', 'विराटा की पद्मिनी' और 'कचनार' प्रधान रूप से और 'मृगनयनी' में भी महत्त्वपूर्ण रूप से नारी के प्रेम का चित्रण है। इनके पात्रों के माध्यम से नारी-प्रेम के प्रायः सभी रूप मिल जाते हैं। 'गढ़ कुंडार' की मानवती और 'कचनार' की कचनार राजकुल की प्रेमिकाएँ हैं तो 'विराटा की पद्मिनी' की कुमुद, 'क़चनार' की कचनार और 'मृगनयनी' की लाखीरानी लोक-वर्ग की। 'गढ़ कुंडार' की तारा को हम मध्यवर्ग की प्रेमिका कह सकते हैं। इनके प्रेम में इसीलिए इनकी वर्ग-गत विशेषताओं का प्रभाव हम किसी न किसी रूप में अवश्य पाते हैं। मानवती प्रेम करते हुए भी वर्णाश्रम धर्म की रूढ़ि में बँधी साहसहीन आचरण कर अपने जीवन को असफल वना लेती है, जव कि लाखारानी (लाखी) वर्णाश्रम धर्म की रत्ती भर परवाह न कर अपने प्रेम के प्रति दृढ़ रहती है, और अपना तथा अपने प्रेमी का जीवन सार्थक करती है। कलावती विवाह के क्षण से ही अपने देवर मानसिंह के प्रति आकर्पित होकर अंत में उसकी परिणीता भी वन जाती है, जव कि कुमुद अपने देवी-स्वरूप के प्रति निष्ठा रखने के कारण कुंजर के प्रति

आकर्षित होते हुए भी अंत तक संयम और सात्विकता का निर्वाह करती है। तारा और कचनार दोनों अनन्य प्रेम का उदाहरण प्रस्तुत करती हैं।

'गढ़ कुंडार' और 'मृगनयनी' दोनों उपन्यासों में जातीय दंभ अथवा धार्मिक रूढ़ि और प्रेम की टकराहट दिखाई गई है, यद्यपि परिणाम की दृष्टि से दोनों दो विरोधी छोरों पर हैं। 'गढ़ कुंडार' में तीन नारी पात्र हैं, और इन तीनों की भी स्थिति अलग-अलग है। पर इस एक बात में उनमें समानता है कि इनमें से किसी का भी प्रेम-विवाह समाज और धर्म की रूढ़ियों को स्वीकार कर लेने पर संभव नहीं बचता। यह असमर्थता इस सामन्तीय जीवन को एक तीव्रता प्रदान कर देती है।

बुन्देले राजा सोहनपाल की पुत्री हेमवती के रूप की ख्याति सुनकर खंगार राजपुत्र नागदेव उसके दर्शन को हरिचंदेल की गढ़ी पहुँचता है। वहाँ पहुँचते ही उसे चन्देलों की ओर से मुसलमानों के विरुद्ध युद्ध छेड़ना पड़ता है। उसकी वीरता से प्रसन्न होकर हरिचंदेल घायल नागदेव को अपनी गढ़ी में ले जाता है, और अन्तःपुर में उसकी सेवा-सुश्रूषा होने लगती है। वहीं उसे हेमवती की एक झलक देखने को मिलती है। वह रीझ उठता है। 'कोमल अंग है, उछलती हुई बड़ी आँखें हैं, गरबीली ठोड़ी है, सीधी नाक है।' हेमवती के प्रति अपनी इस आसक्ति के कारण ही वह राजा सोहनपाल को कुंडार ले आता है, और हेमवती के हृदय में स्थान पाना चाहता है। जब वह और कोई उपाय न देख प्रत्यक्ष प्रणय निवेदन करता है तो हेमवती अपने जातीय अभिमान के कारण उसका तिरस्कार कर देती है: 'यदि आप यहाँ से नहीं जाते तो मैं जाती हूँ। बुन्देला-कन्या न ऐसी भाषा सुन सकती है और न सह सकती है। और खंगार राजा होने पर भी बुन्देला-कन्या का अपमान करने की शक्ति नहीं रखता।' नागदेव इसके बाद हेमवती का अपहरण करने की भी योजना बनाता है, पर उसकी कोई युक्ति सफल नहीं होती।

नागदेव की बहन मानवती और अग्निदत्त की प्रेम-कथा इससे भिन्न है। अग्निदत्त और नागदेव मित्र हैं, अग्निदत्त ब्राह्मण है, नागदेव क्षत्रिय। दोनों में भाईचारा है। मानवती भी अग्निदत्त के प्रति आकर्षित है। पर वर्णाश्रम धर्म का बंधन आड़े आ जाता है। मानवती की सगाई उसी के वर्ण के एक व्यक्ति के साथ हो जाती है। अग्निदत्त को जब यह सूचना मिलती है, तो वह पागल हो उठता है। वह मानवती के पास जाकर कहीं भाग जाने का प्रस्ताव करता है। पर मानवती दुर्बल है, समाज की रूढ़ि को तोड़ना उसे अपने वश से बाहर की बात लगती है। अग्निदत्त को निराश लौट आना पड़ता है। मानवती के विवाह के दिन अग्निदत्त नारी-वेश में मानवती के पास पहुँचता है, और उसका अपहरण करने की सोचता है। तभी वहाँ नागदेव आ जाता है और अग्निदत्त को पहचान लेता है। रहस्य प्रकट हो जाता है। नागदेव अपने कुल और जाति के दंभ में अग्निदत्त का अपमान कर उसे राज्य से निकाल देता है: 'इसी समय कुंडार छोड़कर किसी नरक में जा डूब।' क्रुद्ध होकर अग्निदत्त प्रतिशोध लेने की सोचता है, और बुन्देलों से मिलकर खंगारों पर आक्रमण कर देता है। भीषण रक्तपात और मार-काट में दोनों पक्ष के अनेक व्यक्ति काम

आ जाते हैं। जब बुन्देले सैनिक गर्भवती मानवती को, जो प्रसव-वेदना में कराह रही है, मार डालना चाहते हैं, तब अग्निदत्त को अपनी भूल मालूम पड़ती है। वह अपने प्रेम का स्मरण कर मानवती की रक्षा करते-करते अपने प्राण गँवा देता है।

'गढ़ कुण्डार' में अग्निदत्त की बहन तारा का प्रणय-प्रसंग इन दोनों से ऊँचे धरातल पर है। तारा ब्राह्मण है, दिवाकर कायस्थ, पर दोनों एक दूसरे के प्रति समान रूप से आकर्षित हैं। यद्यपि जातिगत रूढ़ियों के कारण वे विवाह-बंधन में नहीं बँध पाते, पर उनका प्रेम अदम्य है, और वे जीवन भर एक दूसरे का साथ नहीं छोड़ते। दिवाकर का प्रेम नागदेव अथवा अग्निदत्त जैसा वासना-जनित प्रेम नहीं है। वह अंतःकरण से तारा की पूजा करता है। जब सर्प के काट लेने पर तारा की जान पर बन आती है तब दिवाकर ही विष चूसकर उसकी प्राण रक्षा करता है।[1] इसी प्रकार तारा भी दिवाकर को बन्दीगृह से छुड़ाने में अपने प्राणों पर खेल जाती है।[2] लेखक ने अत्यन्त कुशलतापूर्वक दोनों की आत्माओं के संयोग के चित्र खींचे हैं। युद्ध की विभीषिका से खिन्न होकर उनके प्रेम में विराग का समावेश होता है। वे इस सामन्तीय समाज के क्षुद्र चौखटे से निकलकर अनजानी डगर पर चल देते हैं। इस प्रकार तारा और दिवाकर का आदर्श प्रेम रूढ़ि और भोले अन्धविश्वास की वेदी पर बलि हो जाता है। अपनी असमर्थता में भी अपनी अनन्यता को अक्षुण्य रखकर वे इस प्रेम प्रसंग को तीव्र बना देते हैं।

प्रेम का यह बलिदान कदाचित् लेखक को भी सोचने पर बाध्य कर देता है। हम कह सकते हैं कि दिवाकर की योग-साधना विफल नहीं जाती। लगभग बीस वर्ष बाद जब 'झाँसी की रानी' और 'मृगनयनी' की रचना होती है तब लेखक इस सम्बन्ध में अपने विचारों को आत्म-मंथन द्वारा और भी स्पष्ट एवं तर्कयुक्त बना चुका है। इनमें दो प्रेम-प्रसंग ऐसे चित्रित हुए हैं जहाँ रूढ़िवादी समाज के अंधे नियमों के प्रति स्पष्ट विद्रोह मिलता है। 'झाँसी की रानी' में उस विद्रोह की एक झलक मात्र है, क्योंकि उपन्यास का मुख्य स्वरूप कुछ और ही है। पर 'मृगनयनी' में उस विद्रोह का चरम प्रकाश है। मानो 'गढ़ कुंडार' में वर्मा जी ने जो समस्या उठाई थी, उसी का समाधान 'मृगनयनी' में दे दिया है। यह भी लक्ष करने की बात है कि इस विद्रोह के आधार लोक-वर्ग के चरित्र हैं जो सामन्तीय व्यवस्था के प्रति कोई मोह-भाव नही रखते।

'झाँसी की रानी' में इस विद्रोह के माध्यम नारायण शास्त्री और छोटी भंगिन हैं। दोनों एक दूसरे पर आसक्त हैं। पर उनका प्रणय व्यापार समाज की आँखों से छिपा रहता है, विवाह का तो प्रश्न ही नहीं उठता। जब जनेऊ के सवाल को लेकर कुछ छोटी जाति के लोगों के समर्थन में नारायण शास्त्री शास्त्रोक्तियों से अपने पक्ष की पुष्टि करने लगते हैं तभी कट्टरपंथी उनके इस प्रणय-व्यापार का भंडाफोड़ कर उनकी बदनामी करते

१. वृन्दावनलाल वर्मा : 'गढ़-कुण्डार' (पृष्ठ २९०)
२. वही : (पृष्ठ ४९८-५०१)

टी रूप में अद्वितीय है, पद्मिनी है। ऊँची जाति के अनेक लोग उससे लुक-छिप कर
वेदन करते रहते हैं। पर छोटी नारायण शास्त्री को अपना हृदय दे चुकी है। जब
जाती है तो एक ओर छोटी की जाति वाले उसको जाति-बाहर करना चाहते हैं,
ार कट्टर पंथी लोग नारायण शास्त्री की शिकायत राजा गंगाधर राव से कर देते
ला राजसभा में पेश होता है। नारायण शास्त्री शुरू में तो हिचकिचाते हैं, पर
ा के सामने साहस से अपना अपराध स्वीकार कर लेते हैं ताकि छोटी को कोई
ना पड़े। इधर छोटी नारायण शास्त्री को बचाने के लिए सारा अपराध अपने
ती है। एक दूसरे के प्रति सच्ची कामना का यह अत्यंत मार्मिक उदाहरण है।
ा दोनों को देश-निकाले की सजा देता है। दोनों इसे सहर्ष स्वीकार करते हैं
छोड़कर चले जाते हैं।

पूरे उपन्यास में यह छोटा-सा प्रकरण गौण और आनुषंगिक ही है, तथापि
ढ़ियों के विरुद्ध साहसपूर्ण चुनौती उसमें झलक ही उठती है। 'गढ़ कुंडार'
क़दम आगे है; जहाँ दोनों पात्र समाज से डरते-छिपते अवश्य है, पर अन्त में
वस्तुस्थिति का सामना करने के लिए कमर कस लेते है। संक्षेप के कारण यह प्रेम प्रसंग
न तो पूर्ण रूप से विकसित ही हुआ है, न उसका कोई व्यापक प्रभाव ही दिखाया
गया है।

'मृगनयनी' में यह कमी पूरी हो जाती है। मृगनयनी और अटल भाई-बहिन हैं,
जाति के गूजर हैं, सौंक नदी के किनारे राई नामक गाँव के निवासी हैं। दोनों युवा हैं
और परिवार में अन्य कोई सदस्य न होने के कारण दोनों साथ-साथ परिश्रम कर अपना
जीवन-निर्वाह करते हैं। सिकन्दर लोदी के आक्रमण की बाढ़ उतर जाने पर जब गाँव
फिर बस जाता है, तब एक लड़की अपनी बुढ़िया माँ के साथ किसी आसपास के गाँव से
आकर वहीं बस जाती है यह लाखी है, जाति की अहीर। धीरे-धीरे निन्नी (मृगनयनी)
और लाखी (लाखी रानी) में मैत्री हो जाती है। दोनों अल्हड़ हैं, हँसमुख हैं, समवयस्क
हैं और भावुक हैं।

अनायास ही लाखी और अटल में आकर्षण उत्पन्न हो जाता है, जो धीरे-धीरे गम्भीर
और सच्चे प्रेम का रूप धारण कर लेता है निन्नी लाखी को पसन्द करती है, इसलिए
वह इस प्रेम को निरन्तर प्रोत्साहित करती है। लेखक ने इस प्रेम का विकास अत्यन्त
कौशल से चित्रित किया है। अत्यंत धीर गति से अनेक परिस्थितियों के संघटन से वह
अपने उत्कर्ष तक पहुँचता है।

होते-होते गाँव वालों में इस सम्बन्ध को लेकर कानाफूसी शुरू हो जाती है। झूठी-
सच्ची बातें फैलने लगती हैं माण्डू के सुलतान की ओर से मृगनयनी और लाखी के
अपहरण के लिए नटों का दल और अश्वारोही सैनिकों के आने से स्थिति और भी जटिल
हो जाती है। गाँव वाले चाहते हैं कि ये तीनों कहीं और चले जाएँ तो सारे गाँव की रक्षा
हो जाय। तभी ग्वालियर-राज मानसिंह गाँव में आते हैं, मृगनयनी पर मुग्ध होकर उससे

विवाह कर लेते हैं और अटल को आशा बंधती है कि शायद बोधन-शास्त्री उनके विवाह के लिए तैयार हो जाएँ। पर शास्त्री किसी प्रकार राजी नहीं होता। अटल के तर्क करने पर स्पष्ट कह देता है कि राजा की बात और है, साधारण जन शास्त्र की व्यवस्था के विरुद्ध नहीं जा सकते। वह हुक्का-पानी बन्द करा देने का भी डर दिखाता है।

विरोध पाकर अटल का रूप और भी प्रखर हो जाता है। वह समाज की उपेक्षा कर स्वयं ही लाखी से अपना विवाह कर लेता है।

इसी क्षण से उनका सम्मिलित प्रेम-जीवन शुरू हो जाता है, और आजीवन निष्कम्प और अकुण्ठित बना रहता है। गाँव त्यागकर वे नटों के साथ नरवर की ओर चले जाते हैं। वे इस रहस्य से अनभिज्ञ है कि नट लाखी को सुल्तान के पास ले जाने के लिए षड्-यंत्र रच रहे है। पिल्ली अपने रूप के कुत्सित प्रदर्शन से अटल को लाखी से अलग करना चाहती है, पर अटल घृणा ही देता रहता है। लाखी को महलों के रंगीन सपने देकर फुसलाया जाता है। लाखी प्रकट रूप से सहमत-सी जान पड़ती है पर अवसर पाकर नटों का नाश कर अपने अटल प्रेम का परिचय देती है। उसकी वीरता और सावधानी से नरवर की रक्षा होती है, और राजा मानसिंह प्रसन्न होकर उन्हें अपने साथ ग्वालियर ले जाता है। मृगनयनी और लाखी का फिर मिलन होता है। अटल को राई की गढ़ी का शासक बना दिया जाता है, और लाखी उसकी रक्षा करने में अपने जीवन को आहुति दे देती है। लाखी का प्रेम, आत्माभिमान, साहस और शौर्य सब अलौकिक हैं।

पर जहाँ भी वे जाते हैं, अटल और लाखी का रूढ़ि-विरोधी विवाह चर्चा और टीका का विषय बन जाता है। लाखी को इससे गहरी यंत्रणा मिलती है। यद्यपि मृगनयनी के आग्रह पर मानसिंह उनका विधिवत् विवाह भी करा देते हैं, पर फिर भी इन चर्चाओं का अन्त नहीं होता। लाखी की यह वेदना उसके अन्तिम शब्दों में बड़ी मर्मस्पर्शी बन जाती है जब वह अपने बाद अटल से स्वजातीय विवाह कर लेने की भीख माँगती है :

'यह क्या हो गया।' फफकते हुए गले से अटल ने कहा।

'कुछ नहीं। एक भीख माँगती हूँ। दे दो।' लाखी के टूटते स्वरों में निकला।

अटल ने हाथ जोड़े।

'हिष्ट ! यह क्या !!' लाखी के रक्त-रंजित होठों में से एक पतली-सी मुस्कान फूटकर विलीन हो गई।

अटल ने हाथ नीचे कर लिए।

और भी टूटे स्वर में वह बोली, 'व्याह कर लेना। अपनी जात पाँत में...'[1]

लाखी की यह चेतना जितनी स्वाभाविक है, उतनी ही स्वाभाविक समाज की निन्दा भी है। लेखक ने ऐसा चित्रण कर वर्णित युग के साथ न्याय किया है। यदि समाज उनके इस विवाह को स्वीकार करता दिखाया जाता तो वह अनैतिहासिकता का दोष ही बनता।

---

१. वृन्दावनलाल वर्मा : 'मृगनयनी' (पृष्ठ ४६६)

वर्मा जी के ऐतिहासिक उपन्यासों में नारी प्रेम के जो अन्य रूप मिलते हैं, उनमें इतनी प्रखरता और गहराई नहीं है। वे अपेक्षाकृत अधिक मधुर और अधिक पार्थिव हैं। 'विराटा की पद्मिनी' में कुमुद का कुंजर के प्रति आकर्षण अवश्य गहरा है, पर उसकी गहराई का कारण कोई विवाह-समस्या नहीं है। कुमुद के देवी-रूप के कारण ही उसमें यह गहराई आ गई है। इसकी सविस्तार चर्चा हम अन्यत्र कर चुके हैं। कुमुद के अतिरिक्त दो ही और उल्लेखनीय प्रेमिकाएं हैं: 'कचनार' की कलावती और कचनार। कचनार कलावती की दासी है, जो मायके से उसके साथ आई है, और कलावती को दीदी कहती है। कलावती का विवाह राजा दलीपसिंह से हुआ है, पर अपनी अस्वस्थता के कारण विवाह के अवसर पर वे स्वयं नहीं जा सके। निदान, गोंडों की प्रथा के अनुसार कलावती का विवाह उनकी कटार से होता है जिसे लेकर उसका छोटा भाई मानसिंह गया था। लेखक ने सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक दृष्टि से काम लेकर कलावती और मानसिंह में आकर्षण और प्रेम के विकास का चित्रण किया है। दलीपसिंह की ईर्ष्या और कलावती का भय भी अत्यन्त स्वाभाविक धरातल पर प्रतिष्ठित हैं। मानसिंह कलावती के प्रणय में डूब जाने के कारण ही बड़े भाई को विष दे देता है, और फिर कलावती से विवाह कर लेता है। समाज की दृष्टि से इस विवाह में कोई दोष भी नहीं। बाद में जब दलीपसिंह बचकर लौट आते हैं और फिर गद्दी पर बैठते हैं, तो वे सामन्तीय उदारता दिखाकर दोनों को क्षमा कर देते हैं। कलावती का प्रेम अत्यन्त स्वाभाविक होते हुए भी न तो किसी आदर्श की गरिमा लिए है, न उसमें कोई व्यक्तिगत विशेषता है। शुद्ध भोग की भूमि पर प्रतिष्ठित वह सामन्तीय प्रेम का एक सामान्य उदाहरण है। फिर भी उसमें सहज सरसता अवश्य मिलती है।

कचनार का प्रेम इसके विपरीत कुछ उदात्त और आदर्शोन्मुख है। जब प्रारम्भ में राजा दलीपसिंह उसकी ओर उन्मुख होते हैं, तो वह उनकी कामुकता का प्रतिरोध करती है। वह स्पष्ट कहती है कि विवाह किए बिना वे उसे अपनी नहीं बना सकेंगे।

कचनार ने कहा : 'बदल न जाइयेगा।'

दलीपसिंह झूमकर बोला, 'कभी नहीं।' कचनार के नेत्रों में तेज बढ़ा।

उसने कहा, 'मेरे साथ भांवर डालिये। मुझको अपनी पत्नी की प्रतिष्ठा दीजिए। अपनी जीवन-सहचरी बनाइये। वचन दीजिए। मैं आपके चरणों में अपना मस्तक रख दूंगी।'[1]

यद्यपि इस समय दलीपसिंह उससे विवाह करने के लिए सहमत नहीं होते तथापि कचनार के मन में दलीपसिंह के प्रति जो आकर्षण है, वह धीरे-धीरे प्रेम का रूप ले उठता है। दलीपसिंह भी ज्यों-ज्यों कलावती से खिचते जाते हैं त्यों-त्यों कचनार की ओर झुकते जाते हैं। राज-काज में भी उसके विचार और परामर्श का आदर करते हैं। यही कारण

---

१. वृन्दावनलाल वर्मा : 'कचनार' (पृष्ठ २४-२५)

है कि जब सागर-सेना के विरुद्ध लड़ने के लिए विदा लेने आते हैं तो वे कलावती से अधिक कचनार को सम्बोधन करते हैं।[१] कचनार को लगता है, मानों दलीपसिंह की आँखें मूक सम्वाद दे रही थीं—"मैं लौटने पर तुम्हारे साथ व्याह करूँगा।"[२]

दलीपसिंह युद्ध में तो विजयी होता है, पर लौटते समय घोड़े से गिर कर मूर्छित हो जाता है। उसकी यह मूर्छा टूटती नहीं। तीन दिन—तीन रात बाद जब उसे चेत आता है तो सबसे पहले उसके ओठों पर कचनार का ही नाम होता है। पर मानसिंह की दी हुई जड़ी-बूटी से वे और भी अस्वस्थ हो जाते हैं, और अन्त में उनको मरा जानकर अंतिम क्रिया के लिए ले जाया जाता है।

मानसिंह के राजा बनने पर कचनार में वैराग्य भाव का उदय हो जाता है, और जब मानसिंह अपनी लम्पट दृष्टि उस पर डालता है तो वह गुसाईंयों के अड्डे पर चली जाती है जहाँ दलीपसिंह सुमन्तपुरी के रूप में अपने दिन बिता रहा है। कचनार को कंचनपुरी नाम से पुरुषवेश में रहना पड़ता है।

यहाँ से कचनार के प्रेम में आदर्श का पुट आ जाता है। वह निश्छल भाव से दलीपसिंह की सेवा करती है और फलस्वरूप दलीपसिंह के राजा बन जाने पर उसकी रानी बन जाती है। कचनार के इस प्रेम-विकास को यद्यपि लेखक ने बहुत ही हल्के रंगों से अंकित किया है, फिर भी उसमें एक विचित्र प्रभावोत्पादकता है। उसके आदर्श प्रेम के संसर्ग से दलीपसिंह भी अपने कुछ सामन्तीय दोष छोड़ देता है। और कामुकता एवं विलासिता के स्थान पर उसके जीवन में एक गंभीरता का समावेश हो जाता है।

वर्माजी के उपन्यासों में प्रेमिकाओं के अतिरिक्त नारी के अन्य रूपों का भी यथेष्ठ चित्रण है। राजकुल की नारियों में सामन्तीय गुण-दोष भरपूर मात्रा में हैं। 'विराटा की पद्मिनी' में वृद्ध विलासी राजा नायकसिंह की बड़ी रानी और छोटी रानी का चरित्र यद्यपि संक्षेप में ही है, पर सच्चा है। बड़ी रानी धर्म-भीरु और ईर्ष्यालु है। छोटी रानी में दंभ और साहस है। देवीसिंह जब दरबारियों के कुचक्र से राजा बन जाता है, तो छोटी रानी के प्रयत्न से दोनों में मेल भी होता है और दोनों इस पर एक मत हो जाती हैं कि राजा को उतारने का सक्रिय प्रयत्न होना चाहिए। छोटी रानी में आवश्यक चतुराई, सावधानी और कूटनीतिज्ञता है। वह वीर है, शास्त्रधारिणी है और संकल्पवती है। पर स्वार्थ में अंधी होकर वह एक ओर कुंजर सिंह से मदद लेती है, दूसरी ओर नवाब अलीमर्दान से। अपने विफल प्रतिशोध में वह युद्धभूमि में ही वीरगति को प्राप्त होती है। उसका शौर्य सराहनीय है, पर स्वार्थ नहीं। इसी प्रकार 'मृगनयनी' में राजा मानसिंह की पहली आठ रानियाँ मृगनयनी के आने पर ईर्ष्या करने लगती हैं। उनका नेतृत्व बड़ी रानी सुमनमोहिनी करती है। वह राजा से समय-समय पर व्यंग्य भी करती रहती है, और मृगनयनी

१. वृन्दावनलाल वर्मा : 'कचनार' (पृष्ठ ९२)
२. वही : (पृष्ठ ९३)

को समाप्त करने के षड़यंत्र भी। पर सामन्तीय राजसी जीवन की पृष्ठभूमि में उसका चरित्र यथार्थ और स्वाभाविक है। ऐसी ही स्वाभाविकता 'मुसाहिवजू' की पत्नी की उदारता में और पिल्ली, नायकिन और कलावती (मृगनयनी) की अधमता में है। ये सारे चरित्र अपने देश-काल की सीमाओं में बंधे हैं, और अपने अपने स्थानों पर उपन्यासों की स्वाभाविकता की वृद्धि करते हैं, और उनकी परिधि को आवश्यक विस्तार देते हैं।

'विराटा की पद्मिनी' की गोमती इन सबसे अलग है। वह लोक-वर्ग की कन्या है और इसीलिए उसमें चारित्रिक दृढ़ता का प्रकाश मिलता है। जिस दिन देवीसिंह से उसका विवाह होने वाला था, उसी दिन उसके घर के सामने लड़ाई-झगड़ा हो जाता है जिसमें देवीसिंह राजा नायकसिंह की प्राण-रक्षा करता है। राजा उसे अपने साथ ले जाता है। विवाह की वात पीछे पड़ जाती है। पर गोमती अपने को देवीसिंह की परिणीता ही मानती है, और जव वह पालर छोड़कर विराटा में कुमुद के पास शरण लेने को वाध्य होती है, तव भी उसके मन-मंदिर में देवीसिंह की ही प्रतिमा प्रतिष्ठित मिलती है। वाद में जव उसे समाचार मिलता है कि देवीसिंह नायकसिंह की गद्दी पर वैठ गया है, तव अपने को रानी समझकर वह उस विपन्न दशा में भी फूली नहीं समाती और भाँति-भाँति के स्वप्न देखने लगती है। पर फिर भी वह वुन्देल-कन्या विना वुलाये पति के पास जाने में अपना अपमान मानती है। 'मैं स्वयं वहाँ जाऊँगी। मेरी वोटी-वोटी चाहे कोई काट डाले, परन्तु मैं ऐसे तो कदापि नहीं जाऊँगी। मैं भी इनके साथ जंगल में भजन करने को तैयार हूँ।'[1] जव देवीसिंह से अचानक भेंट होने पर वह जान पाती है कि वह उसको ग्रहण करने के लिए तनिक भी उत्सुक नहीं है तो उसका मन घृणा से भर जाता है, और वह रामदयाल के साथ जाकर देवीसिंह को लज्जित करने के लिए छोटी रानी के साथ युद्ध भूमि में उतरती है और मारी जाती है। इस प्रकार राजकुल की नारियों के विपरीत सामान्य कुल की गोमती आदर्श चारित्रिक दृढ़ता का परिचय देती है। वर्माजी ने अवसर पाते ही लोक-चरित्र को रुढ़िवादी सामन्तीय चरित्रों से श्रेयस्कर चित्रित किया है।

इन सारे नारी-पात्रों के संतुलन के रूप में वर्माजी ने दो आदर्श चरित्रों की प्रतिष्ठा की है—लक्ष्मीवाई और मृगनयनी। लक्ष्मीवाई भारत के प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम की नेत्री और मध्ययुग की सर्वश्रेष्ठ महिला थीं। वीरता, उदारता, त्याग, वलिदान और प्रेरणा की वह प्रतिमूर्ति थी। वह आदर्श शासिका है और आदर्श वीरांगना। मृगनयनी आदर्श पत्नी है, आदर्श वहन है, आदर्श सहेली है और आदर्श सपत्नी है। इन दो चरित्रों के माध्यम से वर्मा जी ने नारी जाति को वहुमुखी प्रगति करने का मार्ग दिखाया है। हिन्दी के समस्त ऐतिहासिक उपन्यासों में, इसीलिए, ये दोनों वेजोड़ हैं।

आदर्श चित्रण के सचेष्ट प्रयत्न के साथ-साथ वर्माजी ने इन उपन्यासों में ऐतिहासिक तथ्य का विशेष ध्यान रखा है। वर्षों की खोज और परिश्रम से, नाना स्रोतों से जानकारी

---

१. वृन्दावनलाल वर्मा : 'विराटा की पद्मिनी' (पृष्ठ २३६)

इकट्ठी कर वर्माजी ने इन दो नारियों की प्रतिमा गढ़ी है। इनके चित्रण में कल्पना से भी अवश्य कार्य लिया गया है पर उस कल्पना का यथार्थ से कहीं विरोध नहीं जान पड़ता।

पहले मृगनयनी को लें। ग्वालियर राज्य के राई गाँव में वह अपने भाई अटल के साथ रहती है। सब उसे निन्नी कहते हैं। घर में और कोई नहीं है इसलिए भाई-बहन मिलकर सारा काम करते हैं। निन्नी विलक्षण सुन्दरी है, वैसी ही स्वस्थ और बलिष्ठ भी। साहस और वीरता उसमें कूट-कूट कर भरी है। उसके रूप और शौर्य के कारण राई जैसा नगण्य गाँव भी सर्वत्र विख्यात हो जाता है।

राई की इस अद्वितीय नारी की प्रशंसा सुनकर राजा उत्सुकतावश शिकार के लिए राई आने का वचन देता है। गाँव में समाचार मिलने पर लाखी निन्नी को छेड़ती है, पर निन्नी का सहज भूमि-मोह दर्शनीय है :—

'और यह भी कहा होगा कि तुम ग्वालियर के राजा की रानी होने वाली हो!'

'होवे कोई अभागिन। राई नदी और इस खुले जंगल को छोड़कर मैं ग्वालियर के क़िले में कैद होने को जाऊँगी। बावली हुई है क्या?'[1]

गाँव के सरल प्राकृतिक जीवन के प्रति निन्नी का यह लगाव जन्मजात है, और बीच-बीच में लेखक हमें उसका स्मरण दिलाता चलता है। दैनिक जीवन की साधारण घटनाओं में भी निन्नी न तो यह लगाव भूलती है, और न भाई अटल या सहेली लाखी की सुख-सुविधा का ध्यान। और राजा गाँव में पधारते हैं। राजा और प्रजा का यह मिलन बड़ा ही भावपूर्ण है। राजा की निगाहें जब मृगनयनी पर पड़ती है तो राजा कह उठता है: 'शास्त्री जो धन्य है यह गाँव जहाँ सब गुणों से सम्पन्न मृगनयनी जैसी स्त्री है।'[2]

दूसरे दिन शिकार का आयोजन होता है। राजा के साथ निन्नी, लाखी और अटल भी शिकार के लिए जाते हैं। सब लोग मचान पर बैठते हैं। पर निन्नी-लाखी के लिए मचान की आड़ ही काफ़ी है। निन्नी एक नाहर को मारती है, और एक अरने को सींग पकड़ कर झिंझोड़ डालती है। राजा ने अभी तक उसका रूप देखा था, वीरता का केवल बखान सुना था। अब उसके शौर्य को प्रत्यक्ष देखकर वह मुग्ध होकर वहीं विवाह का प्रस्ताव करता है। निन्नी को जो असम्भव स्वप्न लग रहा था, वह सत्य हो जाता है। पर इतने अप्रत्याशित सुख के क्षण में भी निन्नी बह नहीं जाती। वह राजा से वचन लेती है कि वह उसे सहधर्मिणी का पद देगा और साँक नदी की नहर काटकर ग्वालियर तक ले जायेगा।

शीघ्र ही राजा और निन्नी का विधिवत् विवाह हो जाता है। अब वह मृगनयनी हो जाती है। पर उसका सरल मन प्रकृति की ओर ही आकर्षित है। महलों में पहुँकर भी

---

१. वृन्दावनलाल वर्मा : 'मृगनयनी' (पृष्ठ ५५)

२. वही : (पृष्ठ १७८)

उसे अपने गाँव की, भाई की, लाखी की और अपनी गाय की याद आती रहती है। दासियों का झुण्ड देखकर वह सोचती है: 'अरे, तो क्या मैं थोड़ी देर के लिए भी अकेली न रह पाऊँगी।'[१]

रानी का पद पाकर भी मृगनयनी के हृदय की यह निश्छल सरलता ही उसे आदर्श पत्नी बनने में सहायता देती है। अपने पति पर उसे अटूट विश्वास है। 'महाराज ने वचन दिया था कि पर्दे में नहीं रहेगी। वह निभाएँगे, अवश्य निभाएँगे।' सामान्य नारियों की भाँति वह वैभव विलास की चकाचौंध में अंधी नहीं होती, वह पढ़ना-लिखना चाहती है, संगीत सीखना चाहती है, चित्रकला समझना चाहती है ताकि वह अपने पति के उपयुक्त बन सके। वह राजा को तन ही नहीं मन भी देती है। उनके साहित्य-संगीत-कला प्रेम में सहयोग देती है, उनके राज-काज को ध्यान से सुनती-समझती है, और यदि राजा कभी प्रमाद भी करने लगते है तो उन्हें कर्तव्य का स्मरण कराती रहती है। राजा उसके प्रति अपने अनुराग से प्रेरित होकर कभी 'गूजरी महल' बनवाते हैं, कभी 'मानमंदिर'। गायक बैजनाथ 'गूजरी तोड़ी' और 'मंगल गूजरी' जैसे रागों की सृष्टि करता है। मानसिंह और मृगनयनी दो दिशाओं से आकर ऐसे अभिन्न रूप में एक हो जाते हैं कि ग्वालियर धन्य हो उठता है। मृगनयनी आदर्श पत्नी बन जाती है। और उसी के पूरक रूप में वह आदर्श पत्नी भी बनती है। पति राजकाज में इतने व्यस्त रहते हैं कि वह अंतःपुर की छोटी-छोटी बातों में उन्हें उलझाना नहीं चाहती। इसलिए बड़ी रानी सुमनमोहिनी की ईर्ष्या और षड़यंत्र की कहानियाँ वह चुपचाप पी जाती है। यही नहीं वह निश्छल भाव से यह घोषित कर देती है कि मानसिंह का उत्तराधिकारी बड़ी रानी का पुत्र विक्रमादित्य ही होगा, उसका पुत्र नहीं। सपत्नी के विद्वेष और वैर से आहत होकर भी वह न्याय का पल्ला नहीं छोड़ती।

इसी प्रकार अपने गाँव की स्मृति वह कभी नहीं भूलती। राजा के साथ बार-बार वहाँ शिकार को जाती है। अटल और लाखी की जब तक खोज नहीं हो जाती तब तक उसे चैन नहीं मिलता। उनके मिल जाने पर वह लाखी को महलों मे अपने समान ही मान कर रखती है और राजा से कह-सुनकर उनका विधिवत् विवाह करा देती है। अंत में राई में एक गढ़ी बनवाकर राजा अटल को उसका शासक घोषित कर देता है। पर लाखी और मृगनयनी फिर भी साथ ही रहती है।

'मृगनयनी' में मृगनयनी के रूप में हमें नारी की भव्य मूर्ति के दर्शन होते हैं। उसके चित्रण में लेखक ने असाधारण कौशल से काम लिया है। वैसा ही असाधारण कौशल 'झाँसी की रानी' में मिलता है। लक्ष्मीबाई का शौर्य, देश-प्रेम और बलिदान सदा लोक में पूजित-प्रतिष्ठित रहा। पर कुछ इतिहासकारों ने उस पर आरोप लगाये, कुछ संदेह भी प्रकट किया। वर्मा जी ने इन्हीं का खण्डन करने के लिए इस उपन्यास की रचना की।

---

१. वृन्दावनलाल वर्मा : 'मृगनयनी' (पृष्ठ २०८)

उसका प्रत्येक पृष्ठ देशप्रेम और वीरता का स्तम्भ है। उसकी कल्पना उदात्त है, क्षेत्र विस्तृत है, चित्रण सोद्देश्य और स्वाभाविक है। उसके पढ़ने पर एक पूरा युग आँखों के सामने आ जाता है। विदेशी शासन में भारत किस प्रकार विकल हो उठा था, और उसको समूल नष्ट करने के लिए बच्चा-बच्चा किस प्रकार वीर बन गया था, 'झाँसी की रानी' इसका अत्यन्त प्रेरक चित्र है। रानी लक्ष्मीबाई को केन्द्र बनाकर लेखक ने अनेक छोटे-बड़े स्त्री-पात्रों की सृष्टि की है जो हमें साहस, त्याग और स्वदेश प्रेम का पाठ पढ़ाती हैं। अनेक विस्मृत एवं अज्ञात तथ्य हमारे सामने आते है, और हम अपने इतिहास के इस ज्वलंत प्रकरण पर गर्व एवं देशाभिमान का अनुभव करते हैं।

लक्ष्मीबाई का जीवन और व्यक्तित्व विलक्षण है। उसके पिता मोरोपन्त पेशवा के साथ बिठूर में रहते थे। माँ बचपन में ही चल बसी। बालिका लक्ष्मी (मनू) में अद्‌भुत वीरता थी। घुड़सवारी, धनुर्विद्या, शास्त्र-विद्या में वह पारंगत थी।

तात्या दीक्षित जब उसे देखने आते है तो वह निःसंकोच अपनी वीरता का परिचय देती है। वह जो भी प्रश्न करती है, वह सेना या युद्ध से संबंन्धित। जब झाँसी के राजा गंगाधर राव से विवाह करने के लिए वह झाँसी आती है, तो मानो झाँसी में एक अलौकिक ज्योति उतर आती है। वह महल की दासियों से, नौकर-चाकरों से आत्मीयता का व्यवहार करती है,[१] और उनका हृदय जीत लेती है। वह उन सबमें वीरता और साहस के भाव भरती है, अपने ज्ञान और पराक्रम से उन्हें विस्मित कर लेती है, और अपना अंधभक्त बना लेती है। लोग प्रशंसा और आश्चर्य से उसके इस रूप को देखते हैं। छोटे-से-छोटे प्रसंग में भी वह ऐसी ही बातें करती है जो उसके मन में समाये ध्येय और आदर्श के अनुरूप हो। वह स्त्रियों से कहती है: 'पुरुषों को पुरुषार्थ सिखलाने के लिए स्त्रियों को मलखंब कुश्ती इत्यादि सीखना ही चाहिए। खूब तेज़ दौड़ना भी। नाचने-गाने से भी स्त्रियों का स्वास्थ्य सुधरता है, परन्तु अपने को मोहक बना लेना ही तो स्त्री का समग्र कर्तव्य नहीं है।'[२] फूलों को देखकर कहती है: 'मुझको भी पसन्द है, परन्तु क्या दुबले-पतले घोड़े पर सोने चाँदी का ज़ीन अच्छा लगता है।'[३] विवाह के समय गाँठ बाँधने में जब वृद्ध पुरोहित का हाथ काँपने लगता है तो वह झट से बोल पड़ती है: 'ऐसा बाँधिये कि कभी छूटे नहीं।'[४] उसकी प्रखरता से सब पर खुशी की लहर दौड़ जाती है। जूही मोतीबाई से कहती है: 'असली राजा तो झाँसी को अब मिला बाई जी!'[५] जब राजा महू के आनन्द-राव की अवहेलना करते हैं तो रानी को बुरा लगता है: 'मैने देख लिया है कि बुन्देलखण्ड

---

१. वृन्दावनलाल वर्मा : 'झाँसी की रानी' (पृष्ठ ६४)
२. वही : (पृष्ठ ६५)
३. वही : (पृष्ठ ६८)
४. वही : (पृष्ठ ७०)
५. वही : (पृष्ठ ७१)

पानीदार देश है। इस पानी को बनाये रखने की हमको जरूरत है। उस आदमी का पानी उतारा गया—यह बुरा हुआ।'[1] और काशी से कहती है, 'जिन्हें तुम छोटा आदमी कहती हो, आधार तो हमारे वे ही हैं।'[2] विवाहोपरान्त जब उसके पति गंगाधरराव को राज्याधिकार के बदले में अंग्रेजों को अपने राज्य का पंचमांश देना पड़ जाता है, तो सबसे अधिक क्षोभ रानी को ही होता है। जब राजा उसे नाटकशाला में साथ चलने के लिए कहता है तो रानी बड़ा कठोर व्यंग्य कर उठती है: 'इन दिनों अब इससे अधिक और हो ही क्या सकता है? राज्य का काम चलाने के लिए दीवान हैं। डाकुओं का दमन करने और प्रजा को ठीक पथ पर चालू रखने के लिए अंगरेजी सेना है ही। इस पर भी यदि कोई गलती हो गई तो कम्पनी के एजेण्ट की खुशामद कर ली। बस सब काम ज्यों का त्यों मनमाना चलता रहा।'[3]

जब राजा की सेवाओं से संतुष्ट होकर महारानी विक्टोरिया उन्हें प्रशंसा-पत्र भेजती है तब रानी लक्ष्मीबाई को 'हर्ष नहीं हुआ और न संतोष।' राजा के अपव्यय पर भी वह कुढ़ती है। केवल एक बात उसे पसन्द आती है कि राजा ने पाँच हजार के लगभग सेना तैयार कर ली है। पर राजा के पुरातन-पंथी विचार उसे नहीं भाते। घूमने-फिरने की आजादी न होने और पर्दा-प्रथा की झंझट के कारण महलों में बंधा रहना उसे अखरता है। पर फिर भी अपनी दिनचर्या में वह अन्तर नहीं आने देती। जब राजा पोलिटिकल एजेण्ट गार्डन से विवाद में देशप्रेम का परिचय देते हैं तो रानी खिल उठती है। त्योहार-उत्सवों में वह पद भूलकर महल की सभी स्त्रियों के साथ हिलमिलकर उत्सव मनाती है, और उनको तन-मन की उन्नति के लिए प्रेरित करती है। जब तात्या आकर उसे समाचार देता है कि नाना की पेन्शन अंग्रेजों ने रद्द कर दी है, और उसे कुछ करने के लिए उकसाया जा रहा है तो रानी दृढ़ प्रतिज्ञ पर दूरदर्शी नायक की भांति उत्तर देती है: 'टोपे, अभी समय नहीं आया है। घड़ा अपूर्ण है, अभी भरा नहीं है। हम लोगों के आपसी उपद्रवों ने जनता को त्रस्त कर दिया है। उसको थोड़ा साँस लेने योग्य बन जाने दो। समर्थ रामदास का दिया हुआ स्वराज्य-संदेश, छत्रपति शिवाजी का पाला हुआ वह आदर्श, छत्रसाल का वह अनुशीलन अमर और अक्षय है।'[4] इस प्रकार जिन इतिहासकारों का यह कथन है कि रानी पहले अंग्रेजों की भक्त थी, स्वार्थवश ही वह युद्ध में उतरी—वर्मा जी ने लक्ष्मीबाई के पूर्व-वृत्त के विशद और प्रभावपूर्ण चित्रण से उन्हें झूठा सिद्ध कर दिया है।

जब वृद्ध राजा रोगी होकर मर जाता है, तब पहली बार हमें लक्ष्मीबाई के व्यक्तित्व का पूरा प्रकाश दिखाई पड़ता है। झांसी की प्रजा रानी की भक्त है, गंगाधरराव के समय

---

१. वृन्दावनलाल वर्मा : 'झांसी की रानी' (पृष्ठ ७५)
२. वहीं : (पृष्ठ ७५)
३. वही : (पृष्ठ ८१)
४. वही : (पृष्ठ ११६)

में ही रानी का जो स्वरूप उन्होंने देखा सुना है, वह उनके हृदय में अमिट प्रभाव डाल चुका है। रानी ने जिस कार्य के लिए बचपन से अब तक की दीर्घ साधना द्वारा अपना जीवन गढ़ा है, उसे पूरा करने का अब समय और अवसर आ गया है। गंगाधर राव के जीवन में रानी ने एक पुत्र को जन्म दिया था, पर वह तीन महीने की आयु में ही चल बसा। राजा ने अपना अंत समीप जान रानी की स्वीकृति से आनन्दराव (दामोदरराव) नामक बालक को अपने दत्तक पुत्र के रूप में ग्रहण किया ताकि झाँसी का वंश आगे चल सके। अपनी मृत्यु-शय्या पर ही राजा अंग्रेज़ी सरकार के नाम एक खरीता भिजवाकर इन तथ्यों का स्पष्टीकरण करवा देते हैं। साथ ही वे मेजर एलिस को यह भी विश्वास दिलाते हैं कि 'रानी बहुत अच्छी व्यवस्था करेगी। आप लोग दामोदर राव की नाबालिगी से परेशान मत होना।'[१] परन्तु राजा की मृत्यु के पाँच-छै महीने तक अंग्रेजी सरकार की ओर से खरीते का कोई उत्तर नहीं आता। पर रानी को केवल अपनी ही चिन्ता नहीं है। तात्या और नाना जब उसके पास आते हैं तो वह सारे देश के समाचार जानने को उत्सुक है। वह यह भी स्पष्ट कर देती है कि 'जनता असली शक्ति है। मुझको विश्वास है कि वह अक्षय है। छत्रपति ने जनता के भरोसे ही इतने बड़े दिल्ली सम्राट को ललकारा था···राजा और नवाब की पीढ़ी, दो पीढ़ी ही योग्य होती है, परन्तु जनता की पीढ़ियों की योग्यता कभी नहीं छिनती।'[२] जनता के प्रति रानी का यह अटूट विश्वास ही उनकी सच्ची शक्ति है। उसी के कारण झाँसी की जनता भी उनके संकेत पर मर-मिटने को तैयार हो जाती है। झाँसी के युद्ध में और अन्य युद्धों में अंग्रेजी सेना को जो अन्तर मिला वह रानी के व्यक्तित्व के इस रूप के ही कारण। रानी राज्य के लिए नहीं, स्वराज्य के लिए लड़ती है। इसीलिए लेखक ने रानी के संघर्ष को व्यक्तिगत नहीं सामूहिक रूप दिया है, और रानी की ही नहीं जनसाधारण की भावनाओं और प्रतिक्रियाओं का भी वर्णन उतने ही विस्तार और मनोयोग से किया है। रानी और झाँसी की जनता अभिन्न हो जाती है। रानी के दत्तक-पुत्र को अंग्रेज सरकार स्वीकार करेगी या नहीं, यह सार्वजनिक चर्चा का विषय बन जाता है। जब एलिस एक जेब में लार्ड डलहौजी का उत्तर और दूसरी जेब में पिस्तौल रखकर रानी के दरबार में यह घोषणा सुनाता है कि कम्पनी सरकार ने दत्तक पुत्र को अमान्य ठहराया है, तो रानी अपना सारा विक्षोभ, सारा प्रतिवाद और सारा अभिमान एक वाक्य में भर देती है: 'मैं अपनी झाँसी नहीं दूँगी।'[३]

यह घटना रानी के जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण मोड़ है। इसके बाद वीरगति पाने तक रानी अपनी सारी शक्ति और चेतना स्वराज्य की प्राप्ति में लगा देती है। कोई भी परिस्थिति उसे निराश नहीं कर पाती। इस कठिन अवसर में जैसे उसका व्यक्तित्व तप

---

१. वृन्दावनलाल वर्मा: 'झाँसी की रानी' (पृष्ठ १२३)
२. वही: (पृष्ठ १४०-१४१)
३. वही: (पृष्ठ १६०)

कर निखर आता है। अंग्रेज झाँसी को हड़प कर अपने राज्य में मिला लेते हैं, रानी को केवल पेंशन का अधिकारी मानते है। पर रानी जानती है कि अभी समय नहीं आया है, इसलिए वह खून का घूंट पीकर रह जाती है, और धैर्य एवं बुद्धिमत्तापूर्वक अपनी तैयारियों में लगी रहती है। अंग्रेजों के प्रभाव में आकर रानी के जीवन के इस भाग का जो भ्रम-पूर्ण और विकृत चित्र खींचा गया था लेखक उसे तथ्यों के बल पर स्पष्ट कर देता है। रानी के अनुगत व्यक्ति अंग्रेजों की नौकरी करते हुए भी रानी के आदेश की वाट देखते रहते हैं, संवाद-वाहकों का कार्य करते हैं, और रानी को कभी निरुत्साह नहीं होने देते। रानी ने प्रतीक्षा की इस घड़ी में जिस लगन और धैर्य का परिचय दिया उससे अंग्रेज भी भ्रम में पड़ गये, और रानी को देशव्यापी विद्रोह से अलग समझकर, झाँसी में सैनिकों के विद्रोह के समय रानी से ही सहायता मांगते हैं। रानी की कूटनीति सफल सिद्ध होती है। रानी अंग्रेजों का क़त्ल-आम रोकने के लिए और सैनिकों को अनुशासित करने के लिए अब इनका नेतृत्व स्वीकार करती है और उन्हें समझा-बुझाकर दिल्ली की ओर प्रवृत्त कर देती है। साथ ही जनमत से झाँसी का राज्य संभालती है। पर वह जानती है कि संघर्ष अनिवार्य है इसलिए प्रतिक्षण वह उस निर्णय की घड़ी के लिए तैयार करती है। वह अपनी अद्-भुत क्षमता के बल पर सैन्य-संगठन और सैन्य संचालन करती है, सोये और बुझे हुए हृदयों में साहस का संचार करती है, युद्ध-नीति के छोटे-से-छोटे विवरण का स्वयं ध्यान रखती है, और झाँसी ही नहीं, सारे देश की मुक्ति की योजना बनाती है, नाना राव साहब और तात्या को तदनुरूप आदेश देती रहती है। पर इतनी क्रियाशीलता में भी उसके मुख की मुस्कान लुप्त नहीं होती, तोप के गोलों में भी विनोद-प्रियता उसका साथ नहीं छोड़ती। न न्याय अथवा उदारता को भूलती है। स्वयं नारी होने के कारण वह सहज ही अनेक नारियों को इस कार्य में प्रवृत्त कर लेती है, स्त्रियों की सेना संगठित करती है जिसका पराक्रम देख कर शत्रु-मित्र सब आश्चर्य चकित रह जाते हैं। रानी ने दूरदर्शिता के बल पर इतने दिन तक झाँसी में जो-जो कार्य किये थे, उनका सच्चा महत्व अव प्रकट होता है। पर उसका युद्ध सदा धर्म-युद्ध रहता है। अंग्रेज स्त्री-बच्चों की रक्षा वह उतनी ही तत्परता से करती है जितनी से अपनी प्रजा की।[1] शत्रु से घिर जाने पर वह जनता के सारे अभाव और कष्टों में उनका साथ देती है, और यथासंभव उनकी सुविधा का ध्यान रखती है।[2] अपने अलौकिक उदाहरण से वह अनगिनती व्यक्तियों को वीर बना देती है। और अपनी दूरदर्शिता और विशाल हृदयता से सागर सिंह जैसे डाकू-सरदार को स्वराज्य की लड़ाई में लगा लेती है।[3] झाँसी की रक्षा का युद्ध वीरों की प्रेरणा बन जाता है।

जब अन्त में जनरल रोज़ पीरअली और दूल्हाजू के विश्वासघात द्वारा झाँसी में

१. वृन्दावनलाल वर्मा : 'झाँसी की रानी' (पृष्ठ २५६-२५८)
२. वही : (पृष्ठ ३३१)
३. वही : (पृष्ठ २९३)

प्रविष्ट हो जाता है, और झाँसी का पतन अवश्यंभावी लगता है तो रानी को असीम वेदना होती है। पुस्तकालय जलता देख उसका साहित्य-विद्याप्रेमी हृदय काँप उठता है। इस घोर और चहुँमुखी पीड़ा से हिलकर वह अपने प्राणों का अन्त करना चाहती है। पर यह केवल क्षणिक दुर्वलता ही है। वह तुरन्त प्रकृतिस्थ होकर पराक्रम से अंग्रेज़ सेनाओं का पाश काटती अपने वीर-प्राण साथियों के साथ कालपी पहुँच जाती है, और तात्या और राव-साहव से जा मिलती है। रानी पेशवा की अस्त-व्यस्त सेना का संगठन करती है और मिल-कर ग्वालियर के अंग्रेज़ भक्त राजा को हरा कर क़िले पर अधिकार कर लेती है। राव साहव पेशवा की पदवी धारण कर हर्षोत्सव में मग्न हो जाता है। रानी को इससे वड़ी यंत्रणा होती है। जव वह देखती है कि भारतीय सेनाओं का कोई समन्वित संगठन नहीं हो सका है, एक मत होना और एक साथ चलना संभव नहीं है, और जो नायक है उनमें भी अनेक स्वराज्य का अर्थ न समझकर अवसर मिलते ही भोग-विलास में प्रवृत्त हो जाते हैं, तो वह समझ जाती है कि स्वराज्य का दिन अभी दूर है। राव साहव और तात्या का प्रमाद देखकर उसे पहली वार निराशा होने लगती है, और वह मन की शान्ति के लिए वावा गंगादास के पास जाती है, और प्रश्न करती है :

'हम लोगों के जीवन काल में स्वराज्य स्थापित हो जायगा ?'

वावा—'यह मोह क्यों ? तुमने आरम्भ किये हुए कार्य को आगे वढ़ा दिया है। अन्य लोग आएँगे। वे इसको बढ़ाते जाएँगे। अभी कसर है। स्वराज्य स्थापना के आदर्शवादी अपने-अपने छोटे-छोटे राज्य बनाकर बैठ जाते है। राजा टीमटाम तथा विला-सिता का दासत्व छोड़कर प्रजा का सेवक वन जाय तव जानो स्वराज्य की नींव भर गई और भवन वनना आरम्भ हो गया।'[१]

इस प्रवचन से रानी को सांत्वना मिलती है। वह अपना कर्तव्य निश्चित कर लेती है। उसको और उसके स्वामिभक्त वीरों को स्वराज्य के भवन की नींव भरनी है, उसका निर्माण वह नहीं देख पायेगी। यहाँ से रानी के चरित्र में त्याग और वलिदान का भाव एक अपूर्व अलौकिकता प्रदान करता है। वलिदान की यह भावना उसके सभी अनुगतों मे भर जाती है। अब जव वे लड़ने के लिए युद्ध भूमि में उतरते हैं तो इस चेतना के साथ कि यही अन्तिम युद्ध है। पर यह चेतना उनमें दूना शौर्य, चौगुना पराक्रम और अनन्त शक्ति भर देती है। और इस प्रकार स्वराज्य की वेदी पर अपनी वलि चढ़ाकर रानी अमर हो जाती है।[२]

लक्ष्मीवाई के चरित्र-चित्रण में वर्मा जी ने स्वदेश-प्रेम, वीरता, निर्भीकता, उदारता, साहित्य-कला, भाषा-प्रेम, दया, न्याय, दूरदर्शिता, त्याग, संगठन-क्षमता और जनहित की

---

१. वृन्दावनलाल वर्मा : 'झाँसी की रानी' (पृष्ठ ४७३-४७४)
२. वही : (पृष्ठ ४९३)

भावना के योग द्वारा जो प्रभावोत्पादकता की सृष्टि की है, वह हमारे साहित्य का स्थायी गौरव है।

रानी के अलौकिक चरित्र की प्रेरणा से उनके आस-पास वीर और उज्ज्वल नारियों का एक मण्डल वन जाता है। रानी उनकी केन्द्र है, प्रेरणा है, मूल-ज्योति है। रानी के विना वे सब अत्यन्त साधारण नारियाँ होतीं। पर रानी के व्यक्तित्व की किरणें पाकर वे सब महान वन जाती हैं और स्वराज्य के यज्ञ में अपनी आहुति देकर अमिट यश की भागिनी होती हैं। उन्हें पाकर रानी मानो सहस्रभुजा दुर्गा वन जाती है। वे निरन्तर उसके साथ रहती हैं, वे नर्तकी, दासी अथवा साधारण स्थिति की नारी हैं, पर रानी उन्हें अपना अन्तरंग बना लेती है, उनसे बड़े से बड़े प्रश्नों पर सलाह लेती है, उनकी रुचि और सम्मान का निरन्तर ध्यान रखती है, उनके उपयुक्त कार्य सौंपती है, और सजग निरीक्षण से उनका निर्देशन करती है। वे इसके प्रत्युत्तर में रानी के संकेत पर मर-मिटने के लिए तैयार हो जाती हैं, अपने परिवार, अपने सुख-दुख यहाँ तक कि अपने प्रेम को भी रानी के कार्य के आगे तुच्छ समझती हैं, और किसी भी दशा में रानी का साथ नहीं छोड़तीं।

इन सहयोगिनियों में प्रमुख है मोतीबाई। वह सुन्दर है, कुशल अभिनेत्री है, नर्तकी है, और लक्ष्मीबाई के झाँसी-आगमन के पहले से ही राजा गंगाधर राव की नाटक-शाला की प्रिय सदस्या है। राजा के मित्र खुदाबख्श के प्रति उसका सहज आकर्षण है। यही आकर्षण राजा के कोप का कारण वनता है। जब लक्ष्मीबाई झाँसी आती है तो खुदाबख्श को देश-निकाला दिया जा चुका है, और मोतीबाई पदच्युत हो चुकी है। पर उनका प्रेम नहीं घटता। खुदाबख्श अपने प्रति किये गए अत्याचार का वदला लेने के लिए अंग्रेजों की शरण में जाना चाहता है, पर मोतीबाई रानी की सहानुभूति पाकर उसे उस गलत रास्ते से हटा लाती है, और रानी का अनुचर वना देती है। दोनों अंग्रेजी सेना में आते-जाते रानी के जासूसों का कार्य करते हैं। मोतीबाई से रानी को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समाचार मिलते रहते हैं। वह इतना उपयोगी कार्य करती है कि जनरल रोज जब झाँसी के समर्पण की माँग करते हैं तो उसमें जिन लोगों को समर्पण करने के लिए कहते हैं उनमें मोतीबाई का भी नाम है। बाद में खुदाबख्श रानी के तोपखाने का गोलन्दाज वनता है, और झाँसी की रक्षा के युद्ध में सैंयर फाटक की तोपों पर तैनात है। मोतीबाई और खुदाबख्श मिलकर फाटक की रक्षा करते हैं। प्रेम और वीरता का यह अद्भुत संयोग है। बाद में खुदाबख्श के एक गोली लग जाती है, और वह मर जाता है। मोतीबाई उसकी लाश को उठाकर लाती है और दफनाने का प्रबन्ध करने लगती है। रानी मिलती है तो कहती है: 'मोतीबाई, तुम लोगों का अक्षय कर्म मैंने अपनी आँखों देखा है।'[1]

पर लड़ाई जारी है, अंग्रेजों का आक्रमण भीषणतर होता जा रहा है। मोतीबाई को रानी रोने भी नहीं देती। वह उसे दक्षिणी बुर्ज के तोपखाने को जगाने का काम देती है।

---

१ वृन्दावनलाल वर्मा : 'झाँसी की रानी' (पृष्ठ ४०८)

मोतीबाई भी गोली खाकर गिर पड़ती है। एक सैनिक उसे उठाकर रानी के पास लाता है :

"मोतीबाई का सिर रानी ने अपनी गोद में रख लिया।

मोतीबाई की आँखों में आँसू भर आये। बोली, 'इस गोदी में सिर रक्खे हुए मरना किसी और के भाग्य में नहीं, बाई साहब।'

रानी ने सिर पर हाथ फेरते हुए कहा, 'मेरी मोती तू आज हीरा हुई।'

'सरकार', मोतीबाई ने व्याकुल स्वर में कहा, 'मैं कुछ भी हूँ परन्तु शुद्ध हूँ।'

'नहीं तू शुद्ध ही नहीं', रानी बोलीं, 'तू पवित्र है। देख, हीरा एक दिन सबको मरना है, परन्तु सत्कार्य में प्राण देना, भगवान् का ध्यान करते-करते मरना, यह जन्म भर की अच्छी कमाई से ही प्राप्त होता है।"[१]

मोतीबाई की ही भांति जूही है। वह भी लक्ष्मीबाई के आने के पहले नाटकशाला की अभिनेत्री और नर्तकी है। जब झाँसी अंग्रेज़ों के हाथ में चली जाती है, तो वह बेकार हो जाती है। मोतीबाई की सलाह से रानी उसको फौज में नाचने-गाने के बहाने जाकर भेद लेने का काम सौंपती है। वह अत्यंत कुशलता से अपना कर्तव्य पालती है। तात्या टोपे के प्रति उसके मन में सच्चा और गहरा आकर्षण है, पर टोपे सेनापति है, युद्ध-नीति और रण-व्यवस्था से उसको छुट्टी कहाँ। इसलिए जूही उदास रहती है। मोतीबाई को जब इसका पता चलता है तो वह तात्या को समझाती है, और अनुरोध करती है कि वह जूही को प्रोत्साहित करे। तात्या उसी समय जूही के पास जाकर उसे प्रोत्साहन देता है : 'मैं लक्ष्मी से मनाता हूँ, एक दिन आवे जब इस देश की मुक्ति और तुम्हारे फूलों की महक का सम्मेलन हो।' जूही को जैसे स्वर्ग मिल गया हो। वह प्रफुल्लित होकर कहती है : 'यदि उस काम के करने में, मैं या मेरी तरह की और स्त्रियाँ मर जाएँ तो इस टूटे फूल की महक और देश की मुक्ति के सम्मेलन को न भूलियेगा।' इस संयमित प्रेम-विनिमय के उपरान्त जूही में जैसे अभूतपूर्व बल और ओज आ जाता है। वह एकाग्र मन से देश पर न्यौछावर हो जाती है।

इस काल के एक प्रसंग में जूही के चरित्र की उच्चता का एक बड़ा सुन्दर प्रमाण मिलता है। वह तात्या को अपना हृदय दे चुकी है, उसके संकेत पर अपना सिर उसके चरणों पर चढ़ा सकती है। पर जब तात्या उससे आकर 'प्रार्थना' करता है कि वह राव साहब और उनके मित्रों के मनोरंजन के लिए महफ़िल में नृत्य करे, तो युद्ध के समय इस बिन अवसर के निवेदन को वह वीरोचित घृणा ही देती है : 'आपको इतना स्मरण रहे कि मैं झाँसी की रानी की सिपाही हूँ, और किसी राजा या नवाब से अपने को कम नहीं समझती।'[३]

---

१. वृन्दावनलाल वर्मा : 'झाँसी की रानी' (पृष्ठ ९६)
२. वही : (पृष्ठ २३७)
३. वही : (पृष्ठ ४३९)

रानी जब यह कथा सुनती हैं तो कहती है : 'तूने अपने योग्य ही उत्तर दिया। दो-एक दिन में ही कोंच में लड़ाई होने वाली है और इन लोगों का यह हाल है।'[१] पर जब बाद में युद्ध का नेतृत्व करने की प्रार्थना लेकर तात्या रानी के पास आता है, तो जूही भी उसे क्षमा कर देने की प्रार्थना करती है। जब अठारह जून को अपने अंतिम युद्ध के दिन रानी जूही से कहती है : 'आज तेरी सुगन्ध ऐसी बरसे कि वैरी बिछ जाएँ।'[२] तो जूही प्रसन्न होकर कहती है : 'आज मैं जो कुछ कर सकूँ कह नहीं सकती, परन्तु आँख खुलते ही जो कुछ प्रण किया है उसके अनुसार अवश्य काम करूँगी।'[३] और सचमुच उस दिन जूही की तोपें गजब ढा देती हैं। जब हुज़र सवार उसे घेर कर मार डालते हैं तो वह आह भी नहीं करती। बस उसकी अन्तिम आकांक्षा यही थी कि 'आपको (रानी को) गाना न सुना पायी।' 'पर शत्रु की तलवार उसकी इस मुस्कराहट को नहीं चीर सकी जो उसके होठों पर अनन्त दिव्यता की गोद में खेल गई।'[४]

सुन्दर, मुन्दर और काशीबाई तीनों झाँसी के महल की दासियाँ हैं। विवाह के लिए जब मनू (लक्ष्मीबाई) झाँसी आती है तो सुन्दर अपना परिचय इस प्रकार देती है : 'आपकी दासी, सुन्दर मेरा नाम है।' और मुन्दर और काशीबाई का परिचय कराती हुई कहती है : 'मेरी तरह ये भी आपकी दासियाँ हैं। प्रथम साक्षात्कार में ही रानी उन्हें अपना बना लेती है। वह कहती है, 'मेरी सहेलियाँ बनकर रहोगी। दासी मेरी कोई न होगी।'[५] और भी दासियाँ वहाँ हैं। वह सब को अपनी सखी-सहेली बना लेती है। उनके सामने केवल एक ही शर्त रखती है : 'मेरे साथ जो रहना चाहे—उसको घोड़े की सवारी अच्छी तरह आनी चाहिए। तलवार, बन्दूक, बर्छा, छुरी-कटार, तीर, तमंचा इत्यादि का चलाना, अच्छी तरह चलाना, सीखना पड़ेगा। दोनों हाथों से हथियार एक से चलाना सीख जावें तो और भी अच्छा।'[७]

मुन्दर कुमारी है। जब प्रसंगवश उसे ध्यान दिलाया जाता है कि वह विवाहित हो कर रानी से दूर कहीं चली जायेगी, तो विकल हो जाती है। रानी उसकी व्यथा समझकर उसे अंक में भर कर कहती है :

"पगली, क्यों मन गिरा दिया ? मेरे पास से कभी अलग न होगी।'

---

१. वृन्दावनलाल वर्मा : 'झाँसी की रानी' (पृष्ठ ४४०)
२. वही : (पृष्ठ ४८१)
३. वही : (पृष्ठ ४८१)
४. वही : (पृष्ठ ४८६)
५. वही : (पृष्ठ ६३)
६. वही : (पृष्ठ ६४)
७. वही : (पृष्ठ ६६)

मुन्दर उसी स्थिति में हाथ जोड़कर धीरे से बोली, 'सरकार मैं सदा ऐसी ही रहूँगी और चरणों में अपनी देह को इसी दशा में छोड़ूँगी।'[1]

जब एलिस डलहौजी की घोषणा पढ़कर सुनाता है, तो मुन्दर को इतना धक्का लगता है कि वह मूर्छित हो जाती है। होश में आने पर रानी उसे प्यार से झिड़कती है: 'क्यों री, मूर्छित होना किससे सीखा ? क्या इस छोटे से राज्य के लिए हम लोग जीवित है ?'[2]

बाद में जब झाँसी में अंग्रेज़ी वन्दोबस्त हो जाने पर वे तीनों रानी के पास उदास हो कर आभूषण उतार कर जाती हैं तो रानी उनको वरजती भी है, और दृढ़ता से भविष्य की तैयारी करने की प्रेरणा भी देती है। उनके उत्साह से मानो वे नवीन वल पाती है। 'सहेलियों की आँखों में भी चमत्कार उत्पन्न हो गया।'[3] जब तात्या रानी से कहता है कि एक जासूसी विभाग की बड़ी आवश्यकता है तो रानी तुरन्त उत्तर देती है :

'मैने स्थापना कर दी है।'

तात्या ने उत्सुक होकर पूछा, 'कैसे ? कहाँ ?'

रानी ने उत्तर दिया, 'यहीं। मेरी ये तीनों सहेलियाँ काम सीख रही हैं और कर रही हैं !'[4]

वे पग-पग पर रानी के कार्य में रानी का हाथ बँटाती हैं, कठिन से कठिन परिस्थिति में भी विनोद की छटा बिखेरती रहती हैं। रानी के लिए वड़े-से-वड़े सुख का त्याग कर मुस्कराती रहती हैं। अंग्रेजों को किले में बंद रहने के कारण जब खाना मिलना भी बन्द हो गया तो रानी उन्हीं के हाथ किले में दो मन रोटियाँ भिजवाती है। काशी के मन में कुछ असमंजस है, पर रानी जब कहती है 'इन लोगों को भूखा मार कर आगे बढ़ना अनुष्ठान को कलुषित करना है,' तो उसका हृदय 'आभास-मय' हो जाता है। जब 'महाराज' सदाशिव झाँसी को हथियाने के लिए सिर उठाता है, तो रानी अपनी सहेलियों को सम्बोधन कर कहती है : 'तुम तीनों कर्नलों की परीक्षा महाराजा सदाशिव नारायण के सामने होगी।' तो वे इस युद्ध को विनोद की ही वस्तु समझती है, और रानी की विजय का साधन वनती है। झाँसी की रक्षा के युद्ध में वे रानी की सिपाही, सेवक, दूत और सहायक—सभी का कार्य करती हैं, उनके सजग और अदम्य सहारे के बिना रानी अपना कार्य कर सकती थी, इसमें संदेह है। वाद में आवश्यकता पड़ने पर रानी उन तीनों को तोप चलाने की शिक्षा दिलाती है। काशीवाई भाऊ वख्शी से, मुन्दर रघुनाथ सिंह से और सुन्दर दूल्हाजू से यह विद्या सीखती है।

काशीवाई जब जूही के साथ तात्या की सेना को झाँसी की सहायता के लिए लाती है

---

१. वृन्दावनलाल वर्मा : 'झाँसी की रानी' (पृष्ठ ९६)
२. वही : (पृष्ठ १६१)
३. वही : (पृष्ठ १६४)
४. वही : (पृष्ठ १८६)

तो जनरल रोज़ की सेना से उसकी मुठभेड़ होती है। वह 'हर हर महादेव' कहकर अंग्रेजों पर टूट पड़ती है। उसकी तलवार से अनेक सिपाही घायल होते हैं, और मारे जाते हैं। जब काशीबाई का घोड़ा कट जाता है, तब वह पैदल लड़ने लगती है। अन्त में वह घिर जाती है और वीर गति प्राप्त करती है। उसका पुरुष-वेश और पराक्रम देखकर सिपाही समझे थे कि वही रानी है, पर बाद में उन्हें अपनी भूल मालूम पड़ती है तो वे उसकी वीरता पर और भी दंग रह जाते हैं।

जब ओरछा फाटक पर विश्वासघाती दूल्हाजू अपने हाथ ढीले कर देता है, तो सुन्दर ऊँचे बुर्ज से तोप चलाती हुई उसकी यह हरकत देख लेती है, हाथ में नंगी तलवार लिए उसके पीछे-पीछे आती है और जब उसे विश्वास हो जाता है कि दूल्हाजू देशद्रोही है तो वह उस पर टूट पड़ती है। दूल्हाजू अपनी छड़ से उसकी तलवार तोड़ देता है और उसके पेट में घुसा देता है। तभी गोरे फाटक से अन्दर घुस आते हैं और उनकी एक गोली से सुन्दर का अन्त हो जाता है। उसका पराक्रम देखकर अफसर पूछता है :

" 'यह रानी है ?'

दूल्हाजू ने उत्तर दिया, 'नहीं साहब महज नौकरानी।'

अफ़सर ने साथियों से कहा, 'बट ए सोल्जर, शी विल हैव ए सोल्जर्स आनर।' (लेकिन सिपाही है। सिपाही की इज्जत उसको मिलेगी)।"[1]

इस प्रकार जब रानी झाँसी छोड़कर कालपी पहुँचती है तो तीन सहेलियों में से केवल मुन्दर ही उसके पास बचती है। मुन्दर रघुनाथसिंह के साथ तोपन्दाजी करते-करते उसके प्रति आकर्पित हो गई थी, रघुनाथसिंह ने भी उसे अपना हृदय दे दिया था। ऐसी कठिन घड़ियों मे प्राणों के इस माधुर्य से उन दोनों को ही नया बल मिलता है। पर मुन्दर रानी से एक क्षण को भी अलग होना नहीं चाहती। जब रानी उनके प्रेम का रहस्य जानकर मुन्दर से कहती है कि वह विवाह कर ले तो वह तुरन्त उत्तर देती है :

'जब सरकार स्वराज्य स्थापित कर चुकेंगी तब।'

'स्वराज्य तो देर-सवेर स्थापित होगा ही। तू विवाह के लिए क्यों रुके ?'

'वह जीवन का मुख्य कार्य नहीं है।'

'यह तेरी इच्छा पर निर्भर है, परन्तु मेरी अनुमति है।'

'असम्भव सरकार ! मेरा प्रण है।'[2]

उसकी एकमात्र लालसा यही है कि रानी जैसी ही निर्भय बन सके और उसे मोतीबाई की-सी मृत्यु मिले। और उसकी यह लालसा पूरी होती है। अन्तिम दिन के युद्ध में जाने के समय वह रघुनाथसिंह से कहती है : 'मैं चाहती हूँ, आप बिल्कुल निकट रहें। मुझे

---

१. वृन्दावनलाल वर्मा : 'झाँसी की रानी' (पृष्ठ ४०७)
२. वही : (पृष्ठ ४५६)

लगता है, मैं आज मारी जाऊँगी। आपके निकट होने से शान्ति मिलेगी।'[1] और वह रघुनाथसिंह के स्वर्ग में मिलने के आश्वासन पर गीली आँखों से उसे देखती हुई युद्ध में कूद पड़ती है। घमासान लड़ाई में एक अंग्रेज़ सवार की गोली से उसका प्राणान्त होता है। रघुनाथसिंह उसके शव को पीठ पर कसकर लड़ता रहता है। बाद में लक्ष्मीबाई के शव के साथ ही उसके शव का भी दाह होता है।

झलकारी भी अद्वितीय चतुराई और वीरता का परिचय देती है। रानी की भेंट सबसे पहले उससे 'हलदी कूँ-कूँ' के उत्सव में होती है। वह जाति की कोरिन है और बुंदेलखण्डी भूमि की कन्या है। वह रानी से यह शिकायत करने आई है कि उसका पति पूरन कपड़ा बुनना छोड़कर मलखंब और कुश्ती में लग गया है। रानी उल्टे उससे भी मलखंब, कुश्ती और घोड़े की सवारी सीखने के लिए कहती है। सरल स्वभाव झलकारी मुग्ध हो जाती है। जब झाँसी को अंग्रेज़ हड़प लेते हैं तो वह एक वाक्य में सारी जनता के विक्षोभ को समेट देती है : 'छाती बर जाय, इन अंगरेजन की, गटक लई झाँसी।'[2] और जब झाँसी में स्त्रियों की वीरता परम्परा बनने लगती है तो वह भी बन्दूक चलाना सीखती है।

जब झाँसी के युद्ध में विफल होकर रानी काल्पी की ओर भागती है और अंग्रेज़ सिपाही उसका पीछा करते हैं तो झलकारी रानी को बचाने के लिए स्वयं रानी का-सा वेश धारण कर घोड़े पर सवार होकर अंग्रेज़ों की छावनी पर जाती है, और घोषित करती है कि वही रानी है। अंग्रेज़ धोखे में पड़ जाते हैं। रानी का समर्पण पाकर उनमें प्रसन्नता की लहर दौड़ जाती है। काफ़ी देर बाद जब दूल्हाजू के कारण वह पहचान ली जाती है, तो तिरस्कार भरे स्वर में वह दूल्हाजू से कहती है। : 'ठाकुर हो कै तैंने जो का करो।'[3] और जब अंग्रेज़ उसको यह धमकी देते हैं कि 'तुमको गोली मारी जायगी।' तो वह निर्भय होकर उत्तर देती है : 'मार दै, मैं का मारबै खों डरात हों ? जैसे इत्ते सिपाही मरे तैसें एक मैं सई।'[4]

झलकारी को बलिदान का अवसर तो नहीं मिलता पर वह अपने इस साहस से रानी के प्रति अपनी भक्ति का अमर उदाहरण प्रस्तुत कर देती है।

रानी और उसके नारी-मंडल की ऐसी ही वीरता, पराक्रम और बुद्धिमत्ता के कारण अंग्रेज़ और अन्य भारतीयों को दाँतों तले उँगली दबानी पड़ जाती है। झाँसी की रानी की वीरता लोक-मानस में अमिट रूप से अंकित है, और रहेगी। वर्मा जी ने अपने उपन्यास में उन सब को जीवन्त रूप देकर नारी जाति का मुख उज्ज्वल कर दिया है।

---

१. वृन्दावनलाल वर्मा : 'झाँसी की रानी' (पृष्ठ ४८३)
२. वही : (पृष्ठ १६१)
३. वही : (पृष्ठ ४२६)
४. वही : (पृष्ठ ४२६)

भगवतीचरण वर्मा के पहले दो उपन्यास 'पतन' (१९२८) और 'चित्रलेखा' (१९३६) ऐतिहासिक उपन्यासों में ही गिने जाते हैं, यद्यपि 'पतन' अपने कमज़ोर शिल्प के कारण विशेष महत्त्व नहीं रखता, और 'चित्रलेखा' में ऐतिहासिक तत्व का भ्रम मात्र ही है। 'पतन' में लखनऊ के विलासी नवाब वाजिद अलीशाह के युग का वातावरण चित्रित है। लेखक ने इसमें केवल उस युग के नैतिक पतन को ही लिया है, नवाब के अंग्रेज़-विरोध की ओर दृष्टिपात नहीं किया है। सुभद्रा सुन्दरी है, इसलिए वह भी अन्य अनेक सुन्दरियों की भाँति नवाब की अन्तःपुरिका बन जाती है। पर नाच रंग मदिरा की अति से दुर्गन्धमय उस वातावरण में सुभद्रा का दम घुटने लगता है। वह अपने प्रेमी से प्रार्थना करती है कि वह उसे इस यंत्रणा से मुक्ति दे : 'मुझे यह स्वर्ग नहीं चाहिए। यह मेरे लिए नरक बन रहा है। यहाँ नाच तथा गाने होते हैं, हँसी से महल भर गूंजने लगता है, पर मैं करुणा के सागर में डूबी रहती हूँ। मुझे यहाँ से बाहर ले चलो। मुझे धन नहीं चाहिए, ऐश्वर्य नहीं चाहिए। मुझे सुख चाहिए, यहाँ सुख नहीं, सुख तुम्हारे साथ में है। तुम्हारे पैर पड़ती हूँ, मुझे यहाँ से ले चलो। चलो, देश छोड़ दें। मेहनत-मजदूरी करके हम दोनों रहेंगे, पर एक दूसरे के पास रहेंगे।"[1] इस चित्रण से लेखक यही सिद्ध करना चाहता है कि वास्तविक सुख न धन में है, न भोग में है, वह दो हृदयों के सच्चे, सरल और सात्विक प्रेम में है।

भगवतीचरण वर्मा

'चित्रलेखा' में भी एक प्रकार से यही बात कही गयी है, पर अब लेखक के शिल्प और शैली में इतना विकास हो गया है कि 'चित्रलेखा' की भावभूमि बहुत व्यापक और गहरी बन गई है। उसकी गणना आज भी हिन्दी के सर्वोत्कृष्ट उपन्यासों में होती है। 'चित्रलेखा' का उद्देश्य पाप-पुण्य की प्रचलित व्याख्या की जाँच करना और नैतिकता के सच्चे मूल्यों की खोज करना है। इसके लिए लेखक एक मौर्यकालीन नर्तकी के चरित्र की कल्पना करता है। पर उपन्यास में काल-विशेष की कोई निश्चित छाप नहीं है। सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य की राजसभा किसी भी प्राचीन राजसभा का प्रतिबिम्ब मानी जा सकती है। इसी प्रकार बीजगुप्त और कुमारगिरि भोगी और योगी के रूप में कल्पित हुए हैं पर वे युग के प्रतिनिधि न होकर दो विभिन्न वृत्तियों के ही प्रतिनिधि हैं। चित्रलेखा की नर्तकी के रूप में कल्पना भी स्वतन्त्र नारी के चित्रण के लिए अनिवार्य ही लगती है। वस्तुतः 'चित्रलेखा' एक ऐतिहासिक आवरण में सार्वकालिक मनोवृत्तियों और भावनाओं का उपन्यास है। उसके सभी पात्र कल्पना द्वारा रचे गये हैं।

'चित्रलेखा' में चित्रलेखा का ही चरित्र प्रमुख है। उसके जीवन और विकास को लेकर ही उपन्यास की रचना हुई है। बाकी सारे पात्र उसके चारों ओर चक्कर काटते हैं, वह सब की केन्द्र है। नारी चरित्र को इतनी प्रधानता इसके पहले किसी उपन्यास में न मिली थी। वर्मा जी ने चित्रलेखा के माध्यम से नारी की प्रायः सभी अवस्थाओं और

---

१. भगवतीचरण वर्मा : 'पतन' (पृष्ठ ५४)

मानसिक स्थितियों का विवेचन प्रस्तुत किया है, और अपने दृष्टिकोण से नारी-जीवन की सार्थकता का रहस्योद्घाटन किया है। चित्रलेखा पहेली भी है और समाधान भी। यह समाधान नारी की स्वतन्त्रता, समानता और सच्चे प्रेम की नैतिकता की घोषणा करता है।

वर्मा जी ने चित्रलेखा के चारित्रिक क्रम-विकास में अत्यन्त सूक्ष्म और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से काम लिया है, और अप्रत्यक्ष रूप से समाज में प्रचलित नारी-सम्बन्धी भ्रमों का निराकरण किया है। जीवन के अनेक और विचित्र अनुभवों से होकर गुज़रती चित्रलेखा अंत में अपनी सार्थकता और सचाई पाती है और महान् बन जाती है। ऐतिहासिक आवरण का प्रयोग किये बिना न तो यह वैविध्य संभव था, न इतनी स्पष्टता। कुछ आलोचकों ने चित्रलेखा के चरित्र को अस्पष्ट कहा है।[1] पर यह इसीलिए कि उन्होंने चित्रलेखा में क्रमशः आते जाने वाले मनोवैज्ञानिक परिवर्तनों पर पूरा ध्यान नहीं दिया है। चित्रलेखा हर परिस्थति में अपने प्रति और अपनी भावनाओं के प्रति सच्ची रहना चाहती है, इसलिए उसके चरित्र का अध्ययन उसके विकास के सहारे ही किया जा सकता है, और अन्त में वह जिस परिणति पर पहुँचती है, वह नारी का शाश्वत आदर्श है।

चित्रलेखा चार अवस्थाओं को पार कर अंत में पाँचवीं आदर्श अवस्था में पहुँचती है। इन अवस्थाओं के अनुरूप ही उसके भावों में, उद्देश्यों में और कार्य-व्यवहार में परिवर्तन होता जाता है। लेखक ने इस परिवर्तन का सविस्तार वर्णन किया है, और प्रत्येक अवस्था में उसके मनोभावों का विश्लेषण किया है। फलस्वरूप नारी-मन की अनेक गुत्थियों पर हमें उसके मत को जानने का अवसर मिल जाता है। चित्रलेखा विदुषी और तीक्ष्ण-बुद्धि नारी के रूप में चित्रित की गई है। कोई भी परिस्थिति उसके ऊपर तब तक नहीं लादी जा सकती, जब तक उसका अपना विवेक उसे स्वीकार न करे। इसलिए लेखक को उसके मन और अवचेतन मन में चलती रहने वाली प्रायः विरोधी प्रक्रियाओं का भी ध्यानपूर्वक अध्ययन प्रस्तुत करना पड़ा है। एक वाक्य में 'चित्रलेखा' नारी-मन के अनेक स्तरों की खोज का इतिहास है।

चित्रलेखा ब्राह्मण कन्या है। समाज की साधारण प्रथा के अनुसार बचपन में ही उसका विवाह हो जाता है। वह प्रथानुसार ही अपने पति को परमेश्वर मानकर उसके प्रति एकान्त रूप से समर्पित है। पर यह समर्पण विवेक और अनुभव से उत्पन्न समर्पण नहीं है, रूढ़िग्रस्त अनुभवहीनता का अबोध समर्पण है। उसका पति-प्रेम दो आत्माओं का मिलन नहीं है, वह पति में अपने अस्तित्व को ही मिटा देती है। 'वह हँसती थी पति को प्रसन्न करने के लिए, वह बोलती थी पति को प्रसन्न करने के लिए, उसके जीवन का प्रत्येक पल उसके पति को समर्पित था। पति उसका विश्व था, परमेश्वर था और अस्तित्व

---

१. 'चित्रलेखा का चरित्र बहुत ही उलझा हुआ अस्पष्ट है।'
गंगाप्रसाद पाण्डेय : 'हिन्दी कथा-साहित्य' (पृष्ठ १६८)

था।[1] सारांश यह कि इस अवस्था में वह अन्य अनेक साधारण नारियों की ही भांति थी। भारतीय समाज में विवाहित नारी का प्रायः यही रूप होता है, और आजीवन बना रहता है।

पर चित्रलेखा का यह रूप बहुत दिनों नहीं बना रहता। अठारह वर्ष की कोमल आयु में ही वह विधवा हो जाती है। उसका संसार अंधकारमय हो जाता है, वह आत्महत्या करने की बात भी सोचती है, पर पाप के डर से जीवित रहती है। विधवा-जीवन के सम्बन्ध में समाज में प्रचलित रूढ़ि के अनुसार वह संसार से विरक्त होकर संयम और तप का जीवन बिताना चाहती है, पर बहुत दिन तक उसे निभा नहीं पाती। 'उसे बताया गया था कि तपस्या जीवन का प्रधान अंग है और विधवा का कर्तव्य है संयम-युक्त साधना। चित्रलेखा ने यह भी किया; पर यह उसके लिए कठिन था,[2] इस स्थल पर परोक्ष रूप से वर्माजी विधवा-विवाह की वकालत करते हैं। यदि विधवा चित्रलेखा पुनर्विवाह कर सकती तो उसके जीवन का इतिहास ही दूसरा हो जाता।

विधवा चित्रलेखा की यह साधना कृष्णादित्य द्वारा भंग हो जाती है। कृष्णादित्य वर्णसंकर युवक था, सुन्दर था और उसके व्यक्तित्व में एक विचित्र प्रकार का आकर्षण था। उसने शपथ ली : 'जब तक हम दोनों जीवित रहेंगे, हम दोनों साथ रहेंगे, कोई भी हम दोनों को अलग न कर सकेगा।'[3] चित्रलेखा उसकी शपथ पर विश्वास कर आत्म-समर्पण कर देती है। इस बार का समर्पण तन की पिपासा का परिणाम है। उसमें भक्ति नहीं, आत्म-विस्मरण है। उसमें ऐसा प्रेम है, जो निरन्तर पिपासा को जन्म देता है। चित्रलेखा को इस स्थिति में भी सुख मिलता है। पर जब वह गर्भवती हो जाती है, तो उसकी परिस्थितियाँ फिर उसे दुःख में डाल देती हैं। कृष्णादित्य और चित्रलेखा दोनों अपने-अपने परिवार से निकाल दिये जाते हैं। 'त्याज्य नवयुवक को समाज की भर्त्सना और अपमान असह्य हो गए। इस अपमानजनक जीवन की अपेक्षा मृत्यु उसे अधिक प्रिय लगी।'[4] कृष्णादित्य के आत्म-हत्या करने पर चित्रलेखा निस्सहाय हो जाती है। समाज से अपमानित और परित्यक्त वह गर्भिणी एक वेश्या के यहाँ शरण लेती है। यथासमय वह एक पुत्र को जन्म देती है, पर वह जनमते ही मर जाता है।

पति-प्रेमी-पुत्र तीनों से वंचिता और समाज से लांछित नारी नर्तकी बन जाती है। जिस नर्तकी ने उसे आश्रय दिया था, वही उसे नृत्य और संगीत की शिक्षा देती है। रूप और यौवन में कला के संयोग से चित्रलेखा का व्यक्तित्व असाधारण रूप से आकर्षक बन जाता है, सारा पाटलिपुत्र उसके चरणों पर लोटने लगता है। पर चित्रलेखा का मन दो बार धोखा खा चुका है, वह अब अपने संयम और संयम-जनित कान्ति को बनाये रखना ही

---

१. भगवतीचरण वर्मा : 'चित्रलेखा' (पृष्ठ ९१)
२. वही : (पृष्ठ ९१)
३. वही : (पृष्ठ १०-११)
४. वही : (पृष्ठ ११)

उचित समझती है। जब बड़े-बड़े सरदार, लक्षाधीश और सामन्त उसके प्रणय के प्यासे दिखते हैं, तव उसके मन के गहरे तल में बैठी समाज के विरुद्ध प्रतिहिंसा की भावना तृप्त होती है। वह सब से दूर रहकर मानो अपनी विजय पर गर्व का अनुभव करती है। उसने फिर अपनी परिस्थिति ऐसी बना ली है, जिसमें वह सुखी रह सकती है। 'जन समुदाय के सामने वह असाधारण सुन्दरी आती थी और विद्युत की भाँति चमक कर वह उसके सामने से लोप हो जाती थी।'[1]

पर उसकी यह स्थिति भी अधिक दिन तक नहीं रहती। सामन्त बीजगुप्त के प्रति वह आकर्षित होती है। इस आकर्षण के मूल में पुरुष पर विजय पाने की प्रवृत्ति है। यह प्रवृत्ति चित्रलेखा के अब तक के जीवन की ही प्रतिक्रिया है। साधारण पुरुष को वह घृणा करती है, इसलिए दूर रहती है। पर बीजगुप्त असाधारण व्यक्ति है। वह सम्पन्न है, युवा है, विद्वान है, सुन्दर है। चित्रलेखा पहले उसको भी साधारण समझ कर उपेक्षा ही देती है, पर जब उसका व्यक्तित्व उसको चुनौती बन जाता है, तब वह मानो उसको विजित-पराजित करने के लिए ही उससे प्रेम करने लगती है। बीजगुप्त उसको पाकर धन्य हो जाता है, उसे सदा के लिए अपना हृदय दे देता है। उसके रूप और नृत्य में उसका यौवन मादकता पाता है, वह उसमें डूब जाता है। चित्रलेखा स्वतन्त्र नारी होते हुए भी, अपना घर अलग रखते हुए भी, बीजगुप्त की पत्नी की ही भाँति रहने लगती है। दोनों मादकता और यौवन के इस सुख-संसार में विभोर हो जाते हैं। भविष्य की वे सोचते तक नहीं। बीजगुप्त नगर की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी को अपना बनाकर कृतार्थ अनुभव करता है, चित्रलेखा आत्म-बलिदान के बिना ही धन-ऐश्वर्य और विलास का जीवन पाकर कृतार्थ अनुभव करती है। उनका यह सम्बन्ध भोग पर आधारित गहरे प्रेम का उदाहरण है। मदिरा में डूबा उनका यह जीवन मदिरा जैसा ही विस्मृतिकारी है :

"बीजगुप्त ने चित्रलेखा को आलिंगन पाश में लेकर कहा—'तुम मेरी मादकता हो।'

चित्रलेखा ने उत्तर दिया—'और तुम मेरे उन्माद हो!'[2]

बीजगुप्त ने हँसकर कहा—'मादकता और उन्माद—इन दोनों का सदा साथ रहा है और रहेगा। चित्रलेखा हम दोनों कितने सुखी हैं।'"[3]

पर विलास और विस्मरण के आधारों पर टिका हुआ यह सुख न सच्चा है न स्थायी है। यहाँ आत्म-समर्पण नहीं, आत्म-परिग्रह है। लेखक ने इस प्रेम के इस स्वरूप की ओर अनेक स्पष्ट संकेत दिये हैं। बीजगुप्त को तन-मन देकर भी चित्रलेखा का व्यक्तित्व अभी आत्म-केन्द्रित ही है। उसे अपनी शक्ति का ज्ञान है और उसके प्रभाव का भी। श्वेतांक के साथ वह जिस प्रकार का खेल करती है, उसके फलस्वरूप वह बेचारा जब प्रेम-निवेदन

---

१. भगवतीचरण वर्मा : 'चित्रलेखा' (पृष्ठ ११)

२. वही : (पृष्ठ १०)

१. वही : (पृष्ठ १२)

करता है तो अपनी विजय के गर्व में वह जिस प्रकार खिलखिला उठती है, यह उसी का प्रमाण है। इस अवस्था में नारी के सम्बन्ध में उसकी जो धारणा है, उसे कुमारगिरि से वार्तालाप करते समय वह स्पष्ट कर देती है : 'स्त्री शक्ति है। वह सृष्टि है, यदि उसे संचालित करने वाला व्यक्ति योग्य है; वह विनाश है, यदि उसे संचालित करने वाला व्यक्ति अयोग्य है।'[1] इसलिए वह प्रेम को अमर नहीं मानती, अनन्य नहीं मानती। वह प्रेमिका होने पर भी मुक्त है, नारी की उच्छृंखलता को वह सहज मानती है। जब कुमार-गिरि की ओर उसके आकर्षित होने पर बीजगुप्त उससे इस सम्बन्ध में प्रश्न करता है, तो वह स्पष्ट उत्तर देती है : "चित्रलेखा हँस पड़ी—'आत्मा का सम्बन्ध अमर है! बड़ी विचित्र बात कह रहे हो बीजगुप्त! जो जन्म लेता है वह मरता है; यदि कोई अमर है तो अजन्मा भी है। जहाँ सृष्टि है, वहाँ प्रलय भी रहेगा। आत्मा अजन्मा है इसलिए अमर है; पर प्रेम अजन्मा नहीं है। किसी व्यक्ति से प्रेम होता है, तो उस स्थान पर प्रेम जन्म लेता है। सम्बन्ध होना ही उस सम्बन्ध का जन्म लेना है। वह सम्बन्ध अनन्त नहीं है, कभी-न-कभी उस सम्बन्ध का अन्त होगा ही। प्रेम और वासना में भेद केवल इतना है कि वासना पागलपन है, जो क्षणिक है और इसीलिए वासना पागलपन के साथ ही दूर हो जाती है; और प्रेम गम्भीर है। उसका अस्तित्व शीघ्र नहीं मिटता। आत्मा का सम्बन्ध अनादि नहीं है बीजगुप्त!'"[2] इस काल के उसके स्वरूप के सम्बन्ध में स्वयं लेखक स्पष्ट मत देता है : 'कुछ ऐसे व्यक्ति होते हैं, जो दूसरों को अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं, जो दूसरे व्यक्तित्व को आकर्षित कर के उसको दबा देते हैं और उसको अपना दास बना लेते हैं। चित्रलेखा का व्यक्तित्व भी ऐसा ही था। यद्यपि चित्रलेखा अपनी इस आकर्षण शक्ति से भली-भाँति परिचित न थी; पर अनजाने में ही वह उसका प्रयोग करती थी।'[3]

गर्वीले पुरुष को आकर्षित कर उसे अपना दास बनाने की उसकी प्रवृति ही चित्रलेखा को योगी कुमारगिरि की ओर ले जाती है। इसके लिए वह कोई सचेत प्रयत्न नहीं करती। प्रेम में समर्पण न होने के कारण उसका मन अनजाने ही ऐसा बन गया है, जो कुमारगिरि के सौन्दर्य, तेज, ज्ञान, विराग और तप-संयम को चुनौती मान कर उसको विजित करने के लिए निकल पड़ता है। जब पहली बार बीजगुप्त और चित्रलेखा एक रात अचानक कुमारगिरि के आश्रम में आश्रय लेते हैं, तब उसके अन्तर्मन की यही दशा हो जाती है। बीजगुप्त इसे पहचान लेता है, और अपनी शंका चित्रलेखा पर प्रकट भी कर देता है। पर चित्रलेखा का प्रेमी मन प्रकट रूप में इस गहन सत्य को स्वीकार नहीं करता, उल्टे बड़ा प्रबल प्रतिवाद करता है। पर उसका अन्तर्मन कहीं-न-कहीं चोट खाकर तड़पने लग गया है। लेखक ने इस मनःस्थिति का बड़ा सुन्दर चित्र खींचा है :

---

१. भगवतीचरण वर्मा : 'चित्रलेखा' (पृष्ठ ५२)
२. वही : (पृष्ठ ७४)
३. वही : (पृष्ठ १३६)

"चित्रलेखा ने बीजगुप्त को और अपने को धोखा देने का प्रयत्न किया। उसने फिर कहा—'कुमारगिरि निर्जन निवासी है और हम दोनों कर्मक्षेत्र के अभिनेता हैं। कुमारगिरि ने वासनाओं का हनन कर दिया है और हम दोनों वासनाओं पर विश्वास करते हैं। कुमारगिरि के जीवन का लक्ष्य है कल्पना का शून्य और हम दोनों के जीवन का लक्ष्य है मस्ती का पागलपन। प्रियतम ! संसार में कोई भी व्यक्ति हम दोनों के बीच में नहीं आ सकता।'

बीजगुप्त का मुख प्रसन्नता से चमक उठा—'भगवान ऐसा ही करे।'

चित्रलेखा ने बीजगुप्त को धोखा दे दिया; पर वह अपने को धोखा न दे सकी, उसने मन-ही-मन कहा—'पर कुमारगिरि सुन्दर अवश्य है।'[1]

ज्यों-ज्यों कुमारगिरि चित्रलेखा की अवहेलना करता है, त्यों-त्यों उसके प्रति चित्रलेखा का आकर्षण प्रबल होता चला जाता है। जब राज-सभा में शास्त्रार्थ में जीतने की इच्छा से कुमारगिरि अपने मंत्रबल से सारी सभा को सत्य और ईश्वर के दर्शन कराता है, तो सब उसके प्रभाव में आ जाते हैं, पर चाणक्य और चित्रलेखा अपनी विकसित आत्म-शक्ति के कारण इस प्रभाव से मुक्त रहते हैं, और कुछ भी नहीं देख पाते। चित्रलेखा भरी सभा में उसका भण्डाफोड़ भी कर देती है, और योगी कुमारगिरि को चित्रलेखा से पराजित होना पड़ता है। सम्राट चंद्रगुप्त उसे विजयिनी घोषित कर मुकुट पहना देते हैं, और कुमारगिरि के लिए दण्ड निर्धारित करने का भार भी उसी को सौंप देते हैं। चित्रलेखा कुमारगिरि का समर्पण पाने का इसे उपयुक्त अवसर समझती है, और प्रकट उदारता से उसे क्षमा कर अपना मुकुट उसे पहना देती है। कदाचित् उसके अन्तर्मन की यह आशा थी कि कुमारगिरि लज्जित होकर पश्चात्ताप करेगा, और उसे अपने से महत्तर मान लेगा। पर योगी ऐसा नहीं करता, वह तेजी से बाहर चला जाता है। चित्रलेखा तब उसके आश्रम में जाती है, और अपने विनम्र वचनों से उसे प्रभावित कर उसकी शिष्या बन कर दीक्षा लेने का प्रस्ताव कर उसके मुख से पराजय की स्वीकारोक्ति सुनना चाहती है। पर योगी अपनी सीमाएँ जानता है, साथ ही वह चित्रलेखा के प्रति रुष्ट है, आकर्षित नहीं, इसलिए दीक्षा देना स्वीकार नहीं करता और चित्रलेखा अपने उद्देश्य में असफल होकर निराश लौट आती है। अपने प्रत्याख्यान से उसके मन में योगी के प्रति आकर्षण और भी बढ़ जाता है। वह श्वेतांक से अपने इस मनोभाव को निस्संकोच व्यक्त करती है : 'जिस दिन से मैंने कुमारगिरि को देखा है, उस दिन से मैं उसकी ओर आकर्षित हो रही हूँ। उसकी आत्मा की थाह वही ले सकता है, जिसने उसकी आत्मा को अच्छी तरह समझ लिया हो। मैं उसको अच्छी तरह से जानती हूँ और साथ ही उसकी आत्मा को। श्वेतांक ! कुमारगिरि मेरे जीवन का प्रधान अभिनेता है।'[2]

---

१. भगवतीचरण वर्मा : 'चित्रलेखा' (पृष्ठ ३७)

२. वही : (पृष्ठ ६३)

बीजगुप्त चित्रलेखा के इस भाव को भली भाँति जानता है तभी तो वह कुमारगिरि और चित्रलेखा के चरित्रों का विश्लेषण करते हुए श्वेतांक से कहता है : 'चित्रलेखा का व्यक्तित्व बहुत ऊँचा है और प्रभावशाली भी है। कुमारगिरि विद्वान है और योगी है, वासनाओं से उसका वैर है। और चित्रलेखा विदुषी होते हुए भी साधना की विरोधी है। कुमारगिरि और चित्रलेखा दोनों ही अहं-भाव से भरे हुए ममत्व के दास हैं और दोनों ही ममत्व की तुष्टि पर विश्वास करते हैं; पर दोनों के साधन भिन्न हैं और विपरीत हैं। एक ने साधना की शरण ली है, दूसरे ने आत्म-विश्वास की, पर आज जो कुछ हुआ, उससे दोनों ही व्यक्ति अपने-अपने साधन से विरत हो गये। निकट भविष्य में दोनों ही अपनी-अपनी शक्ति खो बैठेंगे।'[1] और वह यह भी जानता है कि यह टकराहट अवश्यंभावी है, उसे बचाया नहीं जा सकता : 'चित्रलेखा परिस्थितियों के चक्र में पड़ गई है, कुमारगिरि का उसके जीवन में आना घातक है और उसका कुमारगिरि के जीवन में आना कुमारगिरि के लिए घातक है। दुर्भाग्यवश दोनों ही एक दूसरे के जीवन में विना जाने हुए अपनी-अपनी साधनाओं को भ्रष्ट करने के लिए आ गए हैं——भगवान ही उनकी सहायता कर सकता है।'[2]

फिर भी शायद चित्रलेखा का चेतन मन कुमारगिरि से कभी प्रेम-निवेदन न करता, यदि इस अवसर पर उसे एक अनजानी दिशा में सहारा न मिल गया होता। आर्य मृत्युंजय अपनी सर्व-गुण-सम्पन्ना कन्या यशोधरा का विवाह बीजगुप्त से करना चाहते हैं, और जब बीजगुप्त सब के सामने यह स्वीकार करता है कि चित्रलेखा एक प्रकार से उसकी पत्नी ही है इसलिए उसे अब विवाह करना ही नहीं है, तब वे चित्रलेखा को वस्तु-स्थिति समझाते हुए कहते हैं : 'जो कुछ तुम कर रही हो, वह अपनी मनः प्रवृत्ति के अनुसार, और मैं यह भी मानता हूँ कि तुम्हारा सारा व्यवहार प्रेम का है। प्रेम के क्षेत्र में अपवित्रता का कोई स्थान नहीं है; पर देवि, क्या यह मनुष्य, जिससे तुम प्रेम करती हो, यदि ठीक मार्ग पर न हो, तो उसको ठीक मार्ग पर लाना तुम्हारा कर्तव्य नहीं है ? प्रेम में त्याग की आवश्यकता होती है, और बीजगुप्त के लिए जो त्याग तुम करोगी, वह महान् होगा।'[3] चित्रलेखा के अचेतन मन को बीजगुप्त को छोड़कर कुमारगिरि को अपनाने का यह बड़ा अच्छा अवसर मिल जाता है। वह मानो बीजगुप्त के हित के ही लिए अपने प्रेम का त्याग कर देती है। वह सोचती है : 'बीजगुप्त को सुखी बनाना मेरा कर्तव्य है, उसे मुक्त कर देना ही मेरा महान त्याग होगा और उसके जीवन को सार्थक बनाना होगा। मुझे बीजगुप्त को छोड़ देना ही पड़ेगा, सदा के लिए छोड़ देना पड़ेगा।'[4] इसके अतिरिक्त इसमें भी सन्देह

---

१. भगवतीचरण वर्मा : 'चित्रलेखा' (पृष्ठ ५९)
२. वही : (पृष्ठ ६७)
२. वही : (पृष्ठ ८८)
४. वही : (पृष्ठ ९३)

नहीं कि अति-विलास के जीवन से ऊब जाने के कारण भी चित्रलेखा का मन योगी की ओर दौड़ रहा था। लेखक ने कुमारगिरि के प्रति उसके आकर्षण का विश्लेषण करते हुए उसकी इस ऊब का स्पष्ट उल्लेख किया है : 'नगर के अशान्तिमय जीवन से वह घबड़ा गई थी, निर्जन की शान्ति में, सात्त्विकता की आभा में, विश्वास के परद पर उसने सुख देखा। जीवन के आमोद-प्रमोद से वह ऊब उठी थी। अति सुख उसके लिए उत्पीड़न हो गया था। कुमारगिरि की कुटी के प्रशान्त वातावरण में चित्रलेखा ने सुख देखा, तृप्ति देखी।'[1]

अदम्य व्यक्ति पर विजय पाने की मूल प्रवृत्ति, अपने आकर्षण को त्याग का रूप दे सकने को सुविधा और विलास के अतिरेक से उत्पन्न ऊब से मुक्ति की कामना —इन तीनों के सम्मिलित प्रभाव से ही चित्रलेखा योगी कुमारगिरि के पास जाकर प्रणय निवेदन करती है। पर इस निवेदन में अब भी कुछ-न-कुछ छल अवश्य है इसीलिए वह योगी के प्रश्नों का ठीक-ठीक उत्तर नहीं दे पाती, वह जीवन में पहली बार स्वीकार करती है : 'मेरे शब्द ठीक न थे, मैं अपने भावों को ठीक शब्दों में व्यक्त न कर सकी।'[2] और जब योगी कहता है कि प्रेम समर्पण करता है, विवश नहीं करता तो वह तत्काल एक नया छल अपनाती है, अपने प्रेम को समर्पण की पोशाक पहना देती है।[3] इस छल का योगी पर असर होता है, यद्यपि वह फिर भी सोचने के लिए समय माँगता है। पर चित्रलेखा इस असमंजस से और भी आकर्षित होती है, और प्रायः गिड़गिड़ा कर उसका आश्रय माँगती है। योगी मानो उपकार और दया से प्रेरित होकर ही उसे शरण देता है।

फिर भी चित्रलेखा के मन में बीजगुप्त का प्रेम अंकुश का काम करता रहता है। जब बीजगुप्त उससे मिलने आश्रम में आता है, तब वह इसी चेतना से कहती है : 'बीजगुप्त, सम्भवतः मै अनुचित कर रही हूँ—उसके लिए क्षमा करना'[4] और इस बात पर बार-बार बल देती है : 'तुम विवाह कर लो'[5] क्योंकि बीजगुप्त यदि विवाह कर ले, तो उसके मन से अपराध की यह चेतना निकल जायेगी। यद्यपि कुमारगिरि को प्रसन्न करने के लिए वह प्रकट में कह देती है : 'मैं आपको धोखा नहीं दे रही हूँ—इतना विश्वास रखिये गुरुदेव ! बहुत संभव है कि मैं बीजगुप्त को धोखा दे रही हूँ या अपने ही को।'[6] पर उसका अन्तर्मन अभी बीजगुप्त से मुक्त नहीं है। यह योगी को नीचा दिखाने की उसकी योजना का ही अंग है।

---

१. भगवतीचरण वर्मा : 'चित्रलेखा' (पृष्ठ १२)
२. वही : (पृष्ठ ९६)
३. वही : (पृष्ठ ११६)
४. वही : (पृष्ठ ११६)
५. वही : (पृष्ठ ११५)
६. वही : (पृष्ठ ११७)

और अन्त में उसकी योजना सफल होती है। चित्रलेखा की उपस्थिति में योगी के संयम का बाँध धीरे-धीरे टूटने लगता है। वह नाना तर्क-वितर्क के द्वारा चित्रलेखा को साकार की उपासना का माध्यम बनाना चाहता है। चित्रलेखा की जीत हो जाती है क्षण के लिए योगी अपनी तपस्या भूलकर कह बैठता है : 'नर्तकी मैं तुमसे प्रेम करता हूँ।'[१] पर दूसरे ही क्षण वह संभल जाता है, और बाहर चला जाता है।

पर चित्रलेखा प्रसन्न नहीं है। योगी का तप खण्डित करने में उसे स्वयं अपना प्रेम भी खण्डित करना पड़ा है। इसलिए वह फूट, फूट कर रोने लगती है। विशालदेव से कहती है : 'मैंने यहाँ आकर अपने को गिराया है। अधिक गिरने के लिए मैं तैयार नहीं।'[२] यदि बीजगुप्त इस बीच में पाटलिपुत्र छोड़ कर काशी न चला गया होता, तो इस समय वह उसके पास लौट जाती। जब लौटने का मार्ग रुद्ध दीखता है तो वह अपने क्रोध में योगी की भर्त्सना कर उठती है। इस भर्त्सना में योगी की पराजय पर गर्व और अपने पतन पर त्रास—दोनों के मेल से विचित्र शक्ति आ जाती है : 'मैं जानती हूँ कि तुम मुझसे प्रेम करते हो; पर मैं तो तुमसे प्रेम नहीं करती। एक क्षण के लिए मेरी इच्छा तुम पर आधिपत्य जमाने की हुई थी, और मैंने उसका प्रयत्न किया। मैं सफल भी हुई; पर उससे क्या? पुरुष पर आधिपत्य जमाने की इच्छा स्त्री के पुरुष से प्रेम की द्योतक नहीं है, प्रकृति ने स्त्री को शासन करने के लिए नहीं बनाया है। स्त्री शासित होने के लिए बनाई गई है, आत्म-समर्पण करने के लिए। स्त्री अपने से निर्बल मनुष्य से प्रेम नहीं कर सकती, जिस मनुष्य पर उसने आधिपत्य जमा लिया, वह मनुष्य उसके प्रेम का अधिकारी हो ही नहीं सकता।'[३]

इस भर्त्सना से योगी की आँखें खुल जाती हैं। वह फिर से अपने व्यक्तित्व को ऊँचा बनाना चाहता है। चित्रलेखा उस पर दया कर कुछ दिन और साथ रहने के लिए सहमत हो जाती है। पर चित्रलेखा की उपस्थिति योगी को संयम की ओर नहीं, प्रेम की ओर ही धकेलती है। अंत में वह और कोई उपाय न देखकर चित्रलेखा को यह मिथ्या संवाद देता है कि बीजगुप्त ने यशोधरा से विवाह कर लिया है। चित्रलेखा सहज ही इस पर विश्वास नहीं करती, पर योगी अंत में अपने छल में सफल हो जाता है। बीजगुप्त को विश्वासघाती समझ कर ही वह योगी का प्रेम स्वीकार कर लेती है। फिर भी वह योगी की युगों से दमित वासना का उग्र रूप देखकर सुख नहीं पाती, काँपती-सी रहती है : 'वह मलय समीरण से अठखेलियाँ करने आई थी, ज्वालामुखी में जलने न आई थी।'[४] 'उस व्यक्ति का

१· भगवतीचरण वर्मा : 'चित्रलेखा' (पृष्ठ १४१)
१. वही : (पृष्ठ १४१)
२. वही : (पृष्ठ १४४)
३. वही : (पृष्ठ १४७)
४. वही : (पृष्ठ १४०)

मुख, जिसके साथ रात-भर उसने भोग-विलास किया; उसे इतना भयानक तथा घृणो-त्पादक क्यों लग रहा था ?'[1]

बीजगुप्त के प्रति अपने प्रेम में एक अटूट निष्ठा के कारण अपने पतन की चेतना और योगी की वासना के इस घृणित रूप—दोनों के कारण चित्रलेखा का मन ग्लानि से भर उठता है। उसकी यह आत्म-ग्लानि तब और भी तीव्र हो जाती है जब उसे पता लगता है कि यशोधरा का विवाह बीजगुप्त से नहीं, श्वेताक से हो रहा है, और इस सम्बन्ध को सम्भव बनाने के लिए बीजगुप्त ने अपनी समस्त संपत्ति श्वेतांक को दान करना पसन्द किया है, पर चित्रलेखा के प्रति अपने प्रेम को छोड़ना पसन्द नहीं किया। अब वह योगी के पास एक क्षण नहीं ठहरना चाहती। उसको प्रेम के एक नये तत्त्व का परिचय मिलता है—आत्म-त्याग का। इस तत्व की प्रतीति करते ही उसका मार्ग अपने आप निश्चित हो जाता है। वह योगी की कातर पुकार पर उसे धिक्कारती हुई कहती है : 'वासना के कीड़े ! तुम प्रेम क्या जानो ? तुम अपने लिए जीवित हो, ममत्व ही तुम्हारा केन्द्र है—तुम प्रेम करना क्या जानो ? प्रेम बलिदान है, आत्म-त्याग है, ममत्व का विस्मरण है। तुम्हारी तपस्या और तुम्हारा ज्ञान—तुम्हारी साधना और तुम्हारी आराधना—यह सब भ्रम है, सत्य से कोसों दूर है। तुम अपनी तुष्टि के लिए गृहस्थ आश्रम की बाधाओं से कायरतापूर्वक संन्यासी का ढोंग लेकर विश्व को धोखा देते हुए मुख मोड़ सकते हो—तुम अपनी वासना को तुष्ट करने के लिए मुझे धोखा दे सकते हो और फिर भी तुम प्रेम की दुहाई देते हो !'[2] बीजगुप्त के प्रति उसका प्रेम अब एक नये धरातल पर आ जाता है। उसका त्याग और अनन्य भाव चित्रलेखा को भी समर्पण और अनन्यता सिखा देता है। वह ग्लानि और पश्चात्ताप में गलती, रोती-गिड़गिड़ाती बीजगुप्त के चरणों मे जा गिरती है।[3] वह अब वैभव नहीं चाहती, मादकता नहीं चाहती, विजय नहीं चाहती, तृप्ति भी नहीं चाहती, केवल प्रेम चाहती है, आत्मा का पवित्र सात्विक प्रेम। और वे दोनों अथाह संसार में प्रेम की नौका पर बैठ कर निकल पड़ते है।[4]

---

१. भगवतीचरण वर्मा : 'चित्रलेखा' (पृष्ठ १७२)

२. वही : (पृष्ठ १७५)

३. 'मेरे देवता ! मेरे देवता ! ! मुझे क्षमा करो'—इतना कह कर वह मूर्ति (चित्रलेखा) बीजगुप्त के चरणों पर गिर पड़ी।

. . . .

'अपने देवता की चरण-रज लेने। अपने देवता की पूजा करने के लिए।' चित्रलेखा खड़ी हो गई—'नाथ ! मैंने तुम्हारा जीवन नष्ट कर दिया, मैंने तुम्हें मिटा दिया। तुम मुझे शाप दो, दण्ड दो, मुझे ताड़ित करो—पर मुझ से घृणा न करो !'

वही : (पृष्ठ १९०)

४. 'चित्रलेखा उठ खड़ी हुई—'तो फिर ऐसा ही हो—संसार में हम दोनों भिखारी बन-

इस प्रकार वर्मा जी ने चित्रलेखा के जीवन के माध्यम से नारी-प्रेम की पाँच स्थितियों का बड़ा कुशल, यथार्थ एवं मार्मिक चित्रण किया है और अन्त में प्रेम में परस्पर निस्वार्थ आत्म-समर्पण को महत्त्व देकर नारी के सम्मुख शाश्वत आदर्श उपस्थित किया है। पत्नी, विधवा, नर्तकी, प्रेमिका—इन चार रूपों से होती हुई चित्रलेखा अंत में साध्वी और अनन्य सहयोगिनी बन जाती है।

छायावाद के प्रवर्तक होने के नाते जयशंकर 'प्रसाद' भारत के प्राचीन इतिहास एवं संस्कृति के प्रति अत्यंत श्रद्धालु थे। अपने नाटकों में उन्होंने मौर्यकालीन और गुप्तकालीन ऐतिहासिक प्रसंगों द्वारा अत्यन्त उत्कृष्ट चरित्रों की सृष्टि की और राष्ट्र-प्रेम एवं सांस्कृतिक चेतना का विकास किया। यह दुःख का विषय है कि ऐतिहासिक उपन्यास की ओर उनका ध्यान बहुत देर में गया। असामयिक निधन के कारण वे अपना एकमात्र ऐतिहासिक उपन्यास 'इरावती' अधूरा ही छोड़कर चले गये। उसका जो अंश उपलब्ध है वह उनके निधन के बाद प्रकाशित हुआ है। १०८ पृष्ठ की इस अधूरी रचना के सम्बन्ध में निश्चित रूप से मत व्यक्त करना उपयुक्त न होगा, तथापि उसमें चित्रित इरावती और कालिन्दी के चरित्रों पर ध्यान देना आवश्यक है।

जयशंकर 'प्रसाद'

'इरावती' में मौर्य काल के अन्तिम दिनों की कहानी है। अशोक के समय से ही बौद्ध धर्म का व्यापक प्रचार होने लगा था, और उसे राज-धर्म की प्रतिष्ठा भी मिल चुकी थी। देश-भर में अनेक स्थानों पर बौद्ध संघों की स्थापना हो चुकी थी। पर कालान्तर में बौद्ध जीवन-प्रणाली में अनेक दोष दिखाई देने लगे। एक ओर संघों के कठोर नियम-पालन से साधारण जन भयभीत होने लगा, दूसरी ओर बौद्ध सिद्धान्तों की आड़ में राजन्य वर्ग भोग-विलास की ओर उन्मुख होने लगा। सनातन वर्णाश्रम धर्म फिर से नई प्रतिष्ठा पाने लगा और फलस्वरूप बौद्ध एवं ब्राह्मण सिद्धान्तों में टकराहट होने लग गई। 'इरावती' में यही टकराहट ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का कार्य करती है। मौर्य साम्राज्य के अन्तिम विलासी राजा वृहस्पतिमित्र के काल में पाटलिपुत्र की शोचनीय दशा, उत्तर-पश्चिम से यवनों का आक्रमण और दक्षिण से खारवेल की चुनौती मुख्य कथानक के रूप में चित्रित है।

इस पृष्ठभूमि और कथानक में इरावती और अग्निमित्र का प्रेम सूत्र का काम करता है। अग्निमित्र मौर्य साम्राज्य के महादण्डनायक प्रचण्ड पुष्यमित्र का पुत्र है, उनका आदि स्थान मालव है। अग्निमित्र जब विदिशा में रहता था तभी वह विधवा पड़ोसिन की पुत्री इरावती के प्रति अनुरक्त था। जब इरावती की माँ की मृत्यु हो जाती है तब वह

कर निकल पड़ें। प्रेम और केवल प्रेम हमारा आधार हो! मेरे देवता! मैं अपनी सम्पत्ति आज ही दान किये देती हूँ—रात में हम दोनों ही अथाह संसार में प्रेम की नौका पर बैठ कर निकल चलें।'

भगवतीचरण वर्मा : 'चित्रलेखा' (पृष्ठ १९२)

अग्निमित्र से आश्वासन पाती है। पर कुछ दिनों बाद अग्निमित्र का आना-जाना भी बन्द हो जाता है और वह अपने परिवार से इरावती के प्रसंग के कारण रुष्ट होकर अन्यत्र चला जाता है। इरावती निरुपाय होकर उज्जयिनी के महाकाल के मंदिर में अपनी नृत्यकला के बल पर देवदासी बन जाती है। अग्निमित्र उच्च कुल का वंशज है, इसी लिए उनका प्रेम विफल होता है। पर वे फिर भी एक-दूसरे को अपने हृदय से नहीं भुला पाते।

संयोग की बात है कि जिस दिन अग्निमित्र इरावती को खोजता महाकाल के मंदिर में पहुँचता है, उसी दिन राज्य-व्यवस्था का निरीक्षण करता हुआ युवराज बृहस्पतिमित्र भी वहीं पहुँचता है। इरावती के नृत्य-प्रदर्शन में दोनों उपस्थित होते हैं। युवराज देव-मन्दिर में इस कामुक नृत्य-प्रदर्शन से क्षुब्ध हो कर इरावती को बन्दी कर लेना चाहता है। तभी समाचार आता है कि वृद्ध सम्राट का देहावसान हो चुका है, और युवराज सम्राट बन गया है। वह इरावती को पाने की लालसा से उसे कुछ दिनों के लिए एक बौद्ध-विहार में रखने की आज्ञा देकर राजधानी की ओर चल देता है। अग्निमित्र इस व्यवस्था का विरोध करना चाहता है, पर इरावती उसे वारण कर देती है। वह आत्माभिमान भरे स्वर में कहती है :

'मुझसे पूछे तुम रह नहीं सकते? अग्नि! मै जीवन-रागिनी में वर्जित स्वर हूँ। मुझे छोड़कर तुम सुखी न हो सकोगे।'

'इरा! यह असम्भव है। मैं तुमसे अपनी असमर्थता का विवरण देना चाहता हूँ। जिस अवस्था में मुझे तुमसे अलग रहना पड़ा·····।'

'ठहरो; मुझे उसकी आवश्यकता नहीं। तुम यही न कहोगे कि तुम्हारे गुरुजन मेरा और तुम्हारा सम्बन्ध आँखों से नहीं देख सके। और तुम उनका प्रत्याख्यान नहीं कर सकते थे। ठीक है! गुरुजन! बाल्य-काल में जितनी सेवा-सुश्रूषा, प्यार-दुलार और आज्ञाकारिता तुम्हारी कर चुके हैं, उस सब का प्रतिदान चाहते है। और तुम ऋणी हो, उसे चुकाना पड़ेगा। मेरा तो तुमसे कुछ प्राप्य नहीं। झिड़की, मारपीट और चिढ़ाना यह सब जो था वह तो शैशव में ही मिल चुका था। फिर अब आदान-प्रदान कैसा?'

'इरा! तुम मुझे कहने भी न दोगी। तुम्हारे निरुद्देश्य होने पर मैं कहाँ-कहाँ भटकता हुआ यहाँ·····'

'मुझसे मिले, मुझे बचाना चाहते हो। यह तुम्हारी अनुकम्पा है। परन्तु मेरे ऊपर मेरा भी कुछ ऋण है। मैंने भी अपने को, इतने दिनों से संसार से सार लेकर—भीख माँग कर—अनुग्रह से अनुरोध से जुटा कर कैसा कुछ खड़ा कर दिया है। उस मूर्ति को क्यों बिगाड़ूँ? स्त्री के लिए, जब देखा कि स्वावलम्ब का उपाय कला के अतिरिक्त दूसरा नहीं; तब उसी का आश्रय ले कर जी रही हूँ। मुझे अपने में जीने दो।'[१]

---

१. जयशंकर 'प्रसाद' : 'इरावती' (पृष्ठ १५-१६)

पर भिक्षुणी-संघ के नीरस, कठोर, मृतप्राय जीवन में शीघ्र ही उसका दम घुटने लगता है, और वह अपना अभिमान भूल कर शिप्रा में नौका पर सवार अग्निमित्र को देखकर चीख उठती है : 'मैं तुम्हारे साथ चलना चाहती हूँ। उस दिन मैंने भूल की थी। ठहरो, नाव रोको।'[1]

और जब तक सैनिक उसे पकड़ें तब तक वह शिप्रा में कूद पड़ती है, उसकी प्राण-रक्षा के लिए अग्निमित्र भी कूद पड़ता है। पर जब दोनों नौका पर लौटते हैं तो अग्निमित्र के गुरुदेव, महाकाल के पुजारी उन्हें सैनिकों को सौंप देते हैं। कुसुमपुर ले जाकर इरावती को एक अन्य भिक्षुणी विहार में रख दिया जाता है और अग्निमित्र को वन्दीगृह में रख दिया जाता है। वृहस्पतिमित्र (जो अब सम्राट हो चुका है) चाहता है कि इरावती को किसी छोटे-मोटे अपराध पर संघ से निर्वासित कर दिया जाय ताकि वह उसकी रंगशाला की शोभा बढ़ा सके। इरावती अपनी परिस्थिति से समझौता कर अपने मन को मार कर संघ जीवन अपना लेती है। वह संकल्प करती है : 'मैं बलपूर्वक अपने हृदय से उन कोमल अनुभूतियों को निकाल दूंगी। काम-सुखों की स्मृतियों को कड़ी-से-कड़ी फटकार दूंगी। प्रयत्न करूँगी।'[2]

इसी कठिन संयम के बीच एक दिन वह पथ पर चलते एक ब्राह्मण ब्रह्मचारी से आलाप कर बैठती है जो कहता है : 'आनन्द के उल्लास की यात्रा ही जीवन है। यह भूल क्यों गई हो।'

इरावती—'परन्तु मुझे तो अपने कर्मों पर पश्चात्ताप की ज्वाला में जलने की आज्ञा मिली है। और इस यातना का कभी अन्त होगा कि नहीं, नहीं कह सकती।'

'कौन-से ऐसे कर्म हैं देवि जिन्हें हम आनन्द की भावना में भस्म नहीं कर सकते। तुमसे कौन-सा अपराध हुआ है?'

'मैं नहीं जानती। लोग कहते हैं—मैं नाचती थी, आनन्द मनाती थी, यही मेरा अपराध हो सकता है।'

'माँ तुम शक्ति स्वरूपा हो, अन्तर्निहित आनन्द की अग्नि प्रज्वलित करो।'[3]

महास्थविर इसी को उपयुक्त अवसर मानकर इरावती को संघ से निकाल देते हैं। इरावती निर्वासन का दण्ड प्रसन्न होकर स्वीकार करती है : 'कहीं भी, इस दिवालोक में घूमते-घूमते संध्या तक कहीं-न-कहीं शरण मिल ही जायगी। मैं भी देख लूँ कि विश्व में, मुझे खड़ी होने के लिए कहीं हाथ भर भूमि है कि नहीं। ऊपर तारा या मेघों की छाया मिलती है कि नहीं। आर्य्ये! मिलेगी! अवश्य मिलेगी। तो मैं जाती हूँ।'[4]

---

१. जयशंकर 'प्रसाद' : 'इरावती' (पृष्ठ २३)
२. वही : (पृष्ठ ३९)
३. वही : (पृष्ठ ५८-५९)
४. वही : (पृष्ठ ६१)

इरावती पथ पर आ जाती है। इस बीच अग्निमित्र को उसके पिता पुष्यमित्र ने राजा से क्षमा दिलाकर सेना में नायक पद दिला दिया है क्योंकि राज्य को कुशल वीरों की आवश्यकता है। इरावती के बुद्ध-विहार से निकलने के कुछ ही क्षण उपरान्त अग्निमित्र वहाँ पहुँचता है, और यह समाचार पाकर सर्वत्र उसकी खोज करता है। हार कर वह सुगांग-प्रासाद में कालिन्दी के पास जाता है। वहीं इरावती ने शरण ले रखी है। पर वह यह भेद जान भी नहीं पाता कि कुछ राजपुरुष आकर बलात् इरावती को ले जाते है, और अग्निमित्र उसको बचाने के प्रयत्न में आहत होकर मूर्छित हो जाता है।

राजपुरुषों के द्वारा इरावती मगध-नरेश की रंगशाला में पहुँचती है। वहाँ बृहस्पतिमित्र उससे प्रणय-निवेदन करता है। पर इरावती सर्वथा निरापराध होकर भी जीवन में इतने कटु अनुभव भोग चुकी है कि वह प्रणय की यह भेंट किसी प्रकार स्वीकार नहीं करती: 'आप सम्राट हैं। तब भी मैं अपने को सुरक्षित नहीं समझती। आपको नहीं मालूम कि मैं आरम्भ की देवदासी हूँ। फिर ... ओह अंधकार की, शून्य की उपासिका भिक्षुणी! मुझे काम-सुख की प्रवंचना में फँसाना धर्म होगा?'[1]

जब सम्राट बल-प्रयोग करने लगता है तो इरावती मूर्छित हो जाती है। तभी कालिंदी वहाँ पहुँचकर उसकी रक्षा करती है और अपने साथ ले जाकर अपनी सहेली की भाँति रखती है। इरावती भी कालिन्दी को स्वामिनी की भाँति श्रद्धा करती है।

बाद में जब राज्य-रक्षा के लिए बृहस्पतिमित्र चाहता है कि कलिंगनरेश मेघवाहन खारवेल राजगृह से लौट जाने की बजाय कुसुमपुर तक आये तो कालिन्दी इस कार्य का भार अपने ऊपर ले लेती है और इरावती के साथ राजगृह जाकर वह खारवेल को श्रेष्ठी धनदत्त के यहाँ आकर्षित कर लेती है। वहाँ अग्निमित्र भी उपस्थित होता है। धनदत्त के घर भोजन के उपरान्त खारवेल के वीणा-वादन पर इरावती नृत्य करती है जिस पर खारवेल मुग्ध होकर उसे एकावली उपहार में देना चाहता है। पर इरावती अस्वीकार कर देती है: 'मैं आर्य्य कालिंदी की अनुचरी हूँ। मैं उपहार नहीं ले सकती। क्षमा कीजिए।'[2] और वह अवगुण्ठन में छिपी, मौन अग्निमित्र के सामने आकर बैठ जाती है।

इसके आगे की कथा लेखक नहीं लिख सका।

इरावती के माध्यम से 'प्रसाद' ने बौद्ध प्रभाव के कारण नारियों के अवःपतन और भिक्षुणियों के अस्वाभाविक निरानन्द जीवन का अच्छा चित्र उपस्थित किया है। वहाँ व्यक्ति की कोमल भावनाओं का सर्वथा निषेध है, ये भावनाएं चाहे प्रकृति के प्रति हों या व्यक्ति के प्रति। उनका मत है कि क्योंकि रात्रि का सौन्दर्य, कामभोग के लिए मन को उत्तेजित कर सकता है[3] इसलिए वर्ज्य है, किसी पुरुष के साथ वार्तालाप कोमल भावनाओं

---

१ जयशंकर 'प्रसाद': 'इरावती' (पृष्ठ ७९)
२. वही: (पृष्ठ १०६)
३. वही: (पृष्ठ १७)

को जन्म देता है। इसलिए वह भी वर्जित है, नाच-गान और कला व्यक्ति के भावों का विकास करती है, उन्हें आन्दोलित करती है इसलिए वह वर्जित है। दूसरी ओर अग्निमित्र का प्रेम सच्चा होने पर भी अपने पिता से विद्रोह नहीं कर पाता, और इरावती अपने एकांगी प्रेम में अटल रहकर राज-कृपा और राज-दण्ड दोनों से त्रस्त होती है।

इरावती के अतिरिक्त उपन्यास में दो नारी पात्र और हैं: कालिन्दी और मणिमाला। कालिन्दी मौर्यों से पराजित-प्रताड़ित नंद-वंश की कन्या है। वह असाधारण रूपसी है। वयोवृद्ध राजा शतधनुष उसे अपनी काम-लालसा की पूर्ति के लिए पकड़वा मँगाते हैं, पर उसके आते-न-आते ही उनकी मृत्यु हो जाती है। कालिन्दी इस दुहरे अपमान से क्षुब्ध होकर मौर्यवंश का नाश करने का संकल्प कर लेती है। उसमें अदम्य साहस है, षड्यंत्र और कूटनीति में सिद्धहस्त है और अपने भावों को छिपाकर कपट-अभिनय में पारंगत है। वह कुसुमपुर में विद्रोहियों के गुप्तदल 'स्वान्तिक-दल' की नेत्री बन जाती है। नाना प्रकार के छल-बल से धन और शक्ति का संग्रह करती रहती है ताकि अवसर पर उपयोग कर सके। इसीलिए वह इरावती को अपने यहाँ शरण देती है। अपने रूप के प्रभाव से वह अनभिज्ञ नहीं है, और उसको अपनी उद्देश्यपूर्ति का साधन बनाने में भी नहीं हिचकती। वह जानती है कि राज्य के विरुद्ध अनेक शक्तियाँ सिर उठाने की चेष्टा में हैं। पुष्यमित्र की योजना जानकर और अग्निमित्र को अपने लिए उपयोगी समझकर ही वह उससे प्रणय निवेदन करती है, यद्यपि उसमें सच्ची भावना को भी झंकार मिलती है। पर फिर भी उसे सरल, निस्वार्थ प्रेम नहीं कहा जा सकता। उसके प्रणय वाक्य ही उसकी योजना को प्रकट करते हैं: "मैं तुम्हें ... केवल तुम्हारी सहायता इस संसार के सुख-दुःख में चाहती हूँ। कालिन्दी को और कुछ नहीं चाहिए। देखो, मगध का साम्राज्य तुम्हारा होगा और तुम मेरे, केवल मेरे हो जाओ। मैं जीवन में निष्ठुर कल्पना लेकर ही जीवित हो रही थी, किन्तु तुमने उसमें न जाने कहाँ से माधुर्य की पुट लगाकर उसे कैसा कुछ बना दिया है।"[१] इसीलिए वह अग्निमित्र को इरावती से विमुख करने का भी प्रयत्न करती है।

बाद में जब कालिन्दी राज-रंग-शाला में पहुँचकर इरावती की रक्षा करती है तब बृहस्पतिमित्र उसके असाधारण रूप से आकर्षित होकर इरावती को भूलकर उसी से प्रेमालाप करने लगता है। कालिन्दी, उसका प्रत्याख्यान नहीं करती, वरन् वह कौशल से राजकीय रहस्यों का उद्घाटन करती है, और अपनी शक्ति बढ़ाने के लिए वह राजाज्ञा से खारवेल को लुभाने का भी कार्य करती है। प्रतिशोध में उसकी अटूट लगन प्रशंसनीय अवश्य है, पर उसके आचरण की अनैतिकता निन्दनीय है।

नारी के इन दो चरम रूपों के बीच में मणिमाला का चरित्र है जो साधारण नारी है। श्रेष्ठी धनदत्त की पत्नी होने के कारण उसे कोई अभाव नहीं, पर अपने पति की लोलुपता बुरी लगती है। जब धनदत्त विदेश जाता है, तब कुसुमपुरी को संकटापन्न समझकर

१. जयशंकर 'प्रसाद' : 'इरावती' (पृष्ठ ६५).

औरों की भाँति वह भी अपने एक विश्वासपात्र सेवक के साथ सारा धन लेकर चल देती है। वाद में धनदत्त उसे लौटा लाता है, पर जाने का उसे कोई परिताप नहीं है। कुछ दिन दोनों में मनमुटाव हो जाता है, फिर समझौता हो जाता है। पर वे दोनों एक दूसरे पर संदेह करते ही रहते है। जब मणिमाला ब्रह्मचारी के साथ देव-दर्शन को जाना चाहती है, तब धनदत्त संदेह करता है, और जब धनदत्त इरावती और कालिन्दी से आत्मीयतापूर्ण संभाषण करता है तो मणिमाला संदेह करती है। यह संदेह उस युग के विशृंखल, विलासी, अनैतिक जीवन में नारी की स्थिति का प्रतीक है।

'निराला'

ऐतिहासिक उपन्यास लिखने में 'निराला' की प्रेरणा का स्रोत 'प्रसाद' से भिन्न है। दोनो लेखक छायावाद के प्रवर्तक होते हुए भी भिन्न-भिन्न दृष्टि से इतिहास की ओर गये है। 'प्रसाद' अतीत के सांस्कृतिक गौरव के शोधक है, 'निराला' रूढ़ियों से विद्रोह कर स्वप्नशील जीवन का चित्र खीचते हैं। 'प्रभावती' (१९३६) उनका एकमात्र ऐतिहासिक उपन्यास इसका प्रमाण है। 'प्रभावती' की कथा राजपूत-कालीन है जब दिल्ली में अंतिम भारतीय राजा पृथ्वीराज राजा राज्य कर रहा था। जनश्रुति के अनुसार पृथ्वीराज जयचंद्र की पुत्री संयोगिता को प्रेम करता था। उसको बलपूर्वक हर लाने के कारण ही जयचंद और पृथ्वीराज में युद्ध हुआ था और इस गृह-कलह के फलस्वरूप देश में विदेशियो का शासन स्थापित हुआ था। 'प्रभावती' में निराला ने इतिहास की इस पृष्ठभूमि में एक काल्पनिक कथा द्वारा कुछ स्वप्न और आदर्श स्थापित किये है जो तत्कालीन स्थिति का विवेचन प्रस्तुत करते है। यही कारण है कि उपन्यास के प्रमुख नारी पात्र प्रभावती और यमुना—आदर्श रूप में चित्रित किये गए है।

प्रभावती अलौकिक सुन्दरी है। वैसवाड़े की घनी अमराइयों के बीच गंगा के किनारे किले की सीढ़ियों से चाँदनी रात में उतरती हुई आभूषणों से सजी हुई राजकुमारी प्रभावती साक्षात् अप्सरा-सी जान पड़ती है। पर वह केवल सुन्दरी ही नही, वीर भी है। जंगल में आखेट के लिए जाने पर उसकी भेंट राजकुमार देव से होती है। दोनो एक दूसरे पर मुग्ध हो जाते है। वे जानते है कि उन दोनों के कुलों में परम्परागत वैर है, इसलिए उनके पिता उनके विवाह के लिए कभी सहमत न होंगे। पर कुल की इस रूढ़ि के लिए वे अपने प्रेम को विफल करना ग़लत समझते है। अपनी सखी और दासी यमुना की सहायता से प्रभावती देव से गान्धर्व विवाह कर लेती है और इस प्रकार रूढ़ि के प्रति विद्रोहिणी सिद्ध होती है। बाद में वह पृथ्वीराज और संयोगिता की रक्षा करती-करती वीरगति प्राप्त करती है। यद्यपि घटनाओं के घटा-टोप में लेखक चरित्रों का सम्यक् विकास नहीं कर पाया है, फिर भी प्रभावती रूप, प्रेम, वीरता और देशभक्ति की आदर्श प्रतिमा जान पड़ती है।

उपन्यास में प्रभावती से भी अधिक महत्त्वपूर्ण चरित्र है यमुना का। यमुना यद्यपि प्रभावती की परिचारिका के रूप में रहती है किन्तु वही वह बुद्धि है, जिससे सारे कार्य

संचालित होते हैं। उसमें वीरोचित साहस, धैर्य, तेजस्विता, सामयिक सूझ और कर्तव्य निष्ठा का असाधारण समावेश है। इन्हीं गुणों के कारण उसका चरित्र आदर्श बन गया है। जब बलवन्त बलपूर्वक प्रभावती को ग्रहण करना चाहता है जिसके कारण प्रभावती अनेक कष्टों में पड़ जाती है, तब यमुना ही उसको कष्टों से मुक्ति दिलाकर देव से उसके गांधर्व विवाह का प्रबन्ध करती है।

यही नहीं, यमुना अपने देश और जाति की रक्षा करना अपना कर्तव्य और दायित्व समझती है। वह और प्रभावती मिलकर सैन्य संग्रह कर लालगढ़ की रक्षा करने में सफल होती हैं। वह मध्ययुगीन रूढ़िवादिता, उत्पीड़न और दासता के दुष्परिणामों से भी परिचित है। वह यह भी जानती है कि राजकुलों की आपसी स्पर्द्धा और बौद्ध एवं वर्णाश्रम धर्मों की कलह देश को छिन्न-भिन्न कर देगी। इसीलिए वह जनहित को ही सच्चा मान कर स्पष्ट शब्दों में घोषित करती है: 'जिससे समस्त जाति की प्रीति हो, शक्ति पाये, वह क्षत्राणी। हमें प्रजा की सेवा के लिए अपना सर्वस्व दे देना होगा।'[1]

इस प्रकार निराला ने ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में आधुनिक प्रगतिशील विचारों का आरोपण किया है। लेखक का आदर्श यमुना के रूप में प्रतिष्ठित हुआ है।

उपन्यास में नर्तकी विद्या का चरित्र भी असाधारण और आकर्षक है। वह नर्तकी होकर भी एकनिष्ठ और कर्तव्य-परायण है। यमुना की बहन रत्नावली भी अपने संयम, आत्मोत्सर्ग और कर्तव्यनिष्ठा से आदर्श नारी की प्रतिष्ठा पाती है। 'प्रभावती' के नारी पात्रों का ऐसा आदर्श चित्रण कर 'निराला' ने नारी जाति के प्रति अपनी श्रद्धा और आस्था का परिचय दिया है।

प्रेमचन्दोत्तर काल

प्रेमचन्द-युग के ऐतिहासिक उपन्यासों में एक बात समान रूप से मिलती थी कि लेखक भारतीय संस्कृति और भारतीय अतीत जीवन के प्रति ललक रखते थे पर प्रेमचन्द-युग की समाप्ति तक हिन्दी साहित्य में कुछ नई प्रवृत्तियाँ दिखाई पड़ने लग गई थीं। राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का आन्दोलन अब जन-आन्दोलन बन चुका था। स्वराज्य का अर्थ अब जनता का राज्य माना जाने लगा था। इसलिए जन-साधारण के जीवन की ओर लेखक विशेष आग्रह रखने लगा। जो स्वार्थ और विशेषाधिकार साधारण जन को बन्धन में रखते थे उनकी ओर लेखक घृणा से देखने लगे। इसी के फलस्वरूप साहित्य में वर्ग-संघर्ष का भी समावेश हुआ और समाजवादी मार्क्सवादी विचारधाराएँ जनता की जय की कामना करने लगीं। इन प्रवृत्तियों का ऐतिहासिक उपन्यासों पर भी प्रभाव पड़ा। अब लेखक मौर्य अथवा गुप्तकालीन स्वर्णयुग की चर्चा न कर उन विस्मृत गण-राज्यों की चर्चा करने लगा जिनमें वह वर्गहीन समाज की आदिम झाँकी देखता था। साथ ही ऐतिहासिक

---

१. 'निराला' : 'प्रभावती' (पृष्ठ ६४)

घटनाओं के स्थान पर वह जीवन के विकास के विश्लेषण को महत्त्व देने लगा। और सामाजिक व्यवस्था का अध्ययन नये जनवादी दृष्टिकोण से करने लगा। क्योंकि यह काल दूसरे महायुद्ध का काल भी है इसलिए इसमें जो ऐतिहासिक उपन्यास रचे गए, उनमें विदेशी आक्रमणों की चर्चा भी बहुधा की गई और अधिकतर उपन्यासों में सामन्तों के स्वार्थ और जनता की सच्ची शक्ति दोनों का उल्लेख मिलता है। इस काल के प्रमुख ऐतिहासिक उपन्यासकार राहुल सांकृत्यायन, यशपाल, चतुरसेन शास्त्री, रामरतन भटनागर, और हजारीप्रसाद द्विवेदी है।

राहुल सांकृत्यायन

राहुल ने भारत के प्राचीन इतिहास का और मार्क्सवादी दर्शन का गम्भीर अध्ययन किया है और उनके उपन्यासों में हमें दोनों का समन्वित रूप मिलता है। यद्यपि उनके उपन्यासों का प्रमुख कथानक और थोड़े-बहुत चरित्र प्रामाणिक हैं तथापि जिन चरित्रों पर राहल बल देते है वे उनकी कल्पना की सृष्टि है। एक वाक्य में हम कह सकते हैं कि राहुल के ऐतिहासिक उपन्यास ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर आधारित समाजवादी दर्शन के आलोक में प्राचीन भारतीय जन-जीवन के कल्पना-चित्र है।

इस अवधि में राहुल के दो उपन्यासों पर विचार करना अभीष्ट है। 'सिंह सेनापति' और 'जय यौधेय'। 'सिंह सेनापति' की कहानी वैशाली गण-राज्य और मगध साम्राज्य के संघर्ष की कहानी है। वैशाली गणराज्य होने के कारण सामाजिक अवस्था में आस-पास के अन्य राज-तंत्रीय राज्यों से अधिक उन्नत और समृद्ध है। इसीलिए वह मगध जैसे साम्राज्य से टक्कर लेने में भी नहीं हिचकता। वहाँ की नारियाँ भी अन्य राज्यों की नारियों की अपेक्षा अधिक समर्थ, वीर, कर्तव्य-परायण और पुरुषों की सहयोगिनी है। उपन्यास में उनका प्रतिनिधित्व भामा करती है। भामा सेनापति सिंह की भाभी है। उसकी विनोदप्रियता असाधारण है। महिलाओं की मंडली में उसकी प्रसन्न वातचीत सब को हर्षित और आनन्दित करती है।

किन्तु भामा केवल विनोदिनी नहीं है वह वीर भी है और प्रबन्ध-कुशल भी। जब वैशाली के गणराज्य पर मगध का आक्रमण होता है, तब वह गण की रक्षा के लिए लिच्छवि नारियों की परिषद संगठित करती है, उनको गोष्ठियों में एकत्र कर युद्ध नीति और अस्त्र-विद्या की शिक्षा का प्रबन्ध करती है। वह उनमें साहस का संचार करती हुई कहती है : 'बहन रोहिणी के-से हाथों की आवश्यकता है जिसने सौ बिम्बसार के बराबर बलशाली पार्शव राज के मद को चूर किया है ... हम दोनों ने तय किया है कि मनोरथ और सिंह के हाथों में जब खड्ग होगा, तो हम भी खड्गधारिणी बनेंगी। क्या तुम भी बहिनो चाहती हो खड्गधारिणी बनना।'[1] अपने इसी उत्साह और संकल्प के बल पर वह पचास हजार लिच्छवि नारियों की सेना संगठित करने में सफल होती है और उसकी नेत्री चुनी जाती है।

---

१. राहुल सांकृत्यायन : 'सिंह सेनापति' (पृष्ठ १३४)

युद्ध छिड़ जाने पर वह सारी सैनिक आवश्यकताओं का प्रबन्ध स्वयं करती है। घायलों की सुश्रूषा, मृतकों की दाह-क्रिया, हथियारों का संग्रह और रणभूमि में शत्रु से लोहा लेना—ये सारे कार्य वह जिस कुशलता और लगन और दूरदर्शिता से करती है उसको देखकर लक्ष्मी बाई जैसी वीर नारियों का स्मरण हो आता है।

उपन्यास में भामा के अतिरिक्त रोहिणी का चरित्र भी महत्वपूर्ण है। रोहिणी तक्षशिला के आचार्य वहुलाश्व की सुन्दरी पुत्री है। जब सिंह विद्या-अध्ययन के लिए वहाँ जाता है, तब रोहिणी से उसका परिचय होता है। धीरे-धीरे यह परिचय घनिष्ठता में और फिर प्रणय में परिवर्तित हो जाता है। अन्त में सिंह रोहिणी से विवाह कर तक्षशिला से वैशाली लौटता है। इस अवसर पर वैशाली का जो वर्णन लेखक ने किया है उससे हम उस गण-राज्य के वैभव और शक्ति का अनुभव कर सकते हैं।

रोहिणी में भी भामा की भाँति नारी के आदर्श गुण है। उसका स्वभाव सरल है। अलंकारो के लिए वह फूलों को ही पसंद करती है। कन्नौज की राजकुमारी को नख-शिख स्वर्णालंकारों से लदी देखकर उसके मन मे दया का भाव ही जगता है क्योंकि वह जानती है कि अलंकार नारी की परवशता के प्रतीक है। कोमल होते हुए भी उसमें अद्भुत शक्ति है। वह खेती का काम भी करती है और शिकार करने में भी असाधारण बल का परिचय देती है। वह वीर भी है और युद्ध के लिए अपने पति को भेजने में और आवश्यकता पडने पर स्वयं भी तलवार लेकर रणभूमि में उतरने में गौरव का अनुभव करती है। वह अपनी जातिगत प्रकृति का परिचय देती हुई सिंह से कहती है : 'हम गान्धारियों के लिए वह सब से आनन्द का समय होता है, जब हमारा प्रिय रणक्षेत्र के लाल कर्दम से सने शरीर के साथ लौटता है। जानते हो, मैं अपनी सहेलियों से बडे अभिमान के साथ तुम्हारे हाथ के उस खड्ग चिन्ह के बारे में कहा करती हूँ। खड्ग-चिह्न से बढ़कर भूषण नहीं, उससे बढ़कर गौरव का कोई चिह्न नही।'[1] यही नहीं, रोहिणी पार्शव शासक को हराने में सिंह की मदद करती है। इसी प्रकार अपूर्व सुन्दरी क्षेमा जनपद कल्याणी होते हुए भी भामा के साथ सेना-संचालन में सहयोग देकर अपने अदम्य साहस का परिचय देती है। गणराज्य में नारियों का ऐसा तेजोमय आत्मनिर्भर चित्रण कर राहुल ने नारी की समाज में आदर्श की झलक दी है।

ऐसी ही झलक हमें उनके दूसरे उपन्यास 'जय यौधेय' (१९४४) में मिलती है जिसमें शक्तिशाली यौधेय गणराज्य के जीवन का चित्रण है। ईसा की चौथी शताब्दी में यह गणराज्य यमुना, सतलज, चम्बल और हिमालय के बीच में बसा हुआ था। उसके जीवन में और आसपास के राज-तंत्रीय राज्यों के जीवन में आकाश-पाताल का अन्तर दिखाया गया है। जब मगध में गुप्त सम्राट भोग-विलास और पारस्परिक कलह में व्यस्त थे तब यौधेय गण स्त्री-पुरुष के समान अधिकार और स्वतन्त्रता के आधार पर विकास कर रहा

---

१. राहुल सांकृत्यायन : 'सिंह सेनापति' (पृष्ठ ४७)

था। गण की नारियाँ पुरुषों के साथ मिलकर हर कार्य में हाथ बँटाती थीं। यहाँ तक कि युद्ध भूमि में भी वे पुरुषों से पीछे नहीं रहती थीं। बसुनन्दा के चरित्र द्वारा लेखक ने स्वतन्त्र नारी की वीरता और पराक्रम का चित्रण किया है।

उपन्यास का नायक जय है जो पाटलिपुत्र के परिवार में राजसी ऐश्वर्य और वैभव के बीच शिक्षा पाता है। वहाँ के पतनोन्मुख दोषग्रस्त जीवन को देखकर वह खिन्न होता है। विशेषतः नारी की हीनावस्था उसे विकल करती है। नारी के प्रति राजन्य-वर्ग का व्यवहार अत्यन्त कामुक और अनैतिक था। एक राजा मनमाने ढंग से अनगिनत रानियाँ रखता था। नारी को किसी स्थिति में प्रतिवाद तक का अधिकार न था। जब जय बौद्ध भिक्षु बनकर सिंहल जाता है तो वहाँ भी नारी की दुर्दशा देखकर उसे दुःख होता है। अपने पति के वंश की वृद्धि के लिए उपासिका को जब नियोग स्वीकार करना पड़ता है तब वह इतना दुखी होता है कि उपासिका से कहता है: 'आज की नारी जो कुछ है उसके बनाने में पुरुष का ही हाथ है; नारी के लिए कोई और नहीं, यही पुरुष विधाता है।"[१]

यशपाल का ऐतिहासिक उपन्यास 'दिव्या' सन् १९४५ में लिखा गया है। यद्यपि उसमें बौद्ध-कालीन समाज का चित्रण है तथापि उसके घटना-सूत्रों में और दृष्टिकोण में द्वितीय महायुद्ध की विचारधारा की स्पष्ट छाया है।

यशपाल

यशपाल मार्क्सवादी लेखक है और द्वितीय महायुद्ध के सम्बन्ध में जो मार्क्सवादी धारणाएँ थीं, उनका किसी न किसी रूप में प्रस्फुटन इस ऐतिहासिक उपन्यास में भी आ गया है। राज्य में बाहरी आक्रमण के संकट से साधारण जन तटस्थ रहता है, सामन्तगण संकट कालीन परिस्थिति का लाभ उठाकर अपनी शक्ति और अपना धन बढ़ाने की चाल चलते हैं और संकट तभी टलता है, जब पुरानी परिपाटियों को त्यागकर सारे गण के जनों को समान अधिकार दे दिये जाते है और देश के लिए युद्ध सच्चा 'जन-युद्ध' बन जाता है।

'दिव्या' की मूल आत्मा यही कथानक है। किन्तु लेखक ने यथासम्भव ऐतिहासिकता का निर्वाह किया है और जैसा कि उसका स्वयं कहना है कि यह उपन्यास एक कल्पना ही है। फिर भी लेखक ने कहीं भी ऐसी कल्पना नहीं की है जो उस काल के लिए असम्भव जान पड़े। वर्णाश्रम और श्रमण धर्मों का संघर्ष, आभिजात्य और व्यवसायी वर्ग को टकराहट और साधारण जन की अनन्त निःस्वता और निराशा सभी सम्भाव्य लगते हैं। लेखक द्वारा दिये गए विवरण, भाषा, वर्णन-शैली और प्राचीन गणराज्यों के स्वरूप की शक्ति और कमजोरी सभी प्रभावोत्पादक हैं।

इस पृष्ठभूमि में लेखक ने दिव्या के चरित्र के माध्यम से उस काल की नारी का चित्रण किया है। दिव्या उन बहुद्रष्टा, उदार महापण्डित धर्मस्थ देव शर्मा की प्रपौत्री

---

१. **राहुल सांकृत्यायन : 'जय यौधेय' (पृष्ठ २२८)**

है जिनका प्राचीर 'दास-दासियों से सेवित, सम्पन्न प्रासाद विद्या और संस्कृति का केन्द्र था।'[1]

'इस वातावरण में पोषित होकर दिव्या ज्ञान, कला और संस्कृति से उसी प्रकार भिजी हुई थी जैसे कमल जल से भीगा न रहने पर भी जल से रचा रहता है।'[2]

दिव्या नृत्य कला में राजनर्तकी मल्लिका की पट्टशिष्या के रूप में गणराज्य की सर्वोत्तम उपाधि 'सरस्वती-पुत्री' प्राप्त करती है। इस अवसर पर गण के प्रमुख युवक उसकी शिविका को कंधा देने के लिए स्पर्द्धा करने लगते हैं। इसी स्पर्द्धा में दिव्या दास-पुत्र पृथुसेन के तेजस्वी व्यक्तित्व से प्रभावित होकर उसको अपना हृदय दे देती है। दिव्या के परिवार वाले उसका यह प्रेम-सम्बन्ध पसन्द नहीं करते। वे दिव्या का विवाह रुद्रधीर से करना चाहते हैं। किन्तु दिव्या अपने प्रेम में अटल है। वह अपनी धाता की पुत्री छाया से अपने मन के संकल्प को प्रकट करती है: 'तात और सम्पूर्ण प्रासाद जान ले, आर्य पृथुसेन के अतिरिक्त मैं किसी से विवाह न करूँगी। आर्य पृथुसेन ने ही मेरे पाणि के लिए तात के सम्मुख प्रार्थना नहीं की, मैं स्वयं यही चाहती हूँ। अन्य कुछ नहीं चाहती; यह सब जान लें। मेरे लिए किसी अन्य वर की सम्भावना नहीं। यह जानने पर ही तात आर्य की प्रार्थना पर उचित ध्यान देंगे। विवाह भी विलम्ब से नहीं, तुरन्त····आर्य के युद्ध पर जाने से पूर्व ही करना चाहती हूँ।'[3] किन्तु देव शर्मा दिव्या के आग्रह पर भी अपना निर्णय देने में हिचकिचाते हैं और बात टल जाती है।

गणराज मद्र पर विदेशियों का आक्रमण होने के कारण पृथुसेन युद्ध में चला जाता है। और विजयी होकर किन्तु घायल हो कर लौटता है। गणपति की कन्या सीरो उसकी सेवा, सुश्रूषा करती है।

इधर पृथुसेन के प्रेम-सम्बन्ध के कारण दिव्या गर्भवती हो गई है, वह अत्यन्त व्यग्रता और उत्सुकता पूर्वक पृथुसेन के लौटने की बाट जोहती रही है और अब उसके आने की सूचना पाकर वह उससे मिलने जाती है। वह रुग्ण है। जिस समय वह पहुँचती है, पृथुसेन सोया हुआ है। सीरो वहाँ उपस्थित है। वह पृथुसेन की ओर स्वयं आकर्षित है इसलिए वह दिव्या के साथ अत्यन्त रूखा, व्यंग्यपूर्ण और हिंसायुक्त व्यवहार करती है। वह वैद्यराज स्थविर चीवुक का आदेश दिव्या को सुनाती हुई कहती है: 'किसी भी अवस्था में आर्य की निद्रा भंग न की जाय।···अभ्यागत वार्तालाप द्वारा रोगी को क्लान्त न करें!'[4] अपने सम्मुख पृथुसेन को पाकर भी उससे बात न कर पाने और स्पर्श न कर पाने की बाधा और अपने और उसके बीच के दूसरे व्यक्ति के व्यवधान से दिव्या

---

१. यशपाल: 'दिव्या' (पृष्ठ २०)
२. वही: (पृष्ठ २१)
३. वही: (पृष्ठ ७२)
४. वही: (पृष्ठ ८०)

अधीर हो उठती है। इधर सीरो के प्रतिहिंसापूर्ण व्यवहार के कारण और शिष्टाचार की रक्षा के लिए वह पृथुसेन के जगने के पहले ही लौट आती है।

दिव्या के जीवन में यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मोड़ सिद्ध होता है। यदि वह सीरो की उपेक्षा कर वहीं बैठी रहती तो उसकी जीवन-धारा कुछ और ही होती क्योंकि पृथुसेन के मन में उसके प्रति सच्चा प्रेम था और वह उससे विवाह भी करना चाहता था। पर बाद में सीरो उसके कान भर देती है, उसके पिता अपने कुल की प्रगति के लिए उसे दिव्या के आकर्षण से विरत कर देते हैं[1] और पृथुसेन सीरो से ही विवाह कर लेता है।

गर्भवती दिव्या जब इस विवाह की बात सुनती है तो वह अपने प्रेमी से शरण की भिक्षा माँगने के लिए फिर एक बार उसके पास जाती है। पृथुसेन का उत्तर एक यवनी आकर निवेदन करती है, 'आर्य क्षमा निवेदन करते हैं। वे अस्वास्थ्य के कारण संगति लाभ करने में असमर्थ हैं।'[2] अपनी लज्जा छिपाने में असमर्थ, प्रेमी द्वारा प्रताड़ित दिव्या अपने घर न जाकर जन-पथ पर आ जाती है।

यहाँ से दिव्या का जीवन परिस्थितियों के थपेड़ों से कभी अत्यन्त कष्टमय और कभी अत्यन्त ऐश्वर्यमय बनता रहता है। वह दासों के सौदागर के हाथ पड़ जाती है जो उसे मथुरापुरी ले जाकर एक ब्राह्मण के हाथ बेच देता है। दिव्या अब माता बन चुकी है। उसका पुत्र शाकल उसकी गोद में है। और यह ब्राह्मण उसे खरीद कर अपने पुत्र को स्तन-पान कराने का काम सौंपता है। शाकल के प्रति इस अन्याय को न सह सकने के कारण वह ब्राह्मण के यहाँ से भाग निकलती है और बौद्ध विहार में शरण पाने की चेष्टा करती है। स्थविर पूछते हैं: 'यदि पति और पिता नहीं है तो क्या तुम्हारे पुत्र की अनुमति तुम्हारे चेरी धर्म ग्रहण करने में है? ··· देवी, धर्म के नियमानुसार स्त्री के अभिभावक की अनुमति बिना संघ स्त्री को शरण नहीं दे सकता।'[3] स्थविर के इन प्रश्नों से दिव्या अपने दुर्भाग्य से हतचेतन होकर उनकी ओर देखती रह जाती है। वह हाथ जोड़कर पुनः निवेदन करती है:

"'परन्तु देव, भगवान तथागत ने तो वेश्या अम्बपाली को भी संघ में शरण दी थी।'
'वेश्या स्वतन्त्र नारी है, देवी।' उत्तर दे स्थविर उठ गये।"[4]

---

१. 'पुत्र, तुम नीतिवान हो, विचार करो, यवन गणपति की पौत्री से विवाह कर तुम अनायास, बिना किसी विरोध के महाकुलीन बन जाओगे। परन्तु देव शर्मा की प्रपौत्री से विवाह की इच्छा करने पर, उदार देवशर्मा के आपत्ति न करने पर भी सम्पूर्ण द्विज-समाज को शत्रु बना लोगे।'
यशपाल: 'दिव्या' (पृष्ठ ८५)
२. वही: (पृष्ठ ९४)
३. वही: (पृष्ठ १२४)
४. वही: (पृष्ठ १२४)

एक वेश्या को संघ शरण दे सकता है; किन्तु उसको नहीं। यह बात सोच कर दिव्या का सिर चकराने लगता है। वह स्वयं भी वेश्या बनने की सोचती है। जब वह अपना यह विचार राह चलते मारिश से कहती है तो मारिश उसको धिक्कारता है और यमुना की शरण जाने के लिए कहता है। 'तू वेश्या बनना चाहती है? माता का सम्मानित पद पाकर तू वेश्या बन समाज की शत्रु बनना चाहती है ?··· जा! यमुना की शीतल धारा में विश्राम ले ?'[1] दिव्या सचमुच यमुना की शरण में चली जाती है। वह डूबने को ही है कि मथुरा की राज नर्तकी रत्नप्रभा उसे बचा लेती है यद्यपि उसका पुत्र नहीं बच पाता।

रत्नप्रभा की कृपा पाकर दिव्या अंशुमाला के नाम से प्रसिद्ध नर्तकी बन जाती है। ऐश्वर्य और विलास उसके चरणों में न्यौछावर होते हैं। और बड़े-से-बड़े प्रतापी, धर्मात्मा, सम्पन्न व्यक्ति दूर-दूर से उसकी कृपा पाने के लिए आते हैं। इन आने वालों में मारिश भी है और रुद्रधीर भी। मारिश उसके प्रति तभी से अनुरक्त है जब उसने दिव्या को सागल में देखा था। पर तब दिव्या सामन्त वर्ग की थी और मारिश साधारण वर्ग का। इसलिए वह कभी प्रेम निवेदन करने का साहस भी न कर सका। अब वह दिव्या से विवाह का प्रस्ताव करता है। पर दिव्या ने इतने कटु अनुभव उठा लिये हैं कि दुबारा अनजानी राह पर जाना उसे कठिन लगता है। वह मारिश के प्रेम की सचाई जानती है, फिर भी वह नर्तकी के स्वतन्त्र जीवन को ही श्रेयस्कर समझती है। इस स्थल पर यशपाल ने चार्वक मारिश और दिव्या के वार्तालाप में तत्कालीन समाज में नारी की स्थिति पर कटु व्यंग्य किया है, यद्यपि उसमें मार्क्सवादी विचारधारा की भी झलक मिलती है :

'मारिश ने उत्तर दिया—भद्रे, नारी सृष्टि का साधन है। सृष्टि की आदि शक्ति का क्षेत्र। वह समाज और कुल का केन्द्र है। पुरुष उसके चारों ओर घूमता है; जैसे कोल्हू का बैल!'

दिव्या—'आर्य, वह सब नारी के जीवन की सार्थकता अवश्य है, वह नारी की दुर्दमनीय प्रकृति और स्वभाव भी है। परन्तु उस सार्थकता को नारी पा सकती है केवल अपने अस्तित्व के मूल्य में··· केवल पुरुष की भोग्य बन कर। स्वयं दूसरे के लिए भोग्य बनकर कोई स्वयं क्या सार्थकता पायेगा आर्य ?'

· · · · · · · · · · · · · · · ·

अनेक क्षण विचार मग्न रहकर मारिश पुनः बोला'··· नारी के प्रति अनुराग से, उसके आश्रय की कामना से ही पुरुष उसे अपने अधीन रख उसे आत्मनिर्भर नहीं रहने देता। नारी प्रकृति के विधान से नहीं, समाज के विधान से भोग्य है। प्रकृति में और समाज में भी स्त्री और पुरुष अन्योन्याश्रित हैं। पुरुष का प्रश्रय पाने से ही नारी परवश है। परन्तु भद्रे, नारी के जीवन की सार्थकता के लिए पुरुष का आश्रय आवश्यक है और नारी पुरुष का आश्रय भी है।'

---

१. यशपाल : 'दिव्या' (पृष्ठ १२६)

उत्तेजित स्वर में अंशुमाला ने पुनः उत्तर दिया—'आर्य, इस प्रश्रय में नारी के जीवन की सार्थकता क्या है; पुरुष द्वारा उसका भोग और उपभोग ? जैसे कि इच्छा होने पर पान-पत्र की सार्थकता है। आर्य, उस प्रश्रय की इच्छा न करने पर ही नारी स्वतन्त्र है। वेश्या स्वतन्त्र नारी है।'...

अंशु को उत्तर देने के लिए मारिश ने उसकी ओर दृष्टि की और उत्तेजनाहीन, गम्भीर स्वर में प्रश्न किया—'भद्रे, वेश्या की, जनपद कल्याणी की स्वतन्त्रता की सार्थकता क्या है ? अपनी स्वतन्त्रता से वह क्या प्राप्त करती है ? ... उसकी कला दूसरों के जीवन में वासना की पूर्ति के अनुष्ठान के रूप में उपयोगी है। परन्तु वह स्वयं क्या पाती है ? वह 'काम' के यज्ञ का साधन मात्र है। वह स्वयं पूर्ति के हविश्य से वंचित है। उसकी स्वतन्त्रता का भोग जन करता है, वह स्वयं नहीं। वह केवल वंचना पाती है।'[1]

यद्यपि दिव्या मारिश के भौतिकवादी तर्कों का उत्तर नहीं दे पाती तथापि वह जीवन की विफलता में भी वेश्या की आत्म-निर्भरता स्वीकार करती है।[2] मारिश की भाँति रुद्रधीर भी उसको अपनी पत्नी बनाकर सागल की महादेवी का पद देने का वचन देता है, पर दिव्या उसका प्रस्ताव भी ठुकरा देती है।[3]

राजनर्तकी मल्लिका वृद्धा हो जाने के कारण उपयुक्त उत्तराधिकारिणी की खोज में है। अंशुमाला की ख्याति सुन कर वह मथुरापुरी आती है और उसके रूप में दिव्या को पाकर गद्‌गद हो जाती है। रत्नप्रभा से कहकर वह दिव्या को अपने साथ ले जाती है और सागल पहुँच कर उसे राजनर्तकी के पद पर अभिषिक्त करने का आयोजन करती है। किन्तु दिव्या के विप्र-पुत्री होने के कारण गण के अनेक व्यक्ति इसका विरोध करते हैं। आचार्य रुद्रधीर भी इस विरोध से सहमत है। दिव्या फिर एक बार हताश होकर जनपथ पर आ जाती है। पर इस समय सारा गण उसके पीछे-पीछे चलता है। वह नगर के बाहर पान्थ-शाला में टिक जाती है और गण के सारे जन बाहर कोलाहल करते रहते हैं। तब एक-एक कर रुद्रधीर, पृथुसेन (जो इस बीच में बौद्ध भिक्षु बन चुका है) और मारिश तीनों इस पान्थशाला में आते हैं और बारी-बारी से दिव्या से अपने साथ चलने का निवेदन करते हैं। दिव्या रुद्रधीर को इसलिए इन्कार कर देती है कि वर्णाश्रम धर्म नारी को भोग्या मानता है, वहाँ स्वत्व का महत्त्व नहीं होता,[4] पृथुसेन को इसलिए इन्कार कर देती है कि श्रमण धर्म

---

१. यशपाल : 'दिव्या' (पृष्ठ १५४-१५५)

२. वही : (पृष्ठ १५९)

३. वही : (पृष्ठ १६६-१६७)

४. 'परन्तु आचार्य, कुलमाता और कुलमहादेवी निरादृत वेश्या की भाँति स्वतन्त्र और आत्मनिर्भर नहीं हैं। ज्ञानी आचार्य, कुलवधू का सम्मान, कुलमाता का आदर और कुलमहादेवी का अधिकार आर्य पुरुष का प्रश्रय मात्र है। वह नारी का सम्मान नहीं। उसे भोग करने वाले पराक्रमी पुरुष का सम्मान है। आर्य, अपनी इच्छा से अपने

नारी को बाधा मानता है और मारिश के साथ जाने को प्रस्तुत हो जाती है क्योंकि मारिश यथार्थवादी है, वह आश्रय और प्रेम का आदान-प्रदान चाहता है ! वह परलोक की नहीं सोचता, न वह जीवन को दुःखों की श्रृंखला मानता है। वरन् यथासम्भव अपनी चेष्टा और शक्ति से अपने जीवन को सुन्दर बनाने में विश्वास करता है। वह कहता है :

'मारिश देवी को राजप्रासाद में महादेवी का आसन अर्पण नहीं कर सकता। मारिश देवी को निर्वाण के चिरन्तन सुख का आश्वासन नहीं दे सकता। वह संसार के सुख-दुख अनुभव करता है। अनुभूति और विचार ही उसकी शक्ति है। उस अनुभूति का ही आदान-प्रदान वह देवी से कर सकता है। वह संसार के धूल-धूसरित मार्ग का पथिक है। उस मार्ग पर देवी के नारीत्व की कामना में वह अपना पुरुषत्व अर्पण करता है। वह आश्रय का आदान-प्रदान चाहता है। वह नश्वर जीवन में संतोष की अनुभूति दे सकता है।...सन्तति की परम्परा के रूप में मानव की अमरता दे सकता है।'

भूमि पर बैठी दिव्या ने भित्ति का आश्रय छोड़ दोनों बाहु फैला दिये। उसका स्वर आर्द्र हो गया—'आश्रय दो आर्य।'[1]

दिव्या के जीवन को इतने अधिक और इतने प्रकार के मोड़ देने में लेखक का उद्देश्य यही है कि वह उस युग में नारी की स्थिति के सभी पहलुओं का चित्रण कर सके। विप्रकुल में जन्म लेने के कारण दिव्या को दास-पुत्र से विवाह करने की अनुमति नहीं मिलती, फिर अपने प्रेम में गर्भवती हो जाने के कारण उसके लिए समाज में स्थान नहीं बचता और दासी बन जाने के कारण बौद्ध धर्म की करुणा भी उसके लिए सूख जाती है। इन कटु अनुभवों के कारण दिव्या भली भाँति सीख जाती है कि नारी केवल भोग्या है, वह पुरुष की आश्रित है। उसका अपना कोई अस्तित्व नहीं और अपने जीवन पर भी उसका कोई अधिकार नहीं है। इसीलिए वह नर्तकी रहना पसंद करती है। क्योंकि नर्तकी चाहे वेश्या ही सही स्वतन्त्र तो है। लेकिन जब मारिश के तर्क से वह यह जानती है कि वेश्या की स्वतन्त्रता भी केवल भ्रम है, और उसकी स्थिति भी सामन्तों की इच्छा पर निर्भर है, तथा मारिश स्त्री-पुरुष में समान रूप से प्रेम और आश्रय के आदान-प्रदान में विश्वास करता है तब वह उसके साथ जाने को प्रस्तुत हो जाती है।

लेखक ने दासियों के जीवन पर और वेश्याओं के जीवन पर उपन्यास में काफ़ी प्रकाश डाला है, और यह दिखाया है कि उस समय दासी पशु के समान खरीदी और बेची जाती थी। उसको आत्महत्या करने तक का अधिकार न था और नारी-सुलभ-लज्जा

स्वत्व का त्याग करके ही नारी वह सम्मान प्राप्त कर सकती है। ज्ञानी आर्य, जिसने अपना स्वत्व ही त्याग दिया, वह क्या पा सकेगा। आचार्य दासी को क्षमा करें। दासी हीन होकर भी आत्मनिर्भर रहेगी। स्वत्वहीन होकर वह जीवित नहीं रहेगी।'
यशपाल : 'दिव्या' : (पृष्ठ २१२)

१. वही : (पृष्ठ २१३)

उसके लिए दण्डनीय कार्य था। जो नारियाँ दासी नहीं थीं, उनकी स्थिति भी बहुत अच्छी नहीं थी। केवल वेश्या और नर्तकी ऐसी नारियाँ थीं जिनको स्वतन्त्र कह सकते हैं।

राहुल और यशपाल के उपन्यासों की भाँति आचार्य चतुरसेन शास्त्री के उपन्यास 'वैशाली की नगर वधू में' (१९४७) भी बौद्धकालीन गणराज्य के जीवन का चित्र है किन्तु वह चित्र राहुल के आदर्श चित्र से एकदम विपरीत है। जहाँ तक नारी की स्थिति का प्रश्न है इस उपन्यास में वह दिव्या से भी अधिक दयनीय दिखाई गई है। स्थान-स्थान पर ऐसे प्रसंग वर्णित हैं जिनसे पता चलता है कि नारी को अपने सम्बन्ध में किसी भी प्रकार के निर्णय का अधिकार न था। वह पूर्णतः अपने पति की सम्पत्ति मानी जाती थी। पति उसको धन के लोभ में पर-पुरुष के पास भी भेज सकता था।[1] और यदि वह निःसन्तान होती तो उसे वियोग द्वारा वंश-वृद्धि के लिए बाध्य किया जाता था। शास्त्री जी के अनुसार इस काल में नारी की वैदिकयुगीन स्थिति धीरे-धीरे मिट चुकी थी और उस पर नये बंधन आरोपित किये जा रहे थे।

आचार्य चतुरसेन शास्त्री

इसी प्रकार पांचाल गणपरिषद में विवाह के नियमों पर अथर्व अंगिरस और वैशम्पायनों में जो विवाद होता है वह नारी की इस बदलती हुई स्थिति का अच्छा परिचय देता है।

नारी की इस हीन अवस्था पर दुखित होकर श्रावस्ती की राजमहिषी कहती है : 'यहाँ कोशल, मगध और अंग, बंग, कलिंग में तो कहीं भी ऐसा न पाओगी। यहाँ स्त्री न नागरिक है न मनुष्य। वह पुरुष की क्रीत सम्पत्ति और उसके विलास की सामग्री है। पुरुष का उसके शरीर और आत्मा पर असाध्य अधिकार है।'[2]

परन्तु गान्धार देश की स्वतन्त्र कन्या कलिंगसेना यह अत्याचार मौन होकर नहीं सहती। जब बूढ़े सम्राट प्रसेनजित से उसका विवाह होता है तो वह विह्वल हो जाती है[3] और विद्रोह के स्वर मुखरित करती है : 'परन्तु मैं देवी नन्दिनी यह कदापि न होने दूंगी, मैंने आत्मबलि अवश्य दी है, पर स्त्रियों के अधिकार नहीं त्यागे हैं। मैं नहीं भूल सकती कि मैं भी एक जीवित प्राणी हूँ, मनुष्य हूँ, समाज का एक अंग हूँ। मनुष्य के सम्पूर्ण अधिकारों पर मेरा भी स्वत्व है।'[4] पर ऐसे प्रसंग अपवाद ही हैं।

नारी की इस विवश, असहाय स्थिति की पृष्ठभूमि में अम्बपाली का चित्रण कर लेखक

---

१. आचार्य चतुरसेन शास्त्री : 'वैशाली की नगरवधू' (पृष्ठ ६५३-५४)
२. वही : (पृष्ठ २९६)
३. केवल स्त्री ही आत्म समर्पण करती है, पुरुष नहीं। पुरुष स्त्री को केवल आश्रय देता है। वही : (पृष्ठ २९४)
४. वही : (पृष्ठ २९६)

ने यह दिखाया है कि अपनी यंत्रणा से मुक्ति पाने के लिए नारी के पास बौद्ध धर्म की शरण लेने के अतिरिक्त और कोई उपाय न था।

अम्बपाली वैशाली के लिच्छवि गणसंघ की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी है। वह महानायक की पालिता पुत्री है। संघ के नियमानुसार संघ की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी को कुमारी रहकर नगर के मनोरंजन और कला-साधना में अपना जीवन बिताना पड़ता है। इसी नियम का पालन करने के लिए अम्बपाली को 'नगरवधू' घोषित कर दिया जाता है। अम्बपाली को संघ का यह निर्णय अन्याय और अत्याचार मालूम पड़ता है। वह युवती है, रूपवती है और युवक हर्षदेव को सच्चे मन से प्रेम करती है। इस निर्णय से उसकी सारी कामनाओं पर तुषारपात हो जाता है। उसका हृदय रुदन कर उठता है।

लेकिन उसका दुःख और उसकी घृणा दोनों ही संघ के अनुशासन के सामने विफल और व्यर्थ हैं। उसे संघ का निर्देश-पालन कर नगरवधू के रूप में रहना पड़ता है। जब हर्षदेव उससे मिलने आता है और उसके हृदय में सोया प्रेम फिर से हिलोरें लेने लगता है तो वह फिर फूट पड़ती है: 'अपनी हृदय की ज्वाला से जनपद को फूंक दो। यह भस्म हो जाय।'[1] अपनी भावनाओं का नाश होते देखकर वह इतनी विह्वल हो जाती है कि चुनौती के स्वर में हर्षदेव से कहती है: 'यदि तुममें इतना साहस हो तो आओ और देखो कि तुम्हारी वाग्दत्ता-पत्नी से वैशाली के तरुण श्रेष्ठिपुत्र और सामन्तपुत्र किस प्रकार प्रेम-प्रदर्शन करते हैं और वह किस कौशल से हृदय के एक-एक खण्ड का क्रय-विक्रय करती है। देखोगे तुम? देख सकोगे?'[2]

किन्तु अपनी स्थिति को बदल सकने में असमर्थ अम्बपाली को जब और कोई उपाय नहीं सूझता तो निश्चय करती है कि वह नगर-वधू की भाँति ही रहकर अपने अन्याय और अपमान का बदला लेगी। और वह ऐसा ही करती है। उसकी रूप-मदिरा का पान करने के लिए उसके पास सम्पन्न-से-सम्पन्न और प्रतिष्ठित-से-प्रतिष्ठित व्यक्ति आकर उसके प्रेम की भीख माँगते रहते हैं। वह सभी को अपने अभिनय से पागल बनाती रहती है और जब उसके प्रतिद्वन्द्वियों में कभी कलह हो जाती है तो उसकी प्रतिहिंसा को तृप्ति का अनुभव होता है। वह कभी एक को और कभी दूसरे को प्रोत्साहन देती, गण के बड़े-से-बड़े व्यक्तियों को अपने संकेत पर नचाती है और इस प्रकार अपने क्षुब्ध असंतुष्ट मन की शान्ति का प्रयत्न करती है।

पर वास्तविक शान्ति उसे नहीं मिलती। वैभव और विलास उसके चरणों पर लोटते हैं। यौवन और मदिरा के रागों से उसका घर गूँजता रहता है पर उसका मन अतृप्त और अशान्त ही रहता है। एकान्त और अनन्य प्रेम जो नारी का सहज धर्म है उससे वह वंचित है। अपने जीवन को निस्सार समझकर शान्ति की कामना से वह तथागत भगवान बुद्ध

---

१. आचार्य चतुरसेन शास्त्री : 'वैशाली की नगर वधू' (पृष्ठ ४३)
२. वही : (पृष्ठ ४२)

को संघ सहित अपने यहाँ आमंत्रित करती है और जब तथागत उसका निमंत्रण स्वीकार कर उसके यहाँ पधारते है तो वह एक भिक्षु से उसका उत्तरीय माँग कर अपना नर्तकी वेश परित्याग कर तथागत से प्रवज्या देने का निवेदन करती है।[1] आनन्द उसको वारण करते हैं पर तथागत अम्बपाली की मानसिक अशान्ति समझकर और उसकी भावना की सचाई जानकर उसे प्रव्रज्या देना स्वीकार करते है।[2]

अम्वपाली की यह गाथा बौद्ध धर्म-ग्रन्थों में भी पाई जाती है और शास्त्री जी ने यथासंभव मूल गाथा का स्वरूप ज्यों-का-त्यों रक्खा है। अम्वपाली का चरित्र अपने युग का प्रतिनिधित्व करता है और यह सिद्ध करता है कि उस युग में नारी का स्वतन्त्र और सुखी जीवन कितनी अलभ्य बात थी।

रामरतन भटनागर

रामरतन भटनागर के दो ऐतिहासिक उपन्यास आलोच्य काल में आते है : 'अम्वपाली' (१९३९) और 'जय वासुदेव' (१९४७)। अम्वपाली की कथा प्रसिद्ध बौद्ध आख्यान पर आधारित है और 'जयवासुदेव' की कथा 'प्रसाद' के अपूर्ण उपन्यास 'इरावती' पर। यद्यपि भटनागर के अम्वपाली और शास्त्री के 'वैशाली की नगर-वधू' में अनेक समानताएँ हैं, फिर भी दोनों के दृष्टिकोणों में अन्तर है। भटनागर का उपन्यास पहले लिखा गया है और उसमे अम्वपाली की मानसिक उथल-पुथल का चित्रण कम है। लेखक ने उपन्यास में अम्वपाली के वेश्या-जीवन की विलासिता और उसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप वाद में उसके भिक्षु-जीवन की पवित्रता, इन दो पक्षों पर ही विशेष वल दिया है।

अम्वपाली वैशाली नगर की वेश्या है। उसका जीवन विलासमय है।

वाद में तक्षशिला से विद्याव्ययन कर लौटे हुए अभिजात वंशीय कुमार सूर्यमणि और हेमांक भी उससे प्रेम करने लगते है। इस प्रकार अम्वपाली को ले कर प्रेम का त्रिकोण वन जाता है। अम्वपाली की सुकुमारी दासी चंद्रसेना के कारण इसमें चतुष्कोणता आ जाती है। किन्तु अम्वपाली की सौम्य प्रकृति के कारण यह संघर्ष तीव्र रूप धारण नहीं कर पाता। यही प्रेम-चक्र वैशाली के भविष्य-निर्णय का मुख्य कारण वनता है। ये सव लोग एक प्रेम-सूत्र में वंधकर भगवान तथागत के धर्म के प्रचारक वन जाते हैं। विलासिनी अम्वपाली भिक्षुणी वन जाती है। यह भगवान वुद्ध का ही प्रभाव है कि अम्वपाली के विलासमय जीवन में इतना परिवर्तन हो सका। उसका वासनामय प्रेम विश्व-प्रेम में परिणत हो जाता है।

रामरतन भटनागर के 'जय वासुदेव' की मूल कथा और उसके पात्र 'प्रसाद' के 'इरावती' उपन्यास से इतना अधिक साम्य रखते हैं कि सम्भवतः लेखक ने 'इरावती' की पूर्ति करने की कामना से ही 'जय वासुदेव' की रचना की है।

---

१. आचार्य चतुरसेन शास्त्री : 'वैशाली की नगरवधू' (पृष्ठ ७८४)
२. वही : (पृष्ठ ७८५)

इरावती अग्निमित्र को प्रेम करती है किन्तु वह उसे स्वीकार नहीं करता। इरावती महाकाल के मन्दिर में नर्तकी बनकर जीवन व्यतीत करने लगती है किन्तु मौर्य सम्राट की लोलुप दृष्टि उस पर पड़ती है और वह वौद्ध संघ में भेज दी जाती है। वहाँ के नियम और प्रतिवन्धों की शृंखला में वन्दी उसका मन विकल होकर छटपटाने लगता है।

इरावती नृत्य-कला में पारंगत है। नृत्य उसकी जीविका का साधन ही नहीं, उसकी मानसिक शान्ति का भी आधार है। जव भिक्षु संघ में उसे इसी आधार से वंचित किया जाता है, तव उसका मन रो उठता है। वह वहाँ से मुक्ति के लिए व्यग्र हो उठती है। 'रहने दो भिक्षु ! तुम कला और आनन्द के मर्म को क्या जानो ? तुमने अनात्म को वरण किया है। तुम पाखण्डी हो। मैं इस पाखण्ड भवन में रहना नहीं चाहती, तुम मेरा गला घोंट रहे हो। तुम आनन्द की उपासिका कलाकर्त्री इरावती को शील और संयम का पाठ नहीं पढ़ा सकते।'[१]

जव सम्राट वृहस्पतिमित्र इरावती को सुगांगेय प्रासाद की विशाल रंगशाला में ले आता है और उससे प्रेम-याचना करता है तो इरावती निर्भीक और दृढ़व्रती नारी की भाँति उसका तिरस्कार कर कहती है : 'मौर्य सम्राट के लिए वाग्दत्ता नारी का इस तरह छिपा चोरी रंगमहल में ले आना कोई वड़े श्रेय की वात है ?'[२] अग्निमित्र चाहे उसे स्वीकार न करे, पर उसका मन उसी को समर्पित है। वह अपने को अग्निमित्र की वाग्दत्ता पत्नी समझती है। वह साहसपूर्वक कहती है : 'इरावती अव भी अग्निमित्र की है···मैं अग्निमित्र की वाग्दत्ता हूँ।'[३] वाद में अग्निमित्र से उसका विवाह हो जाता है।

इसी प्रकार लेखक ने कालिंदी का चित्रण भी वहुत कुछ 'इरावती' के अनुसार ही किया है। वह भी अग्निमित्र को प्रेम करती है, इसलिए इरावती को अपनी प्रतिद्वन्द्विनी समझ कर उससे ईर्ष्या करने लगती है। लेकिन जव वह देखती है कि मौर्य सम्राट वृहस्पतिमित्र के कारण इरावती का जीवन कष्ट और यंत्रणा से घिर गया है तो वह अपनी प्रतिहिंसा भूलकर उसकी रक्षा करती है। वाद में कालिंदी अपनी विलक्षण शक्ति से सेना का संगठन करती है, अग्निमित्र को मुक्त करती है, और इरावती और अग्निमित्र का मिलन करा देती है। अपने प्रेम के लिए इस त्याग का परिचय देकर वह आदर्श वन जाती है।

'इरावती' के समान 'जय वासुदेव' में भी वर्णाश्रम धर्म और वौद्धधर्म की टकराहट चित्रित की गई है। नारी की स्थिति उस समाज में अत्यन्त शोचनीय हो गई थी। पुरुष की भोग-वासना को लक्ष वनकर वह जीवन भर सुख से वंचित हो जाती थी। 'या तो वे

---

१. रामरतन भटनागर : 'जय वासुदेव' (पृष्ठ १११)
२. वही : (पृष्ठ १५४)
३. वही : (पृष्ठ १६४)

सुगांगेय प्रासाद की शोभा बढ़ातीं या अधिकारियों की भोग-लिप्सा की वस्तु बनतीं, या वेश्या बनकर रूप की हाट में बैठतीं।'[१]

इस विलासी कृत्रिम जीवन में नारी को न तो आत्म-संतोष मिलता है, न वह अपना स्वाभाविक धर्म पूरा कर सकती है। मणिमाला के चरित्र के माध्यम से लेखक ने नारी-मन की इस कुंठा को मार्मिक ढंग से व्यक्त किया है। 'मैं इस जीवन से ऊब गई हूँ। अंशुक और मोती-मानिक से भरी हुई देव-प्रतिमा मैं बनना नहीं चाहती। चाहती हूँ, जीवन का ऊष्ण स्पर्श, जागृति का काँपता हुआ स्वर, एक तरल उन्माद, एक सर्वग्राही तितीक्षा। धन और ऐश्वर्य से उत्पन्न अवसाद मुझे नहीं चाहिए।'[२]

जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का उपन्यास 'बाण भट्ट की आत्म-कथा' (१९४६) अपनी प्रेरणा और उद्देश्य की विशिष्टता के कारण अन्य सारे ऐतिहासिक उपन्यासों से सर्वथा भिन्न है। यह इतिहास पर आधारित न होकर ऐतिहासिक सामग्री पर आधारित है। यद्यपि उसमें कुछ ऐतिहासिक पात्रों का भी उल्लेख है, पर उनका चित्रण भी लेखक ने अपनी कल्पना से ही किया है। इस कल्पना को संस्कृत साहित्य और प्राचीन कला की प्रतिकृतियों के सहारे लेखक ने कवि-सुलभ दृष्टि और समर्थ गद्य शैली से बड़ा ही अनूठा रूप दिया है। उपन्यास को पढ़ने में ऐसा आनन्द आता है मानो हम प्राचीन उत्कृष्ट साहित्य की कोई कृति पढ़ रहे हों। इसे अध्ययन-रस भी कह सकते है। अपने प्रकाण्ड पांडित्य को विशद सहानुभूति और सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि से घुला-मिला कर लेखक ने इस उपन्यास की रचना की है। आत्म-कथा का रूप देने के कारण उसमें एक प्रकार की आकर्षक धूमिलता और अनदेखे पहलू के उद्घाटित होने का विस्मय भी मिलता है।

हजारीप्रसाद द्विवेदी

'बाण भट्ट की आत्म-कथा' हर्षकालीन जीवन का चित्र है, और उसमें नारी-जीवन का चित्रण ही प्रमुख है। इस काल का सामाजिक जीवन बाहरी आक्रमण की आशंका से, वर्णाश्रम और श्रमण धर्मों की टकराहट से, निरंकुश राजसी भोग-विलास और म्रियमाण जन-जीवन के वैषम्य से, सीमित पांडित्य और लोक-प्रचलित अज्ञान के विरोध से अत्यन्त विश्रृंखलित और अनिश्चित हो गया था। इसी के फलस्वरूप नारी अत्यन्त विवश, अशक्त और पुरुष के हाथ का खिलौना बन गई थी। नारी के आकर्षण से मुक्त न हो सकने के कारण बौद्ध धर्म की तांत्रिक शाखा का विकास हो गया था; और नारी को मुक्ति के पथ की बाधा मानने के कारण प्रतिक्रिया-स्वरूप वैष्णव धर्म का सूत्रपात हो रहा था। 'बाण भट्ट की आत्म-कथा' में इन दो नये धर्मों का अत्यन्त विशद और प्रामाणिक चित्र दिया गया है। अघोर भैरव की तांत्रिक साधना में महामाया का योग उसकी, गूढ़, रहस्यमय,

---

१. रामरतन भटनागर : 'जय वासुदेव' (पृष्ठ १००)
२. वही : (पृष्ठ ११४)

रटी-रटाई भाषा और उसका चमत्कारपूर्ण अस्वाभाविक जीवन तांत्रिक-पद्धति का प्रभावशाली उदाहरण है। इसी प्रकार सुचरिता का वेंकटेश भट्ट की कृपा से वैष्णव धर्म अंगीकार कर अपने सारे कर्म-अकर्म निःसंकोच नारायण को समर्पित कर अनन्य भक्ति में चित्त की शान्ति पाना भागवत धर्म का पूर्व रूप है।

'बाण भट्ट की आत्म-कथा' में चार नारी पात्र प्रमुख हैं। महामाया, भट्टिनी, निपुणिका और सुचरिता। इनके अतिरिक्त उपन्यास में यथास्थान अन्तःपुरिकाओं का, नगर-नर्तकियों और पुर-नारियों का उल्लेख और वर्णन भी मिलता है जिससे केवल यही सिद्ध होता है कि उस काल की नारी भोग्या थी, पुरुष की वंदिनी थी और अज्ञान के गर्त में डूबी हुई थी।

इन असंख्य साधारण नारियों की हीन-दशा की पृष्ठभूमि में उपन्यासकार ने ये चार दिव्य नारी-मूर्तियाँ स्थापित की हैं और उनके माध्यम से नारी की महिमा को पुनः प्रतिष्ठा देने का प्रयत्न किया है। ज्यों-ज्यों उपन्यास विकास करता है और इन नारियों के चरित्र उद्घाटित होते चलते हैं त्यों-त्यों हम उनके निश्छल प्रेम, संकल्पवान जीवन और आत्मोत्सर्ग की क्षमता देखकर आनन्दमग्न होते जाते हैं। स्वयं लेखक ने उपसंहार में कहा है 'सारी कथा में स्त्री-महिमा का बड़ा तर्कपूर्ण और जोरदार समर्थन है।' इन चारों नारियों का सारा जीवन उनके प्रेम की ही कहानी है; किन्तु न तो उस प्रेम में कोई ओछापन है न वाचालता। प्रायः मौन रहकर वे अपने निर्धारित पथ पर चलती रहती हैं और बड़ी से बड़ी बाधाओं को चूर कर अपने जीवन की सार्थकता पाती हैं।'

नारी जीवन की सार्थकता क्या है? इस प्रश्न पर भी उपन्यास में पात्रों के माध्यम से लेखक ने काफ़ी विचार किया है। महामाया भट्ट से कहती है: 'स्त्री प्रकृति है। उसकी सफलता पुरुष को बाँधने में है; किन्तु सार्थकता पुरुष की मुक्ति में है।'[1] यह तांत्रिक मत है और इसीलिए महामाया अघोर भैरव का साथ देने पर भी उसकी पत्नी नहीं है। यह उस युग का सत्य हो सकता है, पर लेखक ने इससे भी बड़ा सत्य निपुणिका और चन्द्र-दीधिति के माध्यम से प्रकट किया है। चन्द्रदीधिति बाणभट्ट को देखते ही जिन अलौकिक भावनाओं का अनुभव करती है, सचमुच नारी की परम सार्थकता उन्हीं में है। अथवा जिस प्रकार निपुणिका मौन-भाव से बाणभट्ट पर अपना मन न्यौछावर करती हुई भी कोई प्रतिदान नहीं माँगती और देते रहने को ही अपना चरम कर्तव्य समझती है, वही नारी के आदर्श प्रेम का रूप है। सुचरिता जिस प्रकार अपने विरागी पति को फिर सांसारिकता की दिशा में लौटा लाती है और दोनों मिलकर जिस प्रकार भागवत धर्म अंगीकार कर पवित्र जीवन व्यतीत करते हैं वह नारी का आदर्श गौरव है। इन चारों रूपों में नारी-प्रेम की बड़ी मार्मिक और बहुमुखी व्याख्या प्रस्तुत कर लेखक ने सार्वयुगीन संदेश दिया है।

पहले चन्द्रदीधिति को लें। उसके देवी रूप की चर्चा अन्यत्र की जा चुकी है, पर उसके

---

१. हजारीप्रसाद द्विवेदी : 'बाणभट्ट की आत्मकथा' (पृष्ठ १११)

चरित्र के कुछ पहलुओं का विवेचन यहाँ अभीष्ट है। यवनराज देवपुत्र तुवर मिलिन्द की कन्या होने के कारण साधारणतः उसका जीवन सुखमय ही बीतना चाहिये था, पर सामाजिक दुरवस्था के कारण ऐसा नहीं हो पाता। दस्यु लोग उसका अपहरण कर लेते है, और वह नाना कष्टों से पार होकर मौखरि राजवंश के अन्तःपुर में पहुँचती है। पर वह शुद्ध और पवित्र भावनाओं की नारी है। राजसी वैभव उसे आकर्षित नहीं करने पाते। अन्तःपुर का कामुक और विलासी जीवन देखकर उसके प्राण छटपटाने लगते हैं और निपुणिका एवं बाणभट्ट की सहायता से वह वहाँ से मुक्ति पाती है। बाणभट्ट की देखरेख में जब वह नौका द्वारा पूर्व की ओर जा रही होती है तब जलदस्यु उन पर फिर आक्रमण करते हैं और चन्द्रदीधिति अपनी रक्षा का और कोई उपाय न देखकर नदी में कूद पडती है और बाणभट्ट उसे दुबारा बचाकर भद्रेश्वर पहुँचता है।

इन असाधारण दुःख-जनक घटनाओं के कारण चन्द्रदीधिति का मन एक ओर घुटा-घुटा-सा रहता है तो दूसरी ओर बाणभट्ट के शील, परोपकार और सदाचार के कारण उसके प्रति आकर्षित हो जाता है। नैतिक पतन के उस सर्वव्यापी वातावरण में बाणभट्ट का चरित्र उसको अलौकिक लगता है। और ज्यों-ज्यों समय बीतता है त्यों-त्यों उसका अनुराग गहरा होता जाता है। फिर भी उसमें नारी-सुलभ लज्जा और संकोच उसे मुखर नहीं बनने देता, और भट्ट और भट्टिनी दोनों एक दूसरे के प्रति आसक्त होते हुए भी निश्छल समर्पण देते रहते है। इसी निश्छल समर्पण के कारण भट्टिनी निपुणिका को अपनी सहानुभूति भी सहज रूप में दे पाती है क्योंकि वह जानती है कि बाणभट्ट के जिस शील के प्रति वह स्वयं आकर्षित है उसी के प्रति निपुणिका भी आकर्षित है। भट्टिनी और निपुणिका का आकर्षण समानान्तर होते हुए भी कोई टकराहट उत्पन्न नहीं करता, वरन् उन दोनों को एक-दूसरे के निकट ले आता है। निपुणिका की मृत्यु पर भट्टिनी को मर्मान्तिक शोक होता है[1] और बाणभट्ट की सान्त्वना ही उसको जीते रहने की प्रेरणा देती है। लेकिन इतना होने पर भी आकस्मिक घटनाओं के कारण भट्ट और चन्द्रदीधिति का मिलन नहीं हो पाता और मौन समर्पण से ही उन्हें संतोष करना पड़ता है। लेखक ने चन्द्रदीधिति के चरित्र में सौन्दर्य, शील, सदाचार, साहस, धैर्य और विवेक के संयोग से एक आदर्श नारी-चरित्र की प्रतिष्ठा की है।

महामाया के चरित्र में तेज और संकल्प प्रमुख है। वह वास्तव में कलूत राज की पुत्री नहीं है। यद्यपि एक युवक से उसका वाग्दान हो चुका है तथापि कुछ धूर्तों के छल के

---

१. भट्टिनी ने दौड़ कर उसका सिर अपनी गोद में ले लिया और कुररी की भाँति कातर चीत्कार के साथ चिल्ला उठी, 'हाय भट्ट, अभागिनी का अभिनय आज समाप्त हो गया। उसने प्रेम की दो दिशाओं को एकसूत्र कर दिया।' और पछाड़ खाकर निपुणिका के मृत शरीर पर लोट पड़ीं।
हजारीप्रसाद द्विवेदी : 'बाणभट्ट की आत्मकथा' (पृष्ठ ६७८)

कारण उसका विवाह मौखरि नरेश से कर दिया जाता है। पर रनिवास में पहुँच कर भी महामाया उस जीवन को स्वीकार नहीं कर पाती। जिस युवक से उसका वाग्दान हो चुका था, वह निराश होकर संन्यासी वन जाता है और महामाया का मन निरन्तर उसी की ओर आकर्षित होता रहता है। फलस्वरूप एक दिन वह स्वयं भी संन्यास धारण कर लेती है और उस युवक अघोर भैरव के साथ तांत्रिक साधना का जीवन विताने लगती है। जव स्थाण्वीश्वर पर विदेशी आक्रमण के वादल घिरने लगते हैं और पुरजन अपनी रक्षा के लिए राजा की ओर देखने लगते हैं तव महामाया अपने आपको नहीं रोक पाती। वह जानती है कि राजवंश विलासिता और कामुकता की दलदल में फँसकर इतना पतित हो गया है कि अव उसमें कोई सामर्थ्य नहीं। इसीलिए वह पुरजनों का आह्वान करती है।

इस आह्वान में आधुनिक जीवन का प्रतिविम्व है। महामाया के इस आह्वान पर नगर निवासियों में नई स्फूर्ति भर जाती है और उसके लाखों शिष्य पुरुषपुर की सीमा पर पहुँच कर देश की रक्षा करने में समर्थ होते हैं। इस प्रकार महामाया के चरित्र में सच्चे प्रेम, दृढ़ संकल्प और निर्भीक पराक्रम का समावेश मिलता है।

निपुणिका का जीवन एक अन्य प्रकार की दुर्घटना के कारण तत्कालीन साधारण नारी के जीवन से भिन्न वन जाता है। विवाह के कुछ दिन उपरान्त ही वह विधवा हो जाती है और फिर दर-दर की ठोकरें खाती हुई वह अन्त में उज्जयिनी पहुँच कर वाणभट्ट की नाटक मंडली में सम्मिलित हो जाती है। वाणभट्ट की नाटक मंडली में और भी अनेक अभिनेत्रियाँ हैं। मंडली की प्रतिष्ठा अक्षुण्ण रखने के लिए वाणभट्ट ने अभिनेत्रियों से मिलने-जुलने के बड़े कठोर नियम बना रखे हैं। स्वयं वाणभट्ट नारी को देवमंदिर के समान पवित्र और गौरववान मानता है तथा उसका शील एवं निश्छल व्यवहार उसे सहज ही आकर्षक वना देता है। निपुणिका भी इसीलिए वाणभट्ट के प्रति अत्यन्त गहरा अनुराग अनुभव करने लग जाती है। एक दिन भावावेश में जव वह वाण के प्रति अपने प्रणय का मौन-निवेदन करती है पर वाण की ओर से उसकी कोई स्वीकृति न पाकर उसको इतना दुःख होता है कि वह उसी रात को नाटक मंडली छोड़कर चली जाती है। वाद में वाणभट्ट के पूछने पर निपुणिका दीर्घ निश्वास लेती हुई कहती है : 'हाँ भट्ट, मेरे भाग आने के कारण तुम्हीं हो; परन्तु दोप तुम्हारा नहीं है। दोष मेरा ही है। तुम्हारे ऊपर मुझे मोह था। उस अभिनय की रात को मुझे एक क्षण के लिए ऐसा लगा था कि मेरी जीत होने वाली है; परन्तु दूसरे ही क्षण तुमने मेरी आशा को चूर कर दिया। निर्दय, तुमने वहुत वार वताया था कि तुम नारी-देह को देव-मन्दिर के समान पवित्र मानते हो; पर एक वार भी तुमने समझा होता कि यह मन्दिर हाड़-मांस का है, ईंट-चूने का नहीं। जिस क्षण मैं अपना सर्वस्व लेकर इस आशा से तुम्हारी ओर वढ़ी थी कि तुम उसे स्वीकार कर लोगे, उसी समय तुमने मेरी आशा को धूलिसात् कर दिया। उस दिन मेरा निश्चित विश्वास हो गया कि तुम जड़ पाषाड़-पिण्ड हो; तुम्हारे भीतर न देवता है, न पशु, है एक अडिग जड़ता। मैं इसीलिए वहाँ नहीं ठहर सकी। जीवन में मैंने उसके वाद वहुत दुःख झेले हैं;

पर उस क्षण-भर के प्रत्याख्यान के समान कष्ट मुझे कभी नहीं हुआ। छः वर्षों तक इस कुटिल दुनिया में असहाय मारी-मारी फिरी और अब मेरा मोह भक्ति रूप में बदल गया है। भट्ट तुम मेरे गुरु हो, तुमने मुझे स्त्री-धर्म सिखाया है। छः वर्ष के कठोर अनुभवों के बल पर कह सकती हूँ कि तुम्हारी जड़ता ही अच्छी थी—मैं अभागिन थी; जो तुम्हारा आश्रय छोड़कर चली आई।'[1]

लगभग छः वर्ष के बाद जब बाणभट्ट घूमता-फिरता स्थाण्वीश्वर पहुँचता है तो उसे पथ पर जाते देखकर निपुणिका उसे पहिचान कर पुकारती है। अनेक कटु अनुभवों से होती हुई निपुणिका इस समय पान बेचने का काम करती है और छोटे राजकुल के अन्तःपुर में भी पान देने जाया करती है। वहीं उसे चन्द्रदीधिति का परिचय मिलता है और वह अपने दुखद अनुभवों के कारण चन्द्रदीधिति के उद्धार के लिए व्यग्र हो उठती है। अचानक बाणभट्ट का साक्षात्कार पाकर उसे अत्यन्त प्रसन्नता होती है[2] और वह बाणभट्ट से चन्द्रदीधिति के कष्ट की कथा कहती है।[3] फिर उसकी सहायता से चन्द्रदीधिति का उद्धार करती है।[4] पर बाणभट्ट के प्रति उसके अनुराग में लेशमात्र भी अन्तर नहीं आता है। वह निरन्तर बाणभट्ट के प्रति समर्पिता बनी रहती है। इसी समर्पण के कारण चन्द्रदीधिति के प्रति भी उसके मन में गहरी सहानुभूति और आन्तरिक स्नेह उत्पन्न हो जाता है और एक प्रकार से भट्टिनी और भट्ट को निकट लाने में भी वह योग देती है। वह जानती है कि जिस प्रकार कड़वा और दूषित उसका अतीत जीवन रहा है उसके कारण अब जीवन में बाणभट्ट का सहयोग पाना कल्पना से भी परे की बात हो गई है। पर फिर भी उसका मन निश्छल और पवित्र ही रहता है और वह अपने सम्पूर्ण मन से बाणभट्ट और चन्द्रदीधिति दोनों को प्यार करती हुई उन्हीं की सेवा में मिट जाती है।

सुचरिता के चरित्र में पातिव्रत और प्रेम-समर्पण दोनों का समावेश मिलता है। बाल्यकाल में ही उसका विवाह हो जाता है और उसके यौवन के पूर्व ही उसका पति संसार छोड़कर बौद्धधर्म में दीक्षित हो जाता है। सुचरिता की सास उसको साथ लेकर तीर्थ यात्रा करने लगती है; तभी अकस्मात् एक बार काशी के निकट सुचरिता की अपने पति से भेंट हो जाती है। सुचरिता का पति अपनी माँ के अनुरोध पर सुचरिता को फिर से अपनी संगिनी बनाने को प्रस्तुत हो जाता है। सुचरिता से कहता है : 'मैं माता की आज्ञा से तुम्हारा हाथ पकड़ना चाहता हूँ। क्या तुम जीवन में मेरे लक्ष्य की ओर बढ़ने में मुझे सहायता पहुँचाने को तैयार हो ?'[5] सुचरिता के स्वीकार करने पर भी वह एक बार अपने

---

१. हजारीप्रसाद द्विवेदी : 'बाणभट्ट की आत्मकथा' (पृष्ठ ६७८)
२. वही : (पृष्ठ २८)
३. वही : (पृष्ठ ३१)
४. वही : (पृष्ठ ४५)
५. वही : (पृष्ठ २७७)

गुरु से इसकी अनुमति लेना आवश्यक समझता है। और सुचरिता एवं उसकी सास दोनों उसे इस कार्य के लिए गुरु के पास चले जाने देती हैं। उसके गुरु उसका झुकाव देखकर उसे अघोर भैरव के पास भेज देते हैं और अघोर भैरव उसे भागवत धर्म के प्रवर्तक वेंकटेश भट्ट के पास भेज देते हैं। इस प्रकार सुचरिता और उसका पति विरतिवज्र दोनों भागवत धर्म के अनुयायी बन जाते है और नारायण की भक्ति में अपना जीवन अर्पित कर देते है।

विरतिवज्र के इस प्रकार धर्म-परिवर्तन कर लेने के कारण बौद्ध धर्म के मठाधीश क्रुद्ध हो जाते हैं और वे श्रेष्ठी धनदत्त के माध्यम से उन पर ऋण शोध का झूठा अभियोग लगा कर उसे वन्दी बनवा देते हैं। सुचरिता के वन्दी हो जाने पर स्थाण्वीश्वर की प्रजा में राज्य के प्रति विक्षोभ फैल जाता है। विदेशी आक्रमण की पृष्ठभूमि में यह विक्षोभ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हो जाता है और महाराज की ओर से बाणभट्ट को यह कार्य सौंपा जाता है कि वह किसी प्रकार सुचरिता को राज्य के अनुकूल बना दे। बाणभट्ट जब कारागार में सुचरिता से भेंट करता है[1] तब वह अपने जीवन की पूरी कहानी उसे सुनाती है। उसके मन में महाराज के प्रति कोई रोष नहीं है। वह पूरी तौर से भागवत धर्म के अनुकूल आचरण करती हुई कहती है 'कि अपना सर्वस्व नारायण के प्रति अर्पण कर देने के बाद उसका अपना भला-बुरा कुछ भी नहीं बचा है।'[2] बाणभट्ट सुचरिता का यह रूप देखकर गद्‌गद् हो जाता है और उसकी प्रशंसा करते हुए कहता है : 'तुम सार्थक हो, देवि ! तुम्हारा शरीर और मन सार्थक है, तुम्हारा ज्ञान और वाणी सार्थक है, सब से बढ़ कर तुम्हारा प्रेम सार्थक है। तुमको प्रणाम कर के भवसागर में निर्लक्ष्य बहने वाले अकर्मा जीव भी सार्थक होंगे। तुम सतीत्व की मर्यादा हो, पातिव्रत्य की काष्ठा हो, स्त्री-धर्म का अलंकार हो।'[3]

---

१. हजारीप्रसाद द्विवेदी : 'बाणभट्ट की आत्मकथा' (पृष्ठ २८१)
२. वही : (पृष्ठ २८३)
३. वही : (पृष्ठ २८४)

उपसंहार

सच्चे अर्थों में हिन्दी का पहला सफल उपन्यास 'सेवासदन' था जिसका प्रकाशन सन् १९१६ में हुआ था। तब से सन् १९५० तक के पैंतीस वर्षों में हिन्दी उपन्यास ने अभूतपूर्व प्रगति की। उसने सामयिक जीवन के विविध पहलुओं, विविध रूपों और विविध स्तरों पर प्रकाश डाला और मनुष्य की आशा-आकांक्षा, दुःख-निराशा, कर्तव्य और आदर्श का अधिकाधिक यथार्थ विवेचन किया। जिन महत्त्वपूर्ण सामाजिक, राजनैतिक और वैचारिक आन्दोलनों से यह युग आलोड़ित-विलोड़ित हो रहा था, उनका यथेष्ठ प्रतिबिम्ब इस काल के उपन्यासों में मिलता है।

यही कारण है कि अपने जन्म-काल से ही हिन्दी उपन्यास नारी-जीवन और उसकी विभिन्न समस्याओं के प्रति सजग रहा। प्रेमचन्द-पूर्व के उपन्यासों में प्राचीन आदर्शों के प्रति गहरी निष्ठा होने के कारण उपन्यासकारों ने उन्हीं आदर्शों के सहारे नारी का चित्रण किया और उन आदर्शों में ही नारी-जीवन की सार्थकता की उपलब्धि की। प्रेमचन्द-काल के उपन्यासकार प्राचीन और नवीन आदर्शों में सामंजस्य की खोज करते रहे और इसलिए उन्होंने नारी की सामाजिक एवं पारिवारिक समस्याओं का हल ऐसे सुधारों में पाने की चेष्टा की जिनमें प्राचीन आदर्श की परम्परा भी बनी रहे और नवीन जीवन का स्वरूप भी उतर आये। प्रेमचन्द के 'आदर्शोन्मुख यथार्थ' का यही रहस्य है। परिवार में पुरुष को प्रधान मानते हुए भी वे नारी को समान अधिकार देने के पक्ष में थे। नारी शिक्षा की आवश्यकता मानते हुए भी वे नारी के स्वतन्त्र अर्थोपार्जन को उचित नहीं समझते थे। और सामाजिक, राजनैतिक कार्यों में नारी की रुचि को श्रेयस्कर मानने पर भी पाश्चात्य नारी-जीवन को ग़लत मानते थे।

प्रेमचन्दोत्तर-काल के उपन्यासों में नारी-जीवन को कुछ अधिक गहराई से समझने का प्रयत्न किया गया। जैनेन्द्र ने नारी की विवशता का और इलाचन्द्र जोशी ने उसकी मनोवैज्ञानिक हीन-भावना का चित्रण किया। यशपाल ने राजनैतिक दल में काम करने वाली नारी का और पुरुष-प्रधान समाज में नारी के विभिन्न बन्धनों का रूप उपस्थित किया। नारी के प्रेम की समस्या, वैवाहिक असंगति की समस्या और घर-बाहर की समस्या सभी पर लेखकों ने दृष्टिपात किया।

लेकिन इतना होते हुए भी हमें यह कहने को बाध्य होना पड़ता है कि जिस प्रकार हमारे समाज में पुरुष की प्रधानता है उसी प्रकार औपन्यासिक कृतित्व में भी पुरुष-चित्रण को ही प्रधानता मिलती रही। यदि जैनेन्द्र के उपन्यासों को छोड़ दें तो शायद ही ऐसा कोई उपन्यास मिले जिसमें नारी-जीवन का चित्रण प्रधान हो। इसका एक कारण यह भी हो

सकता है कि उपन्यास-लेखक अधिकतर पुरुष ही थे, यद्यपि महिला उपन्यासकारों ने भी नारी को केवल स्वप्नशील अथवा भावुक ढंग से ही देखा, उसके समग्र जीवन का कोई यथार्थ चित्र देने का यत्न नहीं किया। यही कारण है कि होरी और शेखर के साथ खड़े हो सकने वाले नारी-चरित्र हमें हिन्दी उपन्यासों में नहीं मिलते। जैसा हम कह आये हैं, इसका प्रमुख कारण यही ज्ञात होता है कि उपन्यास में जीवन का ही प्रतिविम्ब होता है और हमारा सामाजिक जीवन अब भी पुरुष-प्रधान ही है।

लेकिन दुःख की बात यह है कि प्रेमचन्दोत्तर-काल के उपन्यासों में कुछ ऐसी समस्याएँ भी छूट गई हैं जो यथार्थ जीवन में काफ़ी महत्त्वपूर्ण मानी जाती हैं। शिक्षा के क्षेत्र में बालक और बालिकाओं में विभेद, लालन-पालन में भी बालिका की अपेक्षा बालक के साथ पक्षपात और जीवन के विकास के लिए बालिका के लिए उपयुक्त अवसर की कमी की ओर उपन्यासकार ने ध्यान नहीं दिया है। इसी प्रकार सहशिक्षा से उत्पन्न कृत्रिम वातावरण और समस्याएँ बहुत कम ध्यान आकृष्ट कर पाई हैं। केवल रांगेय राघव के 'घरौंदे' में उसका उल्लेख मिलता है। मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में पुरुष-मन का जितना विश्लेषण है उतना नारी-मन का विश्लेषण नही मिलता। अधिकांश उपन्यासों में पुरुष के परिप्रेक्ष्य से ही नारी के मनोविज्ञान का अध्ययन किया गया है जिसके कारण नारी-मन के बहुत-से सूक्ष्म पहलू छूट गये हैं। और नारी के बाल-मनोविज्ञान का चित्रण तो कहीं भी नहीं मिलता। व्यक्तित्व के विकास में बचपन का जो महत्त्व होता है उसका अत्यन्त प्रभावशाली चित्रण 'शेखर : एक जीवनी' में पुरुष-मन के माध्यम से मिलता है, पर नारी-मन का वैसा कोई चित्रण नहीं मिलता।

सन् चालीस के आसपास भारतीय नारी नवीन जीवन के आदर्श अपनाने लग गई थी और प्रयत्नपूर्वक अपने जीवन को उन आदर्शों के अनुरूप बनाने लग गई थी। इस प्रयत्न में उसे अपने परिवार में अनेक प्रकार का संघर्ष करना पड़ता था और प्राचीन संस्कार एवं समाज में प्रचलित स्वार्थ और कामुकता से जूझना पड़ता था। किन्तु उपन्यासकार ने उसके इस संघर्ष को अनदेखा ही किया। 'गिरती दीवारें' और 'पथ की खोज' में उपेन्द्रनाथ 'अश्क' और डा० देवराज ने क्रमशः चेतन और चन्द्रनाथ के माध्यम से उस मध्यवर्गीय आधुनिक बुद्धिजीवी पुरुष का चित्रण बड़ी ईमानदारी के साथ किया है जो नवीन आदर्शों की प्रेरणा से अपने जीवन का संस्कार और विकास करना चाहता है और उस विकास में अपनी पत्नी का सहयोग पाना चाहता है और जब पत्नी अज्ञान अथवा असमर्थता के कारण वैसा सहयोग नही दे पाती तो जिसको गहरी मानसिक पीड़ा होती है। पर इसी के समानान्तर उस नारी का चित्रण नहीं मिलता जो अपने विकास के लिए व्यग्र है और जो अपने परिवार और अपने पति की ओर से दी जाने वाली बाधाओं के कारण छटपटाती रह जाती है; और न उस तेजस्विनी नारी का चित्रण किया गया है जो इन बाधाओं को पार करती हुई अपना इच्छित लक्ष्य प्राप्त करती है। नारी के पिछड़ेपन की निन्दा तो अनेक स्थलो पर मिलती है, पर पुरुष के पिछड़ेपन का कोई उल्लेख नहीं मिलता।

इसी प्रकार दाम्पत्य-जीवन की विषमता अथवा असफलता का दोष बहुधा नारी के सिर पर ही मढ़ा गया है। नारी का भी अपना व्यक्तित्व है और पुरुष को उस व्यक्तित्व को मान्यता देनी होगी—यह बात बहुत कम उपन्यासकारों ने कही है। अमृतराय के 'बीज' उपन्यास में दाम्पत्य-जीवन का जो चित्रण है एकमात्र वही इसका अपवाद है। चेतन और चन्द्रनाथ दोनों विवाहित होने पर भी अपनी पत्नी की उपेक्षा कर पर-नारी से प्रेम करते हैं, फिर भी लेखक उनकी आलोचना करते नहीं पाये जाते और न वे पत्नी के मन की निराशा, वितृष्णा और विवशता के प्रति कोई सहानुभूति देते मिलते हैं।

आधुनिक हिन्दी उपन्यासों में नारी-जीवन के एक और पहलू पर भी प्रकाश नहीं डाला गया है। सन् १९३५ के आर्थिक संकट से ही भारतीय नारी अर्थोपार्जन की ओर ध्यान देती आई है और सन् १९५० तक हम अनेक पुरुषोचित धन्धों में नारी को प्रवेश करते पाते हैं। क्लर्क, अध्यापिका, लेडी-डाक्टर, लेडी-वकील, राजनैतिक कार्यकर्त्री, समाज-सेविका, अभिनेत्री के रूप में यहाँ तक कि मंत्रालय और दूतावास में भी नारी की प्रतिष्ठा हो चुकी थी, पर नारी के इन अनेक रूपों में से उपन्यास-लेखकों ने केवल दो-तीन की ओर ही ध्यान दिया है। इस प्रकार के धंधे अपनाने से उसके पारिवारिक जीवन में जो परिवर्तन आता है और उसके सामाजिक जीवन में जो कठिनाइयाँ और ठोकरें उसको मिलती हैं उनका कोई उल्लेख हिन्दी उपन्यासकार ने नहीं किया है।

इसी प्रकार स्वावलम्बिनी नारी के अस्वाभाविक जीवन का और विवाह को अपनी स्वतन्त्रता का अपहरण समझ कर उससे दूर रहने वाली नारी का कोई चित्र हमें हिन्दी उपन्यास में नहीं मिलता।

यथार्थ जीवन में नारी के सौन्दर्य को अनावश्यक रूप से महत्त्व दिया जाता है। इसीलिए नारी की कुरूपता एक प्रकार से अभिशाप बन जाती है। कुरूपा नारी को साधारणतः अपना समस्त जीवन कष्ट और अपमान में बिताना पड़ता है। इस अपमान के कारण उसका मन भी असाधारण और अस्वाभाविक बन जाता है। नारी जीवन के इस पहलू की ओर लेखकों का ध्यान जाना अभी बाक़ी है।

यद्यपि हिन्दी उपन्यासों में उपर्युक्त अभाव खटकते अवश्य हैं, फिर भी नारी चित्रण की दृष्टि से उपन्यासों के विकास को असंतोषजनक कहना सही न होगा। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद हिन्दी उपन्यासों के क्षेत्र में नित्य नई रचनाएँ सामने आती रही हैं जिनमें आधुनिक जीवन के विस्तार और गहराई को प्रतिबिम्बित करने का अधिकाधिक प्रयत्न किया जा रहा है। नागार्जुन और फणीश्वरनाथ 'रेणु' के उपन्यासों से आंचलिक जीवन को नई गहराई और नया रंग मिला है और उन्होंने अनेक जीते-जागते नारी चरित्रों की सृष्टि की है। अमृतलाल नागर के 'बूंद और समुद्र' और भगवतीचरण वर्मा के 'भूले बिसरे चित्र' में नागरिक जीवन की अनन्त विविधता का यथार्थ चित्र उपस्थित किया गया है। इसी प्रकार उदयशंकर भट्ट के उपन्यास 'सागर, लहरें और मनुष्य' में पहली बार समुद्र तट के मछुओं के जीवन पर प्रकाश डाला गया है। शिक्षित नारियों का चित्रण भी

अनेक उपन्यासों में कुशलतापूर्वक किया गया है। इनमें 'अज्ञेय' का 'नदी के द्वीप' प्रमुख है।

हमें आशा करनी चाहिए कि शीघ्र ही ऐसे उपन्यास भी रचे जायेंगे जिनमें आधुनिक जीवन की पृष्ठभूमि में नारी-चरित्र की समग्रता प्रतिविम्बित होगी।

●

ग्रंथानुक्रमणिका

उपन्यास-ग्रंथ (सन् १९५० तक)

लेखक	पुस्तक	संस्करण
अमृतलाल नागर	महाकाल	प्रथम संस्करण १९४७ इलाहाबाद
अवधनारायण श्रीवास्तव	विमाता	तृतीय संस्करण
अनूपलाल मण्डल	निर्वासित	प्रथम संस्करण
,,	ज्योतिर्मयी	,,
,,	वे अभागे	,,
,,	मीमांसा	,,
,,	समाज की वेदी पर	,,
अयोध्यासिंह उपाध्याय	ठेठ हिन्दी का ठाठ	प्रथम संस्करण १८९९
,,	अधखिला फूल	प्रथम संस्करण १९०७
अम्बिकाप्रसाद चतुर्वेदी	कोहेनूर	प्रथम संस्करण १९१९
'अज्ञेय'	शेखर : एक जीवनी दो भाग,	पंचम संस्करण, बनारस
इलाचन्द्र जोशी	लज्जा	तृतीय संस्करण १९५०, इलाहाबाद
,,	संन्यासी	चतुर्थ संस्करण १९४९, इलाहाबाद
,,	पर्दे की रानी	तृतीय संस्करण १९५१, प्रयाग
	प्रेत और छाया	द्वितीय संस्करण १९४७, इलाहाबाद
,,	निर्वासित	प्रथम संस्करण १९४६, इलाहाबाद
,,	मुक्तिपथ	सन् १९४९, इलाहाबाद
ईश्वरीप्रसाद शर्मा	वामा शिक्षक	प्रथम संस्करण १८८३, मेरठ
,,	स्वर्णमयी	प्रथम संस्करण १९१०, केशव मंत्रालय

ईश्वरीप्रसाद शर्मा	मागधी कुसुम	प्रथम संस्करण १९११, काशी
ईश्वरीप्रसाद गुप्त और मदनविहारी वर्मा	कमला	प्रथम संस्करण १९४०
उदयराजसिंह	अधूरी नारी	प्रथम संस्करण १९४३, साहित्य मंदिर
उपेन्द्रनाथ 'अश्क'	सितारों के खेल	तृतीय संस्करण १९५२, प्रयाग
,,	गिरती दीवारें	द्वितीय संस्करण १९१५, प्रयाग
उमाशंकर मिश्र	बनारस की वेश्याएं	प्रथम संस्करण १९३९, बनारस सिटी
उषादेवी मित्रा	वचन का मोल	पंचम संस्करण १९४६
,,	पिया	तृतीय संस्करण १९४४
,,	जीवन की मुस्कान	तृतीय संस्करण १९४५
,,	सोहनी	प्रथम संस्करण १९४९ बनारस
ऋषभचरण जैन	भाई	प्रथम संस्करण १९३०
,,	मास्टर साहब	प्रथम संस्करण १९२७
,,	वेश्या पुत्र	प्रथम संस्करण १९२९
,,	मन्दिर दीप	प्रथम संस्करण १९३६
,,	चम्पाकली	प्रथम संस्करण १९३७, सस्ता साहित्य मण्डल
ओंकार शरद	मिटती छाया	प्रथम संस्करण, इलाहाबाद
कुटुमप्यारीदेवी सक्सेना	हृदय की ताप	प्रथम संस्करण १९३६, बनारस
कञ्चनलता सब्बरवाल	त्रिवेनी	प्रथम संस्करण १९५०, देहरादून
किशोरीलाल गोस्वामी	स्वर्गीय कुसुम	द्वितीय संस्करण
,,	लवंगलता	प्रथम संस्करण १८९०
,,	त्रिवेणी	प्रथम संस्करण १८८८
,,	हृदयहारिणी	प्रथम संस्करण १८९०
,,	तारा	प्रथम संस्करण १९०२
,,	चपला	द्वितीय संस्करण १९१५

किशोरीलाल गोस्वामी	लखनऊ की कब्र	प्रथम संस्करण १९०६
,,	अँगूठी का नगीना	प्रथम संस्करण १९१८
गंगाप्रसाद मिश्र	संघर्षों के बीच	प्रथम संस्करण
गंगाप्रसाद गुप्त	वीर पत्नी	प्रथम संस्करण १९०३
गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश'	अरुणोदय	प्रथम संस्करण १९३०
गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश'	बहता पानी	प्रथम संस्करण
गुरुदत्त	उन्मुक्त प्रेम	द्वितीय संस्करण १९४४
गोविन्दवल्लभ पंत	मदारी	प्रथम संस्करण १९३५
गोविन्ददास	इन्दुमती	प्रथम संस्करण १९५०, बम्बई
गोपालराम गहमरी	ठनठन गोपाल	प्रथम संस्करण
,,	गुप्तचर	,,
,,	झंडा डाकू	,,
,,	अद्भुत खून	प्रथम संस्करण १९०६
चतुरसेन शास्त्री	हृदय की परख	दसवाँ संस्करण
,,	अमर अभिलाषा	प्रथम संस्करण
,,	हृदय की प्यास	प्रथम संस्करण
,,	आत्मदाह	द्वितीय संस्करण
,,	वैशाली की नगर वधू	प्रथम संस्करण १९४९
चण्डीप्रसाद 'हृदयेश'	मनोरमा	प्रथम संस्करण १९२४
,,	मंगल प्रभात	प्रथम संस्करण १९२६
चण्डिकाप्रसाद मिश्र	सुहागिनी	
चंद्रशेखर पाठक	अबला की आत्मकथा	द्वितीय संस्करण १९३६, आदर्श हिन्दी पुस्तकालय
जयराम गुप्त	राज दुलारी	प्रथम संस्करण
जैनेन्द्र कुमार	तपोभूमि	प्रथम संस्करण १९३२
,,	परख	तृतीय संस्करण, बम्बई ४
,,	त्यागपत्र	द्वितीय संस्करण १९४३, बम्बई
,,	सुनीता	द्वितीय संस्करण १९४१, बम्बई
,,	कल्याणी	प्रथम संस्करण १९४०, बम्बई
जगदीशशरण मिश्र	मंदाकिनी	प्रथम संस्करण १९३८, जगदीश उपन्यासमाला

जगदीशशरण मिश्र	विनीता	प्रथम संस्करण १९३९, जगदीश उपन्यासमाला
जगदीश झा 'विमल'	मातृ मंदिर	प्रथम संस्करण १९४१, छात्र हितकारी पुस्तक माला
जयशंकर 'प्रसाद'	कंकाल	षष्ठ संस्करण १९५०, इलाहाबाद
जयशंकर प्रसाद	तितली	पंचम संस्करण १९४८, इलाहाबाद
,,	इरावती	चतुर्थ संस्करण १९५६, इलाहाबाद
(ठा०) जगमोहनसिंह	श्यामा स्वप्न	प्रथम संस्करण १८८८, कुला द्वारा प्रकाशित
तेजरानी दीक्षित	हृदय का काँटा	प्रथम संस्करण १९३८
देवीप्रसाद धवन 'विकल'	भाभी	प्रथम संस्करण १९४५, लखनऊ
,,	चिनगारी	प्रथम संस्करण १९३८, कानपुर
देवकीनन्दन खत्री	चन्द्रकान्ता	प्रथम संस्करण १८९२
,,	चन्द्रकान्ता संतति	पाँचवाँ संस्करण १९१६
,,	कुसुम कुमारी	आठवीं बार १९५३
,,	काजर की कोठरी	आठवाँ संस्करण
,,	भूतनाथ	प्रथम संस्करण १९०८
,,	नरेन्द्र मोहिनी	आठवाँ संस्करण
देवनारायण द्विवेदी	दहेज	प्रथम संस्करण १९३८
,,	पश्चात्ताप	प्रथम संस्करण १९३८
धनीराम 'प्रेम'	मेरा देश	प्रथम संस्करण १९३६
,,	वेश्या का हृदय	प्रथम संस्करण १९२३, अलीगढ़
डा० धर्मवीर भारती	गुनाहों का देवता	चतुर्थ संस्करण १९५७, इलाहाबाद
नरोत्तमप्रसाद नागर	दिन के तारे	प्रथम संस्करण
नागार्जुन	रतिनाथ की चाची	प्रथम संस्करण
प्रेमचन्द	वरदान	द्वितीय संस्करण १९४५
,,	प्रतिज्ञा	नवाँ संस्करण १९५०

प्रेमचन्द	सेवासदन	सरस्वती प्रेस बनारस से प्रकाशित
,,	निर्मला	छठवाँ संस्करण
,,	ग़बन	नवाँ संस्करण
,,	कर्मभूमि	छठवाँ संस्करण
,,	रंगभूमि (दोनों भाग)	ग्यारहवाँ संस्करण १९४६, लखनऊ
,,	कायाकल्प	चतुर्थ संस्करण
,,	प्रेमाश्रम	ग्यारहवाँ संस्करण
,,	गोदान	छठवाँ संस्करण
प्रतापनारायण श्रीवास्तव	विजय	प्रथम संस्करण १९३७
,,	विकास	प्रथम संस्करण १९३९
,,	विदा	सातवाँ संस्करण १९४६, लखऊन
प्रभावती भटनागर	पराजय	प्रथम संस्करण १९३४
प्रफुल्लचन्द्र ओझा 'सुमन'	पाप और पुण्य	प्रथम संस्करण १९३०
,,	तलाक़	प्रथम संस्करण १९३२
बलदेवप्रसाद मिश्र	पानीपत	द्वितीय संस्करण १९१७
बालकृष्ण दामोदर शास्त्री	महेन्द्र मोहिनी	द्वितीय संस्करण १९२१
बालकृष्ण भट्ट	सौ अजान और एक सुजान	प्रथम संस्करण १८८१
,,	नूतन ब्रह्मचारी	प्रथम संस्करण १८८६
ब्रजनंदन सहाय	रज़िया बेगम	प्रथम संस्करण १९१५
,,	सौन्दर्योपासक	प्रथम संस्करण १८८९
बेचन शर्मा 'उग्र'	मनुष्यानंद	द्वितीय संस्करण १९५५
,,	दिल्ली का दलाल	प्रथम संस्करण १९२७
,,	चंद हसीनों के खतूत	सातवाँ संस्करण
,,	शराबी	प्रथम संस्करण, पुस्तक भवन, बनारस
भारतेंदु हरिश्चन्द्र	पूर्णप्रकाश चंद्रप्रभा	प्रथम संस्करण १८८९
भगवतीप्रसाद वाजपेयी	त्यागमयी	द्वितीय संस्करण १९३२
,,	लालिमा	प्रथम संस्करण १९३०
,,	पतिता की साधना	द्वितीय संस्करण १९३८
,,	पिपासा	प्रथम संस्करण १९३७
,,	प्रेम निर्वाह	प्रथम संस्करण १९३६

भगवतीप्रसाद वाजपेयी	निमंत्रण	प्रथम संस्करण १९४२, इलाहाबाद
,,	दो बहनें	द्वितीय संस्करण १९४४
,,	गुप्त धन	प्रथम संस्करण १९४९
भगवतीचरण वर्मा	पतन	प्रथम संस्करण १९२८
,,	चित्रलेखा	पंद्रहवाँ संस्करण १९५७, इलाहाबाद
,,	तीन वर्ष	द्वितीय संस्करण १९४२
,,	आखिरी दाँव	प्रथम संस्करण १९५०, प्रयाग
भैरवप्रसाद गुप्त	इंसान	प्रथम संस्करण १९५०, मद्रास
,,	शोले	प्रथम संस्करण १९४७, इलाहाबाद
मन्मथनाथ गुप्त	कुश्चरित्र	प्रथम संस्करण १९४९, नई दिल्ली
,,	अंधेर नगरी	प्रथम संस्करण प्रगति प्रकाशन
,,	अवसान	प्रथम संस्करण १५९०, बनारस
यशपाल	दिव्या	तृतीय संस्करण १९५४, लखनऊ
,,	पार्टी कामरेड	द्वितीय संस्करण १९४७, लखनऊ
,,	दादा कामरेड	तृतीय संस्करण १९४८, लखनऊ
,,	देशद्रोही	तृतीय संस्करण, लखनऊ
,,	मनुष्य के रूप	प्रथम संस्करण १९४८, लखनऊ
यज्ञदत्त	स्वाधीनता के पथ पर	प्रथम संस्करण
,,	प्रेम समाधि	प्रथम संस्करण १९४०, दिल्ली
रत्नचंद्र प्लीडर	नूतन चरित्र	सन् १९२२ में प्रकाशित
राधा कृष्णदास	निस्सहाय हिन्दू	प्रथम संस्करण १८९०
रामनरेश त्रिपाठी	वीरांगना	प्रथम संस्करण १९११
,,	वीरबाला	प्रथम संस्करण १९११
रमाशंकर सक्सेना	अबला	प्रथम संस्करण १९२८

रामकिशोर मालवीय	शैलकुमारी	द्वितीय संस्करण १९२८
रामरतन भटनागर	अम्बपाली	प्रथम संस्करण १९३९
,,	जय वासुदेव	प्रथम संस्करण १९४७
राधिकारमण प्रसाद सिंह	राम रहीम	द्वितीय संस्करण १९४४, शाहाबाद
,,	पुरुष और नारी	प्रथम संस्करण १९४०, शाहाबाद
रामवृक्ष वेनीपुरी	कैदी की पत्नी	प्रथम संस्करण १९४०, पटना
,,	पतितों के देश में	(वेनीपुरी ग्रंथावली में संग्रहीत)
,,	माटी की मूरतें	,,
राहुल सांकृत्यायन	सिंह सेनापति	द्वितीय संस्करण १९४५, इलाहाबाद
,,	जय यौधेय	द्वितीय संस्करण १९४६, इलाहाबाद
रमाप्रसाद घिल्डियाल 'पहाड़ी'	चलचित्र	द्वितीय संस्करण १९४८, इलाहाबाद
,,	सराय	प्रथम संस्करण १९४४, इलाहाबाद
रांगेय राघव	विषाद मठ	प्रथम संस्करण १९४६
,,	घरौंदे	प्रथम संस्करण १९४६, बनारस
रामचन्द्र तिवारी	कमला	प्रथम संस्करण १९४३, बनारस कैण्ट
,,	सागर सरिता और अकाल	प्रथम संस्करण १९४६, बनारस
रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'	चढ़ती धूप	१९५५ का संस्करण, इलाहाबाद
,,	नई इमारत	,,
,,	उल्का	
रूपनारायण पांडे	कपटी	प्रथम संस्करण १९३४
लज्जाराम शर्मा मेहता	धूर्त रसिकलाल	प्रथम संस्करण १८९९
,,	आदर्श दम्पति	प्रथम संस्करण १९०४
लज्जाराम शर्मा मेहता	बिगड़े का सुधार	प्रथम संस्करण १९०७
,,	आदर्श हिन्दू (तीन भाग)	प्रथम संस्करण १९१५

लालजी शुक्ल	वीरबाला	प्रथम संस्करण १९०६
विश्वनाथ वैशम्पायन	मातृत्व का अभिशाप	प्रथम संस्करण १९५०, मलिक नगर (गाजियाबाद)
विनोदशंकर व्यास	अशांत	प्रथम संस्करण १९२७
विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक'	भिखारिणी	तृतीय संस्करण १९५२
,,	माँ	प्रथम संस्करण १९२९
वृन्दावनलाल वर्मा	गढ़ कुण्डार	पंचम संस्करण १९४६, लखनऊ
,,	विराटा की पद्मिनी	पंचम संस्करण १९५१
,,	मुसाहिबजू	प्रथम संस्करण १९४६
,,	कचनार	पंचमावृत्ति १९५९, झाँसी
,,	झाँसी की रानी	षष्ठमावृत्ति १९५६, झाँसी
,,	मृगनयनी	प्रथम संस्करण १९५०, झाँसी
,,	अचल मेरा कोई	तृतीय संस्करण १९५४, झाँसी
,,	लगन	द्वितीय संस्करण १९५१
,,	प्रेम की भेंट	प्रथम संस्करण १९३१
,,	प्रत्यागत	प्रथम संस्करण १९३९
,,	कुण्डली-चक्र	प्रथम संस्करण, झाँसी
शालिग्राम गुप्त	आदर्श रमणी	प्रथम संस्करण १९११
शिवचन्द्र शर्मा	नया आदमी	प्रथम संस्करण, १९४९, इलाहाबाद
शिवपूजन सहाय	देहाती दुनिया	प्रथम संस्करण लहरिया सराय, पटना
श्रीनिवासदास	परीक्षा गुरु	द्वितीय संस्करण १८८६
श्रीनाथ सिंह	प्रजा मण्डल	प्रथम संस्करण, दीदी कार्यालय
,,	उलझन	प्रथम संस्करण
श्रीकृष्णदास	अग्निपथ	द्वितीय संस्करण १९४५, इलाहाबाद
श्रीकृष्णदास	क्रान्तिदूत	द्वितीय संस्करण १९४७
,,	जुलेखा	प्रथम संस्करण, प्रयाग

सर्वदानन्द वर्मा	संस्मरण	प्रथम संस्करण १९४०, बाँकीपुर
,,	नरमेघ	प्रथम संस्करण १९४१, प्रयाग
,,	नरक	सरस्वती सिरीज
,,	प्रश्न	प्रथम संस्करण १९३८, लखनऊ
सियारामशरण गुप्त	नारी	तृतीय संस्करण १९४४, झाँसी
,,	गोद	द्वितीय संस्करण १९३७, झाँसी
,,	अन्तिम आकांक्षा	प्रथम संस्करण १९३४, झाँसी
सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'	अप्सरा	षष्ठ संस्करण १९५२
,,	अलका	प्रथम संस्करण १९३३
,,	निरुपमा	द्वितीय संस्करण
,,	प्रभावती	प्रथम संस्करण १९३६, लखनऊ
(डा०) हजारीप्रसाद द्विवेदी	वाणभट्ट की आत्मकथा	प्रथम संस्करण १९४६, शान्ति निकेतन
त्रिमूर्ति	मीठी चुटकी	प्रथम संस्करण १९२७

सन् १९५० के उपरान्त प्रकाशित हिन्दी उपन्यास तथा अन्य भाषा के उपन्यास

अमृतलाल नागर	बूंद और समुद्र	प्रथम संस्करण १९५६, इलाहाबाद
अमृतराय	बीज	प्रथम संस्करण १९५६, इलाहाबाद
'अज्ञेय'	नदी के द्वीप	प्रथम संस्करण १९५१ नई दिल्ली
अनातोले फ्रांस	ताइस (हिन्दी अनुवाद)	सरस्वती सिरीज
अलेक्जेण्डर कुप्रिन	गाड़ीवालों का कटरा	तृतीय संस्करण १९४५, बनारस
इलाचन्द्र जोशी	सुबह के भूले	प्रथम संस्करण १९५२, इलाहाबाद

इलाचन्द्र जोशी	जहाज का पंछी	प्रथम संस्करण १९५६
उपेन्द्रनाथ 'अश्क'	गर्म राख	प्रथम संस्करण, इलाहाबाद
,,	बड़ी बड़ी आँखें	प्रथम संस्करण इलाहाबाद
उदयशंकर भट्ट	सागर, लहरें और मनुष्य	प्रथम संस्करण नई दिल्ली
एमिल जोला	नाना की माँ (हिन्दी अनुवाद)	प्रथम संस्करण
(श्रीमती) क्रेक	जान वावर वैंक की पत्नी (हिन्दी अनुवाद)	प्रथम संस्करण
चार्ल्स डिकेन्स	डेविड कापरफील्ड	
जैनेन्द्रकुमार	सुखदा	प्रथम संस्करण
,,	विवर्त	,,
,,	व्यतीत	,,
टामस हार्डी	टैस (हिन्दी अनुवाद)	प्रथम संस्करण
टाल्सटाय	अन्ना केरिनिना (हिन्दी अनुवाद)	प्रथम संस्करण
,,	प्रेम की प्रतिक्रिया	प्रथम संस्करण
डायटोवस्की	क्राइम एण्ड पनिशमैंट (हिन्दी अनुवाद)	प्रथम संस्करण
विलियम् थैकरे	वैनिटी फेयर (हिन्दी अनु०)	प्रथम संस्करण
दामोदर मुखोपाध्याय	मृण्मयी (हिन्दी अनुवाद)	प्रथम संस्करण
(डा०) देवराज	पथ की खोज (दो भाग)	प्रथम संस्करण १९५१, लखनऊ
,,	घर-बाहर	प्रथम संस्करण
डा० धर्मवीर भारती	सूरज का सातवाँ घोड़ा	प्रथम संस्करण १९५२, इलाहाबाद
नागार्जुन	बलचनमा	प्रथम संस्करण
नरेश मेहता	डूबते मस्तूल	प्रथम संस्करण
फणीश्वरनाथ 'रेणु'	मैला आँचल	प्रथम संस्करण, इलाहाबाद
,,	परती परिकथा	प्रथम संस्करण १९५७, प्रयाग
फ्लाबेयर	मादाम बोवारी (हिन्दी अनुवाद)	प्रथम संस्करण
बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय	विष वृक्ष (हिन्दी अनुवाद)	प्रथम संस्करण १९२१
,,	देवी चौधुरानी (,,)	प्रथम संस्करण
,,	दुर्गेशनन्दिनी (,,)	,,
,,	आनन्द मठ (,,)	,,

भगवतीचरण वर्मा	भूले बिसरे चित्र	प्रथम संस्करण १९५९, दिल्ली
मैक्सिम गोर्की	माँ (हिन्दी अनुवाद)	तृतीय संस्करण १९४४, बनारस
मेरी करेली	प्रतिशोध	प्रथम संस्करण १९२४
यज्ञदत्त	झुनिया की शादी	प्रथम संस्करण १९५३, दिल्ली
रवीन्द्रनाथ ठाकुर	घर-बाहर (हिन्दी अनु०)	जगत शंखधर द्वारा प्रकाशित
रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'	मरु-प्रदीप	द्वितीय संस्करण १९५८, इलाहाबाद
(डा०) लक्ष्मीनारायण लाल	काले फूल का पौधा	प्रथम संस्करण
,,	बया का घोंसला और साँप	प्रथम संस्करण, इलाहाबाद
विलियम समरसेट	ममता के बंधन (हिन्दी अनुवाद)	प्रथम संस्करण
शरच्चंद्र चट्टोपाध्याय	गृहदाह (हिन्दी अनु०)	शरत् साहित्य, बम्बई
,,	शेष प्रश्न (,,)	,,
,,	चरित्रहीन (,,)	,,
,,	विराज वहू (,,)	,,
,,	देवदास (,,)	,,

अन्य सहायक ग्रंथ

अन्ना गार्लिन स्पैन्सर	वीमेन्स शेयर इन सोशल कल्चर	द्वितीय संस्करण
(डा०) इन्द्रनाथ मदान	माडर्न हिन्दी लिटरेचर	प्रथम संस्करण १९३९, लाहौर
,,	प्रेमचन्द : चिन्तन और कला	सरस्वती प्रेस, बनारस
,,	शरच्चंद्र : चिन्तन और कला	हिन्दी भवन, जालंधर और इलाहाबाद
(डा०) इन्द्रनाथ मदान	स्टेटस आफ वीमेन इन एन्शियेण्ट इण्डिया	प्रथम संस्करण
,,	वीमेन अन्डर बुद्धिज्म	,,
इलाचन्द्र जोशी	विवेचना	प्रथम संस्करण १९४८, प्रयाग
(डा०) ए० एस० अल्टेकर	पोज़ीशन आफ वीमेन इन हिन्दू सिवलीज़ेशन	१९३९, बनारस

एन्थानी एम० लूडोविची	वोमन : ए विन्डीकेशन	प्रथम संस्करण १९२३
एस० ए० डाँगे	प्रिमिटिव इन्डिया	प्रथम संस्करण १९४९, बम्बई
एस० सी० सरकार एण्ड के० के० दत्ता	द टैक्स्ट बुक आफ मॉडर्न इण्डियन हिस्ट्री	(पोथी दो)
क्लारा ज़ेटकिन	स्त्री स्वातन्त्य और कम्यूनिस्ट नैतिकता पर लेनिन के विचार (हिन्दी अनु०)	प्रथम संस्करण १९५१, जोधपुर
कृष्णशंकर शुक्ल	आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास	द्वितीय संस्करण १९३६, बनारस
कोमल कोठारी, विज़यदान देया (सम्पादक)	प्रेमचन्द के पात्र	प्रथम संस्करण
(बाबू) गुलाबराय	हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास	सप्तदश संस्करण १९५४, आगरा
गंगाप्रसाद पांडे	हिन्दी कथा साहित्य	प्रथम संस्करण १९५१, इलाहाबाद
चंद्रावती लखनपाल	स्त्रियों की स्थिति	प्रथम संस्करण
चन्द्रप्रकाश वर्मा	साहित्यालोक	प्रथम संस्करण १९४२
जैनेन्द्रकुमार	प्रस्तुत प्रश्न	प्रथम संस्करण १९३९, बम्बई
,,	काम, प्रेम और परिवार	प्रथम संस्करण
जान स्टुअर्ट मिल	सब्जेक्शन आफ वीमेन	१९२४ मे प्रकाशित
जी० टी० डब्ल्यू	द साइकोलाजी आफ वीमेन	प्रथम संस्करण
जे० एल० डेविस	द शार्ट हिस्ट्री आफ वीमेन	१९२१ में प्रकाशित, लन्दन
दयानंद सरस्वती	सत्यार्थप्रकाश	इक्कीसवी वार १९२७
दयाराम जिदुमल	द स्टेटस आफ वोमन इन इन्डिया	प्रथम संस्करण १८८९
देवराज उपाध्याय	आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान	प्रथम संस्करण १९५६, प्रयाग
नंददुलारे वाजपेयी	आधुनिक साहित्य	प्रथम संस्करण १९५०, प्रयाग
डा० नगेन्द्र	विचार और अनुभूति	१९४५, मुरादाबाद
,,	विचार और विवेचन	प्रथम संस्करण, दिल्ली
,,	विचार और विश्लेषण	,, ,,

पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी	हिन्दी कथा साहित्य	प्रथम संस्करण १९५४, बम्बई
पट्टाभि सीतारामैया	कांग्रेस का इतिहास	प्रथम संस्करण (१८८५-१९३५)
प्रकाशचन्द्र गुप्त	साहित्यधारा	प्रथम संस्करण १९५६, बनारस
फर्डिनैंड शेविल	आधुनिक योरप का इतिहास	प्रथम संस्करण, इलाहाबाद
फ्रेडरिक एन्गिल्स	द ओरिजिन आफ द फेमिली	प्रथम संस्करण १९४८, मास्को
बर्टरैन्ड रसैल	मैरिज एंड मारल्स	प्रथम संस्करण १९२९
(डा०) बेनीप्रसाद	हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता	प्रथम संस्करण १९३१, प्रयाग
बेरी मिलार्ड	वोमन अगेन्स्ट मिथ	प्रथम संस्करण १९४८, न्यूयार्क
भगवतशरण उपाध्याय	वीमेन इन ऋग्वेद	१९४१, बनारस
,,	भारतीय समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण	१९५०, काशी
(डा०) भोलानाथ	हिन्दी साहित्य	प्रथम संस्करण १९५४, प्रयाग
(श्रीमती) महारानी साहबा (बड़ौदा)	भारतीय स्त्रियाँ	प्रथम संस्करण १९२६
मन्मथनाथ गुप्त और रमेन्द्रनाथ वर्मा	कथाकार प्रेमचन्द	प्रथम संस्करण १९४७
मार्गरेट ई० कज़िन्स	अवेकनिंग आफ एशियन वोमन हुड	१९२२ में प्रकाशित
मार्गरेट ई० कजिन्स	इन्डियन वोमनहुड टुडे	प्रथम संस्करण
मोहनदास कर्मदास गांधी	स्त्रियों की समस्याएँ	१९४२ में प्रकाशित, सावन सदन
महादेवी वर्मा	शृंखला की कड़ियाँ	प्रथम संस्करण १९४२, बनारस
मित्तर (जस्टिस)	पोज़ीशन आफ वीमेन इन हिन्दू ला	१९१३ में प्रकाशित, कलकत्ता
यशपाल	बात बात में बात	१९५०, लखनऊ
,,	मार्क्सवाद	प्रथम संस्करण १९४०, लखनऊ

राल्फ़ फाक्स	नावेल एण्ड द पीपुल	१९३७ में प्रकाशित
डा० रामविलास शर्मा	भारतेंदु-युग	युग मन्दिर, उन्नाव
,,	प्रगति और परम्परा	प्रथम संस्करण १९४८, इलाहाबाद
,,	प्रेमचन्द और उनका युग	दिल्ली
,,	निराला	प्रथम संस्करण १९४८, बम्बई
रामस्वरूप चतुर्वेदी	शरद् के नारी-पात्र	ज्ञानपीठ प्रकाशन, बनारस
रामचन्द्र शुक्ल	हिन्दी साहित्य का इतिहास	संशोधित और परिवर्द्धित संस्करण १९४५, काशी
राहुल सांकृत्यायन	वैज्ञानिक भौतिकवाद	द्वितीय संस्करण १९४५, प्रयाग
(लाला) लाजपतराय	दुखी भारत	१९२८, प्रयाग
,,	द आर्य समाज	१९१५ में प्रकाशित
(डा०) लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय	आधुनिक हिन्दी साहित्य (१७५७-१८५७)	प्रथम संस्करण १९५२, प्रयाग
,,	आधुनिक हिन्दी साहित्य (१८५०-१९००)	संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण १९५४, इलाहाबाद
वासुदेव उपाध्याय	मध्यकालीन भारत	प्रथम संस्करण
व्रजरत्नदास	हिन्दी उपन्यास साहित्य	प्रथम संस्करण, बनारस
वाइ० एम० रीग	ह्विदर वीमेन	प्रथम संस्करण
वायला क्लीन	फैमिनिन कैरेक्टर	प्रथम संस्करण
वेन्डा फ्रेकन नैफ़े	विक्टोरियन वर्किंग वोमन	,,
वी० एल० शर्मा	भारतीय संस्कृति का विकास	,,
शरच्चंद्र चट्टोपाध्याय	नारी का मूल्य (शरत् साहित्य १५)	चौथा संस्करण १९५१, बम्बई
,,	शरद पत्रावली (शरत्-साहित्य २५)	प्रथम संस्करण १९५२, बम्बई
शिवनारायण श्रीवास्तव	हिन्दी उपन्यास	तृतीय संस्करण १९५०, बनारस
शिवदानसिंह चौहान	हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष	प्रथम संस्करण १९५४, दिल्ली
,,	प्रगतिवाद	प्रथम संस्करण १९४६ बम्बई

शिवदान सिंह चौहान	साहित्य की परख	प्रथम संस्करण १९४८, दिल्ली
शिवदत्त ज्ञानी	भारतीय संस्कृति	प्रथम संस्करण
शिवकुमार मिश्र	वृन्दावन लाल वर्मा : उपन्यास और कला	प्रथम संस्करण १९५६, कानपुर
शिवरानीदेवी प्रेमचन्द	प्रेमचन्द : घर में	प्रथम संस्करण १९४४, बनारस
शकुन्तला राव शास्त्री	वीमेन इन वैदिक एज	१९५४, बम्बई
(डा०) शैल कुमारी	आधुनिक हिन्दी काव्य में नारी भावना	प्रथम संस्करण, प्रयाग
श्यामकुमारी नेहरू	आवर काज़	१९३६, इलाहाबाद
शान्तिप्रिय द्विवेदी	युग और साहित्य	प्रथम संस्करण १९४१, इलाहाबाद,
श्रीकृष्णलाल	आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास (१९००-१९२५)	तृतीय संस्करण १९५२ इलाहाबाद
(डा०) सत्येन्द्र	मृग नयनीमें कला और कृतित्व	प्रथम संस्करण, साहित्य प्रकाशन, मन्दिर
प्रेमानन्द	हिन्दू विवाह में कन्या-दान का स्थान	प्रथम संस्करण १९५४
यतीन्द्रनाथ मजूमदार	विवेकानन्द चरित्र	प्रथम संस्करण, कलकत्ता
डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी	हिन्दी साहित्य की भूमिका	प्रथम संस्करण
,,	हिन्दी साहित्य	१९५२, अतरचन्द कपूर एण्ड सन्स, दिल्ली, अम्बाला, आगरा
हावर्ड फास्ट	लिटरेचर एण्ड रीयल्टी	प्रथम संस्करण १९५२, बम्बई
हरिशंकर व्यास	मध्यकालीन भारत	प्रथम संस्करण
हेलेन ड्यूश	साइकोलोजी आफ वोमन	प्रथम संस्करण १९४६
त्रिभुवनसिंह	हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद	प्रथम संस्करण १९५५, बनारस

पत्र-पत्रिकाएँ

आलोचना	१९५१–१९५८
कल्पना	१९४९–१९५७
प्रतीक	१९४९–१९५१

नामानुक्रमणिका

व्यक्ति

●

ग्रन्थ